

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj)**

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला—ग्रन्थ १

परिणतवरश्रीवामनविरचिता
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः

['काव्यालङ्कारदीपिका' हिन्दीव्याख्यानिर्भूयिता]

व्याख्याकार

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

अध्यक्ष, 'धोवर अनुसन्धान विभाग'

गुरुकुल विश्वविद्यालय, मुन्दावन

तथा

सम्मान्य सदस्य, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्

दिल्ली विश्वविद्यालय

सम्पादक

डा० नगेन्द्र, एम ए., डी लिट्

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
की ओर से

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विप्रेता

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य १०)
सं० २०११ . १६५४ ई०

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
कनाट सर्कस
नई दिल्ली

हमारी योजना

'हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र', 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला' का पहला ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की संस्था है जिसकी स्थापना अक्टूबर १९५२ में हुई थी। इसका कार्य क्षेत्र हिन्दी भाषा एवं साहित्य विषयक अनुसन्धान तक ही सीमित है और कार्यक्रम मूलतः दो भागों में विभक्त है। पहले विभाग पर गवेषणात्मक अनुशीलन का और दूसरे पर उसके फलस्वरूप उपलब्ध साहित्य के प्रकाशन का दायित्व है।

परिषद् ने इस वर्ष पाँच ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना बनाई है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अतिरिक्त दो ग्रन्थ और प्रकाशित हो चुके हैं (१) मध्य-कालीन हिन्दी कवयित्रियों और (२) अनुसन्धान का स्वरूप। अन्य दो ग्रन्थ—'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' तथा 'हिन्दी साहित्य पर सूक्ष्मता का प्रभाव' भी प्रेस में हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों में से 'अनुसन्धान का स्वरूप' अनुसन्धान के मूल सिद्धान्त तथा प्रक्रिया के सम्बन्ध में मान्य आचार्यों के निबन्धों का सङ्कलन है, 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' आचार्य 'कुन्तक' के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' की हिन्दी-व्याख्या है, और शेष दोनों ग्रन्थ दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच डी के लिए स्वीकृत गवेषणात्मक प्रबन्ध हैं। इस योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था—'आत्माराम एण्ड सन्स' के अध्यक्ष श्री रामलाल पुरी का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। उनके अमूल्य सहयोग ने हमें प्रायः सभी प्रकार की व्यावहारिक विन्ताओं से मुक्त कर यह अवसर दिया है कि हम अपना ध्यान और शक्ति पूर्णतः साहित्यिक कार्य पर हो केंद्रित कर सकें। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्' श्री पुरी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है।

नगेन्द्र

अध्यक्ष

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा, २०११ वि०

भूमिका

आचार्य वामन

और

रीति सिद्धान्त

लेखक---डा० नगेन्द्र

वक्तव्य

सामान्यतः भूमिका की भूमिका लिखना विचित्र ही लगता है। फिर भी दो-एक छात्रों का पृथक् उल्लेख करना कुछ आवश्यक-सा हो गया है। काव्यशास्त्र के अध्ययन में ज्यों-ज्यों मैंने प्रवेश किया है त्यों-त्यों यह एक तथ्य मेरे मन में स्पष्ट होता गया है कि भारत तथा पश्चिम के दर्शनो की तरह ही यहाँ के काव्यशास्त्र भी एक दूसरे के पूरक हैं, और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परम्परा के अनुकूल एक सश्लिष्ट, प्राधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण सहज-सम्भव है। हिन्दी-ध्वन्यालोक तथा प्रस्तुत ग्रन्थ—हिन्दी-काव्यालङ्कारसूत्र और इनकी विस्तृत भूमिकाएँ इसी दिशा में बिनम प्रयास हैं।

प्राज हिन्दी के वर्ण-योग के स्थिरीकरण के लिए प्रयत्न हो रहे हैं। थोड़ा कठिन होने हुए भी यह कार्य आवश्यक है, इसमें सन्देह नहीं। मुझे खेद है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के मुद्रण में यह सम्भव नहीं हो सका। फिर भी मैंने पञ्चम वर्ण का प्रयोग प्रायः बचाया है, और हल् चिह्न का प्रयोग भी कम ही किया है। सस्कृत के नियमानुसार जगत, महान्, विद्वान्, बुद्धिमान्, पद्मात् और पृथक् सभी को हलन्त करने से हिन्दी के मुद्रणादि में अनावश्यक उत्पन्न पैदा हो जाती है। मैंने इस सम्बन्ध में अपने लिए एक साधारण-सा नियम बना लिया है—और वह यह कि हल् का प्रयोग हमें या तो ऐसे शब्दों में करना चाहिए जो हिन्दी में हलन्त रूप में सर्व-वर्धक हो गये हैं यथा 'अर्थात्', 'वरत्' आदि, या फिर कुछ ऐसे शब्दों को हलन्त किया जा सकता है जिनका, हिन्दी में अपेक्षाकृत कम प्रचलन होने से, अभी सस्कृत-संस्कार नहीं छूटा है। उदाहरणार्थ—सम्पत्, ईषत्, किञ्चित् आदि। मैंने सामान्यतः इसी नियम का अनुसरण किया है—जहाँ कहीं नहीं हो सका वहाँ उसके लिए मेरा या मेरे भूक-शोधक का संस्कार ही उत्तरदायी हो सकता है।

—नगेन्द्र

विषय-क्रम

- १ आचार्य वामन १
 - जीवन-वृत्त
 - वामन के काव्य-सिद्धान्त
 - काव्य की परिभाषा और स्वरूप
 - काव्य की आत्मा
 - काव्य का प्रयोजन
 - काव्य-हेतु
 - काव्य के अधिकारी
 - काव्य के भेद
 - आलोचना-शक्ति
- २ रीति-सिद्धान्त ३०
 - पूर्ववृत्त
 - रीति की परिभाषा और स्वरूप
 - रीति के आधार
 - रीति के मूल तत्त्व
 - रीति के नियामक हेतु
 - रीति का प्रवृत्ति, वृत्ति तथा शैली से अन्तर
- ३ गुण-विवेचन ५८
 - गुण के आधार-तत्त्व
 - गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति
 - नवीन शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण
 - गुण और रीति
 - गुण और अलंकार
- ४ दोष-दर्शन ८१
 - दोष की परिभाषा
 - दोष की मनोवैज्ञानिक स्थिति
 - दोष-भेद

५. रीति के प्रकार ६२
- ६ पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में रीति ६७
प्लेटो, अरस्तू, सिसरो तथा अन्य रोमी रीतिकार, हॉरेस, डायोनो-
सियस, डिर्मट्रियस, लॉन्जाइनस, विवन्टीलियन, दान्ते, बेंन जॉन्सन,
नव्यशास्त्रवाद, पीप, स्वच्छन्दतावाद ।
- ७ हिन्दी में रीति-सिद्धान्त का विकास १४१
केशवदास, चिन्तामणि, कुलपति, देव, दास, अन्य रीतिकार,
आधुनिक रीतिकार, आधुनिक आलोचक, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,
डा० श्यामसुन्दरदास, सुमित्रानन्दन पन्त ।
- ८ रीति-सिद्धान्त का अन्य सिद्धान्तों के साथ सम्बन्ध १७६
रीति और अलंकार
रीति और वर्णोक्ति
रीति और ध्वनि
रीति और रस
- ९ रीति-सिद्धान्त की परीक्षा १८६

आचार्य वामन

भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में आचार्य वामन की कीर्ति प्रचल्य है। वे उन आचार्यों में से हैं जिन्होंने मौलिक सिद्धान्त की उद्घाटना कर एक नवीन काव्य-सम्प्रदाय का प्रयत्न किया।

वामन का जीवन छूत भी संस्कृत के ग्रन्थ कवियों तथा आचार्यों की भांति ही तमसाच्छन्न है। उनके वंश, माता-पिता, सत्तान आदि के विषय में इतिहास सर्वथा मौन है। आदिभांग काल के विषय में भी कोई निश्चित तथ्य उपलब्ध नहीं है—परन्तु वामनीय ग्रंथ के अन्त साध्व के आधार पर उसकी सीमाएँ निर्धारित करना कठिन नहीं है। वामन के सिद्धान्त और उनके सूत्र, वृत्ति, श्लोक आदि के उल्लेख-उद्धरण राजशेखर, प्रतिहारेन्दुराज और अभिनव गुप्त में स्पष्ट मिलते हैं। राजशेखर ने वामन और उनके सम्प्रदाय का उल्लेख वामनीया रूप में किया है। 'ते च द्विधाऽश्रोचकिनः सनृणाभ्यश्च हारिणश्च'। क्वचोऽपि भवन्ति इति वामनीया। अर्थात् वे दो प्रकार के होते हैं। श्रोचकी और सनृणाभ्यवहारी। वामनीयों के मत में कवियों के भी उपर्युक्त दो प्रकार होते हैं। राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी का प्रथम चरण है। उधर प्रतिहारेन्दुराज और अभिनव गुप्त ने भी स्थान स्थान पर वामन के उद्धरण दिये हैं। एक स्थान पर अभिनवगुप्त ने

अनुरागघटी सन्ध्या दिवसस्तत् पुर सर ।

अहो दैवगति कीदृक् तथापि न संमागम ॥

इस श्लोक के विवेचन में लिखा है।

‘वामनाभिप्रायेणामाक्षेप , मामहाभिप्रायेण तु ममामोक्तिरित्यमुमाशयं
हृदये गृहीत्वा समामोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् अन्यकृत् ।’
लीचन पृ० ३७ ।

अर्थात् इस श्लोक में वामन के अनुसार आक्षेपालंकार है और मामह
क अनुसार समामोक्ति । इस आशय को अपने मन में रख कर अन्यकार
आनन्दवर्धन ने समामोक्ति और आक्षेप दोनों का यह एक ही उदाहरण प्रस्तुत
किया है ।

इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि अभिनव के मन में वामन आनन्द-
वर्धन के पूर्ववर्ती हैं—अर्थात् उनका आधिर्भाव सन् ८५० ई० से पूर्व हुआ
था ।

यह तो ठुठे परवर्ती सीमा ।

अब पूर्ववर्ती सीमा लीजिए । वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र में
कालिदास, भवभूति, बाण, माघ आदि के छन्द उद्धृत किये हैं जिनमें स्पष्ट
है कि वे निम्नदेह ही इन कवियों के परवर्ती थे । भवभूति-कृत उत्तररामचरित
के ‘इयं गङ्गा लक्ष्मीरियममृतवर्तिनयनयो’—आदि पद को वामन ने रूपक
अलंकार के उदाहरण रूप में उद्धृत किया है । इन कवियों में भवभूति का
समय, जैसा कि डा० भण्डारकर ने मालती माधव की भूमिका में युक्ति-पूर्वक
निर्देश किया है, सन् ७०० और ७४० के बीच में पड़ता है । उपर्युक्त गेष
कवि प्रायः भवभूति के पूर्ववर्ती ही हैं—अतएव ७४० ई० को वामन के
आधिर्भाव काल को पूर्वावधि माना जा सकता है ।

उपर्युक्त अन्तःसाक्ष्यों के अतिरिक्त वामन के विषय में एक बहिःसाक्ष्य
भी उपलब्ध है । राजतरंगिणी में कच्छण ने काश्मीर के अधिपति जयापीड
के मधिमंडल में वामन का नाम भी लिखा है ।

मनोरथ शखटचरचटक सन्धिमांस्तथा ।

चमृचु, कचयस्तस्य वामनाद्याञ्च मत्रिण ॥

राजनरंगिणी ४।४६०

काश्मीरी पण्डितों में यह अनुश्रुति है कि ये ही वामन काव्यालंकार-
सूत्र के रचयिता थे और ये उद्भट के समकालीन एवं प्रतिद्वन्द्वी थे । प्रसिद्ध
भारत विद्या-विशारद बुद्धर उसे मान्यता देने को प्रस्तुत हैं । वास्तव में इसके

विस्तृत कोई प्रमाण मिलता भी नहीं है। वामन ने अपने विवेचन में दण्डनीति की शिक्षा आदि तथा कवि और काव्य के अभिजात्य पर जो बल दिया है उससे इस प्रवाद की यत्किंचित् पुष्टि भी होती है। जयार्पोड का राज्यकाल ८०० ई० है।

इस प्रकार वामन का आभिर्भाव काल ७५० ई० और ८५० ई० के आस-पास ८०० ई० के लगभग निर्धारित किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त वामन के जीवन-वृत्त के विषय में और कोई विशेष तथ्य उपलब्ध नहीं है। उनके ग्रन्थ के अध्ययन से यह विदित होता है कि वे काव्य, काव्य-शास्त्र, दण्डनीति, व्याकरण आदि के निष्णात पण्डित थे—उनके स्वभाव में आभिजात्य और विचार में स्पष्टता थी। अभिनव गुप्त ने काव्यालंकारसूत्र में उद्धृत आलेखालंकार के उदाहरणों को वामन की ही अपनी रचना माना है—जिससे प्रतीत होता है कि इन्होंने कदाचिन् थोड़ी बहुत काव्य-रचना भी की थी।

ग्रंथ —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन का एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है काव्यालंकार-सूत्र। इसके तीन अंग हैं सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। जैसा कि प० बलदेव उपाध्याय ने निर्देश किया है सूत्र-शाली में लिखा हुआ काव्यशास्त्र का कदाचिन् यह एकमात्र ग्रन्थ है। माधुर्यन भरत ने लेकर अन्तिम आचार्यों तक सभी ने पारिका और वृत्ति की शैली हो अपनाई है। इस ग्रन्थ का वृत्ति भाग भी वामन का ही है जिसे उन्होंने पश्चिमिया नाम दिया है।

प्रणम्य परम ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।

काव्यालंकारसूत्राणां स्वेया वृत्तिर्विनीयते ॥

काव्यालंकारसूत्र का उपर्युक्त मंगल-श्लोक वृत्ति के विषय में कोई संदेह ही नहीं छोड़ता। इसके अतिरिक्त प्रतिहारन्दुराज, अभिनव गुप्त आदि सभी ने वृत्ति को वामन की ही रचना माना है। इत्योक्तिः ग्रन्थ का नाम भी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ही अधिक प्रसिद्ध है।

काव्यालंकारसूत्र में पाँच अधिवर्ण हैं—और वे अधिकरण ऋष्यायणे में विभक्त हैं। पहले अधिकरण में वामन ने काव्य की परिभाषा, काव्य के अंग, प्रयोजन, काव्य की आत्मा—रीति, काव्य-सहायक अर्थान् काव्यहेतुक, अधिकारी, काव्य के रूप आदि मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन किया है। हमारे में 'टोप-दर्शन' है जिसके अन्तर्गत पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोषों

का विवेचन है। तीसरा अधिकरण है 'गुण-विवेचन' जिसमें सबसे पहले तो वामन ने गुण और शब्दद्वार का भेद स्पष्ट किया है—तदुपरान्त शब्द-गुण और अर्थ-गुण का विस्तृत विवेचन है। इस अधिकरण में वामन ने शब्द-गुण और अर्थ-गुण का पार्यव्य प्रतिपादित करते हुए दश शब्द-गुण और दश अर्थ-गुणों की सूक्ष्म विवेचना की है। चाँये अधिकरण 'आलङ्कारिक' में शब्दद्वारों का व्याख्यान है—और 'प्रायोगिक' नामक पंचम अधिकरण में शब्द-शुद्धि तथा मदिग्ध शब्दों के प्रयोग आदि की विस्तार से चर्चा है। यह अधिकरण मस्कृत व्याकरण पर आधारित है—अतः हिन्दी के विद्यार्थी के लिए इसकी विशेष सार्थकता नहीं है। परन्तु इससे वामन की निर्भ्रांत समीक्षा-दृष्टि तथा सूक्ष्म व्याकरण ज्ञान का परिचय मिलता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में मौलिकता की दृष्टि से वामन के ग्रन्थ के अनेक प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं। परवर्ती आचार्यों ने अर्थापि उनकी शायन्त कठोर आलोचना की है, फिर भी उसकी महत्ता अस्ति है। मध्ययुग में दुर्भाग्य-वश इसका प्रचार लुप्त हो गया था। वामन के टीकाकार सहदेव के साध्या-नुमार सुकुल भट्ट नामक काश्मीरी पण्डित ने कहीं से इसकी प्रति प्राप्त कर इसका जीर्णोद्धार किया। सहदेव के अतिरिक्त गोपेन्द्र (निष्पभूपाल), भट्ट गोपाल तथा महेस्वर आदि ने भी काव्यालंकारसूत्र पर टीकाएँ लिखी हैं।

वामन के काव्य-सिद्धान्त

विवेचन क्षेत्र

आचार्य वामन ने सामान्य रूप से काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, अधिकारी, काव्य-हेतुक, काव्य की आत्मा तथा काव्य के रूप आदि का, और विशेष रूप से रीति, गुण—शब्दगुण तथा अर्थ-गुण, अलंकार, दोष और शब्द-प्रयोग आदि का सूक्ष्म विवेचन किया है। काव्य के प्रसिद्ध दशांग में से उन्होंने रस और शब्द-शक्ति की समीक्षा नहीं की; ध्वनि का तो उस समय प्रश्न ही नहीं था। नायिका-भेद का सम्बन्ध रस और रूपक से ही अधिक है, इसलिए वामन की योजना में उसकी भी कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ; वैसे भी गमोर रचि के आचार्यों ने उसकी उपेक्षा ही की है। इस प्रकार वामन ने काव्य के बहिरंग को प्रमुख रूप से अपना विवेच्य माना है, और उसी की सांगोपांग तथा सूक्ष्म-गहन व्याख्या की है। काव्य के आन्तरिक

तत्त्वों में उन्होंने गुणों को ही प्रधान किया है—रस का गुण के ही एक तत्त्व रूप में उल्लेख किया गया है ।

काव्य की परिभाषा और स्वरूप

वामन ने यद्यपि काव्य की परिभाषा पृथक् रूप में नहीं दी, फिर भी आरम्भ में ही उन्होंने काव्य के लक्षण और स्वरूप का निर्देश किया है काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयो शब्दार्थयोर्विभक्तौ—अर्थात् गुणों और अलङ्कारों से संस्कृत (भूषित) गद्य और अर्थ के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग होता है । इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है —काव्य अलङ्कार के कारण ही प्राज्ञ होता है ।* अलङ्कार का अर्थ है सौन्दर्य और सौन्दर्य का समावेश दोषों के बहिर्कार और गुण तथा अलङ्कार के आदान से होता है । गुण नित्य धर्म हैं, अलङ्कार अनित्य—कल गुण सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते हैं परन्तु यथल अलङ्कार नहीं —अर्थात् गुण का स्थिति अनिवार्य है, अलङ्कार की वैकल्पिक । इस प्रकार वामन के अनुसार गुणों से अनिवार्यतः और अलङ्कारों से साधारणतः युक्त तथा दोष से रहित शब्द-अर्थ का नाम काव्य है । वामन को हवा परिभाषा को ध्वनिवादी सम्मत ने यथायत् स्वीकार करते हुए काव्य का लक्षण किया है सन्दर्भो शब्दार्थो सगुणावनलङ्करो पुन यथापि—काव्य उभ शब्दार्थ का नाम है जो दोषों से रहित और गुणों से युक्त हो—साधारणतः अलङ्कृत भी हो परन्तु यदि कहीं अलङ्कार न भी हो तो कोटि हानि नहीं । अर्थात् दोषों से रहित तथा गुणों से अनिवार्यतः एवं अलङ्कारों से साधारणतः युक्त शब्द-अर्थ को काव्य कहते हैं । सम्मत ने वामन की सिद्धान्त रूप से शेर विरोध किया है, परन्तु काव्य-लक्षण उन्हीं ने वामन का ही ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है । संस्कृत काव्य-शास्त्र में वामन के पूर्व भरत, भामह और दण्डी के काव्य लक्षण मिलते हैं । भरत का वामन से मौलिक मतभेद है, भरत अन्तर्गत-रस को प्रधानता देने हैं, वामन बाह्य तत्त्व रीति को । भामह और दण्डी भी देहवादिषों से ही आते हैं, अतएव हम प्रसंग में उन्हीं के लक्षणों का तुलनात्मक विवेचन अधिक सार्थक होगा ।

भामह का लक्षण इस प्रकार है 'शब्दार्थो महिर्ता काव्य—सहित अर्थात् सामञ्जस्यपूर्ण शब्द-अर्थ को काव्य कहते हैं । भामह ने शब्द और अर्थ

* काव्यं प्राद्यमवकारात् ॥१॥ सौन्दर्यमलङ्कार ॥२॥ स दोषगुणालङ्कारानां चान् ॥३॥
(संन्यासकारमुद्रादि १, १)

के सामञस्य को काव्य की सजा वी है। इसी प्रकार दण्डी ने काव्य को 'इष्टार्थव्यवच्छिन्नपदावली'—अर्थात् अभिलिपित अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली माना है। उपर्युक्त दोनों लक्षणों में केवल शब्दावली का भेद है—इष्टार्थ को अभिव्यक्त करने वाला शब्द—और शब्द-अर्थ का साहित्य या सामञस्य एक हो बात है क्योंकि शब्द इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति तर्भा कर सकता है जब शब्द और अर्थ में पूर्ण सामञस्य एवं सहभाव हो। आगे चलकर भामह और दण्डी के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शब्द और अर्थ का सामञस्य ही काव्य-सौन्दर्य है और वह अलङ्कार से अभिन्न है। इस प्रकार उनके अनुसार काव्य निसर्गत अलङ्कार-युक्त होना है। भामह और दण्डी ने यास्क में गुण और अलङ्कार में भेद नहीं किया—दोनों ही अलङ्कार हैं। वेदवादी आचार्यों में कुन्तक का स्थान अन्यतम है। उनका मत है कि वक्रोक्तियुक्त बन्ध (पद-रचना) में सहभाव में व्यवस्थित शब्द-अर्थ ही काव्य है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य" ।

यहां भी मूल लक्ष्य वही है—वचन-भंगिता भिन्न है। 'गुण और अलङ्कार में युक्त' के स्थान पर कुन्तक ने केवल एक शब्द 'वक्रकविव्यापारशाली' प्रयुक्त किया है। वास्तव में भामह तथा दण्डी के अलङ्कार और वामन के गुण तथा अलङ्कार को कुन्तक ने वक्रोक्ति में अन्तर्भूत कर लिया है—और वे उसी के प्रसार मात्र बन गए हैं।

इनके विपरीत दूसरा वर्ग साहित्यिक आत्मवादियों का है—जिनके अन्तर्गत भरत, आनन्दवर्धन, मम्मट, विरयनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्य आते हैं। भरत ने रमणीय, सुखबोध मृदु-ललित पदावली को काव्य माना है—आगे के आचार्यों ने इसी में मशोधन करते हुये उसे रसात्मक काव्य अथवा रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द कहा है। इन आचार्यों ने स्पष्टतया आंतरिक ताव अर्थ-सम्पदा पर अधिक बल दिया है, जबकि उपर्युक्त साहित्यिक देहवादियों ने बाह्य रूपाकार पर।

इस पृष्ठभूमि में वामन के लक्षण का विवेचन करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं

(१) वामन शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्व देते हैं—सहित

शब्द का प्रयोग न करते हुए भी वे दोनों के साहित्य को ही काव्य का मूल अंग मानते हैं ।

- (२) दोष को वे काव्य के लिए अमह्य मानते हैं इसीलिए सौन्दर्य का समावेश करने के लिए दोष का बहिष्कार पहला प्रतिबन्ध है ।
- (३) गुण काव्य का नित्य धर्म है—अर्थात् उसकी स्थिति वाक्य के लिए अनिवार्य है ।
- (४) अलङ्कार काव्य का अनित्य धर्म है—उसकी स्थिति वाङ्मनीय है, अनिवार्य नहीं ।

यह तो स्पष्ट हो है कि वामन का लक्षण निर्दोष नहीं है । लक्षण अतिव्याप्ति और अध्याप्ति दोषों से मुक्त होना चाहिये उसकी शब्दांशली सर्वथा स्पष्ट किन्तु सन्तुलित होनी चाहिये—उसमें कोई शब्द अनावश्यक नहीं होना चाहिए । इस दृष्टि से, पहले तो वामन का धार वामन के अनुकरण पर मम्मट का दोष के अभाव को लक्षण में स्थान देना अधिक सगत नहीं है । दोष की स्थिति एक तो सापेक्षिक है, दूसरे, दोष काव्य में वाक्य तो हो सकता है, परन्तु उसके अस्तित्व का सर्वथा निषेध नहीं कर सकना । काव्य अधशा क्लीबस्य मनुष्य के व्यक्तिष की हानि करता है, मनुष्यता का निषेध नहीं करता । हमलिंग दोषामात्र को काव्य-लक्षण में स्थान देना अनावश्यक ही है । इसके अतिरिक्त अलङ्कार की वाङ्मनीयता भी लक्षण का अंग नहीं हो सकती । मनुष्य के लिए अलङ्करण वाङ्मनीय तो हो सकता है, किन्तु वह मनुष्यता का अनिवार्य गुण नहीं हो सकता । वास्तव में लक्षण के अन्तर्गत वाङ्मनीय तथा चकल्पिक के लिए स्थान ही नहीं है । लक्षण में मूल, पार्थक्य-कारी विशेषता रहनी चाहिए भावात्मक अथवा अभावात्मक सहायक गुणों की सूची नहीं । इस दृष्टि से भामह का लक्षण “शब्द-अर्थ का साहित्य” वहीं अधिक तत्त्व-गत तथा मौलिक है । जहाँ शब्द हमारे अर्थ का अनिवार्य माध्यम बन जाता है वहाँ वाक्य की सफलता है । यही अभिव्यञ्जनावाद का मूल सिद्धान्त है—क्रोचे ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इसी का स्थापन और विवेचन किया है । आत्माभिव्यजन का सिद्धान्त भी यही है । मौलिक और व्यापक दृष्टि से भामह का लक्षण अत्यन्त शुद्ध और मान्य है परन्तु इस पर अतिव्याप्ति का आरोप किया जा सकता है, और परवर्ती आचार्यों ने किया भी है । आरोप यह है कि यह तो अभिव्यजना का लक्षण हुआ—काव्य का नहीं । शब्द और अर्थ का सामञ्जस्य उक्ति की सफलता है—अभिव्यञ्जना

को सफलता है। परन्तु क्या केवल सफल उक्ति अथवा सफल अभिव्यञ्जना ही काव्य है ? हमारे आचार्यों ने—मरत से लेकर रामचन्द्र मुनल तक ने इसका निषेध किया है। उधर विदेश में भी अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स तक सभी ने इसका प्रतिपाद किया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में इर्मीलिय, विश्वनाथ को 'रम्यात्मक' शब्द का प्रयोग करना पड़ा और पंडितराज जगन्नाथ को 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' विगेषण लगाना पड़ा—शुक्ल जी ने भी इर्मीलिय रमणीय और रम्यात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। इन आचार्यों के अनुसार प्रत्येक अर्थ और शब्द का सामञ्जस्य काव्य नहीं है—रमणीय अर्थ और शब्द का सामञ्जस्य ही काव्य है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक (सफल) उक्ति काव्य नहीं है सामाना रमणीय (रमणीय अर्थ को व्यक्त करने वाली) उक्ति ही काव्य है। अरस्तू ने भी भाव वैभवं पर हमरी दृष्टि ने अधिक बल दिया है—और आधुनिक मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स भी, जो कि काव्य को मूलतः एक अनुभव मानते हैं, इस अनुभव के लिए—प्रकार की दृष्टि से नहीं—प्रभाव आदि की दृष्टि से कनिष्ठ गुणों की स्थिति अनिवार्य मानते हैं। स्थूल गद्यों में प्रत्येक अनुभव काव्य नहीं है—समृद्ध अनुभव ही काव्य है।

परन्तु इस तक के विरुद्ध भासह के सङ्ख्य के समर्थन में भी युक्ति दी जा सकती है—और वह यह कि शब्द और अर्थ का सामञ्जस्य अपने आप में ही रमणीय होता है उसके लिए रमणीय विगेषण की आवश्यकता नहीं। श्लोके का यही मत है कि सफल उक्ति स्वयं सौन्दर्य है—उसके अतिरिक्त सौन्दर्य कोई बाह्य तत्व नहीं है। "सफल अभिव्यञ्जना ही सौन्दर्य है क्योंकि असफल अभिव्यञ्जना तो अभिव्यञ्जना ही नहीं होती।" (श्लोके)। भारतीय काव्य-शास्त्र में कुन्तक को सूक्ष्म शब्द इस तथ्य तक पहुँची है और उन्होंने इस विरोधाभास को दूर करने का प्रयत्न किया है। एक स्थान पर साहित्य अर्थान् शब्द और अर्थ के सहभाव का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द और अर्थ का यह सहभाव केवल वाच्य-वाचक-सम्बन्ध-रूप नहीं होना चाहिए—उसमें तो वक्रता-वैचित्र्य गुणालंकार-सम्पन्ना की मानो परस्पर स्पर्धा रहनी चाहिए।^१ अन्यथा केवल वाच्य-वाचक सम्बन्ध होने में तो वह आह्लात्-

१ रिचर्ड्स मीरियम

२ वक्रतावैचित्र्यगुणालंकारसम्पन्ना परस्परस्पर्धाविरोध ।

कारी नहीं होगा ।^१ परन्तु अन्यत्र अपने आशय को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द-अर्थ के साहित्य का अभिप्राय है अन्यून अनतिरिक्त प्रयोग के कारण इन दोनों की मनोहारिणी अवस्थिति । हमसे स्पष्ट व्यजित होता है कि शब्द-अर्थ का अन्यून-अनतिरिक्त प्रयोग और तज्जन्य पूर्ण सामञ्जस्य अथवा साहित्य (सहभाव) स्वयं ही मनोहारी होता है ।^२

वामन का काव्य-लक्षण उपर्युक्त लक्षणों की अपेक्षा स्थूल है—‘गुण और अलंकार मे युक्त’ तथा ‘दोष से रहित’ शब्दावली तत्त्व को शब्द-वद् नहीं करती—‘केशल गुणों का वर्णन करती है । येमें यह लक्षण अग्र्युद्ध नहीं है क्योंकि गुण और अलंकार के अन्तर्गत वामन ने काव्यगत सौन्दर्य के विभिन्न रूपों को अन्तर्भूत कर—उन्हें एक प्रकार से सौन्दर्य के पर्याय रूप में ही प्रयुक्त किया है : सौन्दर्यमलंकार. । अतएव वामन के लक्षण का सचिसरूप यह हुआ ‘सुन्दर (सौन्दर्यमय) शब्दार्थ काव्य है ।’ और, यह लक्षण बुरा नहीं है । परन्तु वामन ने कदाचित् गुण और अलंकार का जानबूझकर प्रयोग इसलिये किया है कि उनका रीति-सिद्धान्त मूलतः गुण और सामान्यतः अलंकार पर ही आश्रित है अतएव अपने वैशिष्ट्य को व्यक्त करने के लिये उनका प्रयोग वामन के लिये अनिवार्य हो गया है ।

फिर भी कारण चाहे कुछ भी रहा हो यह लक्षण तात्त्विक न रह कर वर्णनात्मक हो गया है—अतएव लक्षण की दृष्टि से यह सर्वथा श्लाघ्य नहीं है ।

काव्य की आत्मा

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है रीतिरात्मा काव्यस्य । जो सशब्द शरीर का आत्मा क साथ है, वही शब्द-अर्थ रूप काव्य-शरीर का रीति के साथ है । रीति का अर्थ है विशिष्ट पद-रचना विशिष्ट पद-रचना रीति. । विशिष्ट का अर्थ है गुणयुक्त—विशेष गुणात्मा । इस प्रकार रीति का अर्थ हुआ गुण सम्पन्न पद-रचना और ‘रीतिरात्मा काव्यस्य’ का अर्थ हुआ गुणसम्पन्न पदरचना काव्य की आत्मा है ।

१ अन्यथा तद्विराहादकारित्वमिति ।

२ साहित्यमनसा शोभाशान्तिना प्रति काव्यमो ।

अन्यूनानिर्मुक्तमनोहारिण्यवस्थिति ॥

रीति के स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है इन तीन रीतियों के भीतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र ।^१ इन तीन रीतियों (वेदगी, गौडीया, और पांचाली) में वेदगी ही प्रायः है ।^२ इसमें ही अर्थ-गुण सम्पदा का पूर्णतया आस्वादन किया जा सकता है । उसके उपधान (आश्रय) से थोड़ासा अर्थगुण भी आम्नाय (चमत्कारपूर्ण) हो जाता है । सम्पन्न अर्थगुण का तो कहना ही क्या ।^३

उपर्युक्त विवेचन से कतिपय स्पष्ट निष्कर्ष निकलते हैं । काव्य मूलतः पदरचना है—अर्थात् वामन ने वस्तु और रीति (गौडी) में रीति (गौडी) को ही प्रधानता दी है । रीति का स्वरूप बहुत कुछ बाह्य ही है : चित्र में जो रेखा का ध्यान है वही काव्य में शब्दों का ध्यान उसी में निहित रहता है, वस्तु—जिसके लिए वामन ने अर्थगुणसम्पदा शब्द का प्रयोग किया है, उसी के आश्रित है—रीति के उपधान से ही उसका सौंदर्य निश्चरता है । इस प्रकार वामन वस्तु को रीति के आश्रित मानते हैं—परन्तु वे वस्तु-तत्त्व का निषेध नहीं करते—उसका वृत्तिक अस्तित्व वे निस्सन्देह स्वीकार करते हैं । उन्होंने इसीलिए अर्थगुणसम्पदा और अर्थलेश—इन दो परिमाण-सूचक शब्दों का प्रयोग किया है ।

वस्तु और रीति के सापेक्षिक महत्त्व के विषय में साधारणतः चार सिद्धान्त हैं

(१) एक सिद्धान्त तो यह है कि काव्य का मूल तत्त्व वस्तु (मात्र तथा विचार) तत्त्व ही है । रीति सर्वथा उसी के आश्रित है । रीति केवल वाहन अथवा माध्यम है जो वस्तु की पूर्णतया अनुवर्तिनी है । महान् काव्यवस्तु अभिव्यक्त महान् शैली को अपेक्षा करती है । शुद्ध वस्तु का माध्यम शुद्ध ही होगा । स्वदेश-विदेश के प्राचीन आचार्यों का प्रायः वही मत रहा है । प्राचीन समृद्ध काव्य इस सिद्धान्त का उदाहरण है । यूनान के प्रसिद्ध नाट्यकार ऐस्काइलस ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इसकी घोषणा की थी ।

१ एतत्तु निरूप्यु रीतिषु रेखास्तिव चित्र काव्य प्रतिष्ठितमिति । तामा पूर्वा आह्ला ॥१४॥

२ तस्यामर्थगुणसम्पदास्वादा भवति ॥२०॥ तदुपरोहार्थगुणलेशोऽपि ॥२१॥ तदुपधानत एतन्वर्थमलेशोऽपि स्वदते ।

३ किमप्युपर्युक्तगुणसम्पत् । [काव्यालंकारसङ्ग्रह (प्रथम अधिकरण)]

“धैन द सबजेस्ट इज ग्रेट दैन थॉफ निमेसिटी ग्रेट गोत्र द चर्ड ।”—काव्य-वस्तु के महान् होने से शैली अनिवार्यतः महान् हो जाती है। अरस्तू, लोजाइनस, इधर मैथ्यू आर्नल्ड आदि का यही अभिमत था। मैथ्यू आर्नल्ड ने वस्तु गौरव पर बहुत बल दिया है —

“प्राचीन कवियों की अभिव्यञ्जना इतनी उत्कृष्ट इसलिए है क्योंकि यह अपनी शक्ति सोधे उस वस्तु तत्व के अर्थ-गौरव से ग्रहण करती है ।”^१— हमारे यहाँ इसकी सबसे प्रबल उद्घोषणा शुद्ध जो ने की है।

(२) दूसरा सिद्धान्त इसमें उक्त भिन्न व्यक्तिवादियों का है जो काव्य की मूलतः आत्माभिव्यञ्जन मानते हैं और वस्तु तथा रीति दोनों को ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते हैं।

(३) तीसरा सिद्धान्त आधुनिक अभिव्यञ्जनाववादियों का है जिसके अनुसार केवल रीति अथवा अभिव्यञ्जना की ही सत्ता है—वस्तु का उसमें स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है। यह हमारे सिद्धान्त से दूर नहीं है।

(४) चौथा सिद्धान्त वस्तु और रीति दोनों के समन्वय पर बल देता है—उसके अनुसार अर्थ और शब्द दोनों का समान अस्तित्व है। विदेश में भी पेटर, रैले आदि परवर्ती आलोचकों ने विषय और शैली दोनों—को समान गौरव प्रदान किया है।

वामन की स्थिति इन चारों से भिन्न है। वामन का दृष्टिकोण सर्वथा अत्यन्तगत है—यतएव व्यक्तित्व की तो वे उपेक्षा ही कर गए हैं। उधर वस्तु-वादियों का भी रीति की वस्तु की आश्रिता मानने का भी उनके लिए प्रयत्न नहीं उठता। परन्तु अभिव्यञ्जनाववादियों की भी वस्तु-सत्त्व का निषेध भी वे नहीं करते। साथ ही वे दोनों का समान महत्त्व भी नहीं मानते। उन्होंने पद-रचना को ही काव्य माना है किन्तु उसके लिए गुण-सम्पन्नता अनिवार्य मानी है। गुण के अर्थगुण और शब्दगुण ये दो भेद कर, और कान्ति में रस की दीप्ति मानते हुए वामन ने अर्थ अथवा वस्तु की सत्ता तथा महत्त्व दोनों ही अगीकार किये हैं, फिर भी सब मिलाकर सापेक्षिक महत्त्व रीति का ही है—जिम्हारे बिना अर्थ-गुण-सम्पन्नता का उत्कर्ष सिद्ध ही नहीं हो सकता। इस प्रकार उनकी स्थिति वास्तव में अभिव्यञ्जनाववादियों और समन्वयवादियों को मध्यवर्तिनी

है। वस्तु तत्त्व की सत्ता स्वीकार कर वे अभिव्यंजनाव्यादियों (विशेषकर परवर्ती अभिव्यंजनाव्यादियों) से पृथक् हो जाते हैं और वस्तु तत्त्व की रीति के आश्रित मानकर वे समन्यवादिओं की कोटि से बाहर पड़ जाते हैं। वामन का सिद्धान्त (मैथ्यू आर्नल्ड और शुद्धजी जैसे) उन आलोचकों के सिद्धान्त के विपरीत है जो रीति की वस्तु की आश्रिता मानते हैं। साहित्य के क्षेत्र में उनको देहवादी ही मानना पड़ेगा—किन्तु वे ऐसे देहवादी हैं जो आत्मा की सत्ता का निषेध तो नहीं करते पर उसे मानते हैं पंचभूत का ही विश्वास।

काव्य का प्रयोजन .

मनुष्य के प्रत्येक कर्म का—निष्काम कर्म का भी कुछ न कुछ प्रयोजन रहता है। शास्त्र तथा धर्म का भी निश्चित प्रयोजन होता है क्योंकि यदि प्रयोजन ही न हो तो उसकी क्या मार्थकता .

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।

यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते ॥

अतएव काव्य के प्रयोजन का अस्तित्व निस्संदेह मानना ही पड़ेगा—यह दूसरी बात है कि वह प्रयोजन स्थूल और भौतिक न होकर सूक्ष्म हो—अथवा चाहे वह काव्य में अभिन्न ही क्यों न हो। काव्य का प्रयोजन धर्म मानने वाले भी प्रयोजन के आस्तित्व का निषेध नहीं करते। संस्कृत यजुस्मय में प्रत्येक शास्त्र के चार अनुबन्ध माने गये हैं—जिन्हें अनुबन्ध-चतुष्टय कहा गया है अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन। वामन ने भी उपर्युक्त प्रश्न उठाते हुए काव्य के प्रयोजन का विवेचन किया है .

प्रश्न—अलंकरणान् काव्य से पेमा क्या लाभ है जो उसके लिए इतना यत्न किया जाए ?

उत्तर —सत्काव्य इष्ट और अष्ट दोनों प्रकार के प्रयोजन सिद्ध करता है—ये हैं प्रीति (आनन्द) और कीर्ति ।

सुन्दर काव्य का इष्ट प्रयोजन है आनन्द और अष्ट प्रयोजन है कीर्ति ।

इस आशय के कुछ श्लोक खीजिए

सत्काव्य की रचना को यश की सरणि और कुकवियों की विदग्धना को अपयश की सरणि कहा गया है ।

विद्वानो ने कीर्ति को स्वर्गमस्ता कहा है जो भृष्टि पर्यन्त रहती है और अपकीर्ति को आलोकहीन नरक की दूतिका ।

इस प्रकार वामन ने आनन्द और कीर्ति—ये दो काव्य के मूल प्रयोजन माने हैं। वामन के पूर्व और उनके उपरान्त भी अनेक आचार्यों ने इस विषय का विवेचन किया है। भरत मुनि ने लिखा है

धर्मं यशस्यमायुष्य हितं बुद्धिविवर्धनम् ।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

अर्थात् यह नाट्य (काव्य) धर्म, यश और आयु का साधक, हित और बुद्धि का वर्धक तथा लोकोपदेश होगा। इस प्रकार भरत के अनुसार काव्य के प्रयोजन हुए—धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि और उपदेश। भरत के उपरान्त मामह ने इसमें थोड़ा परिवर्तन परिशोधन किया। उनके अनुसार

धर्मार्थकाममोक्षेषु यैश्चक्षुष्य कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिपेक्षम् ॥

संकाय के क्षेत्र में—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति, कलाओं में निपुणता, कीर्ति तथा प्रीति की उपलब्धि होती है। इनमें मामह के धर्म और अर्थ भरत के धर्म और हित हैं, कलाओं में विद्यमानता के लिए भरत ने एक शब्द बुद्धि का प्रयोग किया है, उधर मामह ने कीर्ति और भरत ने यश शब्द प्रयुक्त किया है। यहाँ तक तो दोनों आचार्यों के मत प्रायः समान ही हैं। परन्तु इसके आगे थोड़ा पार्थक्य है। मामह ने प्रीति—आनन्द—का स्पष्ट उल्लेख किया है, उधर भरत ने लोकोपदेश को भी स्वतंत्र रूप से काव्य का प्रयोजन माना है। परन्तु मेरी धारणा है कि यह भेद मौखिक न होकर शब्दिक ही है क्योंकि लोकोपदेश—(लोकाव्यवहार का उपदेश अथवा लोक का वय निर्देशन), का अन्तर्भाव मामह के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में हो जाता है, और उधर रस को काव्य का मूल माननेवाले भरत के लिए भी प्रीति—आनन्द—उपेक्षणीय नहीं हो सकता।

आनन्द को सबसे प्रबल प्रतिष्ठा कुतक से की है। धर्मादि की प्राप्ति, व्यवहार का सुन्दर ज्ञान आदि तो काव्य के प्रयोजन हैं ही परन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि काव्यामृत के रस से चतुर्दश फल की प्राप्ति से भी बढ़कर अन्तश्चमत्कार की उत्पत्ति होती है —

चतुर्वर्गफलात्वादमप्यतिक्लम्य तद्विदाम् ।

काव्यामृतरमेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥

(व० जी० १, २)

आगे चलकर आचार्यों ने प्रायः इन्हीं प्रयोजनों की चर्चा की है। भोज के सरस्योक्तप्रामरण ॥ इस प्रसंग में निम्नोद्धृत श्लोक दिया हुआ है :

अदोष गुणवत्काव्यमलं कारैरलकृतम् ।

रमान्वित कवि कुर्यान्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥

यहाँ भी भामह और वामन के कीर्ति और प्रीति इन दो प्रयोजनों का उल्लेख है। मम्मट ने इस प्रसंग में कुछ अधिक निरिक्त गद्यावली का प्रयोग किया :

काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरत्नये ।

मद्य परनिर्घृत्तय कान्नासम्मितनयोपदेशयुजे ॥

यद्यपि यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अशिर की क्षति, नायकान्तिक आनन्द, और कान्नासम्मित उपदेश—ये छः काव्य के प्रयोजन हैं। मम्मट का मत भरत और भामह के मत में मूलतः भिन्न नहीं है। 'अशिर की क्षति' कुछ नहीं खी उद्गातना अवश्य प्रतीत होता है। परन्तु एक तो यह प्रयोजन दक्षिण अस्पर्श पर आश्रित है, और कुछ विशेष कथियों में सम्बद्ध विवेचनित्या ही इसका आधार है—इत्यस्ति यदुक्त कुछ एकांगी तथा आकस्मिक है और आज क युग में यह विश्रामनीय भी नहीं हो सकता। दूसरे, भरत के हित शब्द में और भामह के चतुर्वर्ग में इसका अन्तर्भाव भी हो जाता है। सब मिला कर मम्मट का विवेचन स्थूल है—उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजन निश्चित अवश्य हैं, परन्तु सौक्ष्मिक नहीं हैं—उन्होंने मूलभूत तथ्यों को ग्रहण न कर व्यक्त परिणामों को ही लिया है। उन्हें काव्य के फल कहना अधिक सगत होगा। विश्वनाथ ने इन सबका पृथक् निर्दिष्ट न कर चतुर्वर्ग में ही समाहार कर दिया है —

चतुर्वर्गफलप्राप्तिं सुखादल्पवियामपि ।

उपर्युक्त कारिका में चतुर्वर्ग को काव्य का उद्देश्य और सुख को उसकी विधि बताया गया है। किन्तु सुख यहाँ आनन्द का पर्याय नहीं है, सरल और रचिवर का ही वाचक है।

उपर्युक्त विवेचन का सार इस प्रकार है

भरत ने लेकर मम्मट आदि तक सभी आचार्यों ने काव्य-प्रयोजन का विवेचन कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से ही किया है। भरत-निर्दिष्ट प्रयोजनों में हित, सुख-विवर्धन तथा लोकोपदेश तो सहृदय की दृष्टि से बड़े

गये हैं—यश कवि की दृष्टि में और धर्म कदाचिन् दोनों की दृष्टि से ही । इसी प्रकार भगवद् की कारिका में कलाग्रो में विचक्षणता तथा प्रीति पाठक के लिए कीर्ति कवि के लिए, और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष दोनों के लिए कहे गये हैं । मम्मट में यह विभाजन विवेचन की स्पष्टता के कारण और भी स्पष्ट हो जाता है यश, अर्थ, और अशिश को चर्ति कवि के प्राप्य है, और व्यवहार-ज्ञान, मय परनिवृत्ति, कान्तासम्मित उपदेश पाठक के । शिवनाथ ने 'अहपधियामपि' कह कर अपनी दृष्टि पाठक तर ही सीमित कर दी है । परन्तु कवि और सहृदय की दृष्टि से प्रयोजनों का यह विभाजन सर्वथा अन्तिम अथवा अन्तर्ग्य नहीं है—उपर्युक्त प्राय सभी प्रयोजनों का उभयमुख्य अर्थान् कवि और पाठक दोनों के लिए मानने में कोई मौलिक आपत्ति नहीं हो सकती ।

धामन ने विस्तार में न जाकर काव्य के प्रयोजन केवल दो माने हैं दृष्ट प्रयोजन प्रीति—आनन्द, और अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति । उन्होंने अपने स्तर को न तो धर्म और मोक्ष जैसे परम सुखार्थों तक ऊँचा उठाया है और न वे अर्थोपार्जन के निम्नतर स्तर तक ही उतारे हैं । इनके अतिरिक्त भरत मम्मटादि द्वारा निर्दिष्ट काव्य के अन्य प्रयोजन इस प्रकार हैं —शुद्धि-विवर्धन, कलाग्रो में विचक्षणता, लोक-व्यवहार-ज्ञान, और उपदेश । आधुनिक शब्दावली में इन सबका समाहार बौद्धिक विकास, व्युत्पत्ति और लोक-संगत में हो जाता है । मोक्ष की रुढ़ अर्थ में तो काव्य का प्रयोजन आज नहीं माना जा सकता—परन्तु मोक्ष का अर्थ यदि मुक्तावस्था किया जाय—तो निस्सन्देह ही काव्य का उच्चतम लक्ष्य (शुक्लजी के शब्दों में) हृदय की मुक्तावस्था ही तो है—जहाँ मनुष्य अपने सुष्ठु राग-द्वेष—अपने और पराये की भावना से ऊपर उठ कर रसवर्ती भूमिका में पहुँच जाता है । काव्य का इसमें अव्यक्त लक्ष्य आधुनिक काव्य-शास्त्र और मनोविज्ञान दोनों मिलकर भी नहीं खोज सके हैं । परन्तु धामन ने इन सभी को अप्राप्तिक मान कर छोड़ दिया है और काव्य के केवल दो ही प्रयोजन माने हैं प्रीति और कीर्ति । उनकी चर्चा से प्रतीत होता है कि साधारणतः कीर्ति कवि की सिद्धि और आनन्द पाठक का प्राप्य है, तथापि मूलतः इन दोनों को व्यवस्था कवि और पाठक दोनों के लिए ही की गयी है ।

धामन का दृष्टिकोण शास्त्रीय—या यों कहिए कि शास्त्र-सीमित ही

रहा है—शार्शनिक और तात्त्विक नहीं हो पाया। उन्होंने एक मोघा प्रश्न उठाया है—और उसका मोघा ही उत्तर दिया है—उनकी दृष्टि प्रायश्च पर ही रही है—मूल तत्व पर नहीं गड़े, इमोलिप् उन्होंने मामह के अन्तिम दो प्रायश्च प्रयोजनों को ही ग्रहण किया है। इन दोनों में भी वामन ने कीर्ति पर ही अधिक बल दिया है। कीर्ति की प्रगति में उद्धृत श्लोक इसके प्रमाण है। इसमें सन्देह नहीं कि कीर्ति के प्रति मनुष्य की बहुत बड़ी रुचि रहती है, और कवि के लिए भी वह बाह्य दृष्टि से एक प्रबल प्रलोभन है ही—परन्तु फिर भी काव्य का वह आधारभूत प्रयोजन नहीं है—धन उसमें भी निम्नतर कोरि का है। इन दोनों को प्रासंगिक फल ही माना जा सकता है। कीर्ति को प्रयोजन मान कर महान काव्य की रचना सम्भव नहीं है। वह उसका एक परिणाम मात्र हो हो सकती है। काव्य का मूल प्रयोजन तो आनन्द ही है—सकलप्रयोजनमौलिमूनमानन्द * वेदान्तरस्यार्थान्वय। वामन ने निरुसदेह ही उसको स्वीकार किया है—परन्तु उसको उचित गौरव नहीं दिया। कीर्ति और प्रीति—इन दोनों में कीर्ति बाह्य गुण है—प्रीति आन्तरिक, पहले का आन्तरिक प्रदर्शनार्थक है, दूसरे का अनुभूत्यात्मक। अतएव यह अस्वभाविक नहीं है कि काव्य के बाह्य उपकरण रीति को आत्मा मानने वाले शास्त्रकार का ध्यान कीर्ति के प्रति अधिक आकृष्ट हुआ है और रम-जन्य प्रीति के प्रति कम।

आधुनिक काव्य शास्त्र में काव्य के मूलतः दो प्रयोजन माने गए हैं—
 (१) व्यक्तिगत आनन्द (२) सामाजिक लोकमंगल। भारतीय काव्य-शास्त्र में याज्ञिक प्रयोजनों का भी इसी प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है। प्रीति, बुद्धि-वर्धन, कला नैपुण्य आदि व्यक्तिगत सिद्धियाँ हैं—लोकव्यवहार, लोकोपदेन, शिव आदि सामाजिक हैं। कीर्ति और अर्थ की भी गणना व्यक्तिगत सिद्धियों के अन्तर्गत ही की जाएगी—परन्तु जैसा कि मैंने अभी कहा वे काव्य की प्रासंगिक सिद्धियाँ मात्र ही हैं—लक्ष्य नहीं हैं। वामन ने सामाजिक पक्ष को तो पूर्णतया उपेक्षा ही की है—प्रीति को कीर्ति की अपेक्षा कम महत्त्व देकर व्यक्तिगत पक्ष को भी वाञ्छित गौरव नहीं दिया। इसका कारण यही है कि उनकी दृष्टि काव्य के बाह्य पर ही अटक रही—मूल तत्वों तक नहीं पहुँच सकी।

काव्य-हेतु—वामन ने काव्य-हेतु के लिए काव्याग शब्द का प्रयोग किया है और राजशेखर ने उन्हें काव्य-भाषाएँ माना है। परन्तु साधा-

नैमर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतञ्च बहु निर्मलम् अमन्दश्चाभियोगश्च, कारणं काव्य-सम्पदः ।

काव्यादर्श १११०३

—नियोगात् प्रतिभा, निर्गन्त लोक शान्त्र-ज्ञान, और अमन्द अभियोग ।
मम्मट ने इन्हें और भी व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है उन्होंने इन्हें क्रमशः शक्ति, निपुणता और अभ्यास नामों से अभिहित किया है । परवर्ती आचार्यों ने प्रायः मम्मट की व्यवस्था को ही स्वीकृत कर लिया है ; परन्तु प्रतिभा और निपुणता ■ भाषेच्छिक महार पर खोटा विवाद रहा है । मामह ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा को महार-प्रतिष्ठा की है । गुरु के उपदेश से शान्त्र का अभ्यसन तो अटुब्धि भी कर सकते हैं, परन्तु काव्य की रचना प्रतिभायान ही कर सक्ता है । उधर दुर्लभ ने प्रतिभा को महत्ता स्वीकार करने हुये भी श्रम और यत्न को पर्याप्त महत्त्व दिया है । रुद्र एक चरम और आगे बढ़ गये हैं और उन्होंने प्रतिभा को भी आहार्य—या उत्पाद्य माना है । महजोत्पाद्या भा द्विधा भवति । इनके अतिरिक्त, प्रायः सभी ने प्रतिभा को नैमर्गिकी माना है—और उसे निपुणता तथा अभ्यास से श्रेष्ठतर घोषित किया है । आनन्दवर्धन ने लिखा है कि व्युत्पत्त्याभाव-जन्य काव्य का कवि की प्रतिभा द्वारा मधुरण हो जाता है । वात्महृदि भी प्रतिभा को काव्य का कारण और व्युत्पत्ति शक्ति को उत्पन्न भूयस्य मात्र माना है । और, यही मन पण्डितराज जगन्नाथ का है , वे व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का पोषक मानते हैं । इस परम्परा में अपवाद केवल आचार्य मंगल हैं जिन्होंने व्युत्पत्ति को प्रतिभा में श्रेष्ठतर माना है और आनन्दवर्धन के वजन पर लिखा है : “कवि की व्युत्पत्ति उसकी शक्ति का मधुरण कर लेती है ।” परन्तु मंगल का मत अनिवाद भाग्य है और आनन्दवर्धन का सिद्धान्त ही विवेक-मगत है ।

इसमें सन्देह नहीं कि वामन ने प्रतिभा (प्रतिभान) को कवित्व का बीज माना है जिसके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं है, और यदि है भी तो उपहास्य हो जाता है । परन्तु फिर भी उनके सम्पूर्ण विवेचन से यह परि-
बलित होता है कि उन्होंने प्रतिभा को घाञ्जित गौरव नहीं दिया । एक तो उन्होंने काव्य के जो तीन अंग माने हैं उनमें लोक और विद्या को पहले स्थान दिया है । प्रतिभा का उन्होंने तीसरे काव्यांग प्रकीर्ण के अन्तर्गत उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त उन्होंने लोक और विद्या को सर्वथा स्वतंत्र महार दिया है जबकि अन्य आचार्यों ने उन्हें प्रतिभा के पोषक—अथवा प्रतिभा द्वारा

अनुशासित ही माना है। प्रतिभा की प्रतिष्ठा वासना अर्थात् आत्मपरक दृष्टि-कोण की प्रतिष्ठा है। वामन ने उसका निषेध तो नहीं किया—फर भी नहीं सकने थे। परन्तु उसे प्रकोण में फँक दिया है।

वामन के विवेचन में एक वैचित्र्य और है। अन्य आचार्यों ने लोक और शास्त्र को पृथक् पृथक् ग्रहण न कर उनके परिणामस्वरूप निपुणता को ही सयुक्त रूप से काव्य का हेतु माना है। उनके मतानुसार लोक व्यवहार-ज्ञान अथवा शास्त्र-ज्ञान अपने आप में काव्य का हेतु नहीं हो सकता, परन्तु इन दोनों के समवेत प्रभाव-रूप निपुणता ही कवि-कर्म में सहायक हो सकती है। मम्मट तो वास्तव में और भी आगे गए हैं—उन्होंने शक्ति, निपुणता और अभ्यास को भी पृथक् पृथक् काव्य के हेतु नहीं माना—वरन् इन तीनों को समन्वित रूप से काव्य का हेतु माना है (हेतुर्न तु हेतवः)। और वास्तव में यही ठीक भी है—क्योंकि न तो लोकव्यवहार-ज्ञान और न शास्त्रीय पाण्डित्य ही काव्य का कारण हो सकता है

इश्क को दिल में दे जगह नासिख

इल्म से शायरी नहीं आती।

संस्कृत के माघ, हिन्दी के फेसबदाय, अंगरेज़ी के मिहटन आदि कवियों के काव्य साक्षी हैं कि लोकानुभव और शास्त्र-ज्ञान दोनों का ही स्वतंत्र और सीधा प्रयोग काव्य में बाधक हो जाता है। इनका अप्रत्यक्ष उपयोग ही श्रेयस्कर है—अर्थात् इनके द्वारा प्राप्त व्युत्पन्नता ही कवि के व्यक्तित्व और व्यक्तित्व के द्वारा उसके काव्य को समृद्ध करती है। वामन ने इनका पृथक् निर्देश कर हम मध्य की उपेक्षा की है। परन्तु इन दोनों श्रुतियों के लिए वामन की वस्तु-परक—अथवा—बाह्यार्थ निरूपिणी दृष्टि ही उत्तरदायी है। पूर्व-जन्म के अर्जित सस्कार जिनका नाम है प्रतिभा, और इस जन्म में लोकानुभव तथा शास्त्राध्ययन द्वारा अर्जित साहित्यिक सस्कार (लिटरेरी कल्चर) जिनको काव्य शास्त्र में निपुणता कहा गया है, आंतरिक गुण हैं। इनकी सगति रस और ध्वनि के साथ ही अधिक बँधती है। इसके विपरीत लोकानुभव और शास्त्र-ज्ञान बाह्य गुण हैं। अतएव रीति अर्थात् विशिष्ट पद्धतचना को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्यों के लिए लोक और विद्या को स्वतंत्र रूप से काव्य-हेतु मानना भी समत हो है।

काव्य के अविकारी —अनुबन्ध-वृत्तय का एक मुख्य अंग है

अधिकारी। यामन ने अधिकारी-निरूपण अन्यन्त स्पष्ट और निर्भीक शब्दों में किया है। उन्होंने कवियों के दो वर्ग किये हैं : अरोचकी और मनुष्याम्य-वहारी। ये दोनों यहाँ गौरवार्थ—साक्षरिण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं : इनका प्रमत्त अर्थ है विवेकी और अविवेकी। उनमें विवेकी ही काव्य-शास्त्र की शिक्षा के अधिकारी हैं—अविवेकी नहीं, क्योंकि उनमें विवेचन की शक्ति का सर्वथा अभाव रहता है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है, तो फिर यह शास्त्र सत्य-हितकारी नहीं हुआ। इसके उत्तर में कहते हैं, तो मानता कौन है ? शास्त्र अधिकचन के लिए हितकर नहीं हो सकता ? आगे चलकर राजेश्वर ने पाठक के भी यही भेद दिए, और वास्तव में पाठक के सम्बन्ध-में ही यह वर्गीकरण उचित भी है। क्योंकि पाठक तो अविवेकी होते हैं, परन्तु माधारणतः अविवेकी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता—जिसमें विवेचन-बुद्धि का सर्वथा अभाव है वह काव्य क्या होगा ? परन्तु भस्त्रुन काव्य-शास्त्र में कवि और पाठक में फाँट मौलिक भेद नहीं माना गया। अतएव काव्य के अधिकारी और काव्य शास्त्र के अधिकारी में भी कोई मौलिक भेद नहीं है—जो काव्य-शास्त्र का अधिकारी है वही काव्य का भी अधिकारी है।

इस प्रकार यामन ने केवल उसी को काव्य का अधिकारी माना है जिसमें विवेचन-बुद्धि है—काव्य और काव्य-शास्त्र सबके लिए न होकर व्युत्पन्न तथा विवेकशील व्यक्तियों के लिए ही है। वे काव्य को मार्गजनिक सम्पत्ति न मानकर विशिष्ट समुदाय का ही विशेषाधिकार मानते हैं। उनके अनुसार काव्य बहुजनहिताय नहीं है—इसीलिए कदाचित् उन्होंने लोकमंगल को काव्य का प्रयोजन नहीं माना। वे एक प्रकार के साहित्यिक अथवा बौद्धिक आभिजात्य में विरक्त रहते हैं। काव्य के विषय में यह प्रश्न अन्यन्त मौलिक और प्राचीन है काव्य सबके लिए है—या एक विशिष्ट वर्ग के लिए ? काव्य-दर्शन का विवेचन करने वाले आचार्यों में इस विषय में मतभेद रहा है। जो काव्य को जीवन की एक मौलिक प्रवृत्ति मानते हैं, उनके लिए तो निश्चय ही काव्य जीवन के अन्य सत्यों की भाँति मार्गजनिक और सर्व-जनहिताय है—परन्तु जो काव्य को एक कला मानते हैं उनके मत से—शिक्षा और संस्कार-सम्पन्न निपुण सामाजिक-वर्ग ही काव्य का अधिकारी है। विश्व-काव्य वास्तव में सभी के लिए होता है—और कला-काव्य विशिष्ट

व्युत्पन्न वर्ग के लिए ही। वामन ने स्वभावन अपना मन इस दूसरे वर्ग के पक्ष में ही दिया है।

काव्य के भेद — वामन ने काव्य का वर्ग-विभाजन दो प्रकार में किया है। माध्यम के आधार पर और विषय के आधार पर। माध्यम की दृष्टि से काव्य के दो भेद हैं गद्य और पद्य। गद्य का पहले निर्देश किया गया है क्योंकि स्वरूप सर्वथा अनिश्चित होने के कारण इसकी रचना अत्यन्त कठिन होती है। एक उक्ति है गद्य को कवियों की धर्मार्थ कहा गया है। गद्य के तीन भेद हैं—वृत्तगन्धि, पूर्ण और उत्कलिकाप्राय। वृत्तगन्धि गद्य का वह रूप है जिसमें पद्य के अंश वर्तमान रहते हैं—उदाहरण के लिए—‘पाताल-तालुनलवामिपु दानवेषु’ (अर्थात् पातालतलवासी दानवों में) मन्दूत के द्वारा उद्धरण में वर्तमानिका छन्द का अंश स्पष्ट लक्षित होता है। पूर्ण गद्य का वह रूप है जो अनाविद्ध और ललितपद होता है—अर्थात् जिसमें छोटे छोटे समास और ललित (कोमल-मधुर) पद होते हैं। उत्कलिकाप्राय गद्य पूर्ण के विपरीत आविद्ध और उद्धतपद होता है—अर्थात् उसमें बड़े बड़े समास और कठोर पद होते हैं।

पद्य के अनेक भेद हैं सम, अर्धमम और विरम आदि के भेद में उसके अनेक भेद हैं।^१

इसके उपरान्त वामन ने विषय की दृष्टि से गद्य-पद्य-मय काव्य के दो भेद किये हैं अनिवद्ध और निवद्ध। अनिवद्ध मुक्तक का पर्याय है और निवद्ध के लिए काव्य-शास्त्र में प्रबन्ध शब्द प्रचलित है—वामन ने उसको सन्दर्भ-काव्य भी कहा है। उन्होंने हमें लक्ष्य तो नहीं दिये—क्योंकि वे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, परन्तु इनके मार्पेक्षिक महत्त्व का विवेचन किया है। इन दोनों की सिद्धि माला और उत्तम की भौतिक क्रम में होनी है—अर्थात् अनिवद्ध (मुक्तक) रचना में सिद्धि प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही निवद्ध (प्रबन्ध) की रचना में सफलता मिलती है, जिस प्रकार कि माला गूँथन के बाद ही उत्तम (कूलों का मुकुट) गूँथना सम्भव है। कुछ व्यक्ति मुक्तक रचना तक ही अपना कवि-कर्म सीमित करते हैं—यह ठीक नहीं है। अग्नि के पृथक परमाणु की सीति मुक्तक रचना कभी नहीं चमकती।^२

१ काव्यालंकारसूत्र

२ काव्यालंकारसूत्र

सदृशों में—प्रबन्ध काव्यो में दशरूपक सबसे श्रेष्ठ होते हैं। तरह तरह की विशेषताओं (काव्य, गीत, नृत्य, रंगशोभा आदि) के कारण रूपक चित्र-विचित्र रंग वाले पद के समान मनोरञ्जक होता है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इस प्रसंग में वामन की तीन मान्यताएँ हैं।

(१) गद्य-रचना पद्य-रचना की अपेक्षा कठिन होती है। इसीलिए गद्य को कवियों की कसौटी बढा गया है।

(२) मुक्तक और प्रबन्ध में प्रबन्ध का गौरव अधिक है—उनके मतानुसार मुक्तक के सुदृढ़ कलेवर में—काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाशन नहीं हो सकता। मुक्तक प्रबन्ध का एक सोपान मात्र है—उसकी साथवृत्ता इसी में है कि उसकी रचना द्वारा प्रबन्ध-रचना में नैपुण्य प्राप्त होता है।

(३) काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप नाटक है क्योंकि (अ) यह एक मिश्र कला है जो काव्य, संगीत, नृत्य, रंग-शोभा आदि के चित्र-विचित्र संभव द्वारा मनोरञ्जन करती है, और (आ) काव्य के अन्य भेद प्रबन्ध, कथा आद्यायिका आदि सब का समावेश उसके अन्तर्गत रहता है।

इन तीनों का अथ एक एक करके विवेचन करते हैं वामन का पहला मन्तव्य है कि गद्य-रचना पद्य-रचना की अपेक्षा कठिन है—इसीलिए गद्य कवि-कौशल की कसौटी है। यह मन्तव्य भारतीय वाङ्मय की आरम्भिक अवस्था का द्योतक है जब साहित्य मुख्यतः पद्यमय ही था—यद्यपि अभिव्यक्ति का सहज माध्यम था, और गद्य प्रयत्न-साध्य। परन्तु इस प्रकार गद्य और पद्य का विभाजन और उस पर आधृत वामन का यह अभिमत अधिक तात्त्विक नहीं है क्योंकि यह नाट्य की रचना-नैपुण्य मात्र मान कर चलता है। परन्तु काव्य वास्तव में रचना नैपुण्य मात्र नहीं है—यह जीवन की अभिव्यक्ति है और गद्य और पद्य का अन्तर केवल पद्य-रचना पर अधिकृत न होकर अभिव्यक्तिकर्त्ता के स्वभाव और अभिव्यक्ति के विषय से सम्बद्ध है। इनका भेद केवल यहाँ नहीं है—ध्यात्मिक है यह केवल लय-युक्त और लय-मुक्त पद्य-रचना का—अथवा, और यथार्थ रूप में, नियमित लय और अनियमित लय का भेद मात्र नहीं है—यह औरक अनुभूति अथवा मवेद्य विषय—और, इसमें भी आगे, साहित्यकार के व्यक्तित्व का भेद है। गद्य और पद्य साहित्य के इस विकास काल में यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट हो गया है। उपन्यास और

महाकाव्य तितली और कामायनी की शैलियों में केवल अनियमित लय और नियमित लय के माध्यम का ही भेद नहीं है, न तितली का माध्यम कामायनी के माध्यम से कठिन है, और न तितली की शैली को कामायनीकार के लिए कसौटी ही माना जा सकता है।

वामन की दूसरी स्थापना यह है कि कवि का वास्तविक गौरव प्रबन्ध-रचना में ही है, मुक्तक की रचना उस उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति का सोपान मात्र है। मुक्तक की सत्ति परिधि में काव्य के सम्पूर्ण मोन्दर्य का प्रकाशन सम्भव नहीं है। इस स्थापना में इतना सत्य तो अवश्य है कि प्रबन्ध काव्य में जीवन का पूरा चित्र रहता है—और मुक्तक में किसी क्षणिक स्थिति अथवा मनोदशा आदि का। इसलिए प्रबन्ध का प्रभाव अधिक स्थायी तथा व्यापक होता है और मुक्तक का प्रभाव अचिर होता है। इसीलिए विषय के अनेक आचार्यों का मुक्तक प्रबन्ध की ओर रहा है—भारत और यूरोप के प्राचीन आचार्यों का काव्य-विवेचन बहुत सीमा तक प्रबन्ध को ही आदर्श मान कर किया गया है, आधुनिक युग में भी शुक्लजी जैसे विरक्तशील आलोचक ने भी प्रबन्ध को ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से आदर्श माना है। परन्तु व्यवहार-दृष्टि से एक विशेष सीमा तक मान्य होते हुए भी, यह सिद्धान्त तत्र-दृष्टि से प्रामाणिक नहीं है कि मुक्तक में—जिसमें गौतमिकाव्य का भी अन्तर्भाव है, काव्य-मोन्दर्य का सम्यक उद्घाटन—दूसरे शब्दों से रस का सम्यक परिपाक नहीं हो सकता। आनन्दवर्धन ने इसी अमरगति का दूर करने के लिए ध्वनि-मिथान की उद्गाहना की थी। इसमें सदेह नहीं कि मुक्तक में निस्तार के अभाव में व्यापकता का समावेश सम्भव नहीं है, परन्तु उसकी एकाग्रता सहज ही तीव्रता की सृष्टि कर सकती है। और काव्य के लिए व्यापकता की अपेक्षा तीव्रता का मूल्य कम नहीं है। व्यापक जीवन का विस्तार यदि भ्रम्य है तो स्पन्दित चणों की तीव्रता भी कम प्रभावपूर्ण नहीं है। कर्म का गौरव है और भाव का भी। वनस्थली की अपनी शोभा है, और पुष्प-स्तवक की अपनी। नैषध और अमरक, रामचरित मानस और विनय-पत्रिका, पद्मावत और मीरा की पदावली, रामचन्द्रिका और विहारी-सनमई, मेघनाद-वध और गीताञ्जलि, साकेत और बीरजा का सापेक्षिक मूल्य उनकी निबद्धता और अनिबद्धता के आधार पर अर्कित अनुचित होगा।

वामन की तीसरी मान्यता—काव्य में नाटक की श्रेष्ठता—मस्कृत काव्य-शास्त्र की अत्यन्त प्रचलित धारणा है। काव्येषु नाटक श्रेष्ठम्। इसका

के सम्बन्ध में तो यह कोई महत्वपूर्ण उदाहरण नहीं हुई, परन्तु वामन का यह लक्षण आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्ण-सूचना अवश्य सिद्ध हुआ। उधर रग के विषय में भी वामन ने कान्तिगुण के विवेचन में प्रकारान्तर से सफल सकेत किया है—उन्होंने रम की कान्ति का आधार मान कर उसे काव्य के अन्तरंग तत्वों में स्थान दिया है। इस प्रकार वामन ने प्रधानतः वाद्धार्य-निरूपण करते हुए भी रस और ध्वनि के सम्बन्ध में सफल पूर्व-सकेत किये हैं। यह उनकी व्यापक दृष्टि का प्रमाण है।

प्रामाणिकता —मौखिकता का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पोषक अंग है प्रामाणिकता। कोई भी मौखिक उदाहरण तब तक मान्य नहीं हो सकती जब तक तर्क का प्रमाण उसे प्राप्त न हो। इतिहास साक्षी है कि वामन के आधार-भूत सिद्धान्त मान्य नहीं हुए—आज उनके रीति-सिद्धान्त का ऐतिहासिक महत्त्व ही अधिक रहा है—और उनका आत्मभूत रीति को अन्त में शग-सत्यान का ही पद मिला। परन्तु रीति के विवेचन में वामन का मत ही सर्वमान्य हुआ। वामन में पूर्व और वामन के परचात् भी अनेक आचार्यों ने रीति का विवेचन किया—नवीन रीतियों की उदाहरण हुई, भिन्न भिन्न प्रकार से लक्षण किए गए, परन्तु अन्त में वामन की सत्या और प्रायः वामन की ही परिभाषा मान्य हुई।

गुणों के क्षेत्र में वामन की मौखिकता अप्रुप्त ही रही। पहले तो उनकी अर्थगुण और शब्दगुण की पार्थक्य-रूपता ही अधिक सगत नहीं है—दोनों के लक्षणों के साथ मनमानी कर के भी वामन उनका सम्मेलन नहीं कर सके—उदाहरण के लिए अर्थ-व्यक्ति को शब्दगुण मानकर वे अपने ही वाग्जाल में उलझ गए हैं जिसका नाम ही अर्थव्यक्ति है, वह शब्द-गुण कैसे हो सकता है? उनके शब्दगुण माधुर्य और शब्दगुण प्रसाद में कोई स्पष्ट पार्थक्य नहीं है—वास्तव में उनके शब्दगुण प्रसाद का लक्षण ही असंगत है। इसका परिज्ञान उन्हें है, और उन्होंने शका उठा कर उसका समाधान करने का प्रयत्न भी किया है उनके अनुसार शब्दगुण प्रसाद की आधारभूत विशेषता शिथिल पद-रचना है। अपने आप में यह विशेषता बूढ़ दोष है परन्तु शोक के साथ प्रयुक्त होकर उसकी सघनता में लोच पैदा करके यह निरर्थक ही गुण बन जाती है। अपने प्रतिपादन में वामन निर्भीक हैं, परन्तु फिर भी उनका लक्षण—और लक्षण में भी अधिक यह निर्गोचर असंगत है, और अनावश्यक भी। समाधि के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इस प्रसंग में

वामन के विरुद्ध सबसे प्रबल आपत्ति यह है कि यदि उन्होंने गुण का शब्द और अर्थ के आधार पर विभाजन किया भी है तो एक नाम के शब्दगुण और अर्थगुण में एकसूत्रता रहनी चाहिए थी क्योंकि गुण तो बड़ी है—शब्द और अर्थ के आधार पर उसमें भेद हो गया है। परन्तु वामन ने यहाँ भी पूर्णतया स्वेच्छाचारिता बरती है। उनके समाधि, साधुर्ष, उदारता आदि शब्द-अर्थ-गुणों में कोई सम्बन्ध नहीं है। इस असंगति ने वामन के निबन्धन को और भी अप्राप्त बना दिया है।

अलंकार के क्षेत्र में वामन का सबसे महत्वपूर्ण योग है गुणालंकार-भेद निरूपण—उत्तरी प्रामाणिकता प्राप्त भी असम्बद्ध है। हमारे अनिश्चित उनकी अन्य उदाहरण मान्य नहीं हुई क्योंकि उनका आधार पुष्ट नहीं था। उदाहरण के लिए उनकी यह व्यापना प्राप्त नहीं हो सकी कि अलंकारों का मूल उपमा है। भामह ने जहाँ चरित्रों को, शार्ङ्ग दण्डी ने अतिशय को अलंकार का मूल माना है, वहाँ वामन ने उपमा को आधार माना है। भामह और दण्डी के चरित्र और अतिशय दोनों में मौलिक अन्तर नहीं है—दोनों का अर्थ है लोकाक्रान्तगोचरता—अर्थात् असाधारणता—विचित्रता, चमत्कार। वामन इसमें भिन्न आपत्ति या साम्य को अलंकार का आधार मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अलंकार-विधान में साम्य (सादर्य और साधर्म्य) का बड़ा महत्व है, और अनेक अलंकार स्पष्टतः साम्यमूलक ही हैं। इसके अनिश्चित अलंकारिक साम्य अतिशय तथा चरित्र से भी असम्बद्ध नहीं है क्योंकि अलंकारिक साम्य अनिवार्यतः चमत्कार-मूलक (असाधारण) और प्रायः सदा ही अतिशय-मूलक भी होता ही है। परन्तु फिर भी उसे अलंकार का आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि सभी प्रकार का अलंकारिक चमत्कार साम्य-मूलक नहीं होता। वास्तव में जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है अलंकार-विधान के मूल में एक निश्चित मनोवैज्ञानिक आधार रहता है और भिन्न भिन्न अलंकार-वर्गों के पीछे हमारी विभिन्न प्रवृत्तियों की प्रेरणा रहती है। जहाँ हमें अपनी भावना को स्पष्ट करना होता है—वहाँ हम सादर्य-मूलक अलंकारों का प्रयोग करते हैं। काव्यरस आदि वृत्तियों के परिपोष के लिए, मानसिक सामंजस्य के लिए, अथवा उत्तेजना की अवस्था में सादर्यमूलक अलंकारों का विशेष उपयोग नहीं रहता। वचन-चमत्कार के अनेक रूप ऐसे हैं जिनका सादर्य से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उपमा को अलंकारों का मूल मानना अधिक सगत नहीं है।

व्याख्यान-विवेचन —वामन ने (मानों अपने वैशिष्ट्य का निर्वाह

करने के लिए) व्याख्यान के लिए काव्य-शास्त्र में प्रचलित कारिका-वृत्ति शैली के स्थान पर दर्शन-शास्त्र की सूत्र-वृत्ति शैली का उपयोग किया है। पहले तो वामन के सूत्र ही अपने आप में अत्यंत स्पष्ट हैं—फिर उन पर वृत्ति देकर उनको और भी स्पष्ट कर दिया गया है। जहां कहीं शंका या विवाद के लिए अवकाश रहा है वहां लेखक ने स्वयं अपनी ओर से ही शंका उठा कर उसका समाधान कर दिया है। इसमें संदेह नहीं कि वामन की व्याख्याएँ तर्क-संगत सिद्ध नहीं हुईं—उनके भेद प्रभेद, वर्ग-विभाजन आदि भी अनेक स्थानों पर असंगत हैं। परन्तु वे असंगत ही हैं—अस्पष्ट नहीं हैं। वामन का तर्क अान्त हो सकता है—परन्तु अपने मतव्य के विषय में उन्हें कोई आन्ति नहीं है। उनकी दृष्टि ऐसी है और सूक्ष्मताओं को मफाई से पकड़ती है। सिद्धान्त रूप में, प्रायः हम उनमें अमहमन रहते हैं, परन्तु हम पर इस बात का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है कि यह व्यक्ति चाहे ठीक बात न भी कर रहा हो, परन्तु अपने मन में निःश्रान्त अवश्य है। इसीलिए वे तर्क से बचने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि आत्मविराग के साथ स्वयं प्रतिवाद की करपना करते हुए उसका निराकरण करते हैं। वामन की शैली सीधी और स्वच्छ है, उसमें घुमाव और उलझन नहीं है—वे कभी भटकते नहीं हैं, अपने प्रतिपाद्य विषय पर सीधा आघात करते हैं।

मूल्यांकन —भारतीय साहित्य के इतिहास में वामन की गणना शास्त्रकारों में है। काव्य-शास्त्र में उनका नाम प्रवर्तक आचार्यों में है। उनके गौरव का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनका रीति-सिद्धान्त एक स्पुट सिद्धान्त न रहकर सम्प्रदाय बन गया। उनका घोर विरोध हुआ—उनका सिद्धान्त अंत में अमान्य घोषित कर दिया गया, और तत्त्व दृष्टि से यह उचित ही हुआ। फिर भी उनका ऐतिहासिक महत्त्व अनुपम है। इसके मूलतः दो आधार हैं : एक तो सबसे पहले वामन ने काव्य की आत्मा का अनुसंधान करने का प्रयत्न करते हुए काव्य के मूल और गौरव तत्वों का पार्यंक्य स्पष्ट किया, और इस प्रकार एक मूल आधार स्थिर कर काव्य-शास्त्र में निश्चित सिद्धान्त-व्यवस्था स्थापित की। भरत, आमह और दण्डी में इस प्रकार की नियमित व्यवस्था का अभाव है। दूसरा आधार यह है कि काव्य के वास्तव को प्रमुखता देकर उन्होंने मान्य सिद्धान्त के विपक्ष को प्रबल शब्दों में उपस्थित किया और इस प्रकार जीवन के प्रति अनात्मवादी दृष्टिकोश का काव्य के क्षेत्र में आरोपण

किया। मेधा की प्रखरता और मौलिकता की दृष्टि से चामन का स्थान किसी से निम्नतर नहीं है। इस दृष्टि से उनका स्थान भरत, आमह, आनन्दबर्धन, कुन्तक और जगन्नाथ के समकक्ष है।

रीति सिद्धान्त

पूर्ववृत्त — यद्यपि रीति सम्प्रदाय की स्थापना तो नवीं शताब्दी के मध्य में या उसके आसपास आचार्य चामन द्वारा हुई तथापि रीति का अस्तित्व उससे पहले भी निश्चित रूप से विद्यमान था इसमें संदेह नहीं। भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय काव्य-शास्त्र का मूल-ग्रन्थ इसलिये भी है कि उसमें प्रायः काव्य के सभी प्रमुख अंगों के संकेत मिल जाते हैं। रीति का ग्रन्थच विवेचन भरत ने नहीं किया परन्तु उन्होंने भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है भारत के पश्चिम भाग की प्रवृत्ति—आयन्ती, दक्षिण भारत की प्रवृत्ति—दाक्षिणात्य, उड़ीसा तथा मगध, दूसरे शब्दों में पूर्व भारत की प्रवृत्ति उडुमागधी, और पाञ्चाल अर्थात् मध्यदेश की पाञ्चाली।

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च श्रेष्ठा नाट्यप्रयोगतः ।

आयन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चोडुमागधी ॥

नाट्य शा० १४।१६

भरत के अनुसार जो पृथ्वी के नाना देशों के लोग, भाषा तथा आचार की धार्ता को ध्यान करे उसका नाम प्रवृत्ति है—पृथिव्या नानादेशवेशभाषाचारवार्ता, स्थापयतीति प्रवृत्ति ।' उक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि उनको प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही न, बल्कि देश तथा आचार आदि से भी है—अतः स्वभाषित ही उसकी परिधि रीति को अपेक्षा अधिक व्यापक है। अपने पारिभाषिक रूप में रीति का अर्थ है केवल भाषा-प्रयोग—अर्थात् बोलने और लिखने का ढंग—भरत की प्रवृत्ति का अर्थ है जीवन-धर्म—रहने-सहने का ढंग। फिर भी भरत

की व्याख्या से स्पष्ट है कि प्रदेश-भेद से आचार-व्यवहार और भाषा-प्रयोग आदि की सामान्य विशेषताएँ उनके समय में, ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें पहले भी, लोक में रूढ़ हो चुकी थीं और रीतियों के उद्भव और विकास में प्रवृत्ति में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्रेरणा ग्रहण की गई है—इसमें सन्देह नहीं। कामन ने अपो तीमरी रीति पाञ्चाखी का सकेन शायद यहीं में ग्रहण किया है।

भरत के उपरान्त कादम्बरी के प्रसिद्ध रचयिता बाण भट्ट ने इस प्रसंग का उल्लेख किया है। बाण भट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में लिखा है

श्लेष प्रायमुन्नीच्येपु, प्रतीच्येऽर्थमात्रकम् ।

उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षरदम्बर ॥

उदीच्य—अर्थात् उत्तर भारत के लोग प्रायः श्लेष का प्रयोग करते हैं, प्रतीच्य—अर्थात् पश्चिम भारत के कवि बाणो-विलास की उपेक्षा कर केवल अर्थ-गौरव को ही महत्त्व देने हैं, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा के प्रेमी हैं, और गौड या पूर्व भारत के कविजन अक्षरादम्बर पर सुग्ध हैं।—हर्षचरित प्रस्तावना, उच्छृण्वत् १, श्लोक ७।

जैसा कि प० वादेव उपाध्याय ने लिखा है—इस उल्लेख में स्पष्ट है कि बाण के समय में (सातवीं शताब्दी में) भारतवर्ष की चार दिशाओं में चार प्रकार की शैलियाँ वर्तमान थीं। परन्तु बाण भट्ट का अपनी सम्मति यह है कि इन चारों शैलियों का एकत्र उपयोग ही किसी काव्य को श्रेष्ठ बनाने में समर्थ होता है।—

नयोऽर्थो, जातिरग्राम्या, श्लेषोऽविलष्ट स्फुटो रस

विकटाक्षरवन्धरच, कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥

अर्थात् नवीन भाव-सौन्दर्य, ग्राम्या जाति (स्वभाव-वर्णन), अविलष्ट श्लेष, स्फुट रस और विकट (जिसमें पद नृत्य सा करने हों) अक्षर-वन्ध इन सबका एकत्र मिलना दुर्लभ है।—परन्तु काव्य की कमाँटी भी यही है।

बाण के उल्लेखों से दो निष्कर्ष निकलते हैं

(१) भरत के प्रादेशिक विभाजन का आधार जहाँ व्यापक रूप से जीवनचर्या था—भाषा-प्रयोग उसका एक अंग मात्र था, जहाँ बाण काव्य-शैली को ही आधार मानते थे।

(२) वाक्य ने रीतियों का उद्देश्य न कर उनके मूल मन्त्रों को विभाजक आधार माना है ये विभाजक तत्त्व हैं गुण और अलंकार । इस प्रकार वाक्य के समय में रीतियों का नामकरण तो नहीं हुआ था—परन्तु रीति और गुणलंकार का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था ।

(३) उस समय काव्य शैली का आधार प्रादेशिक ही था—भारत के विभिन्न भागों के साथ विभिन्न काव्य-शैलियाँ सम्बद्ध थीं ।

(४) वाक्य स्वयं इस प्रकार के वर्गीकरण को विज्ञेय महत्त्व नहीं देने थे—वे उपर्युक्त सभी विशेषताओं का काव्य के लिए उपयोगी स्वीकार करने हुए यह मानने को तैयार नहीं थे कि ये किसी प्रकार की प्रादेशिक सीमाओं में बद्ध हैं । काव्यगुण सभी के लिए समान रूप में काम्य होने चाहिए ।

वाक्य भट्ट के उपरान्त आसह ने स्पष्टतः स्पष्टान्त रूप में रीतियों की चर्चा की है । उन्होंने वैदर्भ और गौड के लिए—अर्थात् रीति के अर्थ में, काव्य शब्द का प्रयोग किया है ; काव्य के भेदों के अन्तर्गत ही वैदर्भ और गौड को चर्चा है । उनका विवेचन इस प्रकार है —

हमारे विद्वान् मानते हैं कि वैदर्भ चार है, यही सुन्दर अर्थ धाला और अस्वा होता है ।

(परन्तु) वैदर्भ ही गौडीय है, इन्हीं पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं । निर्वर्द्ध लोगो की दृष्टि में गतानुगतिकतायुग ये पृथक् नाम हैं । पुष्ट अर्थ और चक्रोक्ति से ही हीन, असत्त (प्रमाद-गुण-युक्त) मरल और कोमल (शुद्ध काव्य से) मिश्र वैदर्भी, गीत की भाँति केवल ध्रुति-मधुर ही होता है । असत्कारयुक्त, अप्राप्त्य, अव्यवान्, श्याय (लोक-शास्त्र) सम्मत, अनाकुल (जटिलता और निविडतादि दोषों से मुक्त) गौडीय मार्ग भी श्रेष्ठ है—अन्यथा, अर्थात् इन गुणों से हीन, वैदर्भ भी श्रेष्ठ नहीं है ।

गुणों को उन्होंने स्वतन्त्र रूप में विवेचना की है—वैदर्भ और गौडीय काव्यों (रीतियों) से उनका कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं माना—वे तो सरकाव्य के ही गुण हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि—

(१) आसह के समय में केवल दो प्रमुख मार्ग प्रचलित थे : वैदर्भ और गौड जो भरत की दाक्षिण्य और बहूभागधी प्रवृत्तियों के—और वाक्य

की दाक्षिणत्य और गौड काव्य-शैलियों के समकक्ष थे। भरत की प्राच्यन्ती तथा पाचाली प्रवृत्तियों और उधर बाह्य के उदीच्य और प्रतीच्य मार्ग अब प्रसिद्ध नहीं रह गए थे।

(२) वैदर्भ और गौडीय में लोक-रुचि वैदर्भ को श्रेष्ठ और गौडीय और निकृष्ट मानती थी।

(३) मामह इस तारतम्य को तो मानते ही नहीं—गौडीय और वैदर्भ के पार्थक्य को भी अनावश्यक या अधिक में अधिक औपचारिक मानते हैं। वैदर्भ को अपने आप में श्रेष्ठ और गौडीय को अपने आप में निकृष्ट मानना अन्ध गतानुगतिकता है।

(४) प्रादेशिक आधार पर निर्भर देख के वैदर्भों में प्रचलित काव्य-शैली को यदि औपचारिक रूप में पृथक् माना जाय तो भी वह काव्य की आदर्श शैली नहीं है। जैसा कि भरत ने लिखा है दाक्षिणात्य विदर्भ लोग कला-रसिक और सुकुमार-स्वभाव होते हैं—निदान उनकी शैली में अर्थ-गौरव और विदग्ध अभिव्यञ्जना का सौन्दर्य नहीं होता—प्रसादगुण और श्रुतिमाधुर्य आदि मगीत बला के गुण ही होते हैं। अनप्य वह काव्य के लिए कोई आदर्श शैली नहीं मानी जा सकती।

(५) मामह के अनुसार काव्य के सामान्य गुण हैं अलङ्कृति, अमाम्यता, अर्थ सौन्दर्य, लोक-शास्त्र का अनुकूल्य, अनाकुलता अर्थात् निषिद्धता और जटिलता का अभाव। इनका अभाव काव्य का दारिद्र्य और मज्जाय काव्य की स्मृति है। वैदर्भ और गौडीय मार्ग अपने आप में न्यस्तान्य नहीं हैं। उपर्युक्त गुण समान रूप से दोनों को ही सुशोभित कर सकते हैं।

(६) उन्होंने गुण और रीति का कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं माना—माधुर्यादि विदर्भ या गौडीय के गुण न होकर सत्काव्य के गुण हैं। इस प्रकार मामह ने लोकरुचि का तो तिरस्कार किया ही उसके साथ ही रीतियों की प्रादेशिकता और उनकी रूप-वस्तुपरकता पर भी पहला आघात किया।

मामह के उपरान्त रीति-विवेचन दण्डी ने किया। वास्तव में दण्डी ने मरुत काव्य-शास्त्र के हतिहास में पहली बार रीति को गौरव दिया और उसका इतने मनोनिवेश के साथ विवेचन किया कि कतिपय विद्वान् उन्हीं रीतिवादी ही मानते हैं। दण्डी ने रीति के विष्ट मार्ग शब्द का प्रयोग 'परिीत

दुष्ट चार श्लोको मे उसका निरूपण किया है,^१ चाणो के अनेक मार्ग हैं जिनमें परस्पर अत्यन्त सूक्ष्म भेद हैं। इनमें मे वैदर्भ और गौडीय मार्गों का, जिनका पारस्परिक भेद अत्यन्त स्पष्ट है, अब वर्णन किया जाएगा। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि—ये दश गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं। गौड़ मार्ग में प्राय, इनका विपर्यय लक्षित होता है। + + + + इस प्रकार प्रत्येक का स्वरूप-निरूपण कर इन दोनों मार्गों का अन्तर स्पष्ट कर दिया है। किन्तु जहाँ तक प्रत्येक कवि में स्थित (प्रत्येक कवि की अपनी प्रकृति के अनुसार) इनके भेदों का साबन्ध है, उनका वर्णन सम्भव नहीं है।

दण्डी का उपर्युक्त विवेचन व्यक्ति होते हुए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनके मन्तव्य का सार इस प्रकार है

(१) रीति का अस्तित्व सर्वथा वस्तुगत नहीं होता। प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट रीति होती है—कवि अनेक हैं अतएव रीतियों की सख्या भी अनेक है। इस प्रकार दण्डी ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में रीति में व्यक्ति-तत्त्व की सत्ता स्वीकार की है।

(२) मामाभ्यन्त अपनी अत्यन्त पृथक् विशेषताओं के कारण दो मार्ग या रीतियाँ—वैदर्भ और गौडीय दण्डी के समय तक कवियों और काव्य-रसिकों में प्रसिद्ध हो चुके थे। दण्डी ने उनका अस्तित्व तो लोक-परम्परा के अनुसार निश्चय रूप से स्वीकार किया है, परन्तु उनको निरपेक्ष नहीं माना है।

१ अत्यनेको गिरा मार्ग सूक्ष्मभेद-परस्परम् ।
 तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रसूयान्तरौ ॥ ४० ॥
 श्लेष प्रसाद-समता माधुर्य सुकुमारता ।
 अर्थव्यक्ति-उदारत्वमोज कान्तिममाधय ॥ ४१ ॥
 इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः ।
 एषा विपर्यय-प्रायो लक्षणे गौडवर्त्तेनि ॥ ४२ ॥

+ + + +

इति मार्गद्वय भिन्न तत्त्वरूपनिरूपणात् ।
 तद्वेदास्तु न शक्यन्ते वक्तु प्रतिनिविस्थिता ॥ १०१ ॥

(प्र० परिच्छेद—काव्यादरा)

(३) दण्डी ने सबसे प्रथम रीति और गुण का समन्वय स्थापित किया है—वाण भट्ट ने जिसका सबेले मात्र किया था—दण्डी ने उसे नियम-बद्ध कर दिया ।

(४) भरत ने श्लेष, प्रसाद आदि को काव्य-गुण माना है, परन्तु दण्डी ने उन्हें वैदर्भ मार्ग के गुण माना है । इसका अभिप्राय कदाचित् यह है कि वे वैदर्भ मार्ग को काव्य के लिए आधार मानते हैं—अथवा वैदर्भ काव्य और सन्काय को आमतौर मानते हैं ।

(५) गौडीय मार्ग में दण्डी के अनुसार उपर्युक्त गुणों का प्राय विपर्यय रहता है । प्रायः का अभिप्राय यह है कि इनमें से (१) अर्थव्यक्ति—अर्थात् अर्थ की स्पष्ट प्रतीति कराने की शक्ति, (२) आशय—अर्थात् प्रतिपाद्य अर्थ में उत्कर्ष का समावेश, और (३) समाधि—अर्थात् एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु में सम्यक् शक्ति में आधान—सांख्यिक और शौचचारिक प्रयोग शक्ति—ये तीन गुण दोनों में सम्मान हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन तीन गुणों का दण्डी काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं—क्योंकि अर्थ-व्यक्तिहीन काव्य हृदयगम नहीं हो सकती, आशय-रहित होकर वह इतिवृत्त ब्रजन रह जाता है और समाधि को तो दण्डी ने ११४ शब्दों में 'काव्य-मर्चस्व' माना ही है ।—इन तीन गुणों के अतिरिक्त शेष मात्र गुणों का विपर्यय गौडीय मार्ग का आधार है ।

संस्कृत के विद्वानों में दण्डी के 'पद्या विपर्यय'—इनका विपर्यय' इन दो शब्दों को लेकर बड़ा विवाद चलता है । कुछ विद्वान पद्या (इनके) का अर्थ करते हैं दशगुणों का, और विपर्यय का अर्थ करते हैं वपरीत्य । दूसरे विद्वान पद्या का समन्वय प्राणा—मूलतन्त्र—में स्थापित करते हैं और विपर्यय का अर्थ करते हैं अन्यथाच, इस प्रकार उनका अनुसार दण्डी का आशय है श्लेषादि वैदर्भ मार्ग के मूल तन्त्र है, गौडीय मार्ग के मूलतन्त्र इनमें अन्यथा है । विद्वानों का एक तीसरा वर्ग इन दोनों में भिन्न अर्थ करता है—वे पद्या को तो गुणों का ही वाचक मानते हैं, परन्तु विपर्यय का अर्थ अन्यथाच करते हैं । इसका अभिप्राय यह हुआ कि गौडीय मार्ग में श्लेषादि दश गुणों का अन्यथा रूप मिलना है ।

अब उपर्युक्त आचार्यों की परीक्षा कीजिए । पहले आचार्यों के विरुद्ध यह आक्षेप है कि जब उपर्युक्त दश गुण सौन्दर्य-बोधक हैं तो इनके विपरीत

रूप कुरूपता-बोधक हुए अर्थात् दोष हुए। गौडीय मार्ग के मूलतत्त्व यदि कुरूपता-बोधक दोष हैं—तो फिर उसे कान्य-मार्ग कैसे माना जा सकता है ? और वास्तव में दण्डी ने गौडीय मार्ग के प्रसंग में जितने उदाहरण दिए हैं वे कुरूपता के उदाहरण नहीं हैं। इस आपेक्ष का उत्तर दिया जा सकता है। दण्डी ने गुण के विपर्यय को दोष नहीं माना है—व्युत्पन्नता, दीप्ति और अत्युक्ति तो दोष हैं ही नहीं—शैथिल्य और वैषम्य को भी निरपेक्ष रूप से दोष नहीं माना जा सकता। वामन ने तो वन्ध शैथिल्य को शब्द-गुण माना ही है। उनके उपरान्त इसी सत्य का उद्घाटन आनन्दवर्धन ने और भी स्पष्ट शब्दों में किया है। पद-रचना का कोई रूप—समस्त अथवा असमस्त पद, गत अथवा स्फुट वन्ध अपने आप में न काव्य का अपकर्षक है न उत्कर्षक विषय और भाव के अनुसार ये दोनों ही गुण हो सकते हैं, और दोनों ही दोष। इसलिए श्लेषादि गुणों के विपर्यय—जिनकी स्थिति गौडीय मार्ग में मानो गई है—दोष-वाचक नहीं हैं, श्लेषादि के मुख्य उत्कर्षवाचक चाहे न हों।

उपर्युक्त तर्क हमारे आन्यान की विलिख कल्पना को अनावश्यक बना देता है। दण्डी ने निरचय ही वैदर्भ मार्ग को श्रेष्ठ और गौडीय को निहृष्ट माना है। इसलिए श्लोक के उत्तरार्ध का यह अर्थ कि गौडीय मार्ग के मूल तत्त्व वैदर्भ के मूल तत्त्वों से केवल भिन्न होते हैं विलिखान्वय होने के अनिश्चित प्रसंग विच्छेद भी है।

तीसरा आन्यान भी हमारे उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में अनावश्यक हो जाता है जब वैपरीत्य दोष नहीं है तो अन्यथात्व का कल्पना ही क्यों की जाए ? वैसे भी, दण्डी के व्युत्पन्न आदि विपर्ययों में वैपरीत्य के साथ साथ चाहे अन्यथात्व भी भले ही हो, परन्तु शैथिल्य और वैषम्य के विषय में तो ऐसी कोई शका नहीं हो सकती—वे तो निरचय ही पूर्णतया विपरीत रूप हैं। इसलिए विपर्यय का अर्थ अन्यथात्व करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि दण्डी के पूर्वोद्धृत विपर्ययों में से किसी से भी वैपरीत्य का अभाव नहीं है—व्युत्पन्न आदि में आश्लेष वैपरीत्य है और शैथिल्य आदि में पूर्ण।

निष्कर्ष यह है कि 'एषा' से दण्डी का आशय दश गुणों का और 'विपर्यय' से वैपरीत्य का ही है। दण्डी ने गौडीय मार्ग को हीनतर मानते हुए भी

काव्य-मार्ग ही माना है, अतएव गुणों के विपर्ययों की कल्पना भी काव्य की परिधि के भीतर ही की है। उदाहरण के लिए प्रमाद का विपर्यय 'विलष्ट' कान्ति (सामानिक वर्णन) का 'अम्बामाविकता', और सांकुमार्य (कोमल और निष्ठुर वर्णों का समशीय मिश्रण) का विपर्यय केवल 'भ्रंश' अथवा 'भ्रुतिकटु' वर्णों का प्रयोग नहीं माना क्योंकि ये सभी विपर्यय काव्य की परिधि से बाहर पड़ जाते। इसके विपरीत उन्होंने काव्य की परिधि के भीतर ही प्रमाद, व्युत्पन्न—अर्थान् शब्द-ज्ञान पर आधारित, अनुक्ति तथा दीप्ति को ही प्रमाद कान्ति और सांकुमार्य का विपर्यय माना है। इसी कारण अर्थव्यक्ति औरार्थ और समाधि के विपर्यय दिये ही नहीं गए, क्योंकि उनसे काव्य की हानि हो जाती—उन्हे घैटर्म और गाँड़ दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक मान लिया गया है।

दण्डी के उपरान्त तो वामन द्वारा रीति सम्प्रदाय की स्थापना हो ही जाती है। उनके विवेचन के फल-स्वरूप रीति का स्वरूप, आधार, क्षेत्र, प्रकार आदि का निर्धारण हो जाता है।

रीति की परिभाषा और स्वरूप

रीति का अर्थ — रीति शब्द का प्रयोग पहले वामन ने किया है। जैसा कि भोज ने अपनी परिभाषा में स्पष्ट किया है रीति शब्द रीट धातु से बना है—इसका व्युत्पत्ति-अर्थ है गति, मार्ग या प्रस्थान, और रूढ अर्थ है पद्धति, विधि आदि। वामन ने पूर्व दण्डी ने और वामन के उपरान्त कुल्लुक आदि ने रीति के लिए मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है।

परिभाषा — वामन ने पूर्व यद्यपि भामह और दण्डी ने रीति की चर्चा की है, परन्तु इन दोनों में से किसी ने भी रीति का लक्षण या परिभाषा नहीं की। यह कार्य भी सर्व प्रथम वामन ने ही किया। इस प्रकार रीति शब्द के प्रथम प्रयोग, रीति के लक्षणकर्ता, और रीति सम्प्रदाय के स्थापक वामन ही हैं। अतएव रीति का स्वरूप समझने के लिए आधार रूप में उनकी ही शब्दावली का आश्रय लेना सगत होगा।

वामन के अनुसार रीति का अर्थ है विशिष्ट पद-रचना—विशिष्ट पद-रचना रीति। का० सू० १।१।७। विशिष्ट का अर्थ है गुण सम्पन्न—विशेष

गुणामा । १॥२॥८॥ मुख से तात्पर्य है काव्य-शोभा-कारक (शब्द और अर्थ के) धर्म का ॥ २।२।१॥

इस प्रकार वामन के अनुसार रीति की परिभाषा हुई—काव्य-शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त पद-रचना को रीति कहते हैं। यहाँ 'काव्य-शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त' शब्दावली कुछ विस्तरी हुई है। इसमें एक तो 'काव्य' शब्द अनावश्यक है क्योंकि वह तो समस्त प्रपञ्च ही काव्य का है। 'शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्म' का अर्थ हुआ—शब्द और अर्थ-गत सौन्दर्य—या शब्द-चमत्कार तथा अर्थ-चमत्कार। और वामनकृत परिभाषा का रूप हुआ शब्द तथा अर्थ-गत चमत्कार से युक्त पद-रचना का नाम रीति है। इसको और भी सचित्र किया जा सकता है 'शब्द तथा अर्थ-गत सौन्दर्य से युक्त' के स्थान पर केवल 'सुन्दर' का प्रयोग किया जा सकता है। सुन्दर पदरचना या सम्यक् पदरचना का नाम रीति है।

अतएव वामन के अनुसार "शब्द और अर्थ-गत सौन्दर्य में युक्त पद-रचना का नाम रीति है।" अथवा "सुन्दर पदरचना का नाम रीति है—यह सौन्दर्य शब्द-गत तथा अर्थगत होता है।"

वामन के उपरान्त अन्य भाषाओं ने भी रीति का लक्षण—अथवा स्वरूप निरूपण किया है। आनन्दवर्धन ने उसको मघटना नाम दिया है। सम्पत् अर्थात् यथोचित घटना—पदरचना का नाम मघटना अपना रीति है। आनन्दवर्धन ने वास्तव में वामन की परिभाषा को ही सचित्र कर दिया है। वामन का पद-रचना और आनन्दवर्धन का घटना शब्द तो पर्याय ही हैं दोनों के विशेषणों में भी कोई मौलिक अन्तर नहीं है। वामन ने पदरचना को शब्द और अर्थ-गत सौन्दर्य से युक्त (गुणात्मक) कहा है, आनन्दवर्धन ने उसके लिए सम्यक् (यथोचित) विशेषण का प्रयोग किया है। आनन्दवर्धन के मानने रस का मानदण्ड था—इसलिए उन्होंने तदनुवृत्त 'सम्यक्'—यथोचित शब्द का ही प्रयोग किया क्योंकि रस को प्रमाण मानने के उपरान्त उसके अनुसार शोचित्य-निर्धारण सहज हो जाता है। वामन के समस्त रस प्रकार का मानदण्ड कोई नहीं था—उन्होंने शब्द-अर्थ का ही चरम मान स्वीकार करते हुये शब्द और अर्थगत सौन्दर्य को विशेषण माना है। अतएव आनन्दवर्धन और वामन की परिभाषाओं में मौलिक साम्य होते हुए भी विशेषणों में सूक्ष्म अन्तर है। आनन्दवर्धन के सिद्धान्तानुसार रीति रसाश्रयी है, अतएव उन्होंने घटना—या

पदरचना के लिए 'सम्यक्—यथोचित' विशेषण का प्रयोग किया है। वागमन की रीति स्वतंत्र है—अतएव उनके मत में पदरचना का वैशिष्ट्य अपने शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से अभिन्न है।

आनन्दवर्धन की रीति रसरूप सौन्दर्य की साधन है "व्यक्ति सा रसादीन्" (ध्व० ३, ५),—वागमन की रीति अपने आप में मिट्टि है।

आनन्द ने अपने मत का व्याख्यान करते हुए आगे लिखा है मघटना तीन प्रकार की कही गई है—असमासा, मध्यमसमासा और योगसमासा। ३, ५^१ वह माधुर्यादि गुणों के आश्रय में स्थित रसों को अभिव्यक्त करती है। ३, ६^२

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने रीति के सम्बन्ध में तीन बातें कही हैं,—
(१) रीति या मघटना के स्वरूप का आधार केवल समास है, उसी का आकार अथवा सद्भाव-अभाव रीतियों के विभाजन का आधार है। अर्थात् मूर्तरूप में रीति का स्वरूप-निर्धारण समास की स्थिति अथवा आकार द्वारा होता है। (२) रीति की स्थिति गुणों के आश्रय से है—रीति गुणाश्रयी है। (३) वह रसाभिव्यक्ति का माध्यम है।

आनन्दवर्धन के उपरान्त राजशेखर ने रीति का विस्तारपूर्ण विवेचन किया है। उन्होंने रीति की परिभाषा की है वचन-विन्यास-क्रमो रीति अर्थात् वचन-विन्यास का क्रम रीति है। यह परिभाषा वागमन की परिभाषा से मूलतः भिन्न नहीं है—केवल शब्दों का अंतर है। वचन का अर्थ है शब्द या पद और विन्यास-क्रम का अर्थ है रचना। राजशेखर ने काव्यपुरुष के रूपक का प्रयोग होने के कारण वाणी से सम्बन्ध रखने वाले शब्द प्रयुक्त किये हैं—लेखन में सम्बद्ध शब्द नहीं। इसीलिए पद अथवा शब्द के स्थान पर वचन और रचना के स्थान पर विन्यास-क्रम का प्रयोग किया गया है।

कुन्तक ने रीति का नाम फिर मार्ग रख दिया और रीति विषयक विवेचन में क्रान्ति उपस्थित करने का प्रयत्न किया। कुन्तक स्वतंत्र विचारवान् आचार्य थे—उन्होंने काव्य में कवि स्वभाव को मुख्य मानते हुए उसी के

१ असमासा, समासेन मयमेन च भूषिता।

तथा दीर्घममघेति त्रिधा सफटनोदिता ॥३, ५॥

२ गुणानामित्य निष्ठनी, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।

रसान् " " ॥३, ६॥

अनुसार मार्ग का निरूपण किया और रीतियों के प्रादेशिक वर्ग-विभाजन का उपहाम्पूर्यक तिरस्कार किया। कुन्तक ने तदनुसार रीति को कवि-प्रस्थान-हेतु कहा है। अलंकार को हटा कर प्रस्थान-हेतु का सीधा अर्थ है विधि या शैली। कवि शब्द का प्रयोग कर कुन्तक ने इस बात पर बल दिया है कि कवि-प्रस्थान-हेतु—रीति का निर्णायक आधार कवि-स्वभाव हो है।

भोज ने रीति की व्युत्पत्ति-मूलक परिभाषा की है —

वैदर्भादि कृताः पन्था काव्ये मार्गा इति स्मृता ।

रोङ्गतात्रिति धातोम्सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥

अर्थात् वैदर्भादि पन्था (पथ) काव्य में मार्ग कहलाते हैं। गत्यर्थक रोङ्ग धातु से व्युत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है। इस प्रकार भोज ने मार्ग, पन्था या पथ, और रीति को व्युत्पत्ति-अर्थ में पर्याय सिद्ध करते हुए सीनो की अभिज्ञता प्रतिपादित की है। उनके अनुसार रीति का अर्थ है कवि-गमन-मार्ग जिसे कुन्तक ने कवि-प्रस्थान-हेतु कहा है।

भोज के उपरान्त मम्मट ने रीति की स्वीकृत परिभाषा में थोड़ा सशोधन किया है। उन्होंने उपनागरिका, परषा और कोमल वृत्तियों का ही विवेचन किया है, परन्तु अन्त में यह स्पष्ट कर दिया है कि इन्हीं ही दूरधर्मी पाँचासों ने क्रमशः वैदर्भी गौड़ी और पाँचासी रीति कहा है।

एतास्तिष्ठो वृत्तयो वामनाग्नीना मते वैदर्भी गौड़ीया पाञ्चालाख्या रीतय उच्यन्ते । का० प्र० ६।४।

मम्मट के अनुसार नियत वर्णों का रसानुसूल व्यापार ही वृत्ति है।

वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापार (का० प्र० ६)

इस प्रकार मम्मट के अनुसार—(१) रीति (वृत्ति) नियतवर्णव्यापार है—अर्थात् रीति वर्ण-संगुफन का नाम है और ये वर्ण नियत होते हैं। मम्मट मूलतः समास की रीति का वाहक नहीं मानते, वर्ण-गुफन को ही मानते हैं।

(२) परन्तु मम्मट ने वर्ण-गुफन का गुण के साथ नियत सम्बन्ध माना है—प्रत्येक गुण के अनुसार ही वर्णों का संगुफन होता है, और उसी (गुण के) अनुसार रीति का स्वरूप भी निश्चित होता है। दूसरे शब्दों में गुण शब्द-गुफन और रीति दोनों के ही नियामक होते हैं, और अतः में उन्हीं के माध्यम

से रीति (वृत्ति) रस को अभिव्यजना में सहायता देती हुई काव्य में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है ।

विरचनाथ ने सम्मट के वर्ण-व्यतिर के साथ-साथ पद-संघटना-अर्थान् शब्द गुम्फ तथा समस्त पदावलोक का महत्व फिर स्थापित किया और आनन्द-वर्धन से प्रेरणा लेकर रीति का सत्त्वण इस प्रकार दिया—

पद-संघटना रीतिरगमस्था—विशेषवत्—उपकर्त्री रसादीनाम् । अर्थान् पदो की संघटना का नाम रीति है—यह अगमस्थान (शरीर-गठन) की भाँति है—और काव्य के आत्मरूप रसादि का उत्कर्ष-वर्धन करती है । जिस प्रकार शरीर की गठन बाह्य होती हुई भी मनुष्य के आंतरिक व्यक्ति—आत्मा—का उत्कर्ष-वर्धन करती है इसी प्रकार सम्यक् पद-संघटना बाह्य अवयव होती हुई भी काव्यात्मभूत रस का उपकार करती है ।

अन्त में उपर्युक्त विवेचन में एक तथ्य स्पष्टरूप में हमारे सामने आता है यद्यपि रीति के महत्व में आकाश-पाताल का अन्तर हो गया—यह आत्म पद से भ्रष्ट होकर अग-संस्थान मात्र रह गई, तथापि उसकी परिभाषा में कोई मौलिक अंतर नहीं हुआ । वामन की विशिष्ट पद-रचना ही रीति की सर्व-मान्य परिभाषा रही—यह विशिष्टता भी प्रायः शब्द और अर्थ के समकार पर आधारित मानी गई, और वामन के निर्देशानुसार गुणों के साथ भी रीति का नित्य सम्बन्ध रहा । अंतर केवल यह हुआ कि वामन ने जहाँ शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्मों के रूप में गुणों को और उनसे अभिन्न रीति को अपने आप में सिद्ध माना, वहाँ आनन्दवर्धन तथा परवर्ती आचार्यों ने गुणों को रस के धर्म माना—और उनके आश्रय से रीति को भी रसाभिव्यक्ति के माध्यम रूप में ही स्वीकार किया । उनके अनुसार रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-अमकार का नाम है जो माधुर्य, शोज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिष्कृत करती हुई रस-दशा तक पहुँचाने में साधनरूप से सहायक होती है ।

रीति के आधार

वैदर्भी आदि रीतियों के नामकरण विद्मोदि प्रदेशों के नाम पर किये गए हैं । तो क्या रीतियों की विशिष्टता का आधार प्रादेशिक है ? क्या काव्य-

शैली किसी प्रदेश की सीमा में बढ हो सकती है ?—यह शंका वामन ने स्वय उठाई है “किन्तु क्या भिन्न भिन्न पदार्थों की भाँति काव्य के गुणों की भी उत्पत्ति पृथक् पृथक् देशों में होती है जो उनका नामकरण देशों के आधार पर किया गया है ?” (का० सू०, ० अध्याय) ।

इसका उत्तर भी उन्होंने स्वय दिया है और वह बड़ा समत उत्तर है . “नहीं, ऐसा नहीं है । वेदर्भी आदि रीतियों के नाम विद्वर्भादि देशों के नाम पर इत्यलिपु रचे गये हैं कि इन देशों में (इन देशों के कवियों के काव्य में) उनका विशेष प्रयोग मिलता है ।

विद्वर्भ, गौड और पांचाल देशों में वहाँ के कवियों ने क्रमशः वेदर्भी, गौडीया और पांचाली रीतियों का उनके वास्तविक रूपों में, सुटपत प्रयोग किया है । इसलिए इनके नाम विद्वर्भादि के नामों पर रखे गये हैं, इत्यलिपु नहीं कि इन देशों का उपर्युक्त रीतियों पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा है ।” (का० सू०, १ अध्याय)

इसमें स्पष्ट नहीं कि प्रत्येक प्रदेश की अपनी विशेषताएँ होती हैं । रहन बहन अर्थात्, वेशभूषा तथा आचार व्यवहार आदि में जो ये प्रादेशिक विशेषताएँ प्रायः लक्षित होती हैं, भाषा के क्षेत्र में भी उच्चारण पर इनका प्रभाव अस्यत् स्पष्ट रहता है । परन्तु प्रश्न इन वास्तव विशेषताओं का नहीं है—वेशभूषा, आचार-व्यवहार और उच्चारण आदि बहुत कुछ भौतिक एवं शारीरिक विशेषताएँ हैं जो भौगोलिक प्रभावों द्वारा अनुप्रेरित रहती हैं । प्रश्न भाषा-शैली अथवा उसमें भी सूक्ष्मतर काव्य-शैली का है ।

वामन का उत्तर स्पष्ट है (१) रीति अथवा काव्य शैली द्रव्य के समान जलवायु विशेष की उपज नहीं है । अतएव उसपर देश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

(२) वेदर्भी का नाम विद्वर्भ देश पर इत्यलिपु रखा गया है कि इस प्रदेश के कवियों ने दक्ष गुणों से अलङ्कृत इस रीति का उसके वास्तविक रूप में—अर्थात् सर्वोन्नत-सम्पन्न रूप में—मुख्यतः प्रयोग किया है । गौडीया और पांचाली का नामकरण भी इसी प्रकार हुआ है ।

वामन के मत में रीतियों की स्वतन्त्र सत्ता है—वे गुणात्मक अर्थात् शब्द और अर्थगत सौन्दर्य के आश्रित हैं । इनमें से एक रीति दशगुण-सम्पन्न

है—शेष दो का सौन्दर्य केवल दो दो गुणों पर आश्रित होने के कारण आशिक है। एक में ओज और कान्ति का समावेश रहता है और दूसरे में मातुर्य और सौकुमार्य का। पहली शर्तानुसंगमप्रमाणभूषिता रीति का प्रयोग विदर्भ के कवियों में मुख्यतः मिलता था, इसलिये उसका नाम विदर्भ के नाम पर वैदर्भी रख दिया गया। ओज और कान्तिमयी रीति का प्रयोग अपने वास्तविक रूप में मुख्यतया गोंड देश के कवियों में मिलता था, इसलिये उसका नाम गोंडिया कर दिया गया, और मातुर्य तथा सौकुमार्य में उपपन्न रीति का प्रचार प्रायः पाचाल देश के कवियों में था, अतएव उसका नामकरण पाचाली कर दिया गया। परन्तु यह संयोग मात्र ही समझना चाहिए—विदर्भ, गोंड तथा पाचाल प्रदेशों की परम्पराएँ ऐसी थीं। यह प्रदेश का प्रभाव नहीं है—वेदा वामन का मत है। वामन के मत में तत्त्व रूप में रीतियों की सत्ता पहले थी—प्रदेशानुसार नामकरण बाद में हुआ।

इस प्रकार के निरूपण में दो प्रकार की प्रक्रियाओं में काम होता है—एक आगमन प्रक्रिया और दूसरी निगमन प्रक्रिया। प्रस्तुत प्रसंग में वामन के मतानुसार रीतियों का नामकरण निगमन प्रक्रिया से हुआ है। आगमन के अनुसार तो वैदर्भ कवियों का सामान्य काव्य-शैली के विश्लेषण द्वारा वैदर्भी के गुणों का निर्धारण होना चाहिए था। परन्तु यहाँ गुणों के आधार पर रीतियों का स्वरूप-निर्धारण पहले किया गया है—और देश विशेष के कवियों में उन विशेषताओं का देग कर उसका नामकरण बाद में।

वास्तव में यह वामन की अपनी धारणा है जो उन्होंने अपने सिद्धांत के अनुकूल बना ली है। भरत, वाण, भामह और दण्डी के सदैवों से स्पष्ट है कि आरम्भ में प्रवृत्तियों, रीतियों या मार्गों का वर्गविभाजन प्रदेशानुसार ही हुआ था, परन्तु यह भी ठीक ही है कि स्वतन्त्रचेता विद्वान् आरम्भ से ही इस प्रादेशिक विभाजन के प्रति संदेहशील थे—भरत, वाण और दण्डी ने अपनी शका स्पष्ट रूप से व्यक्त की है और भामह ने तो प्रादेशिक विभाजन और तदाश्रित तारतम्य को अमान्य ही ठहरा दिया है। वामन के समय तक आते आते प्रादेशिक आधार कदाचित् काफी हिल चुका था और इसलिये उन्होंने तदाश्रित नामकरण को संयोगमात्र घोषित कर दिया। रीति-निरूपण के प्रसंग में इस प्रकार उचित विश्वास में एक कदम और बढ़ाया गया।

अगला सफल पद-न्यास समध्वनिवादियों ने किया जिन्होंने रीतियों के प्रादेशिक आधार को सर्वथा लुप्त कर विषय, वना, तथा रस का नियामक

आधार माना। गाँदीया का गौड़ से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वह रौद्रादि रसों और युद्ध आदि के वर्णन के उपयुक्त मानी गयी। इसी प्रकार पाचाली का पाचाल देश के कवियों से कोई सम्बन्ध न रहा—वह शृङ्गार करुणादि रसों और प्रेम तथा शोकादि के प्रसंगों के योग्य ठहरायी गयी।

कुन्तक एक पग और आगे बढ़े। उन्होंने प्रादेशिक नामों का भी त्याग कर दिया। उनका मत है कि कवि-मार्ग अथवा रीति का आधार है कवि का स्वभाव—मातुलेया भगिनी के साथ विवाह-प्रथा की भाँति रीति कोई देश-धर्म नहीं है। + + + यदि किसी देश की जलवायु के साथ काव्य-शैली का सम्बन्ध होता तो उस देश के सभी निवासी उसका प्रयोग करने में समर्थ होते।

न च विशिष्ट-रीति-युक्तस्यैव काव्यकरण मातुलेया-भगिनि-विवाहप्रद देशधर्मनया व्यवस्थापयितुं शक्यम्। (ब० जी० पृष्ठ ४५)
+ + + तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरण सर्वस्य स्यात्। (ब० जी० पृ० ४६)

इसीलिए उन्होंने सुकृमार, विचित्र और मध्यम कवि-स्वभाव के अनुसार मार्गों का नामकरण किया—देश के अनुसार नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि काव्य शैली का भांगोलिक आधार मानना सगत नहीं है—और न उस देश-धर्म ही माना जा सकता है, इसमें भी सन्देह नहीं कि प्रत्येक कवि की अपने स्वभाव (आज का आलोचक उसे व्यक्तिवाद कहना पसन्द करेगा—) के अनुसार अपनी शैली होती है, परन्तु क्या स्थूल रूप से, काव्य शैली के प्रादेशिक आधार पर वर्ग-भेद करना एकात अतर्क है? हमारे देश में अभी राष्ट्रभाषा का देश-न्यायी प्रचार नहीं हुआ—इसलिए हम प्रश्न का सीधा व्यावहारिक उत्तर देना कठिन है। पर थोड़ा पीछे मुड़कर अंगरेज़ों की स्थिति पर विचार किया जा सकता है। क्या बंगाली, पंजाबी और दक्षिणार्ध भारतीय की अंगरेज़ी-शैली में—केवल उच्चारण आदि में ही नहीं—स्पष्ट अन्तर नहीं है? और यदि है तो इसे प्रादेशिक प्रभाव किमी न किमी रूप में मानना ही पड़ेगा। इंग्लैंड जैसे छोटे देश में स्कॉच इंगलिश और वाश इंगलिश का प्रादेशिक अंतर आज भी मान्य है। व्यक्ति की दृष्टि में ही संज्ञाप, रसि वाचु, गांधी जी और दा० राधाकृष्णन की अंगरेज़ी शैलियों का अन्तर क्या केवल वैयक्तिक है। क्या रमोन्डनाथ की शैली पर बंगाली

मानोप्यता और गांधी जी की गैली पर गुजराती व्यावहारिक स्पष्टता का प्रभाव नहीं है ? देश के बाहर जाकर तुलना करें तो क्या रमोन्डनाथ ठाकुर और मिलियम बटलर येट्स की रस्यवादी कविताओं में शैलीगत अन्तर केवल व्यक्ति-स्वभाव मात्र का अन्तर है—क्या इन दोनों की शैलियों के बीच का अन्तर उतना और बेसा ही है जैसा येट्स और मिलेज की शैलियों का अंतर है ? क्या रमोन्डनाथ की अंगरेजी शैली पर भारतीयता की गहरा छाप नहीं है ? इन प्रश्नों के उत्तर नकार में देना सम्भव नहीं है । और, यदि यही स्थिति है तो शैली का प्रादेशिक आधार—चाहे वह कितना ही दूरस्थ और वाह्य-स्थूल क्यों न हो—एकदम अनगल नहीं माना जा सकता है । कुतक की स्वभाव-सम्बन्धी स्थापना ठीक ही है—उसमें शक नहीं की जा सकती—परन्तु स्वभाव अथवा व्यक्तित्व पर भी तो देश कात का अत्यन्त प्रभाव अस्वीकृत नहीं किया जा सकता ।

यूरोप के साहित्य-शास्त्र में भी कुतक का ही मत मान्य है वहा भी मरुत, उदात्त अथवा कोमल तथा पल्प आदि रोनियां ही कितो न किमी रूप में स्वीकार्य हुई जो कुतक के सुनुमार और विचित्र आदि मामों की ही समानधर्मा हैं । परन्तु वहा भी देश के आधार पर शैलियों का वर्ग विभाजन हुआ है । ईसा की पहली शताब्दी के लगभग हिमेटालियन ने यूनानी रोमी काव्य शैली के तीन भेद किये थे ऐटिक, एशियाटिक और रोडेशियन । ये शैलिया अपने प्रादेशिक आधार के कारण ही नहीं, बरन् स्वरूप में भी बढर्भा, गांधीया और पावालो के समथ थीं ।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रादेशिक आधार की कटपना सर्वथा निराधार नहीं है—उसके पीछे व्यावहारिक तर्क है । परन्तु इस प्रादेशिक आधार को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये—मनुष्य का स्वभाव अथवा व्यक्तित्व प्रादेशिकता में आवद्ध नहीं है कवि का व्यक्तित्व तो बरमे भी अमाचारण प्रतिभावान और वैशिष्ट्य सम्पन्न होता है, अतएव उसक लिए तो प्रादेशिकता का बन्धन और भी दुर्बल पवना है ।

रीति के मूल तत्व

रीति का स्वरूप-निरूपण करने के लिए उसक मूल-तत्वों का निर्धारण कर लेना आवश्यक है ।

दण्डी ने गुणों को ही रीति के मूल तत्त्व माना है। उनके गुण शब्द-सौंदर्य और अर्थ-सौंदर्य दोनों के ही प्रतीक हैं। उनके श्लेष, समता, सौकुमार्य और शोज पद बन्ध अवचा शब्द गुण के आश्रित हैं, माधुर्य, उदारता, कान्ति, प्रसाद, अर्थव्यक्ति और समाधि अर्थ-सौंदर्य के। वामन ने भी रीति को पद रचना मानते हुए गुणों को ही उसके मूलतत्त्व माना है—वामन ने शब्द और अर्थ के आधार-भेद से गुणों के दो वर्ग कर दिये हैं, शब्दगुण और अर्थगुण। उनके शब्दगुण प्रायः सभी वर्ण योजना पद-बन्ध या शब्द-गुण के ही चमत्कार हैं और अर्थगुणों का आधार अर्थ सौंदर्य है, उदारता, सौकुमार्य, समाधि और शोज के अनेक रूपों में लक्षणा-योजना का चमत्कार है, अर्थ-व्यक्ति में स्वाभाविकता अथवा यथार्थता का सौंदर्य है, कान्ति में रस का, माधुर्य में वक्रता अथवा विदग्धता का, श्लेष में गोपन आदि के द्वारा क्रियाओं का चानुर्य के साथ वर्णन रहता है, और वास्तव में यह चमत्कार प्रायः अर्थश्लेष के अन्तर्गत आ जाता है। प्रसाद में आवश्यक के ग्रहण और अनावश्यक के त्याग द्वारा अर्थ चमत्कार—या स्पष्टता की सिद्धि होती है। समता में वाद्य शब्दों के क्रम का अलग रहना है। परवर्ती आचार्यों ने प्रसाद, समता आदि को दोषाभाव मात्र माना है। उनका भी तर्क अमंगल नहीं है, तथापि अर्थ चमत्कार (त्यूसिडिटी) आदि भी अपने आप में गुण हैं चाहे आप उन्हें अभाववाचक गुण ही मान लीजिये। (मरुत काव्यशास्त्र में भी रट्ट आदि ने दोषाभाव को गुण ही माना है)। इस प्रकार वामन के अर्थगुणों के मूल में रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्द-शक्ति का भावात्मक सौंदर्य और दोषाभाव का अभाववाचक सौंदर्य विद्यमान रहता है—इनके अतिरिक्त परम्परा मान्य तीन गुणों प्रसाद, शोज और माधुर्य का अर्थभाष तो वामनीय गुणों में है ही। निष्कर्ष यह निकला कि केवल शब्द गुण ही नहीं—परम्परा-मान्य तीन गुणों के अतिरिक्त रस, ध्वनि, अर्थालंकार, शब्द-शक्ति और उधर दोषाभाव भी वामनीय रीति के मूल तत्त्व हैं। और स्पष्ट शब्दों में, परवर्ती काव्यशास्त्र की शब्दावली में—वामन के मत में रीति के बहिरंग तत्त्व हैं शब्द-गुण, और अंतरंग तत्त्व हैं गुण, रस, ध्वनि (यद्यपि उस समय तक ध्वनि का आविर्भाव नहीं हुआ था) अर्थालंकार और दोषाभाव।

वामन के उपरान्त रट्ट ने इस प्रश्न पर विचार किया और समास की रीति का मूल तत्त्व माना। उन्होंने लघु, मध्यम और दीर्घ समासों के अनुसार पाचाली, लाटीया और गोंडीया रीतियों का स्वरूप-निरूपण किया।

वैदर्भी असमासा होते हैं।—आनन्दवर्धन ने दृष्ट को लाटीया रीति को तो स्वीकार नहीं किया, परन्तु समास को रीति के कच्चेर का मुख्य तत्त्व अवश्य माना। उनकी परिभाषा है रीति माधुर्यादि गुणों के आश्रय से स्थित रह कर रस को अभिव्यक्त करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि माधुर्यादि गुणों को वे रीति का आश्रय—अथवा मूल आन्तरिक तत्त्व मानते हैं, और रीति को रस को अभिव्यक्ति का माधन मात्र समझते हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार प्रसाद, माधुर्य और अंज गुण रीति के मूल आन्तरिक तत्त्व हैं, और समास उसका बाह्य तत्त्व। अपने समग्र रूप में रीति रसाभिव्यक्ति की माध्यम है।

RESERVED BOOK

ध्वन्यालोक में परचित तीन ग्रन्थों में इस धरत को उठाया गया राजशेखर की काव्यमीमांसा में, भोज के सन्तती-कण्ठाभरण में और अग्नि-पुराण में। राजशेखर ने इस प्रसंग में कुछ नवीनता की उद्भावना की है। उन्होंने समास के साथ ही अनुप्रास को भी रीति का मूल तत्त्व माना है। वैदर्भी में समास का अभाव और स्थानानुप्रास होता है, पाचाली में समास और अनुप्रास का ईश्वर सजाव रहता है, और गौडीया में समास और अनुप्रास प्रचुर रूप से वर्तमान रहते हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने तीनों रीतियों के तीन और नये आधार-तत्त्वों की कल्पना की वैदर्भी—योगवृत्ति, पाचाली—उपचार, और गौडीया—योगवृत्तिपरम्परा।

भोज ने भी प्रायः राजशेखर का ही अनुसरण किया—उन्होंने समास और गुण दोनों को ही रीति के मूल तत्त्व मानते हुए राजशेखर के योगवृत्ति आदि आधार-भेदों को और भी विस्तार दिया। अग्निपुराण में गुण और रीति का कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया गया—उनमें रीति के मूल तत्त्व तीन माने गये हैं समास, उपचार (लाक्षणिक प्रयोग अथवा अलङ्कार), और मारुत की मात्रा। पाचाली रीति मृद्वी, उपचार-युता और ह्रस्व विग्रहा अर्थात् लघुषामासा होती हैं, गौडीया दीर्घ-विग्रहा और अनवस्थित-मदर्भा होती हैं—अर्थात् उसका सदर्थ एव अर्थ सर्वथा व्यक्त नहीं होता, वैदर्भी को मुक्तविग्रहा माना गया है—अर्थात् उसमें समास का अभाव रहता है, वह नातिकोमल-मदर्भा होती है अर्थात् उसकी पद-रचना नातिकोमला नहीं होती, और उसमें औपचारिक—अथवा आलङ्कारिक (लाक्षणिक) प्रयोगों की बहुलता नहीं रहती।

उत्तर-ध्वनि काल के आचार्यों से मम्मट और विश्वनाथ ने विशेष रूप से प्रस्तुत प्रसंग पर प्रकाश डाला है। मम्मट ने वृत्ति या रीति को वर्णव्यापार ही माना है, और फिर वर्ण-मघटन या गुम्फ का गुण के साथ नियत सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने माधुर्य और ओज गुणों के लिए वर्ण-गुम्फ नियत कर दिए हैं, और फिर इन गुणों को ही वृत्तियों का प्राण-तन्त्र माना है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार गुण-व्यञ्जक वर्ण-गुम्फ ही रीति के मूलतन्त्र हैं—विश्वनाथ ने प्रायः मम्मट का ही अनुसरण किया है—परन्तु उनकी रीतियों का आधार मम्मट को अपेक्षा अधिक व्यापक है। उनका रीति-निरूपण इस प्रकार है :

वैदर्भी— माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितारत्निक
अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्टते ।

(मा० द० पृ० ११६)

अर्थात् वैदर्भी के तीन आधार तत्त्व हैं —माधुर्य-व्यञ्जक वर्ण, ललित पद-रचना, समास का अभाव अथवा अल्प समास ।

गौड़ी— ओज प्रकाशकैर्वर्णै बन्ध-आडम्बर पुन
समास-यद्गुणा गौड़ी ॥

अर्थात् गौड़ी के साथ है ओज, प्रकाशक वर्ण, आडम्बर-पूर्ण बन्ध अथवा पद-रचना, और समास बाहुल्य ।

विश्वनाथ ने वर्ण-मघोजना और शब्द-गुम्फ दोनों को ही रीति के तन्त्र माना है और उधर समास को भी ग्रहण किया है। उन्होंने भी गुण और वर्णयोजना का नियत सम्बन्ध माना है और गुण की रीति का आधार-तन्त्र स्वीकार किया है। और अन्त में, आनन्दवर्धन के समान विश्वनाथ ने भी रीति की रसाभिप्रेक्षि का साधन माना है ।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन का सारांश यह है कि पूर्व-ध्वनि काल के वामनादि आचार्य, जो अलंकार और अलंकार्य में भेद न कर समस्त शब्द तथा अर्थ-गत सौन्दर्य को अलंकार सज़ा देने थे, शब्द और अर्थ के प्रायः सभी प्रकार के चमत्कारों की रीति के तन्त्र मानते थे। वामन के विवेचन से स्पष्ट है कि वे पद-चय की रीति का बहिरंग आधारतत्त्व और माधुर्य, ओज तथा प्रमाद गुण के अतिरिक्त रस, ध्वनि (यद्यपि यह नाम उस समय तक आविष्कृत नहीं हुआ था) शब्द-शक्ति, अलंकार तथा दोषाभाव को अन्तरंग

सत्त्व मानते थे । उत्तर-ध्वनि आचार्यों ने श्लक्ष्ण और श्लक्ष्णार्थ—वस्तु और शैली अथवा प्राण और देह का अन्तर स्पष्ट किया और रस ध्वनि दो काव्य का प्राणत्व तथा रीति को बाह्यत्व माना—जिस प्रकार अग-मस्थान आत्मा का उपकार करता है, इसी प्रकार रीति रस की उपकर्त्री है । उन्होंने रीति को काव्य का माध्यम मानते हुए वर्ण-संयोजन, तथा पद-रचना अर्थात् शब्द-गुण तथा समास को उसके बहिरंग तत्त्व और गुण को अन्तरंग तत्त्व स्वीकार किया जिसके आश्रय में यह रस की अभिव्यक्ति करती है ।

रीति के नियामक हेतु

वामन ने तो रीति की स्वतन्त्र तथा सर्वतन्त्र सत्ता मानी थी—अतएव उनके लिए तो रीति के नियमन तथा नियामक हेतुओं का प्रश्न ही नहीं उठता—परन्तु आगे चलकर स्थिति बदल गई । रीति को परतन्त्र होना पड़ा । अनन्दवर्धन ने रस को रीति का प्रमुख नियामक हेतु माना है । रीति पूर्णतया रस के नियन्त्रण में रहती है—उसी के अधीन कुछ और भी हेतु हैं जो उपचार में रीति का नियमन करते हैं । रस के अतिरिक्त ये हेतु तीन हैं वस्तु-श्रौचित्य, वाच्य-श्रौचित्य और विषय-श्रौचित्य ।

तन्नियमे हेतुरौचित्य वक्तृवाच्ययो ॥ ३६ ॥

उस (सघटना) के नियमन का हेतु वक्ता तथा वाच्य का श्रौचित्य ही है ।

इसके अतिरिक्त—

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्य ता नियच्छति ।

काव्यप्रभेदाश्रयत स्थिता भेदयती हि सा ॥ ३७ ॥

अर्थात् विषयाश्रित श्रौचित्य भी उसका (सघटना का) नियन्त्रण करता है । काव्य के भेदों के आश्रय से भी उसका भेद हो जाता है ।

उपर्युक्त तीन नियामक हेतुओं की थोड़ी व्याख्या अपेक्षित है । इनकी परिभाषा स्वयं अनन्दवर्धन ने की है ।

“वक्ता कवि या कवि-निबद्ध (दो प्रकार का) हो सकता है । और कवि-निबद्ध (वक्ता) भी रसभाव (आदि) से रहित अथवा रसभावयुक्त (दो

प्रकार का) हो सकता है। रस भी कथानायक-निष्ठ और उसके विरोधी (प्रतिनायक) निष्ठ (दो प्रकार का) हो सकता है। कथानायक भी धीरोदात्तादि भेद से विभिन्न मुख्य नायक अथवा उसके याद का (उपनायक पीठमर्द) हो हो सकता है। इस प्रकार कला के अनेक विकल्प हैं। (हिन्दी ध्वन्यालोक पृ० २४४)।

धाम्तर में वह कला के स्वभाव और मन स्थिति को धारया है—
कला के स्वभाव और मन स्थिति के अनुकूल ही रीति का प्रयोग उचित है।

“इसी प्रकार वाच्य (अर्थ भी) ध्वनिरूप (प्रधान) रस का अंग (अभिप्रेतक) अथवा रसभास का अंग (अभिप्रेतक), अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृति में आश्रित, अथवा उभय में भिन्न (सम्भस, अपभस) प्रकृति में आश्रित—इस तरह कला प्रकार का हो सकता है।” (हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० २४४)

वाच्य से अभिप्राय यहाँ विषय—अथवा विषयवस्तु या वस्तु वस्तु का है जो निश्चय ही रीति का नियामक है क्योंकि रीति का प्रयोग निर्यमं देह ही वस्तु विषय पर निर्भर रहता है। सुकुमार विषयों की वर्णन-शैली में मार्दव और वर्य विषयों की शैली में गरुपता स्वाभाविक ही है।

आनन्दवर्धन के अनुसार तीसरा नियामक है विषय। विषय का अर्थ, जैसा कि स्वयं लेखक ने ही स्पष्ट कर दिया है, विषय-वस्तु अथवा वस्तु विषय नहीं है। इसका उल्लेख तो वाच्य के द्वारा किया हो जा चुका है। विषय से यहाँ काव्य के रूप का अभिप्राय है। ‘मुक्तक, पद्यावयव, परिक्रिया, खण्डकथा, सखल कथा, सार्गवन्ध (सहाकाव्य), अभिनेयार्थ (रूपक), आख्यायिका और कथा आदि (काव्य के) अनेक प्रकार हैं। इनके आश्रय में भी मघटना या रीति में भेद हो जाता है।’ (हि० ध्व० पृ० २४२)। संस्कृत काव्य-शास्त्र में वाङ्मयों के आधार पर वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति कुछ अधिक बलवती रही है। उसमें प्रायः अनावश्यक भेद-विस्तार किया गया है इसीलिए उसके अनेक काव्य-भेद आगे चलकर मान्य नहीं हुए। विशेषकर शैली मात्र पर आश्रित काव्य-रूप प्रायः सभी लुप्त हो चुके हैं। फिर भी आनन्दवर्धन के उपर्युक्त मन्तव्य में असहमत होने के लिए कोई अवकाश नहीं है। महाकाव्य और नाटक सदृश काव्य-रूपों का प्रभाव तो रचना-रीति पर अत्यन्त प्रत्यक्ष ही रहता है—उनके अतिरिक्त अनेक सूक्ष्म भेदों का प्रभाव भी सहज

हों सज्जित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए उपन्यास और कहानी मुक्तक और गीत के रूप-भेद में उनकी शैली में भी निश्चय ही भेद रहता है।

उपर्युक्त विवेचन अत्यन्त सार्थक होने के अतिरिक्त सर्वथा आधुनिक भी है। यूरोप के काव्यशास्त्र में शास्त्रीय—ग्रन्थवा लुप्तम शास्त्राय परम्पराओं के बाह्य मूल्यों के विरुद्ध मनाविज्ञान-सम्मत आन्तरिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के निमित्त जो कार्य उन्नीसवीं शताब्दी में किया गया (यद्यपि वहाँ भी लॉजा-इनस, शाले आदि अनेक प्राचीन आचार्य उसका सन्तुलन में कड़वा-हठारो वर्ष पूर्व कर चुके थे), उसे हमारे यहाँ आनन्दचर्चन आठवीं-नौवीं शताब्दी में विधिदत्त सम्पादित कर चुके थे।

रीति का प्रवृत्ति, वृत्ति तथा शैली से अन्तर

शास्त्र में रीति के सहधर्मों कुछ अन्य कल्पनाओं का भी प्रयोग मिलता है—उनसे पार्यव्यक्त किये बिना रीति का वास्तविक रूप उद्घाटित नहीं हो सकता।

रीति और प्रवृत्ति — कालक्रमानुसार सबसे पहले तो प्रवृत्ति की लीजिए। प्रवृत्ति का विवेचन सर्व-प्रथम भरत में और फिर उनके अनुकरण पर राजशेखर, भोज और शिगमूपाल आदि में मिलता है। जैसा कि मैंने आरम्भ में विवेचन किया है, भरत के अनुसार प्रवृत्ति उस विशेषता का नाम है जो नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार का रचापन करे।^१ इस प्रकार प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल भाषा में ही न होकर वेश तथा आचार में भी है—नवकि रीति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही है। प्रवृत्ति पूरे रहन-सहन के ढंग से सम्बन्ध रखती है, और रीति केवल खोलने तथा लिखने के ढंग से। प्रवृत्ति के मूल तत्त्व प्रायः बाह्य तथा मूर्त हैं—रीति के आन्तरिक। अतएव प्रवृत्ति का निश्चयात्मक आधार भांगोलिक है परन्तु रीति का आधार कवि-स्वभावगत ही अधिक है। प्रवृत्ति व्यवहारात्मक है, इसीलिए राजशेखर ने उसको केवल वेश-विन्यास-क्रम ही माना है, रीति एकान्त साहित्यिक।

१. वृद्धिवा नाता देशवेशभाषाचारवाता रचापयतीति प्रवृत्ति

(नाट्यशास्त्र)

इसीलिए प्रवृत्ति या प्रत्यक्ष सम्बन्ध नाटक से ही है—रोति का काव्य से (या नाटक के काव्यांग से)। परन्तु इस भेद के रहते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रोति की कल्पना के पीछे प्रवृत्ति की प्रेरणा निस्संदेह वर्तमान थी।

रोति और वृत्ति —प्रवृत्ति का प्रचलन अत्यन्त सीमित हो रहा—अतएव उसके विषय में विशेष भ्रान्ति उत्पन्न नहीं हुई। परन्तु वृत्ति और रोति में अन्त तक भ्रान्ति के लिए अवकाश रहा।

वृत्ति के संस्कृत काव्य-शास्त्र में अनेक अर्थ हैं—किन्तु उन सबका प्रस्तुत प्रसंग से सम्बन्ध नहीं है। वृत्ति के केवल दो रूप ऐसे हैं जो रोति के समानधर्मी हैं—जिनसे उसका पार्थक्य आवश्यक है। ये दो रूप हैं (१) मातृ वृत्तियाँ भारतीय, मातृवती, कैशिकी तथा आरभटी—जिन्हें आनन्दवर्धन और अभिनव ने अर्थवृत्तियाँ कहा है। (२) काव्य वृत्तियाँ उपनागरिका, पर्या और कोमला (प्राग्या)—जिन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनव ने शब्दवृत्तियाँ कहा है। इन्हें अनुप्रासजाति भी कहते हैं।

आनन्दवर्धन ने वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार की है, व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते—अर्थात् व्यवहार या व्यापार का नाम वृत्ति है। अभिनवगुप्त ने इसी की तात्त्विक व्याख्या करते हुए लिखा है तस्मात् व्यापार पुमर्थ-साधको वृत्ति—पुरुषार्थ साधक व्यापार का नाम ही वृत्ति है। और स्पष्ट शब्दों में, पात्रों की कायिक, वाचिक और मानसिक विचित्रता से युक्त चेष्टा ही वृत्ति है। इस व्यापार का वर्णन काव्य में सर्वत्र होता है—कोई भी वर्णन व्यापार-शून्य नहीं होता, इसीलिए वृत्ति को काव्य की माता कहा गया है

सर्वेपामेव काव्यानां वृत्तयो मातृका स्मृता । (भरत)

यहाँ वाचिक के साथ ही कायिक और मानसिक चेष्टाओं का भी अन्तर्भाव है—इसलिए वृत्ति का रूप शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकार का होता है। आगे चलकर ये दोनों रूप पृथक् हो जाते हैं। आनन्दवर्धन के शब्दों में रसानुगुण अर्थ-व्यवहार भारतीय, मातृवती आदि वृत्तियों का रूप धारण कर लेता है, और रसानुगुण शब्द-व्यवहार उपनागरिका, पर्या और कोमला वृत्तियों का जिनके उद्भावक हैं आचार्य उद्भट। उद्भट ने इन्हें अनुप्रासजाति ही माना है, अतएव उनके मत से ये वृत्तियाँ वर्ण-व्यवहार मात्र ही हैं—इनमें पद-संघटना का विचार नहीं है। इन वृत्तियों के स्वरूप के विषय में आचार्यों में

मनभेद रहा है। रुद्रट ने वृत्ति को समास के आश्रित माना है और ममासयुक्त पद-संघटना को उसका आधार स्वीकार किया है।

नाम्ना वृत्तिर्द्विधाभवति ममासासमाभेदेन ।

आनन्दवर्धन ने थोड़ा और व्यापक रूप देते हुए उसे शब्द-व्यवहाररूप माना है। परन्तु आगे चलकर मम्मट ने फिर उद्भट के अनुसरण पर उसे नियतवर्ण-व्यापार मात्र ही स्वीकार किया है। और बाद में चलकर तो वृत्ति का रीति में अन्तर्भाव ही हो गया।

अर्थ-वृत्ति उपयुक्त दो प्रकार की वृत्तियों में पहली का रीति में निकट सम्बन्ध नहीं है। इनका प्रयोग प्रायः नाटक के प्रसंग में ही होता है—आज उपन्यास के क्षेत्र में भी इनकी सार्थकता हो सकती है। कायदाद्मनमा चेष्टा (अभिनवगुप्त) होने के कारण इनकी परिधि अत्यन्त व्यापक है। रीति का सम्बन्ध जहाँ पाणों से ही है वहाँ इनका सम्बन्ध शारीरिक तथा मानसिक व्यापारों से भी है। अर्थ वृत्ति का सम्बन्ध चरित्र-विधान तथा व्यक्तित्व-चित्रण में है। रीति वचन-रचना का प्रकार मात्र है। हाँ दोनों के मूल में रसानुकूल्य का आधार होने के कारण रस के सम्बन्ध में उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर किया जा सकता है। इस दृष्टि से केशिकी पांचाली के समानान्तर है, माणवी और भारमटी गौडाया के, और भारती बदभी के—भरत ने यद्यपि केवल शब्द-वृत्ति मानते हुए उसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित कर दिया है फिर भी परवर्ती आचार्यों ने उसकी मत्ता सर्वत्र मानी है। वृत्ति सर्वत्र भारती (शास्त्रातनय)।

वर्ण-वृत्ति दूसरी वृत्तियों का—उपनागरिका, परपा तथा कोमला का—रीतियों से इतना प्रत्यक्ष तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रायः उनके विषय में भ्रान्ति हो जाती है। इस विषय में आचार्यों के तीन मत हैं।

(१) वृत्ति की मत्ता रीति से स्वतंत्र है। उद्भट ने केवल वर्ण-व्यवहार रूप वृत्तियों का ही विवेचन किया है। रुद्रट ने भी समास को आधार मानते हुए वृत्ति का रीति से दृष्टि पृथक् उल्लेख किया है। उधर आनन्दवर्धन तथा अभिनव में भी दोनों का पृथक् वर्णन है—यद्यपि आगे चलकर आनन्दवर्धन ने वृत्ति को शब्द-व्यवहार मानकर वृत्ति और रीति की एकता स्वीकार करली है।

(२) मम्मट और उनके परवर्ती आचार्य परिहृतराज जगन्नाथ आदि वृत्ति और रीति को एक ही मानते हैं। मम्मट ने तो उपनागरिका आदि वृत्तियों का विवेचन करने के उपरान्त स्पष्ट ही लिख दिया है कि इन्हीं ही वेदार्थ आदि रीतियों के नाम से अभिहित किया जाता है। जगन्नाथ ने रीति और वृत्ति दोनों शब्दों का ही वेदार्थ आदि के लिए प्रयोग किया है।

(३) कुछ आचार्य वृत्ति को रीति का अंग मानते हैं वृत्ति से उनका तात्पर्य वर्ण-गुण्य का है और वर्ण-गुण्य रीति के अनेक तत्वों में से एक है—अतएव वह उसका अंग है। वामन ने वृत्ति का केशिका आदि के अर्थ में ही उल्लेख किया है, अनुप्रास जाति के अर्थ में वृत्ति का प्रयोग उद्भट का आविष्कार है जिसे वामन ने ग्रहण नहीं किया। परन्तु उनके रीति विवेचन में स्पष्ट है कि अनुप्रासजाति को वे रीति का एक बाह्य आधार-तत्त्व मानते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से वे वृत्ति को रीति का अंग मानते हैं। विश्वनाथ ने रीति के तीन तन्व माने हैं रचना (शब्द-गुण्य), समास, तथा वर्ण-संयोजना। अतएव उनके मत में भी वर्ण-संयोजना रूप वृत्ति सम्भवत ही रीति का अंग है।

उपर्युक्त अभिमतों के परीक्षण के उपरान्त यह परिणाम निकलता है कि यदि उद्भट का मत मान्य है और तदनुसार वृत्ति केवल वर्ण-गुण्य का नाम है तब तो वह रीति का एक बाह्य आधार तत्त्व है, परन्तु यदि आनन्दवर्धन के अनुसार उसे शब्द-व्यवहार माना जाए तो फिर वह रीति का पर्याय मात्र है उत्तर-ध्वनि काल के आचार्यों का यही मत रहा है। हमारा अपना विनम्र मत यह है कि वृत्ति शब्द की इस अर्थ में उद्भावना और उसका अतः तक प्रयोग उसके पृथक् अस्तित्व के प्रमाण है। वह वर्ण-व्यवहार—आधुनिक शब्दावली में वर्ण-संयोजना—रूप है, और रीति का एक बाह्य अंग है। रीति के दो बाह्य तन्व हैं (१) सघटना (शब्द-योजना, समास आदि) और (२) वर्ण-योजना जिसका कुमरा नाम है वृत्ति।

रीति और शैली रीति का समानधर्मा शब्द केवल एक शब्द रह जाता है। शैली। वैसे तो यह शब्द अत्यंत प्राचीन है और हमकी व्युत्पत्ति शील से हुई है। शील का अर्थ है स्वभाव जो कुन्तक के मत में रीति का नियामक आधार है। जिस प्रकार स्वभाव की अभिव्यक्ति का मार्ग रीति है, उसी प्रकार शील (स्वभाव) की अभिव्यक्ति-पद्धति शैली भी है और उसके

व्युत्पत्ति अर्थ में भी वैयक्तिक तत्त्व मूलतः वर्तमान है। परन्तु फिर भी भारतीय काव्यशास्त्र में इसका प्रयोग प्रस्तुत अर्थ में प्रायः नहीं हुआ। शास्त्र में यह शब्द व्याख्यान-पद्धति आदि के प्रयोग में ही प्रयुक्त हुआ है यथा—
 'प्रायेण आचार्याणामिय शैली यत् सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति।
 (कुल्लूक भट्ट की टीका—मनुस्मृति १।४। बतदेव उपाध्याय—भारतीय भा० शा० से उद्धृत)। अभिव्यक्ति की पद्धति के अर्थ में शैली का प्रयोग आधुनिक ही है जो अंगरेज़ी के स्टाइल शब्द का पर्याय है।

विशिष्ट अर्थ में शैली और शैली में बहुत अंतर नहीं है। शैली की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। शैली विचारों का परिधान है। शैली उपयुक्त शब्दावली का प्रयोग है। अभिव्यक्ति की शैली का नाम शैली है। शैली भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग है। शैली ही व्यक्ति है, इत्यादि।

शैली के दो मूलतत्त्व हैं एक व्यक्ति-तत्त्व, और दूसरा वस्तु तत्त्व।

यूरोप के काव्य-शास्त्र में इन दोनों तत्त्वों का विस्तृत विवेचन किया गया है। यूनानी आचार्यों के उपरान्त रोम के, और उनके उपरान्त फ्रांस, इंग्लैंड आदि के अनेक काव्य-शास्त्रियों ने शैली के वस्तु-तत्त्व का सम्यक् विवेचन किया है। अथ रह जाता है शैली का वैयक्तिक तत्त्व। वास्तव में शैली के व्यक्ति-तत्त्व और वस्तु-तत्त्व में व्यक्ति तत्त्व ही प्रधान है। उसी के द्वारा शैलीकार शैली के बाह्य उपकरणों का समन्वय—अनेकता में एकता की स्थापना करता है। वैयक्तिक तत्त्व के दो रूप हैं एक तो शैली द्वारा कवि की आत्माभिव्यक्ति—अर्थात् शैली का आत्माभिव्यक्ति रूप और दूसरा पात्र तथा परिस्थिति के साथ शैली का सामंजस्य। भारतीय रीति-विवेचन में पहला रूप विरल है। परन्तु इस प्रसंग में एक बात याद रखनी चाहिए, इसमें संदेह नहीं कि उसे वांछित महत्त्व नहीं दिया गया फिर भी उसकी स्वीकृति का सर्वथा अभाव नहीं है। दण्डी ने काव्य-मार्ग को प्रतिकविस्थित माना है और कुन्तक ने तो कवि-स्वभाव को ही शैली का मूल आधार माना है। उनके उपरान्त शरदातनय आदि ने भी 'पु सि पु सि विशेषेण कापि कापि स्मरन्वती' कह कर व्यक्ति-तत्त्व को स्वीकृति दी है। वैयक्तिक तत्त्व के दूसरे रूप का विधान तो भारतीय काव्यशास्त्र में निश्चय ही मिलता है। यद्यपि वामन ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया किन्तु वामन में पूर्व भरत ने स्पष्ट निर्णय दिया है कि नाटक में भाषा

पात्र के शीत-स्वभाव की अनुवर्तिनी होनी चाहिये । उधर आनन्दवर्धन ने तो वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य को रीतियों का नियामक ही माना है ।

अब प्रश्न यह है कि क्या शैली और रीति पर्याय शब्द हैं । अथवा उनमें अन्तर है । डा० मुशीलकुमार डे ने उनको एक मानने के जिम्मेदार चेतावनी दी है । उनका कहना है कि रीति में व्यक्ति-तत्त्व का अभाव है, और व्यक्ति-तत्त्व शैली का मूल आधार है अतएव दोनों को एक मानना भ्रान्ति है । हिन्दी के विद्वानों ने भी उनके आधार पर इन दोनों का भेद स्वीकार किया है । जहा तक शैली के वस्तु-रूप का सम्बन्ध है, वहा तक तो रीति में उसका पाठ्यक्रम करना अनापश्यक है । जैसा कि रीतिकाल की भूमिका में स्पष्ट किया है यूरोप के आचार्यों द्वारा निश्चित शैली के तत्त्व नामान्तर से रीति के तत्त्वों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं—अथवा रीति के तत्त्वों का उपर्युक्त शैली-तत्त्वों में अन्तर्भाव हो जाता है । जय, स्वर-स्वास्तिभ्य आदि कला तत्त्व धर्म-गुण और शब्द-गुण के अन्तर्गत आ जाते हैं, बौद्धिक तत्त्वों का समावेश अर्थव्यक्ति प्रमादादि गुणों और कतिपय अपालङ्कारों के अन्तर्गत हो जाता है, और रागात्मक तत्त्व रस (कान्ति-गुण) माधुर्य और छोज गुणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में वस्तु-तत्त्व शैली और रीति दोनों के सर्वथा समान हैं—केवल नाम-भेद है । व्यक्ति-तत्त्व के सम्बन्ध में भी दोनों में इतना भेद नहीं है जितना कि डा० डे ने माना है । रीति पर व्यक्तित्व का प्रभाव दशवीं आदि प्राचीन आचार्यों तथा कुन्तक, शारदातनय आदि नवीन आचार्यों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है । कुन्तक का विवेचन तो सर्वथा आधुनिक ही प्रतीत होता है—वे तो यूरोप के रोमांटिक आलोचकों की भाँति ही स्वभाव पर बल डेते हैं । यूरोप में भी पुनर्जागरण काल और विशेषरूप से रोमांटिक युग के बाद ही व्यक्ति-तत्त्व को यह उभार मिला है । यूनान और रोम के—नाद में इटली और फ्रांस के आलोचकों ने तो प्रायः शैली के वस्तु-तत्त्व पर ही बल दिया है ।

उपर्युक्त विवेचन के परिणाम इस प्रकार हैं

(१) रीति और शैली का वस्तु-रूप एक ही है । आरम्भ में भारत और यूरोप दोनों के सात्व्य शास्त्रों में प्रायः वस्तु-रूप का ही विवेचन हुआ है ।

(२) भारतीय रीति में व्यक्ति-तत्त्व की सर्वथा अस्वीकृति नहीं है, जैसा कि डा० डे आदि ने माना है ।

(३) फिर भी अपने वर्तमान रूप में शैली में व्यक्ति-तत्त्व का जितना महत्त्व है, उतना भारतीय रीति में कभी नहीं रहा। विधान रूप में उसमें वस्तु-तत्त्व का ही प्राधान्य रहा है। वामन की दृष्टि तो वस्तु-परक है ही आनन्दवर्धन जैसे सर्वमान्य आलोचकों ने भी—जिन्होंने व्यक्ति की सत्ता को उचित स्वीकृति दी है, रीति के स्वरूप में व्यक्ति-तत्त्व का प्रभाव अत्यन्त मंयत मात्रा में ही माना है।

(४) इस प्रकार रीति और शैली के वर्तमान रूप में व्यक्ति-तत्त्व की मात्रा का अन्तर अवरय हो गया है। कम से कम 'शैली ही व्यक्ति है' की भीन्ति भारतीय रीति व्यक्ति से एकाकार नहीं हो पाई। इस सम्बन्ध में कुन्तक जैसे आचार्य की एक आद्य उक्ति को अपवाद ही मानना चाहिये।

गुण-विवेचन

गुण की परिभाषा आमन से पूर्व भरत और दण्डी ने दश गुणों का सामोपाग वर्णन तो किया है, परन्तु परिभाषा नहीं की।

भरत — भरत ने गुणों को भावात्मक सत्त्व न मान कर अभावात्मक—अर्थात् दोषों का विपर्यय माना है गुण विपर्ययाद् गेयाम् माधुर्यैर्द्रव्यलक्षणा । (नाट्यशास्त्र, काव्यमाला १६।६१)—अथवा एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः । (नाट्यशास्त्र-चौखम्बा—१७।६४०)। विपर्यय का वास्तविक अर्थ क्या है इस विषय में आचार्यों में मतभेद रहा है। इस शब्द के तीन अर्थ किये गये हैं अभाव, अन्यथा भाव और वैपरीत्य। अभिनवगुप्त ने विघात या अभाव को ही ग्रहण किया है। उनके अनुसार भरत का मत है कि दोष का अभाव गुण है। उत्तरार्ध्यनि काल के आचार्यों ने भी दोष के अभाव को गुण (सद्गुण) माना है महान् निर्दोषता गुण। परन्तु फिर भी भरत के गुण-विवेचन से यह सिद्ध नहीं होता कि उनके सभी गुणों की स्थिति अभावात्मक है। उनके लक्षणों से स्पष्ट है कि कुछ गुणों को छोड़कर शेष सभी की स्थिति निश्चय ही भावात्मक है। उदाहरण के लिए समता की स्थिति अवश्य ही अभावात्मक है, परन्तु उदारता, मौकुमार्य, ओजस् आदि गुण जिनमें दिव्यभाव, सुकुमार अर्थ, और शब्दार्थ-सम्पत्ति आदि का निश्चित रूप से सद्भाव रहता है अभावात्मक कैसे हो सकते हैं? अन्यथाभाव और वैपरीत्य की स्थिति विलोम रूप से भावात्मक हो जाती है—घन का सद्भाव भावात्मक स्थिति है, घन का अभाव अभावात्मक है, परन्तु ऋण का सद्भाव पुन भावात्मक स्थिति है क्योंकि ऋण के अभाव-रूप में उसकी अभावात्मक स्थिति भी

होता है। इसलिपु विपर्यय का अर्थ वैपरीत्य ही मानना सगत है—भरत ने दोषों का विवेचन पहले किया है अनपुव उसी क्रम में दोषों के सम्बन्ध से—उनके विपर्यय रूप में—उन्होंने गुणों का भी विवेचन किया है। और, जैसा कि जैकोशी ने समाधान किया है, यह क्रम सामान्य व्यवहार-दृष्टि में रखा गया है जिसके अनुसार मनुष्य के दोष अधिक स्पष्ट रहते हैं—और गुणों की कल्पना हम प्रायः उन सहज-प्राप्त दोषों के निषेध (अभाव अथवा विपर्यय) रूप में ही करते हैं।

अतएव हमारा निष्कर्ष यह है कि भरत ने गुण को दोष का वैपरीत्य ही माना है, परन्तु, (जैसा कि बिन्न मत रखते हुए भी एक स्थान पर डा० लाहिरी ने सकेत किया है,) निर्दिष्ट दश गुण पूर्व विवेचन दश दोषों के ही क्रमशः विपरीत रूप चर्चों हैं यह तो उनके नामकरण में ही स्पष्ट है। अर्थात् यह वैपरीत्य सामान्य है, विशिष्ट नहीं है।

इसके अतिरिक्त भरत के अनुसार लक्षण (काव्य-ग्रन्थ) तथा अलंकार की भाँति गुण की भी सार्थकता यही है कि वह वाचिक अभिनय को प्रभावशाली बनाना है। नाटक में जो वाचिक अभिनय है काव्य में वही काव्य भाषा या शैली है, इस प्रकार काव्य के प्रसंग में गुण का कार्य है काव्य-शैली को समृद्ध करना—प्रभावशाली बनाना।

भरत ने नाटक का और उपचार से काव्य का मूल तत्त्व रस माना है—वाचिकाभिनय रस का साधन है अनपुव रस के अधीनस्थ है, और उपर्युक्त गुण आदि तत्त्व भी जो वाचिकाभिनय के चरित्रकार के अंग हैं, परम्परा-सम्बन्ध से रस के अधीनस्थ हैं।

उपर्युक्त विवेचन के सार रूप हम भरत के अनुसार गुण का लक्षण इस प्रकार कर सकते हैं

दोषों के विपर्यय (वैपरीत्य) रूप गुण काव्य-शैली को समृद्ध करने वाले तत्त्व हैं जो परम्परा-सम्बन्ध से रस के आश्रित रहते हैं।

दूरदो .— दूरदो ने भा दशगुणों का विवेचन तो विस्तार से किया है, किन्तु गुण का सामान्य लक्षण नहीं किया। तथापि उनके दो श्लोक ऐसे हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकालने में कठिनाई नहीं होती कि गुण के स्वरूप के विषय में उनकी धारणा क्या थी।

काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते ।
 ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते, कस्तान् कात्स्न्येन वक्ष्यति ॥२,१॥
 काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः ।
 साधारणमलंकारजातमन्यच्च प्रदर्श्यते ॥२,३॥
 (काव्यादर्श)

काव्य के शोभाकरक धर्म अलंकार कहलाते हैं—उनकी कल्पना अब भी बराबर हो रही है । इनका समग्र रूप में वर्णन कौन कर सकता है ?

(इससे) पूर्ण भी मार्गों का विभाग करने के लिए कुछ अलंकारों का वर्णन किया जा चुका है । (अब) साधारण अलंकारों का वर्णन किया जाता है ।

उपर्युक्त श्लोकों का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है

काव्य के शोभा-विधायक सभी धर्म अलंकार कहलाते हैं—उनकी सदा निरूप्य धर्ममान है—वे असंख्य हो सकते हैं ।

उपमा रूपक आदि प्रसिद्ध अलंकारों को दण्डी ने 'साधारण अलंकार' कहा है ।

इन साधारण अलंकारों के अतिरिक्त अन्य सभी सौन्दर्य-विधायक तत्त्व भी अलंकार ही हैं ।

मार्ग-विभाजन के आधारभूत दश गुण भी अलंक्रिया अथवा अलंकार ही हैं ।

अतएव (१) दण्डी के अनुसार गुण भी एक प्रकार के अलंकार—अर्थात् काव्य-शोभा-विधायक धर्म हैं शोभाकरत्व ही अलंकारलक्षण, तत्त्वलक्षण-योगात् तदपि (श्लेषादयो दशगुणा अपि) अलंकाराः (सरणवाचस्पति) ।

(२) ये काव्य के स्वतंत्र अंग हैं—रस के आश्रित नहीं हैं, अर्थात् इनके द्वारा काव्य का सौधा उपकार होता है रस के आश्रय से नहीं । दण्डी

१ दण्डी के टीकाकारों ने इनका अर्थ अनुप्रास आदि शब्दालंकार किया है—परन्तु डॉ० साहनी इनसे गुणों का आशय ग्रहण करते हैं । हमारे डॉ० लहरी का ही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है ।

ने काव्य को इष्टार्थवाचक पदावली माना है—अतएव काव्य शोभा का अर्थ हुआ शब्दार्थ की शोभा और उसके विधायक गुणों का सम्बन्ध सीधा शब्दार्थ से हुआ ।

वामन — गुण का लक्षण सधमे पहले वामन ने किया है 'काव्य क शोभाकारक धर्म गुण कहन्ताते हैं । शब्द और अर्थ क ने धर्म जो काव्य को शोभा सम्पन्न करत हैं गुण कहन्ताते हैं । ये हैं आज्ञा, प्रसादादि—उनक उपमादि नहीं क्यो कि यमक उपमादि अलंकार, अनेले, काव्य-शोभा का सृष्टि नहीं कर सकते । इसके विपरीत ओज प्रसादादि अनेले ही काव्य का शोभा-सम्पन्न कर सकते हैं ।

+ + + +

गुण मिरय है—उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती ।

(काव्यालंकारसूत्र ३.१)

अर्थात्

(१) गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं ।

(२) ये काव्य के मूल शोभाधायक सत्व हैं ।

(३) ये काव्य के काव्यत्व के लिए अनिवार्य हैं । उनके बिना काव्य काव्य-पद का अधिकारी नहीं होता ।

इसके अतिरिक्त (४) भरत के प्रतिकूल तथा इराड़ी क अनुकूल वामन गुणों को रस के धर्म न मानकर शब्दार्थ के ही धर्म मानने हुए काव्य में उनकी स्वतन्त्र तथा प्रमुख सत्ता मानते हैं—गुण रस के आश्रित नहीं है वरन् कान्ति गुण का अग होने के कारण रस ही गुण का अग है — दीसरसाव कांति ।

ध्वनिकार तथा उनके अनुयायी ध्वनिकार ने गुणों का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर उन्हें रस के आश्रित माना है । उन्होंने गुण का लक्षण इस प्रकार किया है "तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिन ते गुणा स्मृताः ।" अर्थात् जो प्रधानभूत (रस) अंगों के आश्रित रहने वाले हैं उनको गुण कहते हैं । इस प्रकार ध्वनिकार ने उन्हें आत्मभूत रस के धर्म माना है शरीरभूत शब्दार्थ के नहीं ।

ध्वनिकार के उपरान्त प्रायः उन्हीं का मत मान्य रहा । मम्मट ने उनके लक्षण को और स्पष्ट करते हुए लिखा है

ये रमस्यागिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन
उत्कर्षहेतव ते स्यु अचलस्थितयो गुणाः ॥

(काव्यप्रकाश)

आत्मा के शौर्यादि (गुणों) की मोति अगोभूत रस के उत्कर्षकारी अचलस्थिति धर्म गुण कहलाते हैं । अर्थात्

(१) गुण रस के धर्म हैं ।

(२) वे अचलस्थिति अथवा नित्य हैं ।

(३) वे रम ला उत्कर्ष करते हैं ।

विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने प्रायः इसी लक्षण को प्रकारान्तर से ब्रुहराया है । केवल पण्डितराज जगन्नाथ ने गुण को रसधर्म मात्र मानने में आपत्ति की है । उनका तर्क है कि काव्य का आत्मन् होने के कारण रस तो गुणशून्य हुआ—उसका धर्म अथवा गुण कैसा ? (परमात्मा गुणशून्य पृथ्वी मायावादिनो मन्यन्ते ।) अतएव गुण शब्दार्थ का धर्म है । परन्तु आगे चलकर उनके विवेचन में शब्द-अर्थ के साथ साथ रस को भी गुण का आधार माना गया है जिससे गुण का रसधर्मत्व फिर स्थापित हो जाता है । और वास्तव में अन्तर्लोकवा पण्डितराज ने इसका निषेध नहीं किया ।—ध्वनि की मान्यता स्वीकार कर लेने पर यह सम्भव भी नहीं था ।

निष्कर्ष यह है कि गुण काव्य के उत्कर्ष-साधक तत्त्व हैं इस विषय में सबकी पूर्ण सहमति है । परन्तु वामन आदि पूर्व-ध्वनि काल के आचार्यों ने उन्हे शब्दार्थ के धर्म माना है जिसकी सत्ता स्वतन्त्र है—रस कान्ति का अग होने के लिये गुण का अग है, गुण रस के आश्रित अथवा रस के धर्म नहीं है । अर्थात् वे शब्दार्थ रूप काव्य का साक्षात् उपकार करते हैं—रस के आश्रय में नहीं । इसके विपरीत उत्तर-ध्वनि काल के आचार्य उन्हे प्राण रूप रस के धर्म मानते हैं—शरीर-रूप शब्दार्थ के नहीं ।—वे रस के आश्रय से ही काव्य की उत्कर्ष-साधना करते हैं । आगे चलकर गुण की यही परिभाषा सर्वमान्य हो गई और मम्मट ने उत्तर-ध्वनि काल के आचार्यों की गुण-विषयक धारणाओं को पारिभाषिक शब्दों में बाँध दिया । गुणों का साक्षात् सम्बन्ध रस में ही स्थापित हो गया—शब्दार्थ के साथ उसका सम्बन्ध केवल आप्त्तिक ही माना गया । परन्तु इस विषय में स्थिति सर्वथा निर्भ्रान्त और सशय-

होन नहीं रही—जगन्नाथ ने तो स्पष्ट ही गुणों को शब्दार्थ के (कम से कम शब्दार्थ के भी) धर्म माना। सम्मत् और विरचनाय ने भी मातुर्य तथा ओज आदि का वशों से स्पष्ट सम्बन्ध माना है—व्यस्य-व्यञ्जक सम्बन्ध भी एक प्रकार का धनिष्ठ सम्बन्ध है। मातुर्यादि के स्वरूप-निर्धारण में वश-गुम्फ तथा शब्द-गुम्फ का आधार सदा ही निश्चय-पूर्वक ग्रहण किया गया है। अतएव मूलतः रस के साथ सम्बद्ध होने हुए भी गुण शब्दार्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं है। उन्हें रस के धर्म तो मानना ही चाहिए, परन्तु साथ ही शब्दार्थ के धर्म मानने में भी आपत्ति नहीं करना चाहिए। शीर्षादि की उपमा भी इस मन्तव्य को पुष्ट ही करती है क्योंकि इसमें संदेह नहीं कि वे मूलतः आत्मा के—अन्तरंग स्वप्नित्य के धर्म हैं—परन्तु बाह्य व्यक्तित्व से उनका कोई सम्बन्ध ही न हो यह भी नहीं माना जा सकता। मातुर व्यक्तित्व अथवा ओजस्वी स्वप्नित्य के लिए आत्मा के ही मातुर्य अथवा ओज का अपेक्षा नहीं होनी आकृति के मातुर्य और नेत्र की भी आवश्यकता रहती है—कवल औपचारिक कह कर उसको दाल देना पर्याप्त नहीं है।

अन गुण उन तथ्यों को कहते हैं जो विशेषरूप से प्राणभूत रस के और समान्य रूप से शरीर-भूत शब्दार्थ के आश्रय से काव्य का उद्भय करते हैं।

अथवा

गुण काव्य के उन उद्भय-साधक तथ्यों को कहते हैं जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के निर्य धर्म हैं।

गुण के आधार-तत्त्व

दण्डी और वामन आदि पूर्व-ध्वनि आचार्यों ने गुण को शब्द और अर्थ का धर्म माना है। उनके गुण विवेचन से स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ के चमत्कार (वश-गुम्फ, शब्द-गुम्फ आदि शब्द-चमत्कार और उधर अप्राप्त्य-त्व, अपारूप्य, रस आदि अनेक प्रकार के अर्थ-चमत्कार) गुण के आधार तत्त्व हैं। इनके उपरान्त जब ध्वनिकार ने और उनके अनुयाइयों ने गुण की रसधर्म मान लिया तो स्वभावतः ही उसका स्वरूप सूक्ष्मतर हो गया। वह शब्द-चमत्कार या अर्थ-चमत्कार न रह कर 'चित्त-वृत्ति' माना गया। अभिनव,

मगमट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने उसे स्पष्ट गन्टो में चित्तवृत्ति रूप माना है, क्योंकि व्यञ्जक रूप में उमने आधार है।—जगन्नाथ ने, इससे भी अधिक, उन्हें प्रयोजन रूप माना है। रस-ध्वनिवादियों के अनुसार माधुर्यादि गुण द्रुति अर्थात् चित्तवृत्तियों के तद्रूप ही हैं—उनका वास्तविक आधार रस ही है, परन्तु व्यञ्जक रूप में वर्ण-गुम्फ, समास तथा रचना आदि भी गुण का आधार हैं। जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है गुण रस और शब्दार्थ दोनों का ही धर्म है। रस का धर्म होने के नाते वह चित्तवृत्ति रूप है और शब्दार्थ का धर्म होने के नाते उसे वर्णगुम्फ और शब्द-गुम्फ पर आश्रित भी मानना पड़ेगा। गुण का स्वरूप निरूपण में वर्ण, समास आदि का अनिवार्य आधार हमका प्रमाण है। अतएव गुण अपने सूक्ष्म-रूप में चित्तवृत्ति रूप है और स्थूल अथवा मूर्तरूप में वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-घटना रूप है, द्रुति, दीप्ति व्यापकत्व नामक चित्तवृत्ति उसका आन्तर आधारस्वरूप है तथा वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ बाह्य।

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति

उपर्युक्त व्याख्या से गुण का लक्ष्य तो निर्धारित हो जाता है, परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन पूर्णतः नहीं होता। उसके लिए गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति का स्पष्टीकरण आवश्यक है। आनन्दधर्मेन ने तो केवल यही कहा है कि शब्दार्थ, रस आदि रसों में, जहाँ चित्त आह्लादित और दीप्ति होता है, माधुर्य, ओज आदि गुण बसते हैं, परन्तु आह्लादन (द्रुति) और दीप्ति से गुणों का क्या सम्बन्ध है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। क्या माधुर्य और चित्त की द्रुति अथवा ओज और चित्त की दीप्ति परस्पर अभिन्न है अथवा उनमें कारण-कार्य सम्बन्ध है? हम समस्या को अभिन्न ने सुलझाया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुण चित्त की अवस्था का ही नाम है। माधुर्य चित्त की द्रवित अवस्था है, ओज दीप्ति है और प्रसाद व्यापकत्व है। चित्त की यह द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति रस-परिपाक के साथ ही घटित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शब्दार्थ रस की अनुभूति से चित्त में जो एक प्रकार की आर्द्रता का संचार होता है वही माधुर्य है, और रस के अनुभव से उसमें जो एक प्रकार की दीप्ति उत्पन्न होती है वही ओज है, और सभी रसों के अनुभव से चित्त में जो एक व्यापकत्व आता है वही प्रसाद है। इस प्रकार अभिन्न

के अनुसार माधुर्य आदि गुण चित्त की द्रुति आदि अवस्थाओं से सर्वथा अभिन्न हैं और चूँकि ये अवस्थाएँ रसानुभूति के कारण ही उत्पन्न होती हैं, अतएव रस को कारण और गुण को उसका कार्य कहा जा सकता है। कारण और कार्य में अन्तर होना अनिवार्य है, इसलिए रस और चित्त-द्रुति आदि के अनुभव में भी अन्तर अवश्य मानना होगा कम-से-कम काल-क्रम का अन्तर तो है ही। परन्तु चूँकि रस की पूर्ण स्थिति में दूसरे अनुभव के लिए स्थान नहीं रहता, अतएव चित्त-द्रुति आदि का भी सहृदय को पृथक् अनुभव नहीं रह पाता। यह रस के अनुभव में ही निमग्न हो जाता है। आनन्दवर्धन ॥ गुणों को रस के नियम धर्म हमें दृष्टि में माना है।

अभिनव के उपरान्त माधुर्य आदि गुणों को मम्मट ने रस के उत्कर्ष-वर्द्धक एवं अवलम्बित धर्म माना और उन्हें चित्त-द्रुति आदि का कारण माना। अभिनव ने रस को गुण का कारण माना था और गुण को चित्त-द्रुति आदि में अभिन्न स्वीकार किया था। मम्मट गुण को चित्त-द्रुति आदि का कारण मानते हैं। गुण का स्वरूप क्या है इस विषय में मम्मट ने कुछ प्रकाश नहीं डाला। मम्मट का प्रतिपाद विरचनाय ने किया। उन्होंने फिर अभिनव के मत की ही प्रतिष्ठा की। अर्थात् चित्त के द्रुति दीप्त्य-रूप आनन्द को ही गुण माना। परन्तु उनका मत था कि 'द्विधीभाव या द्रुति आम्नाद-स्वरूप आम्नाद में अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है, जैसा कि अभिनव ने किसी घटा तक माना है। आम्नाद या आम्नाद रस के पर्याय हैं। द्रुति रस का ही स्वरूप है, उसमें भिन्न नहीं है।' इस तरह विरचनाय ने एक प्रकार से गुण को रस से ही अभिन्न मान लिया है।

इन मान्यताओं को पण्डितराज जगन्नाथ ने चुनौती दी। सप्रति पहले उन्होंने अभिनव गुण के तर्क का प्रतिवाद किया। अभिनव गुण के अनुसार एक ओर तो गुण रस के धर्म है और दूसरी ओर द्रुति आदि के स्वरूप होने के कारण रस के कार्य है—अतएव वे रस के धर्म और कार्य दोनों ही हैं। पण्डित-राज की तार्किक बुद्धि ने इस मन्तव्य को अस्मिन् घोषित किया बचो कि धर्म और कार्य की स्थिति अभिन्न नहीं होती। उल्लेखनीय अल का धर्म है, दाह कार्य है—उल्लेखनीय की स्थिति दाह के बिना भी सिद्ध है अतएव दोनों को अभिन्न नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में गुण रस का धर्म और कार्य कैसे हो सकता है? विरचनाय की स्थापना तो और भी असंगत है—यदि गुण रस में अभिन्न

है तो उसकी पृथक् सत्ता क्यों मानी जाये ? पण्डितराज ने इन दोनों का खटन करते हुए मम्मट के दृष्टिकोण को आंशिक रूप में स्वीकार किया । मम्मट ने गुण और चित्तवृत्ति को एक नहीं माना—उन्होंने गुण को कारण और चित्तवृत्ति को कार्य माना है । जगन्नाथ इनमें प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध मानते हैं : गुण प्रयोजक है और चित्तवृत्ति प्रयोज्य—प्रयोजक और प्रयोज्य सम्बन्ध में दोनों को एक भी माना जा सकता है प्रयोजकता सम्बन्धेन द्रुत्यादिक्रम एव वा माधुर्यादिकमस्तु । रसगंगाधर पृ० २२ । यह विवेचन भी निर्भ्रान्त नहीं है । एक ओर तो पण्डितराज गुण को वस्तु रूप में ही रस और शब्दार्थ दोनों का धर्म मानते हैं और दूसरा ओर प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध से उसे चित्तवृत्ति रूप भी मानते हैं । रसधर्म होने के नाते तो गुण चित्तवृत्ति रूप अवश्य हो सकता है । परन्तु शब्दार्थ का धर्म होने के नाते यह सम्भव नहीं है—क्योंकि द्रुति आदि चित्तवृत्तियों की आह्लादरूप रस में तो स्थिति सम्भव है, परन्तु शब्द और अर्थ में उनकी अवस्थिति कैसे मानी जा सकती है ?

वास्तव में संस्कृत साहित्य-शास्त्र में गुण की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नहीं है । काव्य में उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार करने में भी चतुर्लक्षित सन्देह अंत तक बना रहता है । फिर भी उसकी सत्ता निरपवाद रूप से मानी ही गई है और उसका एक साथ निषेध करना अधिक सगत न होगा ।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो रस और गुण दोनों ही मन स्थितियाँ हैं (इस विषय में अभिनव, मम्मट आदि सभी सहमत हैं) । रस वह आनन्द रूपी मन स्थिति है, जिसमें हमारी सभी वृत्तियाँ अन्विष्ट हो जाती हैं और यह स्थिति अलक्ष्य है । उधर गुण भी मन स्थिति है, जिसमें कहीं चित्त-वृत्तियाँ द्रवित हो जाती हैं, कहीं दीप्त और कहीं पररम्भात् । यहाँ तक तो कोई कठिनाई नहीं है । यह भी ठीक है कि विशेष भावों में और विशेष शब्दों में भी चित्त-वृत्तियों को द्रवित अथवा दीप्त करने की शक्ति होती है । उदाहरण के स्तिप मधुर वणों को सुनकर और प्रेम, करुणा आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है, जिसे तरलता के कारण द्रुति कहते हैं । और महाप्राण वणों को सुनकर पृथ्वी और रौद्र आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है जिसे विस्तार के कारण दीप्ति कहते हैं । परन्तु इन विकारों को पूर्णतः आह्लाद रूप नहीं कह सकते । यहाँ काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पार करके भोजकत्व की ओर बढ़

रहा है। अभी उसमें वस्तु-तत्त्व नि शेष नहीं हुआ, और स्पष्ट शब्दों में हमारा चित्त वृत्तियाँ उत्तेजित हाकर अन्विति की ओर बढ़ रही है। अभी इनमें पूर्ण अन्विति की स्थापना नहीं हुई, क्योंकि तब तो रस का परिपाक ही हो जाता। जैसा भट्ट नायक ने एक जगह सकेत किया है, यह काव्य के भावकाव्य की एक आरम्भिक स्थिति है, जो पूर्ण रमन्व की पूर्ववर्ती है। अतएव गुण को अनि-चार्यत, आह्लाद रूप में मान कर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाय, तो उसे मरलता से रम-परिपाक की प्रक्रिया में रस-दशा में ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियाँ पिघलकर, दीप्त होकर, या परि-व्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं।

भाविते च रसे तस्य भोगः । योऽनुभाव-स्मरण-प्रतिपत्तिभ्यो
विलक्षण एव द्रुति-विस्तार-विकासनाभा रजस-तमो-वैचित्र्यात्तनुविद्ध-
सत्वमयनिज-चित्-स्वभाव-निवृत्ति-द्रुति-विश्रान्तिलक्षण परब्रह्मास्था-
नसचिव ॥

(लोचन के पृ० १८ पर उद्धृत)

गुणों की सख्या — भरत ने गुणों की सख्या ठम मानी है और उनका वर्णन इस क्रम में किया है

श्लेष प्रसाद समता ममाधि
माधुर्यमोज पदमौल्यमार्थम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ।

दण्डी ने भी ये ही दश गुण माने हैं—उनका क्रम थोड़ा भिन्न है

श्लेष प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाधय ॥

परन्तु इन क्रमों के पीछे कदाचित् कुछ का ही आग्रह है—इसके अनिश्चित सापेक्षिक महत्वादि का आचार मानना सगत नहीं होगा। दण्डी की अनेक परिभाषाएँ भरत से भिन्न हैं—उनके समाधि, कान्ति आदि गुणों का तो भरत के समाधि, कान्ति आदि से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वामन ने भी इन दश गुणों को ही ग्रहण किया है परन्तु उन्होंने प्रत्येक गुण के शब्द-गुण और अर्थ-गुण—दो भेद माने हैं। इस प्रकार वामन की गुणसंख्या बीस

हो जाती है : दश शब्द-गुण और दश अर्थ-गुण । यह प्रेरणा उन्हें भरत से ही मिली है क्योंकि भरत ने दश गुण मानते हुए भी उनमें से अनेक के दो दो लक्षण दिये हैं—जो प्रायः, जैसा कि अभिनवगुप्त ने माना है, शब्द-गुण और अर्थ-गुण का ही संकेत करते हैं । वामन के परचात भोज ने गुण-सत्या से और वृद्धि की है—और २४ गुणों का वर्णन किया है । उन्होंने तीन प्रकार के गुण माने हैं—वाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक । इनमें से वाह्य गुण शब्द-गुण के ही नामान्तर हैं, आभ्यन्तर गुण अर्थगुण हैं, वैशेषिक गुण भावात्मक नहीं हैं—ये सामान्य रूप में तोष दे—परन्तु विशेष मदर्भ में गुण बन जाते हैं । भोज ने उपर्युक्त प्रत्येक वर्ग में भी २४ गुण माने हैं—इस प्रकार उनमें अनुसार पूर्ण योग ७२ हो जाता है । भोज ने भरत, दण्डी तथा वामन के दश गुण तो छोड़े-बहुत लक्षण भेद के साथ प्रायः यथावत् स्थापना कर लिये हैं—परन्तु साथ ही लगभग इन्हीं के भेद-रूप चौदह नवौन गुणों की उद्भावना कर डाली है ।

नवीन शब्द-गुण तथा अर्थ-गुण (वाह्य तथा आभ्यन्तर) —

उदात्तता, और्जीत्य, प्रेयस्, मुखज्जता, सौख्य, गाभोर्य, विस्तार, मक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति तथा प्रीति ।

वैशेषिक गुण —असाधु (अनुकरण में), अप्रयुक्त (अनुकरण में), कष्ट (दुर्वाचनानादि में), अनर्थक (यमकादि अलंकारों में), अन्यार्थ (प्रहेलिका आदि में), अपुष्टार्थ (वृ-द-पूर्ति में), असमर्थ (कामशास्त्र आदि में), अप्रतीत (विशिष्ट विद्या-विशारदों के सम्भाषणादि में), विस्तृष्ट (व्याख्यानानादि में—जहाँ गूढार्थ का स्पष्ट संकेत होता है), नेयार्थ (प्रहेलिका आदि में), मविगध (प्रमग आदि के कारण आशय स्पष्ट हो जाने पर), विरुद्ध (इष्टापूर्वक प्रयुक्त किये जाने पर, जहाँ विपरीत—प्रकल्पना हो अभीष्ट हो), अप्रयोजक (अप्रयोजक विशेषण के अपने आप में सुन्दर होने के कारण), देश्य (महाकवियों द्वारा प्रयुक्त होने पर), ग्राम्य (घृष्टावत्, अस्लील तथा अमगल रूप ग्राम्य दोष क्रमशः सवित अर्थात्—सहज भाव में स्वीकृत, गुप्त और ललित होने पर गुण बन जाता है) ।—ये गुण १६ हैं, परन्तु भोज ने ग्राम्य के घृष्टावत्, अस्लील तथा अमगल रूपों के तीन तीन भेद और किये हैं ।—इस प्रकार वैशेषिक गुणों का सर्वयोग भी २४ हो जाता है । इनके अतिरिक्त वाक्य और वाक्यार्थ दोनों पर आश्रित चौबीस चौबीस वैशेषिक गुण और भी हैं ।

‘अग्निपुराण’ में गुणों की संख्या २४ में घटकर १८ रह गई। उसमें गुणों के तीन वर्गों का उल्लेख है—गुण, अर्थ-गुण और उभय गुण। शब्द-गुण ६ हैं—श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, ओदार्य, तथा ओजम्। अर्थ गुण भी ६ हैं—मायुर्य, मयिधान, कामलता, उदारता, प्रौढि तथा मामयिकता। ६ उभय गुण इस प्रकार हैं—प्रसाद, मौभाग्य, यथाम्य, प्राशस्त्य, पाक, और राग।

गुणों की संख्या में एक ओर जहां वृद्धि हो रही थी—वहां दूसरी ओर गभार रत्नि के प्राचार्यों का ओर में उन्हें वैज्ञानिक आधार पर नियमित करने का सप्रयत्न भी किया जा रहा था। काव्य-शास्त्र के आरम्भिक युग में ही भामह ने केवल तीन गुणों का अस्तित्व स्वीकार किया था—वाट में जब अग्नि-रमयानियों ने काव्य के सभी अंगों का पुनराग्यन किया तो भामह के ये तीन गुण ही भाव्य हुए। गुणों को जय रम धर्म मान लिया गया। उनका रूप धाह्य तथा मूल न रह कर आन्तरिक हो गया—वे चित्तवृत्ति रूप माने गये। काव्याख्यातन की स्थिति में चित्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं—वृत्ति, वीर्य और व्यापकत्व—गुण भी सङ्गनुसार तीन ही हुए—मायुर्य, ओज और प्रसाद। भामह और उनके उपरान्त ज्ञानन्दवर्धन, अभिनव तथा मम्मट आदि ने इन्हीं को ग्रहण किया है।

कुन्तक ने परम्परा में कुछ हटकर गुण-विवेचन किया है। उन्होंने कवि-स्वभाव को प्रमाण मानते हुए सुकुमार, विचित्र और मध्यम तीन कान्य-मार्ग और उनमें से प्रत्येक के चार वि-प और दो सामान्य गुणों का निरूपण किया है। सामान्य गुण काव्य के अनिवार्य गुण हैं—उनके अभाव में काव्य काव्य नहीं रहता अतएव तीनों मार्गों में उनकी स्थिति समान रूप से रहती है। सामान्य गुण हैं : आचित्य और सौभाग्य—आचित्य का अर्थ है यथोचित विधान और सौभाग्य का अर्थ है चेतना को समतुल्य करने का गुण जिसका मूल आधार है प्रतिभा। इनके अतिरिक्त चार विशिष्ट गुण हैं जिनके स्वरूप प्रत्येक गुण में भिन्न भिन्न रहते हैं—वे हैं—मायुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार गुणों की संख्या ६ है।

विवेचन — भेद-प्रभेदों का प्रस्तार अपने आप में कोई मौलिक उद्धारना नहीं है। भेद ने गुण-क्षेत्र में सरया-वृद्धि कर कोई विशेष सिद्धि प्राप्त नहीं की। उन्होंने गुण-विवेचन को अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक बनाने

के स्थान पर और भी उलझा दिया। और तब यह है कि काव्य-शास्त्र की परम्परा में उनके गुण-विस्तार को विशेष महत्त्व कभी नहीं मिला। परन्तु विद्वानों ने या तो भामह तथा आनन्दवर्धन आदि के अनुसरण पर केवल तीन गुणों की ही सत्ता स्वीकार की या फिर अधिक से अधिक भरत, दण्डी तथा वामन के दश गुणों को मान्यता दी। वास्तव में भोज और अग्निपुराण का गुण-विवेचन अत्यन्त अपुष्ट तथा बहुत कुछ अनर्गल-सा है। उनके अनेक गुण तो मान्य भेदों के प्रमेय मात्र हैं, कुछ केवल अलंकार ही हैं। कुछ-एक में ध्वनि का प्रमेय है, प्रेयस् और और्जीत्य पूर्व-ध्वनि काल के आधारों के अनुसार अलंकार और उत्तर-ध्वनि काल के आधारों के अनुसार रसभाव हैं। भोज ने प्रायः दण्डी और वामन के गुण-विवेचन के आधार पर तथाकथित नवीन उद्गाधनाप्य पर डाली है—कभी वे एक में लक्षण और दूसरे से नाम ग्रहण कर लेते हैं—और कभी किसी एक गुण के वैकल्पिक रूपों को नये नाम दे देते हैं जैसे वामन की अर्थ-प्रीति के तीन रूपों को उन्होंने तीन स्वतन्त्र गुणों का रूप दे दिया है। इसके अतिरिक्त उनकी उद्गाधनाओं के पीछे कोई तर्क अवकाश-मगति भी नहीं है। भोज के शब्द-गुण गार्भार्य, प्रीति, और्जीत्य तथा प्रेयस् स्पष्ट ही अर्थ के चमत्कार हैं, इसी प्रकार कतिपय गुण ऐसे हैं जिनका सौन्दर्य शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित है, परन्तु उन्हें भोज ने मनमाने ढंग से शब्द-गुण या अर्थ-गुण की श्रेणी में डाल दिया है। वास्तव में शब्द और अर्थ का स्पष्ट पार्थक्य बहुत दूर तक निभाना कठिन होता है। वामन दश गुणों में ही बुरा तरह असफल रहे हैं, फिर भोज चौबीस गुणों में उसका निर्वाह किस प्रकार करते? हम पार्थक्य का आधार है आध्व-आध्वी-भाव परन्तु वह स्वयं अमिद रहता है—और भोज ने तो यह आधार भी विधिवत् ग्रहण नहीं किया। अतएव उनका विवेचन अत्यन्त असंगत एवं अनर्गल हो गया है। अग्निपुराण के भेद-प्रमेयों के विषय में भी यही कहा जा सकता है, उसका विवेचन और भी अपुष्ट है। पहले तो शब्द-गुण अर्थ-गुण तथा उभय गुण के वर्ग ही प्रासांगिक नहीं हैं। शब्द और अर्थ के चमत्कार प्रायः एक दूसरे की सोमा का उल्लेखन कर बैठते हैं, और फिर उभय गुणों का पृथक् वर्ग तो अपनी स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ ही है। पुराणकार ने दण्डी, वामन और भोज के विवेचन को केवल उलझा कर रख दिया है।

सारांश यह है कि भोज के चामीय या वदत्तर और अग्निपुराण के अठारह गुण काव्य-समजों का ध्यान आकृष्ट करने में असमर्थ हो रहे। वास्तविक विवाद रहा वामन के दशगुणों और आनन्दवर्धन के तीन गुणों के बीच। जैसा कि मैंने अन्वय स्पष्ट किया है वामन और आनन्दवर्धन का विवाद सग्या के विषय में मूलतः नहीं है—यह विवाद गुण के स्वरूप, अथवा उनके भी आगे काव्य के स्वरूप में सम्बद्ध है। वामन के गुण शब्द-अर्थ के धर्म होने के नाते रीति-चमत्कार हैं आनन्दवर्धन के गुण रस के धर्म होने के नाते चित्तवृत्ति-रूप हैं। अनपेक्ष्य स्वभावतः वामन के गुणों का आधार मूलतः आरम्भिक है, आनन्दवर्धन के गुणों का आधार सूक्ष्म और व्यापक है जिसमें परित्यागस्वरूप चामीय गुणों की सग्या भी अधिक है। ध्वनिवादियों ने साधुर्य, ओज और प्रसाद—केवल ये तीन गुण ही माने हैं। उनका तर्क है कि रसानुभूति की प्रक्रिया में चित्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं—द्रुति, दीप्ति तथा व्यापकत्व श्रद्धा, करुण आदि के आस्वादन में चित्त प्रवीभूत तथा वीर रौद्रादि के अनुभव में दोष हो जाता है। इसके अनिश्चित सभी रसों की अनुभूति के समय चित्त की एक और अवस्था होती है जिसे समर्पकत्व या व्यापकत्व कहा जा सकता है, जो रसप्रतीति का सहज परिणाम होती है। इन्हीं चित्तवृत्तियों के लक्षण होने के कारण, गुण भी केवल तीन ही होते हैं—द्रुति का प्रतीक साधुर्य दीप्ति का ओज और व्यापकत्व का प्रसाद। रसानुभूति की प्रक्रिया में चित्त की केवल ये ही तीन अवस्थाएँ होती हैं अतएव तीन में अधिक गुणों की कल्पना निराधार है। सम्मति से सिद्ध किया है कि वामन की दश-गुण-कल्पना भी वास्तव में किसी पुष्ट आधार पर स्थित नहीं है, अतिरिक्त गुण या तो इन्हीं तीनों में अन्तर्भूत हो जाते हैं, या वे दोषाभास मात्र हैं, अथवा अलंकार हैं या फिर उक्ति-वैचित्र्य मात्र।

वामन के शब्द गुण ओज, श्लेष, समाधि, उदारता, तथा प्रसाद प्रसिद्ध ओज गुण में अन्तर्भूत हो जाते हैं, साधुर्य साधुर्य में और अयंध्यनि प्रसाद में। ओज का लक्षण है गाढ-बन्धन, श्लेष में अनेक पद एक पद जैसे प्रतीत होते हैं, प्रसाद में पद-रचना ओज मिश्रित शैल्य-युक्त होती है, समाधि में अरोह-अवरोह-कम रहता है, उदारता में भी बन्ध-विकटत्व रहता है—उसमें पद नृत्य-सा करते हैं। स्पष्टतः ये सभी विशेषताएँ प्रसिद्ध ओज गुण के लक्षण

के अन्तर्गत आजाती है—गोत्रोदीप्त वाणी में गाढबन्धन, विकटबन्धन, आरोह-अरोह आदि विशेषताओं का समावेश स्वभाव में ही हो जाता है—अतएव उसी के विभिन्न रूप होने के कारण ये सभी ओज के अन्तर्गत आ जाते हैं। वामन के शब्द-गुण माधुर्य का स्वरूप है पृथक्-पदत्व जो प्रसिद्ध माधुर्य का भी बाह्य स्वरूप है। अर्थव्यक्ति, जिसमें पद तुरन्त ही अपने अर्थ के प्रति समर्पण कर देते हैं, प्रसाद का प्रसिद्ध लक्षण है। समता में एक ही मार्ग अथवा पद-रचना-शैली का आरम्भ से अन्त तक अवलम्बन रहता है, परन्तु यह गुण तो एकरसता के कारण विरम भाव उत्पन्न करता हुआ जोष बन जाता है। अपरह्वयन्ध-रूप सांकुमार्य कष्टरूप अथवा अतिकट्ट दोष का अभावस्वरूप है और पद-शाब्जव्यत्य-रूप कानि ग्राम्यत्व दोष का निषेध मात्र है। वामन के अर्थ-गुणों की भी यही स्थिति है। अर्थ-प्रति रूप ओज जिसमें एक शब्द के लिए सम्पूर्ण वाक्य का प्रयोग, सम्पूर्ण वाक्य के लिए एक शब्द का प्रयोग, व्यास, समास, तथा साभिप्राय-विशेषण प्रयोग होता है कथन का प्रकार अथवा उक्ति-वैचित्र्य मात्र है। इसी प्रकार अनेक विचारों का संघटन रूप अर्थ-गुण श्लेष भी कथन का ही वैचित्र्य है, गुण नहीं है। ये दोनों भावात्मक गुण नहीं हैं। वामन के पाँच अर्थ-गुण प्रसाद, माधुर्य, उदारता, सांकुमार्य और समता केवल दोषाभाय हैं। अर्थ-व्यंग्य-रूप प्रसाद—जहाँ आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग रहता है—अधिकपदत्व दोष का निषेधमात्र है। अर्थ-गुण माधुर्य उक्ति-वैचित्र्य का नाम है—परन्तु उक्ति-वैचित्र्य तो काव्य शैली का अनिवार्य लक्षण है, उसके अभाव में रचना अनवीकृत दोष में कृषित रहती है। ऐसी स्थिति में उसे भावात्मक गुण नहीं माना जा सकता—यह अनवीकृत दोष का निषेध मात्र है। उदारता का तो लक्षण ही ग्राम्यत्व का अभाव है—इसलिए उक्त ग्राम्यत्व नामक दोष का अभाव ही मानना सगत है। सांकुमार्य भी पारुष्य का अभाव रूप है—पारुष्य का अर्थ है अप्रिय अथवा अमंगल—यहाँ अमंगल-वाचक शब्दों के परिहार द्वारा अमंगल तथ्य के पारुष्य का परिहार किया जाता है। अतएव यह भी अमंगलरूप अस्वीकृत दोष का अभाव ही सिद्ध होता है। अर्थ के अव्यय अथवा क्रम के अलग को अर्थ-गुण समझा कहने में जो प्रक्रम-भग दोष का अभाव है। अर्थव्यक्ति जहाँ वस्तुओं के स्वभाव को अभिव्यक्ति होती है—स्वभावीक्ति अलंकार में अभिन्न है। रस से दीप्त कान्तिगुण रस-वनि आदि में अन्तर्भूत हो जाता है, और अर्थगुण समाधि तो कोई गुण ही नहीं है। वामन के अनुसार समाधि नामक अर्थगुण के द्वारा अर्थ-दर्शन

होता है अर्थात् चित्त के षकाग्र होने से वास्तविक अर्थ प्रगट हो जाता है। परन्तु यह तो काव्य के रसास्वादन की पहली शर्त है, अर्थ दर्शन के बिना तो न रस है, न गुण, न रीति। वैसे भी अर्थ-दर्शन गुण कैसे हो सकता है ?

मम्मट ने वामन के दश गुण-विशेषन का लगभग इसी प्रकार स्पष्टन करते हुए, केवल तीन गुणों का ही अस्तित्व सिद्ध किया है। मम्मट का यह व्याख्यान प्रायः युक्तियुक्त ही है—इसमें अमहमत होने का कोई विशेष कारण नहीं है।

वास्तव में भेद-प्रस्तार का तो कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। वर्गीकरण अथवा वर्ग विभाजन सर्वथा निर्दोश प्रक्रिया नहीं है—फिर भी उसका एक मूल सिद्धान्त यह है कि समान गुणशील इकाइयों का वर्ग में अन्तर्भाव होते रहना चाहिए। वर्ग जाति का प्रतिरूप है व्यक्ति को जाति में नहीं पृथक् नाम रूप देना चाहिए जब उसका स्वरूप इतना व्यापक और महत्त्वपूर्ण हो जाए कि वह अपने आप में एक जाति या उपजाति का ही वाचक बन जाए। भारतीय काव्यशास्त्र में, भेद प्रस्तार करते समय अनेक हल्की रूचि के आचार्यों ने इस मूल सिद्धान्त की प्रायः उपेक्षा कर दी है—जिसमें उनकी उद्भावनाएँ अनावश्यक और असंगत हो गई हैं। गभीर आचार्यों को इसीलिए, समय समय पर इस प्रस्तार प्रवृत्ति को नियंत्रित करने का प्रयत्न करना पड़ा है। भासह, आनन्द-वर्धन, अमिनच, मम्मट आदि गहनचेता विचारकों का सबसे महत्त्वपूर्ण योग यहो रहा है कि उन्होंने विस्तार-प्रस्तार की अपेक्षा नियमन तथा समजन का प्रयत्न ही अधिक किया है।

अतएव, अन्त में पूर्व-ध्वनि काल के दशगुणों और उत्तरध्वनिकाल के तीन गुणों में—ये पिछले तीन गुण ही मान्य हुए। माधुर्य, ओज और प्रसाद—जो क्रमशः चित्त की त्रुटि, दोषों और व्यापकत्व के तद्रूप हैं। इनमें प्रसाद तो चित्त की निर्मलता की—स्मरसत्ता की स्थिति है जो सभी रसों के आस्वादन के लिए अनिवार्य है। हमारा मन जब तक निर्मल अथवा स्मरस नहीं होगा तब तक रसानुभूति सम्भव नहीं है—कामानुर व्यक्ति शब्दों रस का आस्वादन नहीं कर सकता। भयभीत व्यक्ति भयानक रस की प्रतीति करने में असमर्थ रहेगा, क्रुद्ध अथवा शोकविह्वल नर-नारी रात्रि या करुण का आनन्द नहीं ले सकते। चित्त की इसी निर्मलता को आनन्दवर्धन ने समर्पकत्व अथवा व्यापकत्व कहा है और इसी के आधार पर प्रसाद गुण को

शब्द और अर्थ की स्वच्छता रूप माना है । प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयो । यह स्वच्छता—वाला रूप में शब्द और अर्थ की, और आन्तर रूप में चित्त की स्वच्छता—सर्व-रम-साधारण किया है, इसके बिना रमानुभूति सम्भव नहीं है ।

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।

स प्रसादो गुणो ज्ञेय सर्वसाधारणक्रिय ॥

अर्थान् (शुष्मेन्धन में अग्नि के समान, अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान) काव्य का समस्त रसों के प्रति जो समर्पकत्व (बोद्धा के हृदय में मरिचि ध्यापन-कर्तृत्व) है, उसे समस्त रसों में और रचनाओं में (सर्वसाधारणी क्रिया वृत्ति स्थिति यम्य स) रहने वाला प्रसाद गुण समझना चाहिए ।

(हिन्दी ध्वन्यालोक २, १० पृ० १३८)

इस प्रकार प्रसाद तो सामान्य अथवा साधारण गुण है । अब शेष रह जाते हैं माधुर्य और ओज । मानव-स्वभाव की सामान्यतः दो मूल प्रवृत्तियाँ ही लक्षित होती हैं—कोमल और परप, अथवा मृदुर और ऊर्जस्वित् इन्हीं दोनों की विभिन्न मात्राओं के मिश्रण से मानव-भवन के असीम वैचित्र्य का निर्माण होता है । मौलिक प्रवृत्तियाँ ये ही दो रहती हैं । कुन्तक ने इसी आधार पर कवि-स्वभाव दो प्रकार के माने हैं सुकुमार और विचित्र जो इन्हीं दो के भिन्न नाम हैं । माधुर्य और ओज इन्हीं दो प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं । इन दो प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियों की कल्पना अनावश्यक है क्योंकि ये सभी प्रवृत्तियाँ इन्हीं दो के मिश्रण से ही निर्मित हैं—रति तथा शोक कोमल वृत्तियाँ हैं, हास्य भी अपने सहज रूप में कोमल वृत्ति ही है—उत्साह और क्रोध परप हैं—भय आश्रय की दृष्टि से कोमल और आलम्बन की दृष्टि से परप है जुगुप्सा और अद्भुत में दोनों का मिश्रण (अद्भुत में कुछ आचार्य केवल दीक्षि—भी मानते हैं) शान्त में दोनों का सतुल्य या सामरस्य है ।

गुण के स्वरूप को और भी स्पष्ट करने के लिए कतिपय समानधर्मा तत्वों से उसका पार्यक्य-प्रदर्शन उपयोगी होगा ।

गुण और रीति — सबसे पूर्व गुण और रीति को ही लीजिए । गुण और रीति के परस्पर-सम्बन्ध का विवेचन किया जा चुका है । दण्डो

ने गुण को रीति का मूल तत्त्व माना है । वासन ने इस सम्बन्ध को और भी दृढ़ करते हुए लिखा है . विशिष्टा पद रचना रीति । विशेषो गुणात्मा । १,२,७-८ । अर्थान् रीति का वंशिष्ट्य गुणात्मक है । इस सूत्र का आगे चल कर आनन्दवर्धन ने व्याख्यान किया है । उन्होंने तीन विकल्प उपस्थित किये हैं

गुणों का और सघटना (रीति) का एक्य है अथवा व्यभिरेक अर्थान् अभेद है अथवा भेद । व्यभिरेक में भी दो भाग हैं गुणाश्रित सघटना (है) अथवा सघटनाश्रित गुण (है) ^१ ।

अर्थात् १. क्या रीति और गुण अभिन्न हैं ?

२. क्या रीति गुणाश्रित है ?

३. क्या गुण रीति-आश्रित है ?

यों तो आनन्दवर्धन से पूर्व भी इस विषय का विवेचन हो चुका था । वासन ने रीति और गुण को अभिन्न माना था—और उद्धृत ने गुण का रीति-आश्रित । परन्तु ये अभिन्न आनन्दवर्धन को मान्य नहीं हुए उन्होंने अपने ढंग में इन विकल्पों का उत्तर दिया । “यदि गुण और सघटना (रीति) एक तत्त्व है, अथवा सघटना (रीति) के आश्रित गुण रहते हैं तो सघटना के समान गुणों का भी अनियत-विषयत्व हो जाएगा । गुणों का तो विषय-नियम निश्चित है । जैसे, कर्म और विप्रलम्भ शृङ्गार में ही माधुर्य और प्रसाद का प्रकर्ष (होता) है, शोभ रौद्र और अद्भुत विषय में (ही प्रधानत रहता है) । माधुर्य और प्रसाद रस, भाष और तदाभास विषयक ही होते हैं । इस प्रकार (गुणों का) विषय नियम बना हुआ है । (परन्तु) सघटना में यह विराट जाता है । क्योंकि शृङ्गार में भी दीर्घसमासा (रचना-सघटना) पाई जाती है और रौद्रादि रसों में भी समास-रहित (रचना पाई जाती है) । + + + इसलिए गुण न तो सघटना-रूप है और न सघटनाश्रित है ।

इस प्रकार पहले दोनों विकल्पों का आनन्दवर्धन खण्डन कर देते हैं ।—रीति और गुण एक नहीं है, इसमें तो कोई विरोध आपत्ति नहीं है । रीति (पद) रचना है और गुण उसको अनुप्राणित करने वाला तत्त्व, अतएव इन दोनों का अभेद सम्भव नहीं है । परन्तु गुण किसी रूप में भी रीति के आश्रित नहीं है—यह प्रश्न विचारणीय है । आनन्दवर्धन का तर्क निस्संदेह

ही संगत है—रीति के आश्रित होने से गुण भी अनियत विषय हो जाएगा जबकि गुण का विषय नियत है, रीति का अनियत। शब्दरस में गुण तो माधुर्य ही हो सकता है—श्लोक नहीं हो सकता, परन्तु रीति दीर्घसमासा भी हो सकती है। इसी प्रकार रस में केवल श्लोक गुण ही होगा, परन्तु रीति असमासा या लघुसमासा भी हो सकती है। यह युक्ति आशिक रूप में ही सत्य है क्योंकि एक तो सघटना या रीति केवल समासाश्रित ही नहीं है, यर्गाश्रित भी है—इसका स्पष्टीकरण मम्मट, विश्वनाथ आदि ध्वनि-रसवादियों ने आगे चलाकर किया है। मम्मट की अपेक्षा वहाँ को अनियत विषय मानना थोड़ा कठिन है। परन्तु यहाँ भी कोई अकाव्य नियम नहीं है—कथित कठोर वहाँ का प्रयोग होने पर भी भाव की तीव्रता के द्वारा शब्दारादि रसों का परिपाक सम्भव है, अनुभव-गम्य है। फिर भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि दीर्घसमास और कठोर वर्य शब्दारादि रसों के और असमास रचना तथा कोमल वर्य शब्दारादि-रसों के परिपाक में बाधक होते हैं। कठोर वर्य और दीर्घ समास शब्दरस की दृष्टि में विभक्तारी होते हैं, समासहीन मृदक पद तथा कोमल वर्यों में रस की दीप्ति का पूर्ण विकास नहीं हो पाता, यह मनोविज्ञान का तथ्य सहजतः क प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। स्वयं आनन्द ने भी इसका मुनकवट से स्वीकार किया है।

हामरा विकल्प है क्या रीति गुण के आश्रित है? इसका उत्तर आनन्दवर्धन स्वीकारात्मक देने हैं। उनकी सघटना की परिभाषा में ही यह निहित है गुणानाश्रित विद्यन्ती माधुर्यादीन्। आनन्दवर्धन का पक्ष सर्वथा ग्राह्य है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। रीति गुण के आश्रित है,—शब्द-गुण, वर्य-गुण—रूपिणी पद-रचना का स्वरूप माधुर्य, श्लोक आदि के द्वारा ही निर्धारित होता है। रीति का मुख्य कार्य है रस की अभिव्यक्ति करना, और रस की अभिव्यक्ति वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकती गुण के आश्रय से ही कर सकती है। वह माधुर्य, श्लोक और प्रसाद के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिष्कात करती हुई रस-दशा तक पहुँचाने में सहायक होती है। अतएव आनन्दवर्धन के पक्ष को स्वीकार करने में तो कोई आपत्ति ही हो नहीं सकती। रीति गुण के आश्रित है—इसमें सन्देह नहीं, परन्तु गुण भी रीति-निरपेक्ष नहीं है। उपचार से तो आनन्द भी यह बात लेते हैं।

निष्कर्ष यह है कि रीति और गुण एक नहीं है—परन्तु उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दोनों में गुण का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है—

मूलतः रीति उभो के आश्रित रहती है। परन्तु गुण भी रीति से अप्रभावित नहीं रहता। रीति के वर्ण-गुण और शब्द-गुण चित्त की दृष्टि, दीप्ति और परिव्याप्ति के निश्चय ही साधक अथवा बाधक हो सकते हैं।

गुण और अलंकार.— आरम्भ में गुण और अलंकार के विषय में भ्रान्ति रही। वामन ने पूर्व इनका पृथक् निर्देश तो भरन, दण्डी तथा भामह आदि सभी आचार्यों ने किया है, परन्तु इन दोनों का तात्त्विक भेद किन्तो ने स्पष्ट नहीं किया।

वामन ने पहली बार इस भेद का स्पर्श किया। उन्होंने अपने मिदान्त के अनुसार निम्नान्त रूप में दोनों का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया।

“गुण काव्य शोभा के कारक (विधायक) धर्म गुण हैं।”

काव्य-शोभा का तोरो धर्मा गुणा ।

अलंकार : काव्य-शोभा के अतिरावहेनु (वृद्धिकारक धर्म) अलंकार हैं

तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा ।

अपने मत की वृत्ति द्वारा और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है शब्दार्थ के जो धर्म काव्य-शोभा (की सृष्टि) करते हैं वे गुण हैं। ये गुण हैं ओज प्रसादादि, यमक-उपमादि नहीं। क्योंकि यमक-उपमादि अकेले ही काव्य-शोभा का सृजन नहीं कर सकते—इसके विपरीत ओज प्रसादादि अकेले ही काव्य की शोभा सम्पन्न कर सकते हैं।

+ + + +

इस प्रसंग में दो श्लोक हैं।

शुद्ध गुण काव्य युवती के सहज रूप के समान आकर्षक लगता है, और अलंकार-भ्रंश से वह और भी बढ़ जाता है।

(किन्तु) यदि वाणी गुणों से रहित है तो उसकी स्थिति यौवनविहीन स्त्री के समान है जो सुन्दर अलंकार धारण कर और भी अपकर्षक हो जाती है।

गुण निरय है। उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती।

अतएव वामन के अनुसार गुण और अलंकार की पारस्परिक स्थिति इस प्रकार है

साम्य

१. गुण और अलंकार दोनों ही शब्द अर्थ के धर्म हैं ।

२ दोनों का कर्म भी प्रायः समान है—अर्थात् दोनों काव्य का उत्कर्ष-साधन करते हैं ।

त्रैपत्य

परन्तु १ गुण शब्द-अर्थ के नित्य धर्म है, अलंकार अनित्य ।

२ गुण काव्य-शोभा का सृजन करते हैं अलंकार केवल उसकी श्रीवृद्धि ।

३ गुण के अभाव में काव्य-मौन्दर्य का अस्तित्व ही नहीं होता, परन्तु अलंकार के अभाव में गुण का सद्भाव होने पर काव्य-शोभा यनी रहती है ।

४ गुण के अभाव में अलंकार का सद्भाव काव्य का उल्टा अपकर्ष करता है ।

वामन का यह पार्यंक्य-प्रदर्शन उनके अपने सिद्धान्त के अनुसार सर्वथा स्पष्ट और निर्भ्रान्त है । परन्तु सिद्धान्त-भेद हो जाने से ध्वनिवादियों ने इसे केवल आंशिक रूप में ही स्वीकार किया—मूलतः उन्होंने इसे अपूर्ण ही माना । गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य—यह तो उन्हें स्वीकार्य है ।—गुण काव्य में अनिवार्य रूप से वर्तमान रहने हैं अलंकारों की स्थिति अनिवार्य नहीं है, यह तो ठीक है । परन्तु इसके आगे गुणों को भी शब्द-अर्थ के ही धर्म मानना रस-ध्वनिवादियों को प्राप्य नहीं है । आनन्द-वर्धन के शब्दों में गुण-अलंकार का भेद इस प्रकार है

“जो उस प्रधानभूत (रस) अंगी के आश्रित रहने वाले (माधुर्यादि) हैं, उनको गुण कहते हैं और जो (उसके) अंग (शब्द तथा अर्थ) में आश्रित रहने वाले हैं उनको कटकादि के समान अलंकार कहते हैं ।” (हि० ध्वन्या-लोक, २, ६) । अर्थात् गुण और अलंकार का मूलभेद यह है कि गुण प्रायः-भूत रस के धर्म हैं, और अलंकार शरीरभूत शब्द-अर्थ के । अलंकारों की स्थिति कटक और आदि आभूषणों की मी है जिनका ग्रन्थ सन्बन्ध देह से है ।

मम्मट ने इसी को स्पष्ट करते हुए लिखा है

आत्मा के शौर्यादि गुणों की भाँति जो अगभूत रस व उत्कर्षवर्धक
अचल स्थिति धर्म हैं वे गुण कहलाते हैं ।

हमके निपरीत अलंकार शब्द अर्थ के धर्म हैं और वे अचल-स्थिति
नहीं हैं : सगुणावनलरूपा पुन कदापि । —काव्य के लिए सगुणता अनिवार्य
है, परन्तु अलंकृति कभी नहीं भी होती ।

विश्वनाथ ने अलंकार की परिभाषा में ही यह भेद निहित कर दिया—
“शब्दार्थयोरनिरा ये धर्मा शोभानिशायिन —अलंकार शब्द-अर्थ के शोभाति-
शायी अस्थिर धर्म हैं ।” गुण के समान उनकी स्थिति आनन्द्यक नहीं है
अस्थिरा इति नैवा गुणशब्दादप्येकी स्थिति (सा० दर्पण) ।

अतएव रस-ध्वनिवादियों के अनुसार गुण और अलंकार का भेद इस
प्रकार है .

(१) गुण प्रागभूत रस के धर्म हैं, अलंकार अगभूत शब्द-अर्थ के ।

(२) स्वभावतः गुण काव्य के आंतरिक तन्त्र हैं—वे द्रुति, वीरि
आदि चित्तवृत्तियों के तद्रूप हैं, अलंकार बाह्य तन्त्र हैं ।

(३) रसानुभूति की प्रक्रिया में गुणों का योग प्रत्यक्ष रहता है । अलं-
कारों का अप्रत्यक्ष, वे धान्य-वाचक का उपकार करते हुए व्यर्थ रस के परिपाक
में योग देने हैं ।

(४) अतएव गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, अलंकार अनित्य ।

(५) रसादि अतर्क्यों की भाँति गुण व्यंग्य रहते हैं, अलंकार वाच्य ।

साधारणतः रस-ध्वनिवादियों का यह निवेदन ही मान्य रहा और
वास्तव में यही सगत भी है यद्यपि इसमें बड़ा अतिशय अवश्य है । यह
अतिशय यह है कि इन्होंने गुण को सिद्धान्त में एकान्त रसधर्म मान लिया है ।
परन्तु जैसा कि हमने शन्यत्र सिद्ध किया है, और व्यवहार में रस-ध्वनिवादियों ने
भी माना है, गुण शब्द और अर्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं है । इसी प्रकार
अलंकार भी मूलतः वाचक शब्द और वाच्य अर्थ के धर्म होते हुये भी व्यर्थ
अर्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं होते । गुण चित्तवृत्ति रूप हैं, अलंकार वाच्य के

प्रसाधन है अर्थात् अभिव्यजना को प्रभावशाली बनाने के उपकरण है। परन्तु मूलतः चित्तवृत्ति रूप होने पर भी जिम प्रकार गुण गौण रूप में शब्द और अर्थ वर्ण-शुम्फ और शब्द-शुम्फ, से भी सम्बन्ध रखते हैं इसी प्रकार मुख्य रूप में शब्द और अर्थ के धर्म—अभिव्यजना के चमत्कार—होते हुए भी अलंकार गौण रूप में चित्त को भी चमत्कृत करते हैं। आंतरिक और बाह्य तत्त्व की यही सापेक्षिक प्रमुखता गुण और अलंकार का मुख्य अंतर है—गुण मूलतः काव्य के आंतरिक तत्त्व हैं, और अलंकार बाह्य।

दोष-दर्शन

दोषों का वर्णन संस्कृत साहित्य-शास्त्र में आरम्भ से हो मिलता है और आचार्यों ने प्रायः दोष विवेचन पहले किया है, गुण अलंकार-वर्णन बाद में। यह मानव-स्वभाव की सहज प्रवृत्ति का ही परिणाम है, इसीलिए आदि वैदिक ऋषि ने अपना प्रार्थना में दुरित के परिहार की वार्ता पहले की है और भद्र की कामना बाद में—विरवानि तेष मयिर्दुरितानि परामुथ—यद्भवतस्तथासुव। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी दोष वर्णन इनके आग्रह के साथ इसीलिए किया गया है क्योंकि दोष-परिहार को काव्य की पहली शर्त माना गया है। दण्डी ने प्रबल शब्दों में घोषणा की है कि काव्य में रचनात्र दोषों की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि एक छुंटा सा भी कुट्ट का दाग सुन्दर से सुन्दर शरीर को कुरूप कर सकता है। (काव्यादर्श, १.७)। प्राचीन आचार्यों ने ही नहीं, उत्तर-ध्वनिकाल के आचार्यों ने भी निर्दोषता को काव्य-लक्षण का अनिवार्य अंग माना है। पूर्व-ध्वनिकाल से घामन और उत्तर ध्वनिकाल से मम्मट का काव्य-लक्षण उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। निर्दोषता को अपने आप में एक महान गुण माना गया है महात् निर्दोषता गुणः। काव्य के लिए निर्दोषता का अपेक्षा अधिक है अथवा रसघटा की? दोनों में से कौनसा काव्य के लिए अनिवार्य है? या मनुष्य अथवा काव्य में निर्दोषता कहा तक सम्भव है? ये विवादास्पद प्रश्न हैं जिनका समाधान अन्यत्र किया जाएगा। परन्तु दोष का विवेचन काव्यशास्त्र का—विशेष कर रीति-सिद्धांत का—अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है, इसमें सन्देह नहीं। काव्य के सौर्द्ध-असौर्द्ध अथवा प्रभाव का विश्लेषण करने के लिये दोष-दर्शन सर्वथा अनिवार्य है।

दोष की परिभाषा : प्राचीनतर आचार्यों ने—भरत, भामह और दण्डी—तीनों ने दोष का लक्षण नहीं किया। भरत ने केवल इतना ही निर्देश किया है कि दोष की स्थिति भावात्मक है, गुण उसका विपर्यय है एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः । (नाट्यशास्त्र ७, ६५) । भामह ने भी दोषों के वर्ग—सामान्य दोष, वाणी के दोष-भेद, तथा दोष के गुणत्व-साधन आदि का विवेचन तो किया है, परन्तु सामान्य लक्षण नहीं दिया—केवल यह कह दिया है कि काव्य में सत्कवि इसका प्रयोग नहीं करते, कवयो न प्रयुजते । दण्डी ने विशेष दोष-वर्णन विस्तारपूर्वक किया है, किन्तु दोष की परिभाषा नहीं की। उन्होंने सामान्य दोष के स्वरूप के विषय में केवल दो बातें कही हैं

(१) दोषा विपत्तये तत्र + + + ।

(२) इति दोषा दशैवैते वर्ज्या काव्येषु सूरिभिः ।

(१) दोष काव्य में विफलता के कारण होते हैं + + + ।

(२) विद्वानों को काव्य में इनका परिहार करना चाहिए ।

गुण की भाँति दोष का लक्षण भी सबसे पहले वामन ने ही किया है गुणविपर्ययात्मनो दोषाः अर्थात् गुण के विपर्यय का नाम दोष है। यहाँ भी प्रश्न उठ सकता है कि विपर्यय का क्या अर्थ है वैपरीत्य या अभाव या अन्यथाभाव ? वामन के विवेचन से स्पष्ट है कि विपर्यय से उनका अभिप्राय वैपरीत्य का ही है—उनके दोष काव्य सौंदर्य (गुण) के अभाव के द्योतक नहीं हैं, वे काव्य-सौंदर्य के घातक हैं। उनके अधिकांश गुण सौंदर्य-शास्त्र तथा लोक-श्राव्य आदि के निषेध अथवा उल्लंघन द्वारा काव्य-सौंदर्य की हानि करते हैं। अतएव उनकी स्थिति विलोम रूप में भावात्मक ही है। इस प्रकार वामन के अनुसार दोष उन तत्वों को कहते हैं जो काव्य-सौंदर्य की हानि करते हैं। वामन की दृष्टि में सौंदर्य वस्तुगत है, इसलिए दोष भी वस्तुगत ही है—वे बाह्य रूप की विकृतिवा मात्र हैं, आंतरिक चित्तवृत्ति के उद्देग नहीं हैं।

ध्वनि की स्थापना के उपरान्त चित्र बदल गया। काव्य का सौंदर्य रूपगत न रहकर आत्मगत हो गया—अतएव दोषों की स्थिति भी बदल गई, वे भी मूलतः आत्मगत (रस से सम्बद्ध) और उसके आश्रय से ही गौण रूप में शब्द और अर्थ गत माने गए। आनन्दवर्धन तथा अभिनव ने इस तथ्य का संकेत किया, आनन्दवर्धन ने उसे स्पष्ट रूप में प्रस्तुत कर दिया ।

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसञ्च मुख्यस्नदश्रयाद्वाच्य । —अर्थात् दोष यह है जिससे मुख्य अर्थ की हानि हो । यह मुख्य अर्थ है रस और उसके आश्रय में गौण रूप में वाच्य भी । विश्वनाथ ने इसी बात को और भी सीधे ढंग से कह दिया ।

दोषास्तस्यापवर्धका —उसके (रसके) अपकर्षक दोष कहलाते हैं ।

इस प्रकार जो रस का अपकर्षक अथवा हानि करे वह दोष है । रस के अपकर्षक अथवा हानि का अर्थ क्या है ? रस की हानि तीन प्रकार में सम्भव है । रस-प्रतीति में (१) विलम्ब द्वारा, (२) अवरोध द्वारा, और (३) रस-प्रतीति के पूर्ण विनाश या विघात द्वारा । रस आनन्द की अवस्था है, अतएव उसका विलम्बन, अवरोधन अथवा विघात निश्चय ही उद्देग जनक होगा—इसीलिए अग्निपुराण ने प्रभाव को आधार मानकर ही दोष का लक्षण किया है । उद्देगजनको दोष —कायास्वाद में तत्पर चित्त में जो उद्देग उत्पन्न करे वह दोष है । यह दोष आंतरिक उद्देग रूप है । इस प्रकार पूर्व-ध्वनि और उत्तर-ध्वनि काल की दोष विषयक धारणाओं में भी मौलिक अंतर मिलता है, पूर्व-ध्वनिकाल में दोष के बाह्य वस्तुगत अर्थात् शब्द अर्थ-गत रूप पर बल दिया गया, और उत्तर-ध्वनि काल में आंतरिक आत्मगत अर्थात् रसगत रूप पर । किन्तु यह केवल दोष-विषयक धारणा का भेद नहीं है—यह तो मूलतः काव्य विषयक धारणा का भेद है । जब काव्य का रूप बाह्य तथा वस्तुगत माना जाता था, दोष वस्तुगत ही थे, किन्तु जब काव्य का रूप आत्मगत मान लिया गया तो दोष भी आत्मगत हो गए । काव्य के सम्बन्ध में उनकी स्थिति वही रही—पहले भी वे काव्य के अपकारक थे और बाद में भी वही रहे । अतएव दोष का सामान्य लक्षण यही मगत है । काव्य के अपकारक लक्ष्णों का नाम दोष है । काव्य के दो अंग हैं प्राणभूत रस और देहभूत शब्द अर्थ । अतएव काव्य के अपकारक का अर्थ हुआ रस तथा शब्द और अर्थ के अपकारक—और दोष की स्पष्ट परिभाषा हुई । मूलरूप में रस और गौण रूप में शब्द और अर्थ के अपकर्ष द्वारा काव्य का अपकार करने वाले तत्त्व दोष कहलाते हैं ।

दोष की मनोवैज्ञानिक स्थिति अभी हमने स्पष्ट किया है कि दोष का अर्थ है काव्य का अपकार करने वाला और काव्य के अपकार का अर्थ है मूलतः रस का ही अपकार क्योंकि शब्द और अर्थ का अपकार अप्रत्यक्ष रूप से रस का ही अपकार है : जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ फिर वह दोष नहीं

रहता । इस प्रकार तत्त्व रूप में सभी दोषों का रसापकर्ष में सम्बन्ध है, और जैसा विरचनाय आदि ने कहा है, वे (१) या तो रस की प्रतीति को रोक देते हैं या (२) रस की उत्कृष्टता की विधानक किसी वस्तु को बीच में खड़ा कर देते हैं या (३) रसास्वाद में विलम्ब कर देते हैं । और गहरें में जाए तो हम देखते हैं कि समस्त दोषों का मूल औचित्य का व्यञ्जिक्रम है । औचित्य का अर्थ है सहज स्थिति या सामान्य व्यवस्था । उसका उत्कर्ष गुण है, अपकर्ष दोष है । साहित्य में यह औचित्य कई प्रकार का होता है, एक पद-विषयक औचित्य जो शब्द और अर्थ के सामंजस्य पर निर्भर रहता है, दूसरा व्याकरण-विषयक औचित्य जो पदों की आर्थी व्यवस्था पर आश्रित रहता है, तीसरा बौद्धिक औचित्य जो हमारे ज्ञान वृत्तियों के सम्बन्ध का परिणाम होता है, चौथा भावना-विषयक औचित्य जिसका हमारे भाव-वृत्तियों की अन्विति से सम्बन्ध है । यह औचित्य जहाँ कहीं खरिदत हो जाता है वही दोष का आविर्भाव हो जाता है । उदाहरण के लिए, पद-विषयक औचित्य की हानि से श्रुति-कटुवादि पद दोषों का जन्म होता है, व्याकरण-विषयक औचित्य की हानि से न्यूनपद, समाप्त-पुनरात्त आदि प्रायः सभी वाक्य-दोष उत्पन्न हो जाते हैं । बौद्धिक औचित्य का त्याग प्रसिद्धि त्याग, भ्रम-प्रक्रम, अप्रसुप्त, कष्टार्थ आदि दोषों की सृष्टि करता है और भावना-विषयक औचित्य खरिदत होकर सीधा रस-दोषों की अथवा अश्लोक्षता, ग्राम्यत्व आदि की सृष्टि करता है । इनमें पहले प्रकार के दोष तो प्रायः ऐन्द्रिय (कर्णागोचर) सवेदन और मानसिक सवेदन में अस्वामंजस्य उत्पन्न करते हुए, दूसरे और तीसरे प्रकार के दोष अर्थ-ग्रहण में बाधक होकर बौद्धिक सवेदनों को विष्टब्ध करते हुए, तथा अन्तिम प्रकार के दोष प्रत्यक्ष रूप में ही हमारी चित्तवृत्तियों की अन्विति में बाधक होते हुये रस का अपकर्ष करते हैं । श्रुति-कटुवादि से विरोधी ऐन्द्रिय चित्र का मानसिक चित्र पर आरोप होने से गड़बड़ हो जाती है, न्यूनपद, कष्टार्थ आदि में मानसिक चित्र अत्यन्त धुँधला और और अस्पष्ट उतरता है, और रस दोषों में दो परस्पर विरोधी मानसिक चित्रों का एक दूसरे पर आरोप होने से भाव-चित्र पूरा नहीं हो पाता ।

दोष—भद

भरत ने दोषों की संख्या दस मानी है—

१. गूढ़ार्थ—जहाँ किसी त्रिष्ट-कल्पित विशेषण का (अनावश्यक) प्रयोग हो,

२. अर्थान्तर—जहाँ अक्षरार्थ का धर्षण हो—अर्थात् अनावश्यक कथन हो,
 ३. अर्थहीन—जहाँ असम्बद्ध अर्थान् अर्थगत (परस्पर-विरोधी) कथन हो,
 अथवा जहाँ आशय अपूर्ण रह जाए, ४. भिन्नार्थ—जहाँ अर्थ द्विन्न-भिन्न
 हो जाए—अर्थात् (अ) जहाँ असम्बद्ध अथवा प्राग्भूत अर्थ का बोधन हो, अथवा
 जहाँ (आ) अभीष्ट अर्थ की दूसरे अर्थ में परिणति हो जाए । ५. एकार्थ—
 एक अर्थ के लिए अनेक (अनावश्यक) शब्दों का प्रयोग, ६. अभिप्लुतार्थ—
 जहाँ प्रत्येक चरण में अर्थ पूरा हो जाए और विभिन्न अर्थों में कोई अन्विति
 न हो । ७. न्यायादपेक्ष—अर्थात् प्रमाण (तर्क) में रहित, ८. विषम—
 जहाँ छद्मोभग हो, ९. विस्मय—जहाँ सन्धि-योग्य शब्दों में सन्धि न की
 जाए, १० शब्दहीन—जहाँ अशब्द (स्वाकरण-अशुद्ध शब्द) का प्रयोग हो ।^१

भरत के उपरान्त भामह ने तीन प्रकार के दोष माने हैं —

सामान्य दोष—१. नेपार्थ, २. श्लिष्ट, ३. अन्यार्थ, ४. अवाचक, ५. ध्यु-
 वितमत् और ६. गूढ़ शब्द ।

वाणी के दोष—१. श्रुतिदुष्ट, २. अर्थदुष्ट, ३. कल्पना-दुष्ट, ४. श्रुति-कष्ट ।

अन्य दोष—१. अपार्थ २. व्यर्थ ३. एकार्थ ४. समशय ५. अपक्रम
 ६. शब्दहीन ७. दतिभ्रष्ट ८. भिन्नवृत्त ९. विमन्धि १०. देशकालकला-
 लोपन्यायागम-विरोधी, ११. प्रतिज्ञा-हेतु-दुष्टान्त हीन ।

भामह के इन तीन दोष-वर्गों का पार्थक्यकारी आधार अधिक स्पष्ट
 नहीं है । उनके विवेचन में न तो यह स्पष्ट है कि वाणी के दोषों में उनका
 अभिप्राय क्या है और न यह कि सामान्य तथा अन्य दोषों का आधारभूत
 अन्तर क्या है । वाणी के दोष यदि शब्द-दोष हैं तब श्रुतिकष्ट तो ठीक है—
 श्रुति-दुष्ट भी तर्कवर्थात् वह मान लिया जाए परन्तु अर्थ-दुष्ट और कल्पना-
 दुष्ट शब्द-दोष कैसे हों सकते हैं ? ये तीनों समशय वाचन के पदार्थ-दोष
 अश्लील के घृणा, घृष्टा तथा अमगल-वाचक रूपों के ही पर्याय हैं ।

भामह को इस प्रकार के वर्गीकरण की प्रस्था कहां से प्राप्त हुई यह
 कहना भी कठिन है । उनके अन्य दोष तो बहुत कुछ भरत से प्रेरित हैं,

१. निगूढमयान्तरमर्थहीन भिन्नार्थोक्तार्थमभिप्लुतार्थम् ।

न्यायादपेक्ष विषम विमन्धिरशब्दच्युत वै दृग्न शब्द दोषः ॥

नाट्य शास्त्र (१७, २२)

परन्तु सामान्य तथा वाणी-दोषों का उद्गम-स्थान अज्ञात है । ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय में गणित-समाज में कान्य-दोषों की तीन पृथक् रूपों में चर्चा थी, और भामह ने उन तीनों को ही अपने ग्रंथ में मन्निविष्ट कर लिया । प्रत्येक शास्त्र की आरम्भिक अवस्था में प्रायः आगमन शैली का ही प्रयोग होता है—प्रस्तुत विशिष्ट सामग्री के विवेचन-विरलेपण द्वारा निगमन शैली में सामान्य सिद्धान्तों अथवा रूपों का ग्रहण किया जाता है । भामह के समय में भारतीय साहित्य-शास्त्र अपनी आरम्भिक अवस्था में था—उस समय प्राप्त काल्य का विरलेपण करते हुए विशेष से सामान्य की उपलब्धि की जा रही थी । गुण, अलंकार, दोष आदि का विवेचन इसी रूप में हो रहा था । कुछ आचार्यों ने अपने ढंग से प्रथम वर्ग के छ, दोषों की उद्भावना की हांगो—कुछ ने द्वितीय वर्ग के चार दोषों की और कतिपय अन्य आचार्यों ने—भरत आदि ने—अथवा उनसे भी पूर्व अन्य आचार्यों ने—तृतीय वर्ग के ग्यारह दोषों की । भामह ने अपने विवेचन में इन तीनों का ही समावेश कर लिया है ।

दण्डी ने भामह के 'अन्य दोष' अपार्थ, व्यर्थ, पृथार्थ आदि यथावत् अपना लिए हैं । इनमें से केवल अन्तिम दोष 'प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तहीन' उन्हें प्राप्य नहीं है । उन्होंने स्पष्ट लिखा है ।

'प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त की हानि दोष है या नहीं यह एक कर्कश विचार है अर्थात् जटिल समस्या है, उसके साथ उलझने से क्या लाभ ? (काव्यादर्श, ६.१२७) ।

इस प्रकार दण्डी ने दस दोष माने हैं —

१. अपार्थ—जहां समग्र रूप में कोई अर्थ ही न निकलता हो, २. व्यर्थ—जहां एक वाक्य अथवा प्रयत्न में पूर्वापरविरोध हो, ३. एकार्थ—जहां पूर्व-कथन की, किन्तु किसी वैचित्र्य के, शब्द अथवा अर्थ में आशुति हो, ४. ससंशय—जहां अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए प्रयुक्त वचन संशय उत्पन्न करते हों, ५. अपक्रम—जहां क्रम से वर्णित वस्तुओं का आगे उसी क्रम से वर्णन न हो, ६. शब्दहीन—जहां व्याकरण-अशुद्ध तथा शिष्ट जन द्वारा अस्वीकृत शब्द का प्रयोग हो, ७. यतिभ्रष्ट—जहां यति-भग्न हो, ८. भिन्नवृत्त—जहां न्यूनाधिक वर्णों का प्रयोग हो, अथवा गुरु-लघु की व्यवस्था का भग्न हो, ९. विसन्धि—जहां सन्धि-नियम का उल्लंघन हो,

१०. देश-काल-कला-लोकन्यायागम-विरोधी—अहां देश, काल, लोक, न्याय, आगम का विरोध हो।

भामह और दण्डी का यह दश-दोष-वर्णन भरत के दोषवर्णन से स्पष्ट प्रभावित है। उनके १ "कार्यं तथा" २ त्रिमित्रि तं नाम और स्वरूप दोनों में एक है ही—३ त्रिमित्र और भिन्नवृत्त में केवल नाम का भेद है—दोनों में छन्दोभग का ही वर्णन है। इनके अतिरिक्त भरत का ४ शब्दार्थान और भामह-दण्डी का स्वर्थ, भरत का ५ न्यायादपेत तथा भामह-दण्डी का देशकालकलालोकन्यायागमविरोधी, भरत का ६ शब्दच्युत तथा भामह-दण्डी का शब्दहीन भी प्रायः अभिन्न ही हैं। भरत के ७ भिन्नाथ के ११ रूप हैं (अ) ग्राम्य तथा (आ) सदिग्ध—इनमें से दूसरा रूप भामह-दण्डी का समंशय दोष है। उधर भरत का ८ अभिप्लुतार्थ और भामह-दण्डी का अपार्थ भी प्रायः समान ही हैं। इस प्रकार भरत तथा भामह-दण्डी के आठ दोष लगभग समान ही हैं। भरत के दस दोष गूढ़ार्थ और अर्थान्तर इन परवर्ती आचार्यों ने ग्रहण नहीं किये। इनमें से वास्तव में अर्थान्तर का अन्तर्भाव तो पृथक् से हो जाता है, कबल एक दोष रह जाता है गूढ़ार्थ। इनके अतिरिक्त भामह-दण्डी ने दस ब्रजान् वाच्यो का उल्लेख किया है—अपक्व और यमिभ्रष्ट। पर इन दस वाच्यों में से भा यमिभ्रष्ट का अन्तर्भाव भिन्नवृत्त में माना जा सकता है—यन् कवल अपक्व ही एक पदा वाच्य रह जाता है जो भरत के प्रभाव से मुक्त है।

वामन ने गुण की भौति वाच्य के भी शब्दगत और अर्थगत भेद किये हैं वामन-वृत्त भेद तो चार हैं—पद-वाच्य, पदार्थ-वाच्य, वाक्य-वाच्य और वाक्यार्थ-वाच्य—परन्तु उनका आधार मूलतः शब्द और अर्थ ही है। वामन के अनुसार भेदों की संख्या २० है।

पाँच पद-दोष — १ अमातु अर्थान् व्याकरण की दृष्टि से अनुद्ध, २. कष्ट अर्थान् अति-विरम (कर्णकटु) ३ ग्राम्य, ४ अग्रतोत अर्थात् अप्रचलित पारिभाषिक शब्द आदि का प्रयोग, ५ अनर्थक अर्थान् निरर्थक जहाँ केवल पाद-वृत्ति के लिये अर्थों के शब्द 'नु' 'यलु' आदि रख दिये जाते हैं।

पाँच पदार्थ-दोष — १. अन्याय—जहाँ शब्द का रुद्धिच्युत अर्थ में प्रयोग हो यथा प्रस्मरण=विस्मरण=का स्मरण के अर्थ में प्रयोग।

२ नेयार्थ अर्थान् कृत्विनायं, जिसका अर्थ कल्पना से लगाया पड़ता हो, यथा दशरथ के लिए पत्तिरिहगमनामभृत् विशेषण का प्रयोग (पत्ति = दश + विहगम नाम = चक्र + भृत् = धारणा करने वाला = रथ) ३ गूढार्थ = अप्रमि-
द्वार्य ४ अरलील ५ विलष्ट — जहाँ अर्थ अत्यन्त दूरस्थ हो ।

तीन वाक्य-दोष — १ मिश्रवृत्ति ॥ यतिभ्रष्ट ३ विमधि ।

सात वाक्यार्थ-दोष — १ व्यर्थ = पूर्वापर विशेषी, २ पदार्थ = जिसमें उक्तार्थ पद की निःप्रयोजन आवृत्ति हो ३ सन्दिग्ध ४ अप्रयुक्त — जहाँ सर्वथा कास्परिक अथवा भ्रान्तिपूर्ण अर्थ का आरोप हो — इसके उदाहरण प्रायः दुर्लभ हैं, ५ अपक्रम — जहाँ अर्थ में क्रम न हो ६ अलोक जिसका अर्थ देश, काल और प्रवृत्ति के विरुद्ध हो, ७ विद्या विरुद्ध जिसका अर्थ कला और शास्त्र के मान्य सिद्धान्तों के विरुद्ध हो ।

वामन अपने इस दोष-विस्तार के लिए भरत, भामह तथा वण्टी तीनों के ही ऋणी हैं । उनके नौ वाक्यार्थ-दोष भामह और वण्टी के आठ दोषों में अभिन्न हैं, मिश्रवृत्ति, यतिभ्रष्ट, विसधि, व्यर्थ, पदार्थ, सन्दिग्ध, अपक्रम, अलोक तथा विद्या-विरुद्ध पद्यावत् भामह और वण्टी से ही ग्रहण कर लिए गये हैं । केवल एक साधारण-सा शस्त्र यह है कि वामन ने अलोक और विद्या-विरुद्ध को दो पृथक् दोष माना है, परन्तु भामह वण्टी ने उन्हें एक ही माना है । वामन का पद-दोष अन्धाधु भरत का शब्द-व्युत्त और भामह वण्टी का शब्द-हीन है । उनका पद-दोष अन्तर्यक, पदार्थदोष नेयार्थ, अन्वयार्थ तथा विलष्ट घोड़े बहुत अन्तर से भामह के 'सामान्य दोषों' के अन्तर्गत आ जाते हैं । वामन का यह अथवा धृति विरुद्ध भामह का धृतिकष्ट नामक शब्दीदोष ही है । इस प्रकार पन्द्रह दोषों का हिमाव लग जाता है — शेष रह जाते हैं पाँच — दो पद-दोष — ग्राम्य तथा अप्रतीत, दो पदार्थ-दोष — गूढार्थ तथा अरलील, एक वाक्यार्थ-दोष — अप्रयुक्त । इनमें अरलील के घृणा, बीका तथा अमगल-वाचक तीनों रूप भामह के धृति-दुष्ट, अर्थ-दुष्ट तथा कल्पना दुष्ट के ही विकसित रूप हैं । ग्राम्यदोष भी अरलील से मूलतः भिन्न नहीं है — यहाँ ग्राम्यता शब्द में है अर्थ में नहीं है ।

गूढार्थ नामक दोष भरत ने भी माना है परन्तु लक्षण को देखते हुए उनका यह दोष नेयार्थ तथा विलष्ट के निरुद्ध पड़ता है । भामह का भी एक सामान्य दोष गूढाभिधान नाम का है । वामन का यह दोष इनमें ही खप

जाता है। इसी प्रकार अप्रतीत का अन्तर्भाव भी गूढ़ार्थ आदि में हो सकता है। अमयुक्त को स्वयं वामन ने अत्यन्त विरल माना है और उसका उदाहरण भी नहीं दिया।

वामन के दोषों में पुरु-दूसरे का सम्ममण करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। निष्पक्ष, नेयार्थ तथा गूढ़ार्थ आदि की सीमाएँ मिला-जुली हैं। अप्रतीत भी इनमें दूर नहीं है। अमयुक्त का स्पष्ट निर्देशन ही वामन ने नहीं किया है अतएव यह निष्पक्ष, गूढ़ार्थ आदि में किन्तु भिन्न है यह कहना कठिन है। वामन का सबसे बड़ा योग-दान यह है कि उन्होंने शब्द और अर्थ के आधार-भेद में दोषों का विभाजन किया है। अपनी दृष्टि में वामन ने शब्द-शब्दार्थ, वाक्य तथा वाक्यार्थ के पार्थक्य का निर्वाह अत्यन्त स्पष्टता से किया है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु यह कार्य थोड़ी जोखिम का है। शब्द और उसके अर्थ में इतना स्पष्ट भेद करना या पदार्थ तथा वाक्यार्थ में बहुत दूर तक पार्थक्य निभाता कठिन हो है।

पूर्व-ध्वनि काल में दोष-विवेचन की यही स्थिति रही। काव्य के अन्य अंगों की भाँति दोषों का विवेचन भी अनुगत ही रहा। दोष मूलतः केवल दो प्रकार के माने गये शब्दगत और अर्थगत। वैसे इनके भी अपान्तर भेद किए गए।

शब्द-दोष के तीन भेद पदगत, पदार्थगत और वाक्यगत, और अर्थ-दोष के दो भेद पदार्थगत तथा वाक्यार्थगत। परन्तु साम्प्रतिक आधार शब्द और अर्थ ही रहे।

उत्तर-ध्वनि काल में रसध्वनि की काव्यायमा रूप में प्रतिष्ठा हो जाने पर रसोच्चिन्त्य को काव्य की मुख्य कसौटी माना गया और उसके गुण-दोष का विवेचन तदनुसार ही किया गया। इस प्रकार रसदोषों का भी आविर्भाव हुआ।

भोज ने वाक्य-दोषों के अन्तर्गत एक और वर्ग माना है अरोतिमत् जिन्हें उन्होंने विपर्यय-दोष भी कहा है। ये दोष समाधि को दाद अन्य नों गुणों के विपरीत हैं। अतएव जहाँ गुणों के विपर्यय प्रयुक्त हों वहाँ अरोतिमत् अर्थात् रीति विरोधी दोष होते हैं। समाधि को कदाचित् इसलिये दोष दिया गया है कि दण्डी ने उसे काव्य के लिङ्ग प्रायः अनिवार्य ही माना है। वामन

ने भी दोषों को गुणों के विपर्यय माना है परन्तु वे अपने लक्ष्यों में इस पैरीत्य का निर्वाह नहीं कर सके—उनका दोष-वर्णन स्वतन्त्र सा हो गया है, भोज के दोष वास्तव में ही गुणों के विपर्यय रूप हैं ।

उत्तरध्वनिकालीन दोष-दर्शन का सार मम्मट के काव्यप्रकाश में सगृहीत है । उसमें सत्तर दोषों का वर्णन है 'सत्तोस शब्ददोष, तेईस अर्थ दोष तथा दस रस दोष । ये दोष रसोचित्य के आधार पर दो प्रकार के होते हैं—नित्य और अनित्य । वे दोष जो सभी अवस्थाओं में काव्य की धारणा का अपकार करते हैं नित्य दोष हैं । अन्य दाष जिनका सम्बन्ध रूप-आकार से है अनित्य दोष है—ये सर्वत्र ही रसोचित्य की हानि नहीं करते उदाहरण के लिए अतिदुष्प आदि शृंगारादि के अपकारक हैं परन्तु रंजनादि के उपकारक, अतएव ये अनित्य दोष हैं अर्थात् रस के दोष नित्य हैं और शब्द तथा अर्थ के दोष अनित्य हैं । इसी स्थापना को आधार मानकर भोज ने वैशेषिक गुणों की कल्पना कर डाली है । ये वैशेषिक गुण, जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है, अनित्य दोष ही हैं जो अनुकूल परिस्थिति में गुण बन जाते हैं ।

दोषों के मुख्य वर्ग और भेद ये ही हैं—इसमें सदेह नहीं कि भरत अथवा भामह-दण्डी-कृत दोष-भेदों में काव्य के समस्त अपकारक तत्त्वों का समावेश नहीं होता । अतएव दोषों की संख्या निश्चय ही दश से अधिक माननी पड़ेगी । फिर भी मम्मटादि के सत्तर दोषों का विश्लेषण करने पर यह धारणा अवश्य होती है कि वहाँ कुछ अधिक भेद विस्तार किया गया गया है । मम्मट के अनेक भेद एक दूसरे की सीमा में सम्क्रमण कर आते हैं । इस क्षेत्र में भी अन्य क्षेत्रों की भाँति वर्गीकरण तथा वर्ग-विभाजन के मूल सिद्धांत की प्रायः अपेक्षा कर दी गयी है ।

संस्कृत काव्य-शास्त्रियों में मम्मट इस दृष्टि से अत्यन्त सतर्क आचार्य हैं हमारा काव्य-शास्त्र नियमन तथा व्यवस्था के लिए उनका चिर-जरायो रहेगा । फिर भी शाखा विस्तार की प्रवृत्ति का वे पूर्णतः सवरण नहीं कर सके । अलंकारों की भाँति दोषों के क्षेत्र में भी और अधिक नियमन तथा व्यवस्था की अपेक्षा है ।

दोषों के वर्गों का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक है । पहलें वर्ग शब्द और अर्थ को आधार मान कर चलता है । काव्य जैसी अर्थ-गभा

वस्तु में शब्द और अर्थ का पार्यवय करना सहज नहीं है क्योंकि अर्थ में भिन्न शब्द का अस्तित्व वहा प्रायः नहीं हो रहता । फिर भी सापेक्षिक महत्व के आधार पर दोनों का भेद माना जा सकता है और माना जाता है । जहा दोष शब्द के हो आश्रित हो अर्थात् शब्द के परिवर्तन में—पर्याय के द्वारा, दोष का परिहार हो सके वहा शब्द-दोष होता है और जहा मन्द-परिवर्तन के उपरान्त भी—पर्याय देने पर भी दोष बना रहे वहा अर्थ-दोष होता है । यह प्रमाण सर्वथा अकाट्य तो नहीं है फिर भी इसे बहुत कुछ विश्वसनीय माना जा सकता है । सम्मट आदि का दोष-विशेषण इसी पर आरुत है जो निर्दोष न होते हुए भी अत्रिफ भ्रमगत नहीं है ।

रस-दोषों का आधार और भी पुष्ट है । इसमें नित्य और अनित्य की प्रकल्पना रंगीर काव्य-भर्मजता की द्योतक है । इसका वैज्ञानिक विश्लेषण तो आनन्दधर्मेन तथा अन्य ध्वनिश्रितियों ने ही किया है, परन्तु यह उनकी अपनी वक्षानना नहीं है । उनमें पूर्व आम्ह और दूसरी दोनों ने ही दोष के गुण-साधन पर प्रकाश डाला है

“विशेष स्थिति में कुम्भित कथन भी शाश्वत हो जाना है जिस प्रकार माला के मध्य में गुंथा हुआ मोल पलाश ।” (काव्यालङ्कार १, ६४)

“इस प्रकार का (दोषयुक्त) सभी विरोध कभी कभी कवि-कोशल से दोषों की सूची से निकाल कर गुणों की परिधि में पट्टव जाता है ।” (काव्यालङ्कार, ३, १७६) ।

इसमें यह स्पष्ट है कि पूर्व-ध्वनि काल के आचार्य भी काव्य के मर्म से अनभिज्ञ नहीं थे—उनकी अपनी दृष्टि-सीमा अवश्य थी, परन्तु काव्य के मर्म का ज्ञान उन्हें निस्मदेह था ।

हमों से सम्बद्ध दोषों के वर्ग विभाजन का एक अन्य प्रकार भी है जिसका मूल आधार भी रम ही है । इसका आधार-भूत सिद्धान्त यह है कि काव्य की चरम सिद्धि रस है और सभी प्रकार के दोषों का सम्बन्ध अन्ततः उसी के साथ रहता है । ये दोष तीन प्रकार से रम का अपकर्ष करते हैं रस की प्रतीति को अवरोध कर, उसके मार्ग में व्यवधान खड़ा कर, और उसमें विलम्ब उपस्थित कर । इसी आधार पर दोषों के तीन वर्ग माने हैं १ रस

प्रतीति को अवगृह्य करने वाले, २ रस-प्रतीति में व्यवधान उपस्थित करने वाले और ३ रस-प्रतीति में दिक्गन्ध उपस्थित करने वाले । यह वर्ग-विभाजन निस्सन्देह ही तात्त्विक है और काव्य-दोष के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में सम्बन्ध रखता है । संस्कृत काव्यशास्त्र में इस आधार का स्पष्ट विश्लेषण किया गया है, परन्तु उसके अन्तर्गत दोषों का वर्गीकरण नहीं किया गया—कदाचित् इसलिये कि सूक्ष्म आधार की अपेक्षा किसी मूर्त आधार पर वर्गीकरण करना महज होता है । हमारा धारणा है कि उपर्युक्त आधार पर काव्य-दोषों का पुनरावधान होना चाहिए । यह अधिक तात्त्विक होगा और काव्य के आन्तरिक विश्लेषण में इसमें अधिक सहायता मिलेगी ।

रीति के प्रकार

मानह ने कदाचित् काव्य नाम में और दरदरी ने मार्ग नाम में रीति के दो प्रकार माने हैं वैदर्म और गौडीय । मानह ने इन दोनों के पारंपर्य को ही स्वीकार किया है । वैदर्म मार्ग में पेशकश, अङ्गना आदि गुरु रहते हैं, और गौडीय में कलकल आदि । परन्तु वे यह मानने का तैयार नहीं हैं कि वैदर्म सत्काव्य का और गौडीय अन्तर्काव्य का पर्याय है । काव्य के नूतन नुतन गुणों के संयोग में, और अपने अपने गुरुओं के मन्त्र प्रयोग से दोनों ही सत्काव्य हो सकते हैं । केवल नाम के आधार पर ही एक को ठाकुर और अপর को निरुद्ध कह देना अतानुगतिम्बता है । दरदरी ने इनके विपरीत, यह माना है कि वैदर्म दरगुरुओं में अलंकरण होगा है और गौडीय में इनके विरुद्ध मिलने हैं । किन्तु दरदरी ने गुरु-विपर्यय को दोष नहीं माना है । क्योंकि उस स्थिति में तो गौडीय मार्ग काव्य संज्ञा का अधिकारी ही नहीं रहेगा । उन्होंने, जैसा कि आने अब मौज ने अपने दग से स्पष्ट किया है, म्यानादोक्ति और रसोक्ति को वैदर्म के मूल गुरु, और दकोक्ति को अर्थात् वैदिक तया अलंकार आदि को गौडीय की मूल विशेषता स्वीकार किया है । हा यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी चाहिए कि दरदरी गौडी की अपेक्षा वैदर्मों को ठाकुर काव्य मानते थे ।

वामन ने रीति शब्द का सर्वप्रथम उपयोग करने हुए तीन रीतियाँ मानीं १ वैदर्भी, २ गौडीया और ३ पाचाली । १ 'ममस्तु गुणो से भूषित वैदर्भी कहलाती है । दोष के लेशमात्र भी अमृष्ट, समस्त गुण-गुम्फित, वीणा के स्वर से मधुर वैदर्भी कहलाती है ॥ २ 'ग्रोज और कान्ति से विभूषित गौडीया रीति हाँती है । + + इसमें मातुर्य और मोकुमार्य का अभाव रहता है, ममात्मो का बाहुल्य होता है और पन्नाली फटोर होती है ।' ३ 'मातुर्य और मोकुमार्य से उपपन्न रीति का नाम है पाचाली । + + ग्रोज और कान्ति के अभाव में इसका पन्नाली अमर और हाँती है और यह रीति कुछ निष्पाण (भीड़ों) से होती है । कथियों ने इस रीति को पाचाली मन्ना दी है जो रस्य-बध, पुराण शैली को अनुवर्तिनी, मधुर तथा सुकुमार होती है ।' (काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति) ।

वामन के उपरान्त ऋट्ट ने रीतियों को मन्ना चार कर दी । उन्होंने लाटोया नामक एक चौथी रीति की उद्भावना और की । ऋट्ट ने रीतियों के दो वर्ग कर दिए । एक वर्ग में वैदर्भी और पाचाली आती हैं और दूसरे में गौडी और लाटोया । उन्होंने समास को रीति भेद का आधार माना । वैदर्भी में समास का अभाव रहता है । पाचाली में बहुत समास अर्थात् दो-तीन समास, लाटोया में मध्यम समास अर्थात् पाच-सप्त और गौडीया में दीर्घ समास का प्रयोग होता है । ऋट्ट ने रीति और रस का स्पष्ट सम्बन्ध स्वीकार किया है । वैदर्भी तथा पाचाली शृङ्गार, कण्ठ, भयानक तथा अद्भुत रसों के, और गौडी तथा लाटोया राग के अनुकूल रहती है । १ राग चार रसों के लिए रीति का नियम नहीं है । यह रीति-रस-सम्बन्ध भरत से अनुप्रेरित है—भरत ने रीतियों को समानधर्मी वृत्तियों का रस के साथ सहज सम्बन्ध माना है ।

शिवभूषाल ने केवल तीन ही रीतियों का अस्तित्व माना । कोमला, फडिना तथा मिथ्या जो क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाचाली की पर्याय मात्र हैं । राजशेखर ने भी सामान्य वामन की इन्हीं तीन रीतियों को ग्रहण किया है । काव्यमीमांसा के काव्यपुरुष प्रसंग में इन्हीं तीन का उल्लेख है । कथर कर्पूर मजरी के मंगल-श्लोक में भी नामभेद में तीन ही रीतियों का स्मरण किया

१ वैदर्भी-पाचाली प्रत्येक करने ममानकानुगतो ।

लाटीयाणीवी रौद्रे कुपां वधोवित्यम् ॥

(काव्यालंकार-१११००)

गया है : चण्डोमी, मागधी तथा पांचाली । इनमें चण्डोमी चम्पगुप्तमी का प्राकृत रूप है जो विदर्भ की राजधानी चम्पगुप्त के नाम पर स्थापित होने के कारण वैदर्भी की ही पर्याय है । इसी प्रकार पूर्व में सम्बद्ध गौडी और मागधी भी कदाचित् एक ही हैं । यह तो दृष्टे तान रीतियों की बात । परन्तु राजशेखर ने दातरामायण में एक चौथी गीति मैथिली का भी उल्लेख किया है जिसके गुण इस प्रकार हैं - १ अर्थातिगय (अर्थ-न्वमन्कार) होने पर भी जगन्मयांता का अननिक्रमण—अर्थात् कोरी आयुक्तियों का परिहार—इसे दण्डी ने कांति गुण माना है ।

२ समाम का उपद्रु प्रयोग ।

३ भोगपरम्परा ।

मैथिली का राजशेखर के पूर्व किसी ने वर्णन नहीं किया—उनके उपरान्त भी केवल श्रीपाद नामक एक विद्वान ने इसका उल्लेख किया और उन्होंने भी इसे मागधी का पर्याय ही माना है । बिम्बार-प्रिय भोज ने रीति-क्षेत्र में भी अपनी प्रवृत्ति का परिचय दिया । उन्होंने सब मिलाकर छ रीतियां मानी वैदर्भी, पांचाली, लाटोया, गौडीया, अवन्तिका और मागधी । उनमें से वैदर्भी-गौडीया भामह-दण्डी की अवस्था उससे भी पूर्व की रीतियाँ हैं, पांचाली वामन की तथा लाटोया ऋतु की उद्गावना है, मागधी का उल्लेख राजशेखर और श्रीपाद में मिलता है । अवन्तिका अवन्ती के राजा भोज की नवीन कल्पना है जो कदाचित् स्वदेश-प्रेम आदि व्यक्तिगत कारणों से प्रेरित है । हम नवीन उद्गावना का कोई सगल आधार नहीं हैं—भोजराज ने इसे वैदर्भी और पांचाली की अंतराक्षर्वानिता माना है जिसमें तीन-चार समाम होते हैं । लाटोया के विफल होने पर खण्डरीति मागधी होती है । यह रीति बिम्बार प्रायः भोज पर ही समाप्त हो जाता है—केवल एक अप्रामिद लेखक ने, जिसका नाम था सिंहदेवगणि, भोज की अवन्तिका का त्याग करते हुए चण्डोमी को स्वतंत्र रीति माना है और अपनी पद-रीतियों का रस के साथ कुछ बदलाने हंग से समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है लाटो = हाम्य, पांचाली = कल्प और भयानक, मागधी = शान्त, गौडी = चोर और रौद्र, चण्डोमी = वीरमत्स्य और अद्भुत, वैदर्भी = मृद्वार ।^१

१ देखिए डा० रायचन के 'रीति' नामक निबन्ध की शुरुआत ।

रस ध्वनिवादिओं ने विस्तार को महत्त्व न देकर सदा व्यग्रस्था को ही महत्त्व दिया है अतएव उन्होंने रीति-विस्तार का भी नियमन ही किया है। आनन्दवर्धन तथा मम्मट आदि न, प्रायः, चामन की तीन रीतियों को ही स्वीकार्य माना है - उप-नागरिका, पद्म्या और कामला—चंदनी, गौड़ी और पाचाली। कवि स्वभाव का आधार मानते हुए प्रायः इसी प्रकार के तीन मार्ग कुन्तक ने माने हैं सुकुमार, विचित्र और मध्यम।

उपर्युक्त चर्चान में यह निष्कर्ष निकलना है कि स्मृत वाक्य-शास्त्र में प्रायः चामन की तीन रीतियाँ ही मान्य हुई हैं। रस-ध्वनिवादी तथा अन्य सभी चेता आचार्यों ने उन्हें ही मान्यता दी है। और वास्तव में यह उचित भी है। यदि रीति के आन्तरिक आधार गुण को प्रमाण माना जाय तब भी तान गुणों के अनुसार उपर्युक्त तीन रीतियाँ ही मान्य हो सकती हैं। मनो-विज्ञान के अनुसार भी कोमल और परप ये स्वभाव के दो स्पष्ट भेद हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त एक तीसरा भेद भी इतना ही स्पष्ट है—प्रसन्न जितसे इन दोनों का समुल्लिख मिश्रण रहता है। इसे ही चित्त की निर्मलता अथवा प्रसाद कहा गया है। अतएव इन तीन प्रकार के स्वभावों का माध्यम तीन रीतियों का अस्तित्व ही मान्य है। येमे मानव स्वभाव अनन्त रूप है—उसका कोई पार नहीं पाया जा सकता। परन्तु उसका मूल प्रवृत्तियाँ प्रायः ये ही हैं। इसी प्रकार (जैसा कि दण्डी ने कहा है और कुन्तक ने पुष्ट किया है) वाणी की रीतियाँ भी अनेक हैं। परन्तु उनमें मूल भेद दो तीन से अधिक नहीं हो सकते।

बाह्य आधार समास, वर्ण-गुण आदि को प्रमाण मान कर भी स्थिति यही रहती है। समास की दृष्टि में श्रवणा अन्वमासा या लघुसमासा-मध्यमममासा तथा दीर्घममामा तीन की प्रकार हो सकती है अब इनके बीच में समासों की गणना में और भी भेद प्रस्तार करना विशेष तर्क संगत नहीं है। रुद्रट की लाटोया तथा भोजराज की अवन्तिका आदि का आधार इसलिये पुष्ट नहीं है। इसी प्रकार वर्य भी मूलतः तीन प्रकार के ही हो सकते हैं—कोमल और परप और इनके अतिरिक्त शेष अन्य वर्ण जो एकल कोमल होते हैं और न सर्वथा परप। कहने का तात्पर्य यह है कि रुद्रट की लाटोया और भोज की अतिरिक्त रीतियाँ अनावश्यक हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है—मैं तो मन में भी उठा है। वेदभी और गौड़ी ही क्या क्यों नहीं है—क्या पाचाली की कल्पना भी अनावश्यक नहीं है? इसका उत्तर यह है कि वेदभी में पाचाली का यदि अंतर्भाव मान लिया जाता है तो फिर गौड़ी भी उसकी परिधि में बाहर नहीं पड़ती क्योंकि ममप्रगुणमभ्युदा से अलंकृत वेदभी में जिस प्रकार माधुर्य और सौकुमार्य का समावेश रहता है, उसी प्रकार श्रोज और काति का भी। अतएव वेदभी गौड़ी की विपरीत रीति नहीं—गौड़ी की विपरीत रीति पाचाली ही है। जिस प्रकार मानव स्वभाव के दो छोर हैं नारीत्व और पुरुषत्व, इसी प्रकार अभिव्यजना के भी दो छोर हैं स्त्रैण पाचाली और पुरुषा गौड़ी। नारीत्व की अभिव्यजक पाचाली, और पुरुषत्व की अभिव्यजक गौड़ी—इनके अतिरिक्त इन दोनों के समन्वय से समृद्ध व्यक्तित्व की साम्यम वेदभी। जब प्रकार वासन ने पाचाली की उद्भाषना द्वारा वास्तव में एक अभाव प्रथमा असंगति का ही निराकरण किया है, अनावश्यक नवीनता का प्रदर्शन नहीं।

सम्मत के आधार पर भी यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो भी रीतियों या छूतियों की मर्यादा तीन ही ठीक बैठती है माधुर्यगुण-विशिष्ट उपन्यासिका और भोजोमयी पर्या वमश द्रव्यशील मधुर स्वभाव और दीप्तिमय भोजस्वी स्वभाव की प्रतीक हैं। मधुर और भोजस्वी के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार का भी स्वभाव होता है जिसमें न माधुर्य का अतिरेक होता है और न भोज का—वरन् इन दोनों का समुच्चय रहता है। इसको सामान्य (नार्मल) या स्वस्थ-प्रसन्न (विशद) स्वभाव कह सकते हैं। मानव-स्वभाव का यह भेद भी इतना ही स्पष्ट है जितने कि मधुर और भोजस्वी। अतएव इसकी अभिव्यजक कोमला रीति या वृत्ति का अस्तित्व भी मानना उचित ही है।

पश्चात्य काव्यशास्त्र में रीति

भारतीय काव्यशास्त्र तथा पश्चात्य काव्यशास्त्र में विचित्र साम्य है और यह साम्य केवल मूल भिन्नता से ही नहीं है, रूप-मेंत्रों से भी है। भारतीय रीति और पश्चात्य शैली-विवेचन की पारस्परिक समानता तो भारत में आश्चर्यजनक है। यूरोप में शैली का प्रारम्भिक विवेचन और विकास बहुत कुछ उन्नीसवीं शताब्दी तक ही हुआ है जिस पर भारतीय रीति का—अथवा कालक्रमानुसार यह कहना सत्य होगा कि भाषागत रीति-निरूपण प्रायः उसी पद्धति पर हुआ है जिस पर यूरोप में यूनानी और रोमी आचार्यों का शैली-विवेचन, क्योंकि यूनानी तथा कतिपय रोमी आचार्य भारत में काव्याचार्यों के पूर्ववर्ती हैं इसमें सन्देह नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साम्य पारस्परिक सम्पर्क अथवा प्रभाव का द्योतक नहीं है—मानव-चित्त की मूलभूत एकता का द्योतक यह साम्य बहुत कुछ आकस्मिक ही था।

यूरोपीय आलोचना के उदय-युग के तीन चरण हैं

१. यूनानी व्यंग्य नाटकों में प्राप्त सद्धान्तिक तथा व्यवहारिक शास्त्रों—इस दृष्टि से एरिस्टोफेनीस का नाटक 'क्रास' अत्यन्त महत्वपूर्ण है।
२. यूनानी दार्शनिकों का सौन्दर्य-विवेचन।
३. यूनानी-रोमी रीति शास्त्रियों का रीति-विवेचन।

एरिस्टोफेनीस ने 'क्रास' नामक व्यंग्य-नाटक में अपने युग के नाट्यकारों तथा उनकी शैली आदि का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उन्होंने यूरिपाइडोज़ और एस्काइलस नामक प्रसिद्ध नाट्यकारों के विवाद द्वारा अपने युग में प्रचलित दो विरोधी काव्य-शैलियों का अत्यन्त स्पष्ट

निर्देश किया है। यूरिपाइडीज मरस और सहज शैली का समर्थक है। वह एक ओर सहज मानवीय भाषा और वाणी की स्वाभाविक स्वतंत्रता का प्रबल पक्षपाती है, दूसरी ओर कृत्रिम गजंन^२-तर्जन तथा शब्दाढम्बर का घोर विरोधी। इसके विपरीत गेम्काइलम उदात्त शैली को महत्व देता है—वह इस कथित सहजता को निस्मार मानता है। उसकी मान्यता है कि विषय-वस्तु^३ तथा भाव के गौरव के भाव भाषा भी अनिवार्यतः गौरव-सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार यूरोपीय साहित्य-शास्त्र के आदिम काल में ही इन दो परम्पर-विरोधी शैलियों का अन्तर स्पष्ट हो गया था : वहाँ भी भारतीय वैदर्भी और गौडी के समान दो काव्य-शैलियों आरम्भ से ही प्रचलित तथा स्वीकृत थीं।

प्लेटो

व्यंग्य नाटकों के उपरान्त यवन दार्शनिकों के ग्रंथों में प्रसंगानुसार काव्यालोचन की भीकिया मिलती है। प्लेटो तथा अरस्तु आदि ने शैली को तत्त्व रूप में प्रायः हेय ही माना है, परन्तु व्यवहार रूप में उन्होंने भी प्रस्तुत विषय पर अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं—अरस्तु ने तो रीतिशास्त्र (रूट्रिक) नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखा है। प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ गणराज्य (रिपब्लिक) में काव्यभाषा (शैली) का विवेचन इस प्रकार किया है—काव्य भाषा (शैली) के दो दो भेद हैं। + + + इनमें से पहली में कोठे बड़ा उतार-चढ़ाव नहीं होता। भाषा के अनुकूल संगीत तथा लय का माध्यम प्राप्त हो जाने पर वह समगति में चलती रहती है।

तो फिर दूसरी का क्या स्वरूप है ? क्या उसे सर्वथा विपरीत माध्यम की अपेक्षा नहीं होती ? सभी राग और सभी लयों उसके लिए अपेक्षित होते हैं—क्यों कि उसमें अत्यधिक परिवर्तन होते रहते हैं। + + +

- १ Oh let us atleast use the language of men ! (यूरिपाइडीज)
- २ Next I taught all the town to talk with freedom (")
- ३ I never crashed and lightened (")
- ४ When the subject is great and the sentiment, then, of necessity, great grows the word (ऐनकारलम)

प्रसंग का निर्देश किया है, परन्तु उनके दूसरे ग्रन्थ रीतिशास्त्र^१ का तो एक मात्र विषय हो यही है ।

अपने समय के दार्शनिकों की भाँति अरस्तू ने भी एक स्थान पर शैली को एक ग्राम्य (ग्रामीर तथा अनुदात्त^२) विषय माना है । परन्तु अन्यत्र विवेचन के समय उन्होंने शैली के महत्व को असंदिग्ध शब्दों में स्वीकार किया है । 'अब हम शैली का विवेचन करते हैं क्योंकि केवल वर्ण-विषय पर अधिकार होना पर्याप्त नहीं है किन्तु यह आवश्यक है कि हम उसको उचित रीति से प्रस्तुत करें, और इसमें वाणी में वैशिष्ट्य (चमत्कार) का समावेश होता है ।

+ + + जहाँ तक विषय-प्रतिपादन की स्पष्टता का प्रश्न है अपने मन्तव्य को एक प्रकार से अथवा दूसरे प्रकार से अभिव्यक्त करने से बड़ा अन्तर पड़ जाता है^३ ।'

अरस्तू गद्य और पद्य की शैली में स्पष्ट भेद करते हैं . कविता तथा गद्य-साहित्य की शैलियाँ भिन्न हैं ।

शैली के गुण

अरस्तू के अनुसार शैली के दो मूल गुण हैं : स्पष्टता (प्रसाद) और आश्चर्य । शैली का गुण यह है कि वह स्पष्ट हो (इसका एक प्रमाण यह कि अब तक संज्ञा भाषा को स्पष्ट नहीं करती तब तक वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं होती), और उसका स्तर न तो निम्न हो और न विषय की गरिमा में ऊँचा हो हो—वरन् सर्वथा विषयोचित हो ।

प्रसाद .—स्पष्टता का समावेश ऐसी लज्जाओं और क्रियानों के प्रयोग पर निर्भर है जो सामान्य प्रयोग में आती हैं^४ ।'

एक और प्रसंग में अरस्तू ने चार बातों को शैली की स्पष्टता का आधार माना है १—पढ़ने और समझने में सौकर्य २—वृत्ति, विराम आदि

१ रूईरिकस

२ देखिए सेन्ट्सवरी का मध्य अ ४ लोमाइ द्वितीय पृ० २३

३ वही पृ० २२, २४

४ " २५

की असंदिग्ध स्थिति तथा अनावश्यक पर्यायोक्ति्यों का अभाव, ३—मिश्र तथा द्वि-अर्थक अभिव्यञ्जना का अभाव ४—अवान्तर वाक्य-खण्डों का अनधिक प्रयोग ।^१

गरिमा (श्रौदार्य) तथा औचित्य * सामान्य प्रयोगों में भिन्नता भाषा को गरिमा प्रदान करती है क्योंकि शैली में भी मनुष्य उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जिस प्रकार विदेशियों से अथवा नागरिकों में। इसलिये आप अपने पद-रचना को विदेशी रंग दीजिए क्योंकि मनुष्य असाधारण की प्रशंसा करता है और जो प्रशंसा का विषय है वह प्रसन्नता का भी विषय होता है। + + +

निम्नलिखित रूप शैली को गरिमा प्रदान करते हैं नाम के स्थान पर लक्षण का प्रयोग, यदि विषय-वर्णन में किसी प्रकार का सकोच हो तो लक्षण में सकोच का कारण होने पर नाम का प्रयोग और नाम के सकोच जनक होने पर लक्षण का प्रयोग, अलंकार (रूपक) तथा विशेषण का प्रयोग, एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग ।^२

उपर्युक्त विवेचन भारतीय रीति-सिद्धांत के अत्यन्त निष्ठ है। असाधारण शब्द-प्रयोग भारतीय रीतिकारों का शब्दगुण कान्ति है, वामन के शब्दगुण कान्ति में साधारण शब्दों का परिहार रहता है और उनके स्थान पर उज्ज्वल, कातिमय शब्दों का प्रयोग रहता है। इसी प्रकार सकोच-निवारण के लिए नाम के स्थान पर लक्षण का प्रयोग अथवा लक्षण के स्थान नाम का प्रयोग वामन के अर्थगुण भोजस् तथा सौकुमार्य की ओर सङ्केत करता है। अर्थगुण भोजस् में पद के स्थान पर वाक्य-रचना और वाक्य के स्थान पर पद का प्रयोग तथा समासगुण के लिए साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया जाता है और अर्थगुण सौकुमार्य में अशुभ अर्थ का परिहार करने के लिए पदार्थों से काम लिया जाता है।

किन्तु अरस्तू गरिमा के स्वेच्छाचारी प्रयोग के पक्षपाती नहीं है, उस पर वे सुलचि तथा औचित्य का नियन्त्रण अनिवार्य मानते हैं 'किन्तु (गद्य के

१ हाव्म टारजेस्ट आफ एटिलोटिक्स एडिटोरिक पृ० १५३ और लोसार्ड क्रिटिक्सी पृ० २८।

२ लोसार्ड क्रिटिक्सी पृ० २६, २८-२९

क्षेत्र में भी काव्य की भाँति) सुरचि का मिद्धान्त यही है कि विषय के अनु-
वृत्त ही भाषा शैली का स्तर नीचा या ऊँचा रहना चाहिए। इसलिए
हमारा यह (विदेशी रंग देने का) प्रयत्न लक्षित नहीं होना चाहिए, यह
शामास नहीं मिलना चाहिए कि हम सचेष्ट होकर वाणो का प्रयोग कर
रहे हैं—वरन् यही प्रतीत होना चाहिए कि हमारी वाणी अथवा शैली
सर्वथा स्वाभाविक है। + +

दूसरा गुण है औचित्य। शैली में इस गुण का समावेश उस समय
मानना चाहिए जब वह (वक्ता के) भाव तथा व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करे और
विषय वस्तु के अनुवृत्त हो।^१

रीति के प्रसंग में औचित्य का विवेचन हमारे यहां दो रूपों हुआ
है। एक तो ध्यानवर्धन-प्रतिपादित यन्त्र-औचित्य तथा वस्तु औचित्य के
रूप में, और दूसरे कृतक के 'औचित्य' गुण के रूप में। इन दोनों रूपों में
ही भारतीय तथा यवन आचार्यों का विवेचन सर्वथा समान है। दोनों ने
वक्ता और विषय के औचित्य तथा सुरचि को शैली का नियामक माना है।

शैली के दोष

शैली के अरस्तू ने चार मुख्य दोष माने हैं (१) समासों का अधिक
प्रयोग (२) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग (३) दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक
विशेषणों का प्रयोग, (४) दूरारुढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग।

ये चारो दोष वास्तव में गौडी के अमयत रूप के दोष हैं—इनसे
रचना में शब्दाढम्बर का समावेश हो जाता है। इनसे अप्रचलित शब्दों का
प्रयोग और दीर्घ तथा अनुपयुक्त विशेषणों का प्रयोग वाचन के अन्याय
(मम्मटादि के अप्रयुक्त) तथा नैयार्थ सद्यः पदार्थ-दोषों में आ जाते हैं।

दूरारुढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग भी वाचन के सद्विध्य,
अप्रयुक्त जैसे वाक्यार्थ दोषों अथवा मम्मटादि के कष्टार्थ आदि दोषों में
अन्तर्भूत हो जाते हैं। अधिक समास-प्रयोग गौडी की विशेषता है जिसका
अतिचार निरचय ही दोष है।

परिवर्तनशील मानव प्रकृति और रुचि के अनुसार बदलती रहती है—इस प्रकार सिसरो शैली को गन्तित्व की अभिव्यक्तता मानते हैं । भारतीय आचार्यों ने भी इस प्रसंग में यही अभिमत व्यक्त किया है—उनकी शब्दावली भी प्रायः समान है

अस्त्यनेको गिरा मार्ग मूहमभेद परस्परम्

+ + + +

तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥

(दण्डी—कान्यादर्य प्र० प०)

अर्थात् षाण्ठी की अनेक शैलियाँ हैं जिनमें परस्पर सूक्ष्म भेद हैं । प्रत्येक कवि की अपनी भिन्न शैली होती है—इस प्रकार शैली के भेदों का वर्णन अशक्य है ।

औचित्य — व्यक्ति-तत्त्व के अतिरिक्त सिसरो के अनुसार शैली के दो नियामक तत्त्व और भी हैं परिस्थिति (प्रसंग—व्यवसाय विषय) तथा प्रयोजन । इनका भी प्रकारान्तर से भारतीय रीति-शास्त्र में आनन्दवर्धन तथा मम्मटादि उल्लेख कर चुके हैं । सिसरो के ये दोनों तत्त्व आनन्दवर्धन ॥ वस्तु-औचित्य तथा रस-औचित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं । और, आगे चलकर सिसरो ने 'औचित्य' को शैली का मूल तत्त्व माना भी है । 'औचित्य का विचार कला का मूल तत्त्व है परन्तु फिर भी यही एक ऐसा तत्त्व है जिसका शिक्षण कला द्वारा सम्भव नहीं है ।'

शैली के आवार-तत्त्व — सिसरो ने शैली के तीन तत्त्व माने हैं । उपयुक्त शब्द-चयन—साधारणतः प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग श्रेयस्कर है, किन्तु शैली को उदात्त एवं राजक रूप देने के लिए असामान्य शब्दों का प्रयोग भी उचित है—पर ये शब्द आभ्य, प्रादेशिक अथवा लुप्त न हों ।

२ स्पष्टता भाषा स्पष्ट, मुहावरेंदार और चल्ती होनी चाहिए ।

३ षट्-रचना (बन्ध) चुने हुए शब्दों की रचना सामञ्जस्यपूर्ण होनी चाहिए ।

होरेस

रोम के प्रसिद्ध रीतिशास्त्रकार होरेस का ग्रन्थ 'शार्म पोयटिका' वास्तव में रीतिशास्त्र का ग्रन्थ न होकर काव्यशास्त्र का ग्रन्थ है। फिर भी उन्होंने उसमें शैली तथा काव्य-भाषा के प्रश्न पर प्रकाश डाला है। उनका मत है कि काव्य-शैली के विषय में पहलो बात तो यह है कि उसमें बिरक से काम लेना चाहिए। अन्यत्र उन्होंने शब्द-चयन, शब्द-योजना तथा अपनी समकालीन काव्य-शैलियों का विश्लेषण किया है। शब्द-चयन के विषय में उनका कथन है कि आश्चर्यपूर्ण शब्दों को काट छाँट देना चाहिए, कठोर शब्दों को मसूरा कर देना चाहिए, और शक्ति तथा गरिमा से शून्य शब्दों का एकान्त बहिष्कार कर देना चाहिए। किन्तु इस तीसरी श्रेणी में वे धिसे-पिटे और निष्पाण शब्दों का ही तिरस्कार करते हैं, निरवप्रति के प्रयोग के सामान्य शब्दों का नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने समृद्ध शब्दावली के आश्रय पर बल दिया है जिसके लिए कवि को यह अधिकार है कि वह प्रचलित शब्दों को ग्रहण कर सकता है तथा लैटिन भाषाओं से यूनानी व्युत्पत्ति के आधार पर नवीन शब्दों का निर्माण कर सकता है। व्युत्पन्न यदि प्रचलित शब्दों को विचित्र रंग देकर उन्हें काव्योपयोगी बना सकता है। काव्य-शैली का दूसरा प्रमुख गुण है बध—शब्द योजना। होरेस ने उसे शैली का प्रमुख तत्त्व माना है। और, तीसरा गुण है स्पष्टता। कहने की आवश्यकता नहीं कि होरेस द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त शैली तत्त्व भारतीय गुणों में सहज ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। विवेक औचित्य का ही दूसरा नाम है। समृद्ध, वैशिष्ट्य-पूर्ण तथा मसूरा शब्दावली का वाचन के शब्द-गुण कान्ति सौकुमार्य आदि में अन्तर्भाव हो जाता है। गरिमा तथा शक्ति से शून्य निष्पाण शब्दों का बहिष्कार आम्ब आदि शब्द-दोषों का अभाव है। इसी प्रकार बध का महत्व भारतीय रीतिकारों ने भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

अन्य रीतिकारों की भाँति होरेस ने भी अपने युग में टल विवाद की चर्चा की है जो ऐटिक और एशियाटिक (नवीन) शैलियों को लेकर चला था। उन्होंने भी सिसरो की तरह—और भारत में भामह की तरह, यही माना है कि निरपेक्ष रूप में इनमें से एक को श्रेष्ठ और दूसरी को निकृष्ट कहना उचित नहीं है—शैली के विषय में कोई निश्चित, बंधे हुए नियम नहीं है, अन्तिम प्रमाण विवेक अथवा औचित्य ही है।

डायोनीसियस (३०—ईसा-पूर्व)

पाश्चात्य रीतिशास्त्र की विनाय-परम्परा में डायोनीसियस का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। होरेस की प्रवृत्ति काव्यशास्त्र की और अधिक थी, परन्तु इस यूनानी धाचार्य का मुख्य प्रतिपाद्य रीति-सिद्धांत ही था। इनके ग्रन्थ का नाम हो 'पद-रचना' (या 'रीति') है।

पद-रचना :—

डायोनीसियस ने शब्द-चयन की अपेक्षा शब्द-योजना पर अधिक ध्यान दिया है। उनका कथन है कि काव्याभिनयना में मोन्दर्य का आधार शब्दानुशी नहीं है वरन् शब्द-गुणक या पद-रचना ही है। सुन्दर शब्दों का अभीष्ट प्रभाव तभी पड़ता है जब उनकी योजना भी सुन्दर हो। यही कलात्मक पद-रचना काव्य शैली का मूल तत्व है। इस प्रकार डायोनीसियस और वामन का सिद्धान्त सर्वथा समान है। कलात्मक पद-रचना ही वामन की विशिष्ट पद-रचना अथवा रीति है और उसकी प्रसुप्तता की घोषणा 'रीतिरामा काव्यस्य' की ही घोषणा है।

रीति में व्यक्ति-तत्त्व छोटी श्रांति सिमरा की भाँति डायोनीसियस भी शैली को व्यक्ति-तत्त्व को अभिव्यक्ति मानते हैं। पद-रचना या रीति काष्ट यात्रिक क्रिया नहीं है उसमें व्यक्तिगत वैशिष्ट्य मद्धे रहता है। इसके अनिर्वच्य शैली के नियामक तत्व धार भी हैं भाव तथा विषयवस्तु।—शैली अर्थ अथवा मूल सन्देश की अनुगतिनी होती है। इस प्रकार डायोनीसियस व्यक्ति-तत्त्व, भाव (रस) तथा वस्तु का नियमन स्वाकार करत हुए शैली के व्यक्ति-तत्त्व, और अन्वयों का सम्मुख विखेपण कर उसके वस्तु-तत्त्व—दंगों को ही महत्व देने हैं।

शैली के तत्व डायोनीसियस के अनुसार शैली के मुख्य तत्व हैं—सुन्दरता, स्पष्टता और समानगुण। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य तत्व भी हैं जो गौरव हैं जैसे सजीवता, उदात्तता, गरिमा, शक्ति, शोभा, आदि—और विशेष रूप से आंचित्य जिसे वे काव्य का सर्वधेष्ट गुण मानते हैं। भारतीय रीति-शास्त्र में उपर्युक्त प्रायः सभी गुणों का दण्डो, वामनादि ने दश गुणों में अंतर्भाव कर लिया है। स्पष्टता प्रसाद, अर्थव्यक्ति आदि में अंतर्भूत है, समानगुण श्लेष में, उदात्तता, गरिमा, शक्ति, सजीवता आदि श्रोत्र तथा

श्रौतार्थ में, और शोभा माधुर्य तथा सौकुमार्य में। आगे चलकर डायोनीसियस ने शैली के वर्ण-गुण आदि बाह्य तत्वों का विवेचन किया है। उनका निष्कर्ष है कि शब्द का सौन्दर्य वर्णों के सौन्दर्य पर आश्रित है। उन्होंने स्वरों और व्यंजनों के संगीत का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। दीर्घ स्वर अधिक संगीतमय होते हैं और ह्रस्व स्वरों में संगीत तत्त्व कम होता है। व्यंजनों में वे ल, म, न, र आदि में संगीत को मात्रा स्वरों के समान मानते हैं—शेष व्यंजनों को वे निश्चय ही अमंगुर मानते हैं। कुशल कलाकार दृष्टि और व्यंजनों की संयोजनाओं द्वारा अपनी शैली में वर्ण-संगीत का समावेश करता है। किन्तु वर्ण-संगीत से तात्पर्य केवल कोमल वर्ण-योजना से नहीं है—वर्ण-संगीत का सम्बन्ध तो प्रेरक भाव या रस से है। होमर प्रायः षडोर वर्णों के साथ मधुर-कोमल वर्णों को सुमिश्रित कर रसानुसृत कलात्मक सामञ्जस्य की सृष्टि कर लेता है। हमारे वर्ण-विवेचन और डायोनीसियस के इस वर्ण-विवेचन में कितना साम्य है। हमारे षड् भी स्वरों को व्यंजनों की अपेक्षा अधिक सुकुमार और संगीतमय माना गया है—इसीलिए तो वर्ण-नुमास गौडीया रीति का गुण है। व्यंजनों में, भारतीय रीतिशास्त्र में भी, ल, म, न आदि का माधुर्य सर्व-स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त केवल कोमल वर्ण-योजना को हमारे रीतिशास्त्र में भी अधिक स्पृहणीय नहीं माना गया—अति-सौकुमार्य पाचाली का गुण है जो स्वैयं रीति मानी गयी है। डायोनीसियस ने होमर के जिस कलात्मक मंगुल की प्रशंसा की है, वामन के शब्द-गुण प्रसाद में भी कुछ वैसा ही सकेत है—डायोनीसियस षडोर और कोमल वर्णों के मुरचिपूर्ण समञ्जन को श्लाघ्य मानते हैं, वामन ने गाढ़ और शिथिल पद वर्णों के सामञ्जस्य को प्रसादगुण का मूल आधार माना है।

शैली के भेद — डायोनीसियस भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति शैली के तीन भेद मानते हैं। थ्योक्रास्टस के मतानुसार वे भी यह मानते हैं कि काव्य-भाषा तीन प्रकार की होती है उदात्त और अलंकृत, प्रसादमय (सरल), तथा मिश्र—और तदनुसार रचना के भी तीन भेद हैं—कठिनोद्भाष^१, मसृण या सज्जित^२, मिश्र अथवा समजित^३।

१. कठिनोद्भाष शैली के मूल तत्व हैं गरिमा, नीवृत्ता, अनगद शक्ति आदि। इसमें प्रभावोत्पादक तथा असाधारण शब्दों का प्रयोग होता

है और कृत्रिम मसृष्टता, कजुता आदि नियमित रूप से बहिष्कार रहता है। इसी शैली में अनियमित पद-रचना तथा कर्षश-ध्वनियों से उत्पन्न काटिन्प होता है। इस प्रकार यह शैली एक अनगढ़ तथा अनलकृत शैली है।

ढायोन्तोसिबस के शब्दों में—

“कटिनोदात्त शैली के विशिष्ट गुण इस प्रकार हैं : इसमें शब्द रतम्भों की भीति रटता में नियोजित रहने हैं। यह कर्षश ध्वनियों के प्रयोग से सज्ज भी नहीं घबराती—(परन्तु उनका उसी प्रकार उपयोग करती है) जैसे अवन-निर्माण में अनगढ़ प्रस्तर खण्डों का होता है। इसकी प्रवृत्ति दीर्घ (समस्त) शब्दावली के माध्यम से विस्तार की ओर रहती है। विशेष स्थितियों की छोड़ इसमें लघु वर्थों का प्रयोग चिन्त्य समझा जाता है। इसकी वाक्य-रचना में उदात्त लयों का प्रयोग होता है, वाक्यांशों की रचना किसी समानुपात अथवा कठोर नियंत्रण के अधीन नहीं होती—यह भग्य, कज्जविल और स्वच्छन्द होते हैं। + + + + इसमें मज्जा के लिये अवकाश नहीं है, इसमें एक प्रकार का आत्मिमात्र्य तथा प्रकृत मुखरता होती है—और किसी प्रकार की पालिश नहीं होती।”

२. मसृष्ट या सज्जित शैली का मूल गुण है सहज सांकुमार्य—इसमें न तो प्राचीन शब्दावली का प्रयोग होता है और न काव्य-रूढ़ शब्दावली का। इसमें साधारण शब्द अपने साधारण अर्थ में प्रयुक्त होते हैं—और उनके प्रयोग में सरलता तथा अनन्यरूपता रहती है जिसकी एक अपनी नवीनता होती है।

“मसृष्ट या सज्जित शैली के गुण निम्नलिखित हैं + + + इसकी भाषा में स्वच्छन्द प्रगट होता है—इसके शब्द एक दूसरे के परवर्त सहज सम्बद्ध रूप से चिरप्रवाहित धारा के समान निरंतर धागे बढ़ते हैं। इस दृष्टि से यह शैली वारोक बुने वस्त्रों के समान अथवा उन चित्रों के भरश है जिनमें प्रकाश और छाया अभावाम ही एक दूसरे में घुले-मिले रहते हैं। इसकी शब्दावली संगीतमय, मसृष्ट तथा क्रिओरी के मुख के समान कोमल होती है। इसमें कर्षश तथा कर्णकटु वर्थों का अभाव रहता है, और, जोविम के, अमगुलित प्रयोगों का सायास बहिष्कार किया जाना है। + + + जहां तक अलंकारों का सम्बन्ध है, इसमें प्रचलित तथा रूढ़ अलंकारों—अथवा गरिमा-नामगोयं आदि के व्यक्त अलंकारों का प्रयोग नहीं होता, परन्तु प्रायः

ऐसे अलंकारों का प्रयोग होता है जो मधुर और रम्य हों—जिनमें ललित करपना की झलना हो। सामान्य रूप से इस शैली के प्रमुख एवं मूल तत्त्व कठिनोदात्त शैली के तत्त्वों के सर्वथा विपरीत हैं।^१ संप्रो आदि गीति-कवि इसके प्रतिनिधि हैं।

३ मिश्र अथवा समजित शैली का नाम मध्यमा भी है। इसमें ऐसे स्वाधरण शब्दों का चयन होता है जिनकी प्रवृत्ति तो अलंकृति की ओर होती है, परन्तु वे प्राचीन, अप्रचलित तथा काव्य-रूढ़ नहीं होते। इस मध्यमा अथवा समजित शैली में एक ओर सुल-मरल मरुणना, समानुपात आदि सरल शैली के गुण और दूसरी ओर गरिमा आदि कठिनोदात्त शैली के गुण भी वर्तमान रहते हैं।

“तीसरी शैली उपयुक्त दोनों शैलियों की मध्यवर्तिनी है। अधिक उपयुक्त नाम के अभाव में मैं इसे समजित शैली कहूँगा। इसका अपना कोई विशिष्ट रूप तो नहीं होता परन्तु इसमें अल्प दोनों शैलियों के सर्वोत्कृष्ट गुण रहते हैं। मुझे लगता है यही सबसे उत्तम शैली है क्योंकि इसमें मध्यम मार्ग ग्रहण किया गया है, और अरस्तू तथा उनके अनुयायी दार्शनिकों के अनुसार जीवन्, व्यवहार तथा कला की श्रेष्ठता मध्यम मार्ग में ही निहित रहती है। + + + । इस शैली का सर्वश्रेष्ठ प्रयोक्ता होसर है—जिसके काव्य में मरुण-कोमल तथा कठिनोदात्त रूपों के कुशल समन्वय द्वारा इस शैली का चरम विकास मिलता है।^१

उपयुक्त भेद सर्वथा मौलिक नहीं है। यूनानी रीतिशास्त्र में इनका वरलेख आरम्भ से ही मिलता है और प्लेटो और सिसरो ने प्रायः इसी रूप में इनका वर्णन किया है। उधर प्योफ्रास्टस का ऋण तो स्वयं दायोनोंसिथस ने ही माना है। भारत में भी वैदर्भी, गौड़ी और पाचाली इन्हीं के प्रकारान्तर हैं—पाचाली मरुण या सज्जित शैली के निकट है और गौड़ी कठिनोदात्त के, वैदर्भी प्रायः मध्यमा अथवा समजित शैली की समानान्तर है। उधर कुन्तक के तीन मार्ग-भेद इनके और भी अधिक निकट हैं—वहा नाम साम्य भी है सुकुमार और मरुण-कोमल एक है और मध्यम तो दोनों में समान

१ (ग्रीक लिटरेरी प्रिंसिपल्स में उद्धृत इन्क्व्यू ९० रोवर्ट्स का अनुवाद।)

ही है। इस प्रकार भारतीय तथा यूनानी-रोमी रीतिशास्त्रों में शैलियों के वर्गीकरण का आधार ही नहीं बल्कि उनके तत्वों का विश्लेषण भी बहुत कुछ समान है।

डिमैट्रियस

अरस्तू सिसरो तथा डायोनीसियस की रीति-परम्परा को डिमैट्रियस तथा क्विन्टीलियन ने और आगे बढ़ाया। डिमैट्रियस ने शैली पर एक स्वतन्त्र रीति ग्रन्थ हो लिखा है। उन्होंने शैली की कोई औपचारिक परिभाषा नहीं की। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति वे भी शैली को लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और व्यक्ति-तत्त्व को शैली की भाषा मानते हैं, परन्तु इसके साथ ही वे कुछ ऐसे निर्देशक सिद्धान्तों तथा नियमों का अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं जो कलात्मक रचना (रीति) में सहायक होते हैं। इसी प्रकार वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वस्तु-विषय शैली का प्रमुख नियामक तत्व है—किन्तु साथ ही उसको प्रस्तुत करने के ढंग पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है।

डिमैट्रियस ने शैली के चार प्रकार माने हैं

उदात्त^१, मधुर या मृदु^२, प्रसादमय^३ और श्लोक्षणी^४। इनमें पहले तीन तो सिसरो तथा डायोनासियस द्वारा प्रतिपादित शैली-भेद ही हैं—श्लोक्षणी इन्होंने अपनी ओर से और जोड़ दिया है। परन्तु वह भी इनकी अपनी उद्भासना नहीं है—इनसे पूर्व फिलोडैमस उपर्युक्त तीन भेदों के प्रतिरूप एक चौथे भेद 'प्रबल'^५ का उल्लेख कर चुके थे।

डिमैट्रियस के अनुसार उदात्त शैली का मूल तत्व है असामान्यता क्योंकि उनका मत है कि 'प्रत्येक सामान्य वस्तु प्रभावहीन होती है।' उदात्त शैली के तत्व इस प्रकार हैं विविध तथा विचित्र शब्दावली, समास, अलंकार, कान्य-रूढ़ भाषा का बहुधा प्रयोग। उसकी पदावली उत्कृष्ट होती है, मृदु और कोमल के लिए उसमें अधिक अवकाश नहीं होता।

१ ऐर्नस्ट
२ प्लीनेट (मास्सन ने इसे पालिड कहा है।)
३ प्लेन
४ फोर्मीक
५ वैरिगैट

उसको वर्ण-योजना प्रगाढ़ होती है जिसके आरम्भ में तथा अंत में गुरु वर्णों का प्रयोग रहता है क्योंकि इस प्रकार प्रयुक्त गुरु वर्णों में प्रायः विस्फोट का प्रभाव होता है। इस शैली की पद-रचना में क्रमिक आरोह रहता है और रूपक, पर्यायोक्ति तथा अन्योक्ति-रूपक आदि अलंकारों का सयत्न प्रयोग होता है। रूपकों में शैली में गरिमा और रमणीयता का समावेश होता है, अन्योक्ति—रूपक के प्रयोग में शैली उदात्त बनती है—क्यों कि अन्योक्ति-रूपक शक्ति और अर्थकार का त्यजक है। इसी प्रकार वज्रतामूलक अलंकार तथा समास-गुणयुक्त पदावली का भी यही उपयोग है।

मधुर अथवा मसृण शैली शोभा और कान्तियुक्त होती है। इसके विषय हैं परिचो के उपवन, विवाह-उत्सव गीत, प्रेम-कथाएँ आदि—इस प्रकार की विषय वस्तु में ही एक प्रकार की उज्ज्वलता एवं कान्ति होती है। इस शैली के उपादान हैं मधुर शब्द, मसृण गुण, छन्द लय की अन्तर्धारा, आदि। मधुर शब्दों में अभिप्राय ऐसे शब्दों का है जो किसी मधुर चित्र की व्यञ्जना करते हों अथवा जिनकी ध्वनि मधुर हो। उदाहरण के लिए 'गुलाब-रजित' शब्द की चित्र-व्यञ्जना रमणीय है, और 'ल' 'न' आदी वर्णों की ध्वनि मधुर है। मसृण गुण का अर्थ यह है कि वर्ण और शब्द एक दूसरे में घुसते चले जाएँ। इस प्रकार रचना में एक मधुर तारल्य आ जाता है—इसे ही डीमेट्रियस ने संगीत की अन्तर्धारा कहा है। वे छन्द को नहीं छन्द की व्यञ्जना को शैली का गुण मानते हैं।

तीसरी शैली है प्रसादमयी (प्रसन्न) शैली जिसका मूल लक्ष्य है स्पष्टता और मरलता। अतएव इसमें निश्चि प्रति की भाषा का प्रयोग रहता है जिसमें सभी असामान्य तत्वों, जैसे रूपक, समास, नव-रचित शब्द आदि का बहिष्कार कर दिया जाता है। दीर्घ स्वर व्यञ्जन-योजना, विचित्र अलंकार, अत्यधिक समासगुण (श्लेष) आदि ममस्त अलंकरण-प्रसाधन इस शैली के लिए स्थान्य हैं। वास्तव में इसका प्राण तत्त्व है अर्थ-वैमल्य—अर्थात् अर्थ वैमल्य के प्रमुख उपादान हैं १. सामान्य शब्दावली २. सामान्य पद रचना ३. लघु वाक्य ४. लघु वर्ण-योजना ५. आनुगुण्यत्व (एकचूरेसी)—अर्थात् 'अन्यून-अनतिरिक्त' शब्द-प्रयोग। ये ही प्रसन्न शैली के भी आधारभूत गुण हैं। डीमेट्रियस की चौथी शैली है ओजस्वी। इस शैली के तत्त्व हैं १. उल्लव्य

पदावली, २. समाम, ३. सार, ४. सुकुमारोक्ति' आदि श्लकारों का प्रयोग ४. शब्द-बाहुल्य एवं व्यासगुण का अभाव और ५. सरलता तथा समृद्धता का अभाव । उक्त पदावली से शक्ति और शोज का मंचार होता है—कठोर धनियाँ शोजगुण की व्यजक हैं और ये प्रायः विषम शब्द-योजना के अधीन रहती हैं । समास में गाढ़बन्धत्व और उससे रचना में बल आता है । व्यासगुण से शक्ति की हानि होती है—सविस्तर सार-गर्भित उक्ति प्रभुता की द्योतक है और विस्तृत व्याख्या से विनय अथवा प्रार्थना का आभास मिलता है । सार आदि श्लकारों में शब्दार्थ का तारतम्यिक आरोह रहता है—इसमें शैली प्राणवान् बनती है । पारचास्य रीतिशास्त्र का एक श्लकार है सुकुमारोक्ति जिसमें अमंगल अथवा अशुभ अर्थ को मांगलिक शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है । हमारे यहाँ धर्मतामूलक श्लकार—पर्यायोक्त—में इसका अन्तर्भाव हो सकता है । परन्तु धामन का अर्थगुण सौकुमार्य डीक इसी अर्थ की व्यंजना करता है जहाँ वरुण (अप्रिय या अशुभ) अर्थ में अपरुण (प्रिय-अथवा शुभ) का प्रयोग हो वहाँ अर्थगुण सौकुमार्य होता है—यथा मृत के लिए 'यश रोष' शब्द का प्रयोग ।

(काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३, २, १२)

डिमेंट्रियस 'सुकुमारोक्ति' को भी शोजस्वी शैली का गुण मानते हैं क्योंकि इससे रचना में गरिमा और गभीरता का समावेश होता है । उपर्युक्त तत्त्वों का सम्भाव सरलता और समृद्धता के अभाव का द्योतक है यह स्पष्ट है कि इन गुणों के साथ सरल-कीमल शब्दावली की सक्ति नहीं बैठती ।

उपर्युक्त शैली-विवेचन तथा भारतीय रीति-निरूपण में स्पष्टतया अत्यधिक साम्य है । डिमेंट्रियस ने एक स्थान पर लिखा है कि कुछ लोग इन चार शैलियों का दो वर्गों में अन्तर्भाव कर केवल दो ही मूल शैलियाँ मानते हैं परन्तु यह प्रयास बेतुका है । यद्यपि डिमेंट्रियस अपनी चारों शैलियों के स्वतन्त्र अस्तित्व पर इतना अधिक बल देते हैं, फिर भी—जैसा कि प० बन्धेव उपाध्याय के निष्ठिष्ट किया है—इनको दो वर्गों में रचना अमंगल नहीं है प्रसादमयी तथा समृद्ध शैलियों को एक वर्ग में, और उदात्त तथा शोजस्वी को दूसरे वर्ग में । वास्तव में उदात्त और शोजस्वी का अंतर सूक्ष्म है—उनमें आधार का अन्तर नहीं है सूक्ष्म अवयव का भेद है, यतएव उनको

पृथक् शैलियाँ मानना वर्गीकरण सिद्धान्त के प्रतिकूल है। वर्ग-विस्तार का मोह भारतीय रीतिकारों को भी रहा है, और उन्होंने इस प्रकार की श्रुतियाँ प्रायः की हैं। इस प्रकार डिमैट्रियस की अंतिम दो शैलियों को एक ही मानना उचित है, उदात्त के लिए ओज और ओज के लिए उदात्त गुण अनिवार्य है। भारतीय गौड़ी शैली इनके समानान्तर है। वैदर्भी की कल्पना प्रसादमयी तथा मत्स्य शैलियों से अधिक व्यापक है। प्रसाद वैदर्भी का प्रधान गुण है—अर्थ-वैमल्य उसकी मूल विशेषता है, परन्तु माधुर्य और सौकुमार्य का वैभव भी उसमें रहता है। डिमैट्रियस की मत्स्य शैली वामन की पांचाली की पर्याय है - माधुर्य-सौकुमार्योपपन्ना पांचाली (का० सू० दृ० १।२।१३)। किन्तु प्रसन्न शैली वैदर्भी की पर्याय नहीं है क्योंकि अफेला प्रसाद गुण वैदर्भी की समृद्धि का वहन नहीं कर सकता। वास्तव में वैदर्भी डायोनीसियस की समर्जित शैली और प्लेटो की मध्यमा शैली के ही निकट है जिसमें उदात्त तथा मत्स्य दोनों शैलियों के श्रेष्ठगुणों का समन्वय रहता है। 'समप्रगुणा वैदर्भी' का भी वही गौरव है, ह्यूसिलिप्स प्लेटो तथा डायोनीसियस ने समर्जित शैली को और दण्डी वामनादि भारतीय आचार्यों ने वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ माना है। डिमैट्रियस की ये शैलियाँ मम्मट आदि की उपनागरिका और कोमला के अधिक निकट हैं। मम्मट के टीकाकारों के अनुसार कोमला प्रसादगुण-विशिष्ट है। इस प्रकार प्रसन्न शैली कोमला की पर्याय है, और मत्स्य शैली माधुर्य-विशिष्ट उपनागरिका की। संस्कृत काव्यशास्त्र में उपनागरिका को वामन की वैदर्भी का पर्याय माना गया है—परन्तु यह सर्वथा सगत नहीं है।

विकृत शैलियाँ - ये तो इन शैलियों के वास्तविक रूप हुए। अनधिकारी के हाथ में पड़कर इनके रूप बिह्वल भी हो जाते हैं। विकृत रूपों में उपर्युक्त गुणों के विपर्यय मिलते हैं। उदात्त शैली का विपरीत रूप है—आटम्बरपूर्ण शैली। इसमें अनावश्यक रूप से कुछ विषयों के लिए अत्युक्ति मयी भाषा का प्रयोग रहता है। अत्युक्ति अलंकार सबसे अधिक आटम्बरपूर्ण अलंकार होता है। इस शैली में एक प्रकार की निष्प्रभाव वाचालता रहती है। मधुर या मत्स्य शैली का विपर्यय है कृत्रिम शैली—इस प्रकार की शैली में बनाबट और कुछ स्त्रीयता सी रहती है। प्रसन्न शैली का विकृत

रूप है—शुक्ल या नीरस शैली जिसमें मजीब विषयों का भी वर्णन निर्जीव होता है। चौथी है अोजस्वी जिसका विपरीत रूप है अप्रिय^२ शैली—यह शिथिल आढम्बरपूर्ण शैली से बहुत कुछ मिलती जुलती है—इसके बन्ध शिथिल और भाषा उसकी हुई होती है।

इस प्रकार का विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र में भी है। वामन ने दोषों को गुणों का विपर्यय माना है। दण्डी ने भी प्रत्येक गुण का एक विपर्यय माना है जो कहीं गुण के वैपरीत्य का और कहीं भिन्नता मात्र का घातक है। दण्डी के श्लेष—गाढबन्धत्व—का विपर्यय है शैथिल्य। हिमैट्रियस के अनुसार गाढबन्धत्व उदात्त शैली की मूल विशेषता है और शैथिल्य उसकी विपरीत शिथिल-आढम्बरपूर्ण शैली की। हिमैट्रियस की यह शिथिल आढम्बरपूर्ण शैली भारतीय गौड़ी के पिष्टत रूप की समानार्थक है। यही हिमैट्रियस की 'अप्रिय शैली' के विषय में कहा जा सकता है—जहाँ भाषा उसकी हुई और शब्द खोमले हों। इसका संकेत वामन के 'वैषम्य' में भी मिल जाता है जो उनके शब्दगुण समता का विपर्यय है। शैली की विषमता का अर्थ यही कि उसमें पद-रचना उतराड़ी हुई होती है। नीरस शैली की ओर हमारे यहाँ अनवीकृत दोष के लक्षण में संकेत है—जहाँ उक्ति में किसी प्रकार की मयीनता एवं वैचित्र्य न हो वहाँ अनवाकृत दोष होता है। नीरस शैली इसी दोष से दूषित रहती है। इसी प्रकार कृत्रिम शैली की ओर भी भामह ने संकेत किया है : उनका कहना है कि पुष्ट अर्थ तथा चक्रता के अभाव में केवल 'श्रुतिपेशल' शैली वाङ्मनीय नहीं है। हिमैट्रियस ने कृत्रिम शैली के विषय में यही कहा है कि उसमें अर्थ सामान्य तथा चमत्कार नहीं होता केवल एक प्रकार की वनावट और स्त्रैयता—कृत्रिम कोमलता अथवा श्रुतिपेशलता मात्र रहती है।

लॉन्जाइनस

यूनानी-रोमी काव्य शास्त्र में लॉन्जाइनस का नाम चिर-प्रचलित है। परन्तु उनका विषय मूलतः काव्यशास्त्र हो है, रीतिशास्त्र नहीं है। काव्य

के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन ही उन्हें उभीष्ट रहा है—उन्हीं के प्रसंग में लॉन्जाइनस ने शैली पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं ।

लॉन्जाइनस का अभिमत है कि महान शैली “आत्मा की महत्ता की प्रतिध्वनि है ।” और, इसी दृष्टि से उन्होंने शैली का विवेचन-विरलेषण भी किया है । उन्होंने शैली के पाँच उद्गम माने हैं : भावणा की भव्यता^१, भावना की तीव्रता^२, अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग^३, भाषागत आभिजात्य^४ तथा पदरचना की गरिमा और औदार्य ।^५

भारतीय रीतिशास्त्र में भाषागत आभिजात्य का उल्लेख कुन्तक के आभिजात्य गुण-वर्णन में और पद-रचना की गरिमा और औदार्य का विवेचन औदार्य, कान्ति तथा श्लेष आदि गुणों के विवेचन में किया गया है ।

वास्तव में लॉन्जाइनस का विवेचन सर्वथा भाषागत है—उन्होंने शैली के मनोचिह्न का ही विवेचन किया है तबों का वस्तुगत विरलेषण नहीं । अलंकार-प्रयोग में भी उन्होंने अलंकारों के स्वरूप तथा भेद आदि का वर्णन न कर उनकी रसात्मक शक्ति का ही विरलेषण किया है । पद रचना के विषय में उन्होंने पद-रचना-सौष्टव के प्रभाव का सामान्य विवेचन मात्र किया है । इस प्रकार रीति के वस्तुगत विवेचन में लॉन्जाइनस का योग-दान अधिक नहीं है—वास्तव में यह मेधावी आचार्य रीतिवाद से बहुत दूर था । उसका उदात्त सिद्धान्त रस-भ्रमिवाद के अन्तर्गत ही आता है ।

विबन्टीलियन

लॉन्जाइनस के परवर्ती रोमी आचार्य विबन्टीलियन वास्तव में रीतिकार थे ।

विबन्टीलियन के अनुसार शैली का मुख्य आधार है शब्द—शब्द प्रत्यक रूप में और संयोजित रूप में । शैली के उन्होंने तीन स्तर माने हैं ।

१ शब्द-चयन २ अलंकरण ३ (कलात्मक) पद-रचना ।

१ ग्रैन्जर आफ कर्सेपान

२ इन्टेन्सिटी आफ इमोजन

३ एप्रोप्रियेट यूज आफ लिगन

४ नोबिलिटी आफ डिक्शन

५ डिगनिटी एण्ड ऐगीबेशन आफ वर्ड आर्डर ।

शब्द-चयन .— विचन्टीलियन चार प्रकार के शब्दों की काव्य के लिए विशेष उपयोगी मानते हैं। कुछ शब्द अपने अंग्जन्त्य और ध्रुति-साधुर्ष के कारण अन्य शब्दों की अपेक्षा अधिक रचिकर होते हैं। कुछ शब्दों में सादृश्य अथवा सम्पर्क-जन्य महिमा होती है—महान काव्य में तथा श्रेष्ठ कवियों द्वारा प्रयुक्त किये जाने से उनमें एक विशेष गरिमा आ जाती है। कहीं कहीं सामान्य शब्दों का भी अत्यन्त स्वस्थ प्रभाव पड़ता है। उधर प्राचीन काव्य रूढ़ शब्दांशों का भी अपना गौरव होता है।—इनमें पहले वर्ग के (उज्ज्वल और ध्रुतिमय) शब्द वामन के शब्दगुण साकुमार्य और काम्ति आदि में आ जाते हैं। महाकवियों के प्रयोग में गौरवान्वित प्राचीन काव्य-रूढ़ शब्दों का महत्व भारतीय काव्य-शास्त्र में प्राप्त वर्णों के रूप में मान्य रहा है। महाकवियों का प्रयोग हमारे यहाँ असातु आदि अनेक लोगों का परिहार करने में समर्थ माना गया है।

पद-रचना .— विचन्टीलियन के अनुसार शैली का दूसरा तत्व है पद-रचना। पद-रचना के लिए पहला गुण है स्पष्टता, स्वच्छ पद-रचना अर्थ-वैमल्य की जननी है। अर्थ-वैमल्य के लिए यह आवश्यक है कि शब्दों का प्रयोग सफा तुल्य हो—न कम हो न अधिक। यही वामन का भी मत है अर्थ की विमलता से अभिप्राय है आवश्यक मात्र का ग्रहण 'प्रयोजकमात्रपदपरिमह।' विचन्टीलियन ने पद-रचना के इन गुण को अत्यधिक महत्त्व दिया है। हमके विषय में उनका एक वाक्य अत्यन्त अर्थ-गर्भित है रचना का उद्देश्य केवल यह नहीं होना चाहिए कि उसमें पाठक अथवा श्रोता को समझने में सरलता हो—परन्तु यह होना चाहिए कि उसके लिए न समझना असम्भव हो जाए। किन्तु यह तो पदरचना का एक पक्ष हुआ—दूसरा पक्ष है सजा पद। पद-रचना कलात्मक भी होनी चाहिए, यह आवश्यक नहीं है कि शब्दों की सहज योजना ही सर्वश्रेष्ठ योजना हो—उसको सुन्दर रूप देने के लिए पुनर्योजना प्रायः आवश्यक हो जाती है। इस पुनर्योजना में वाक्य-योजना, पद-योजना और वर्ण-योजना तीनों का ही समावेश है—विचन्टीलियन वर्ण-सर्गांत को भी रचना का निश्चित गुण मानते हैं। वामन के शब्दगुण श्लेष तथा औदार्य आदि में भी वाक्य योजना तथा पद-योजना के सौन्दर्य का संकेत है। शब्दगुण श्लेष का आधार है मर्मण्य जिसमें बहुत से पद भी एक जैसे प्रतीत होते हैं—“यस्मिन् सति बहून्यपि पदानि एकवद् भासन्ते।” औदार्य का आधार है विकटता—जिसमें पद नृस्य-सा करते प्रतीत होते हैं

“यन्मिन् सति नृत्त्यन्तोव पदानि ।” ये दोनों वन्ध अर्थात् पद-रचना के ही गुण हैं। वर्णगुम्फ का मौन्दर्व्य मम्मट आदि के मापुर्थ गुण में निहित है जहाँ ट, ठ, ड, ढ, में रहित क कार से लेकर भकार तक वर्ण अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि पञ्चम वर्ण पहले आता है और स्पर्श वर्ण पीछे। रेफ और शकार ह्रस्व स्वर से अन्तरित होते हैं।—

(काव्यप्रकाश ८।७४)

अलकरण .— विवन्टीलियन की शैली का तीसरा तत्व है अलकरण। वे उन अलकारों को महत्त्व देते हैं जो कल्पना के आश्रित हैं—जिनमें मूर्ति-विधान की समता है क्योंकि अलकार का मुख्य उद्देश्य है सजीव चित्रण और यही उसकी सिद्धि है।

गुणों का वर्णन करते हुए इस रीतिकार ने शैली के कुछ दोषों का भी उल्लेख किया है। ये दोष हैं १ अनुपयुक्त शब्द २, अधिक शब्द ३ आह-भ्रमपूर्ण तथा आत्यधिक श्रुतिपेशल शब्द और ४, विषम शब्द-योजना। इन दोषों का भारतीय रीतिशास्त्र में प्रायः यथावत् उल्लेख मिलता है। हमारे ग्रन्थों तथा अधिक पद दोष विवन्टीलियन के क्रमशः अनुपयुक्त तथा अधिक शब्द दोषों के पर्याय हैं। तीसरे दोष की भारतीय रीतिकारों ने अपराधम्बर कहा है जिसके लिए गौडजन कुम्भास थे। गौडेध्वजदम्बर (धारा, हर्षचरित)। विषम शब्दयोजना की भर्त्सना वामन ने शब्दगुण समता के प्रसंग में की है। समता में पद रचना समजित रहती है—इसका विपर्यय है विषमता जहाँ रचना में अनेक रीतियों का अनमेल मिश्रण रहता है।

शैली के भेद .— विवन्टीलियन के पूर्व से ही शैली के तीन भेद परम्परा से चले आ रहे थे : प्रसन्न (सरल), उदात्त तथा मध्यम अथवा सज्जित। विवन्टीलियन सामान्य रूप से इन्हें स्वीकार कर लेते हैं। उनका मत है कि इन तीनों शैलियों के तीन पृथक् उद्देश्य हैं। प्रसन्न (सरल) शैली शिक्षा के लिए अत्यन्त उपयुक्त है, उदात्त शैली का लक्ष्य है भावों को उद्बुद्ध करना, और सज्जित शैली का उद्देश्य है मन-प्रसादन। किन्तु विवन्टीलियन इस विभाजन को सर्वथा निर्दोष तथा पूर्ण नहीं मानते—उनका स्पष्ट मत है कि इस प्रकार का विभाजन स्थूल है : सभी शैलियों को इन तीन वर्गों में परिसीमित नहीं किया जा सकता—‘शैली के अनेक मार्ग हैं’।

इन तीन भेदों के अतिरिक्त मिश्रटीलियन ने तीन भौगोलिक भेदों का भी बल्लेख किया है—‘‘प्राचीन काल से लेब्यकों के दो प्रसिद्ध वर्ग मान्य रहे हैं—पेट्रिक और एशियाटिक । पहले वर्ग के कवियों की शैली समासगुणयुक्त और सजीव मानी गयी है और दूसरे वर्ग के कवियों की शैली बाचाल और निस्सार । सन्त्रा आदि कुछ विद्वानों का मन है कि जब यूनानी भाषा धीरे धीरे समीपस्थ एशियाई देशों में फैलने लगी तो वहाँ के निवासी जो भाषा में व्युत्पन्न तो नहीं थे किन्तु जिन्हें उसमें भाषणादि देने की आकांक्षा थी सोधी सादी वात को आदम्बरपूर्ण शब्दावली में व्यक्त करने लगे, और वही शैली स्वीकार कर ली गयी । किन्तु मेरा विचार है कि वक्ताओं का स्वभाव-वैचित्र्य और श्रोता-समाज की विभिन्नता ही शैली-भिन्नता का कारण है । एवेन्स के निवासियों का रहन-सहन सस्कृत और विचार-धारा स्पष्ट थी—अतएव उन्हें निम्नार शब्दादम्बर अभिन्न था । एशिया के लोग लम्बी-चौड़ी हँकने के अभ्यस्त थे, अतएव उनकी शैली में आदम्बर होता था । इनके अतिरिक्त एक तीसरी शैली का भी उदय हुआ इसका नाम था र्होडियन । यह शैली दोनों की मध्यवर्ती थी । उसमें न तो पेट्रिक शैली का अत्यधिक सयम था और न एशियाटिक शैली की मुखरता । + + + इसकी समता न तो निर्मल कन्धारों से की जा सकती थी और न सकुल जल-प्रपातों से, यह तो शान्त गति में बहते हुए सरोवर के समान थी ।’’

भारतीय रीतिशास्त्र में वैदर्भी, गौडी तथा पाचाली का वर्ग-विभाजन उपर्युक्त विभाजन के बहुत निकट है । दोनों का आधार आरम्भ में भौगोलिक था, फिर क्रमशः विशेषता का वाचक हो गया । परन्तु प्रादेशिक छद्म उसकी मिट्टी नहीं । पेट्रिक शैली वैदर्भी में दूर नहीं है—जिस प्रकार अपने पहा विदर्भ लोगों की रचि सस्कृत तथा कलात्मक थी, इसी प्रकार प्राचीन युराप में पेट्रिक लोगों की भी थी । इसीलिए उनकी शैली परिष्कृत, सज्जित तथा कलात्मक थी । एशियाटिक शैली गौडी की पर्याय है । आरम्भ में एशिया निवासियों की भाँति गौडों की भी शब्दादम्बर और बाचालता के प्रति आकर्षण था—धीरे धीरे दोनों की भौगोलिकता नष्ट हो गई । तीसरी शैली र्होडियन दोनों की मध्यवर्ती है ।—प० बल्देव उपाध्याय ने इसे पाचाली के समकक्ष माना है, परन्तु यह सगत नहीं है क्योंकि र्होडियन दोनों की मध्यवर्ती है और पाचाली मध्यवर्ती नहीं है । पाचाली में

माधुर्य और सौकुमार्य—ये दो कोमल गुण ही होते हैं, कोमल और परप का समन्वय नहीं मिलता। अतएव रूशोडियन शैली पाचाजी नहीं है।

विन्डोलियन के बाद यूरोप के काव्य-शास्त्र में एक प्रकार का अन्धकार-युग-सा आ जाता है। रोम के पतन से लेकर पुनर्जागरण काल तक का समय यूरोप के इतिहास का मध्ययुग कहलाता है। जैसा कि सेन्ट्सबरी ने लिखा है, मध्ययुग वास्तव में आलोचना का युग नहीं था—वह अज्ञान सृजन का युग था। काव्य, नाटक, इतिहास, गति सभी क्षेत्रों में मौलिक सर्जना बुद्धि बेश से खस रही थी जिसमें आलोचना के लिए अवकाश नहीं था। इतिहासकारों ने मध्ययुग के तीन भाग किये हैं। आरम्भिक मध्ययुग में तीन रीतिशास्त्रियों के नाम हमारे सामने आते हैं बोड, इसोडोर और रिलकुइन। इनका मुख्य विषय अलंकार था और दृष्टिकोण परम्परावादी था। केवल एलकुइन ने शैली पर कुछ विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार शैली का प्रथम गुण है व्याकरण की दृष्टि से शुद्धता, और स्वच्छ शब्द-योजना। शब्दों के चयन में कातिमय शब्दों को महत्व दिया जाना चाहिए। रूपक के द्वारा शैली का अलंकरण होता है। पदरचना के विषय में एलकुइन ने केवल यही कहा है कि समान वणों का समुपन अरुचिकर होता है। उपर्युक्त विवेचन में कोई नवीनता नहीं है—यह अरस्तू आदि के विचारों की ही प्रतिध्वनि मात्र है। मध्ययुग का मध्य और भी अप्रुर्ध है—उसमें रीतिशास्त्र ने किसी प्रकार प्रगति नहीं की, वास्तव में मध्य युग के इन दोनों भागों में रीतिशास्त्र के नाम पर व्याकरण, छन्दशास्त्र, अलंकार, चिन्ताकाव्य आदि का ही रुढ़िबद्ध व्याख्यान-विवेचन होता रहा, काव्य अथवा रीति का मौलिक एवं तार्किक विवेचन नहीं हुआ।

दान्ते

मध्ययुग के अन्तिम चरण में दान्ते का आविर्भाव हुआ। दान्ते ने उत्कृष्ट काव्य-सर्जना के अतिरिक्त ग्रांथ शास्त्र-विवेचन भी किया है। उन्होंने अत्यन्त प्रबल शब्दों में युग की आवश्यकता के अनुकूल लैटिन के विरुद्ध इटालियन भाषा की गौरव-प्रतिष्ठा की। दान्ते ने काव्यभाषा और काव्य-शैली पर बहुमूल्य विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने शैली अथवा रचना के चार भेद

किये हैं : १. निर्जीव अथवा रचिविहीन २. केवल सुरचिपूर्ण ३. सुरचिपूर्ण तथा सुन्दर ४. सुरचिपूर्ण, सुन्दर तथा उदात्त । इसमें अन्तिम शैली ही सर्वोत्तम है ।

शैली-भेदों के अतिरिक्त दान्ते का शब्द-विवेचन भी अत्यन्त मनोरञ्जक है कुछ शब्द चरचो की तरह तुलनाते हैं, कुछ शब्दों में स्त्रियोचित लोचलचक रहती है, और कुछ शब्दों में पौरुष भिन्नता है । अन्तिम वर्ग के शब्दों में कुछ ग्राम्य होते हैं और कुछ नागर—नागर शब्दों में भी कुछ मसृष्ट^१ और चिक्क^२ होते हैं, और कुछ प्रकृत^३ और अनगद^४ ।

“इन शब्दों में से मसृष्ट तथा प्रकृत को ही हम उदात्त शब्दावली कहते हैं, चिक्क और अनगद शब्दों में आदम्बर मात्र रहता है । + + उदात्त शैली में ‘तुलने’ शब्दों के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि ये अति-परिचित शब्द होते हैं, स्प्रेय शब्द अपनी स्त्रियुता के कारण और ग्राम्य शब्द अपने काठिन्य के कारण त्याज्य हैं । नागर शब्दावली के चिक्क और अनगद शब्द भी प्राज्ञ नहीं हैं । इस प्रकार केवल मसृष्ट और प्रकृत शब्द रह जाते हैं और ये ही शब्द भव्य हैं” ।

दान्ते के वर्गीकरण में कोई नवीनता नहीं है—उसमें भी उसी परम्परा की स्वीकृति है जो सिम्रो, डायोनीसियस, डिमेट्रियस आदि में मिलती है । दान्ते की चार शैलियों में पहली अर्थात् निर्जीव या सुरचिहीन शैली तो वास्तव में माहिथ की शैली ही नहीं है—यह तो शैली का विकृत रूप है जो डिमेट्रियस द्वारा निर्दिष्ट शुष्क (परिड) नामक विकृत शैली से बहुत कुछ मिलती जुलती है । ‘केवल सुरचिपूर्ण’ परम्परागत प्रसन्न शैली के और, ‘सुरचिपूर्ण एव सुन्दर’ सुन्दर (मधुर) शैली के समकक्ष है । ‘सुरचिपूर्ण सुन्दर तथा उदात्त’ यूनानी-रोमी परम्परा के किमो रूप के अन्तरांग नहीं आती—उदात्त में सुन्दर के लिए अधिक अवकाश नहीं है । यह वास्तव में हमारी यंत्रभी की ही पर्याय है जो प्रसाद, माधुर्य तथा ओज तीनों से सम्पन्न होती है । भारतीय रीतिशस्त्र में घैदभी की सभी प्रशस्तियों में उसको सर्वश्रेष्ठ सम्पदा का उल्लेख है । दान्ते भी अपनी चतुर्थ शैली को ही सर्वोत्कृष्ट मानते हैं क्योंकि वही सर्वगुण सम्पन्न है ।

इस दृष्टि से दान्ते का शब्द-विवेचन अपेक्षाकृत अधिक मौलिक है। भारतीय रीतिशास्त्र में उनके स्त्रैय शब्दों का विवेचन वामन के शब्दगुण माधुर्य तथा सौकुमार्य में और मयूर शब्दों का विवेचन शब्दगुण कान्ति में मिल जाता है। अनगढ़ शब्द हमारे यहाँ भी श्रुतिष्ठ दोष के कारण माने गये हैं।

मध्य युग के उपरान्त यूरोप में उस स्वर्णयुग का आरम्भ हुआ जो इतिहास में पुनर्जागरण काल के नाम से प्रसिद्ध है। यह युग अगाध धृष्ट और अदम्य विद्रोह का युग था—इन्हीं दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का अनुत्त समन्वय इस युग की अन्तःप्रेरणा का मूल आधार था। वास्तव में व्यक्ति की भाँति, युग की भी महत्ता उसकी अन्तर्विरोधों की समजन-शक्ति से ही निर्दिष्ट रहती है। अन्तर्विरोध जितने प्रबल और तीव्र होते हैं, उनके समजन के लिए उसकी ही शक्ति की आवश्यकता होती है। पुनर्जागरण काल में एक ओर पुरातन साहित्य के प्रति असीम धृष्ट थी, दूसरी ओर नवीन जीवन-चेतना को अभिव्यक्त करने की दुर्दम्य स्फूर्ति। यूरोप में इस आन्दोलन का सबसे प्रबल रूप इंग्लैंड में व्यक्त हुआ। वहाँ उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियाँ अत्यन्त स्पष्ट रूप में सामने आईं—बैन जॉन्सन पहली प्रवृत्ति के प्रतीक हैं, शेक्सपियर दूसरी के। बैन जॉन्सन ने यूनानी और रोम की शास्त्रीय परम्पराओं को अवतरित किया—अब शेक्सपियर ने आत्मा के अन्तुक्त विक्षेपों को।

बैन जॉन्सन

बैन जॉन्सन ने शैली पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार शैली का मुख्य गुण है प्रसाद—शैली का प्रमुख दोष यह है कि उसके लिए व्याख्याता की आवश्यकता पड़े। प्राचीन शब्दों के प्रयोग से शैली में एक प्रकार की गरिमा का समावेश होता है, और प्रायः उसका अपना एक विशेष चमत्कार होता है। “किन्तु फिर भी नवीन शब्दों में से प्राचीनतम और प्राचीन शब्दों में से नवीनतम शब्दों का चयन ही अधिक श्रेयस्कर है। + + + कुछ शब्दों का चयन अलंकार के लिए किया जाता है—जैसे कि

मनो को सजाने के लिए या मालापूर्न गूँघने के लिए फूलों का चयन किया जाता है। किन्तु ये भी शैली के सहज अंग रूप में ही अधिक स्थित हैं—जैसे कि कूल शब्दबल में ही अधिक सुन्दर लगते हैं।”

बैन जॉन्सन ने शैली के चार भेद माने हैं—^१संक्षिप्त शैली, ^२समस्त शैली, ^३व्यस्त शैली, ^४समजित शैली। ये भेद प्राचीनों के शैली-भेदों से भिन्न हैं। परन्तु आगे चलकर बैन जॉन्सन ने परम्परागत भेदों की शोर भी मकेत किया है। उन्होंने मानव-शरीर का रूपक बँधते हुए भाषा-शैली के अनेक अंग माने हैं। आकार, स्वरूप, परिधान (स्वचा), रक्त-मांस आदि। आकार की दृष्टि से शैली के तीन भेद होते हैं—उदात्त, चुट्ट और मध्यम। उदात्त शैली में शब्द चुने हुए होते हैं, उनका नाद-गुण गभीर होता है, पद-रचना प्रचुर और प्रचल होती है। चुट्ट शैली में शब्द निःस्व और जड़ होते हैं—वाक्य-रचना में समजन और शक्ति का अभाव रहता है। मध्यम शैली में भाषा प्रसन्न होती है—उसमें मजबूती, समठन, शोभा और आनु-गुण्य रहता है। ये तीनों शैलियाँ विषय के आश्रित रहती हैं—विषयवस्तु में विपर्यय हो जाने से इनका स्वरूप भी विकृत हो जाता है। स्वरूप के अंतर्गत वाक्य-संघटना आती है। वाक्य संघटना भी कई प्रकार की हो सकती है—आनु-सरल, दृढ़-स्फीत आदि। उधर परिधान (स्वचा तथा वस्त्र) के अंतर्गत बैन जॉन्सन ने रचना को ग्रहण किया है। इसी प्रकार कुछ अन्य शैलियाँ भी हैं—जैसे मांसल तथा पुष्ट। मांसल में बागाडम्बर रहता है—पुष्ट शैली रस और रक्त से परिपुष्ट कही गयी है।

वास्तव में बैन जॉन्सन का विवेचन अधिक वैज्ञानिक नहीं है—उनकी व्यस्त शैली शैली न होकर शैली-दोष मात्र है। संक्षिप्त और समस्त शैलियों में कोई मौलिक प्रकार-भेद नहीं है। उदात्त शैली का उल्लेख यूरोप के प्राचीन आचार्य पहले ही कर चुके हैं। चुट्ट शैली भी काव्य की शैली नहीं है—उसकी विशेषताएँ काव्य-दोषों के अंतर्गत आती हैं। मध्यम शैली प्राचीनों की प्रसन्न शैली का ही दूसरा नाम है। मांसल शैली भारतीय गौड़ी का विकृत रूप है, और पुष्ट शैली का रस हमारे साधुर्गुण का तथा रक्त भोज गुण का पर्याय है।—बैन जॉन्सन के विवेचन में कोई व्यवस्था नहीं है।

पुनर्जागरण काल में रीति-शास्त्र ने कोई प्रगति नहीं की । वह सर्वना का युग था समोच्चा का नहीं । रीतिशास्त्र का सम्बन्ध शास्त्रीय परम्परा से ही है, आत्मा के विवेक के साथ उसकी संगति नहीं बैठती । पुनर्जागरण काल का वह विवेक वास्तव में रीतिशास्त्र के लिए घातक ही था ।

सत्रहवीं-अठारहवीं शती—नव्यशास्त्रवाद

सर्जन-क्रिया की इस दौड़-धूप के बाद सत्रहवीं शताब्दी में विचार और विवेक के लिए विधाम मिला । इन शताब्दियों में विवेक और चित्त का प्राधान्य रहा । फ्रांस में सत्रहवीं शताब्दी इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण थी । बौद्ध्यो ने पुरातन की वाणी को आत्म वाणी घोषित किया । उन्होंने विवेक और सुरचि को काव्य की आत्मा माना और यूनान तथा रोम के कवियों तथा आचार्यों को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया । बौद्ध्यो के अनुसार काव्य-कला का आधार प्राचीनो की श्रेष्ठ कृतियों में दूना चाहिए । और हमको अपना ध्यान उन्हीं पर केन्द्रित करना चाहिए । काव्य-कला के सफल व्यवहार तथा सिद्धान्त-मतिपादन का श्रेष्ठ उन्हीं को है और सभी ने उनका स्तवन किया है । उनका अनुकरण ही विवेक और सुरचि की स्वीकृति है—उनका अनुकरण करके ही सभी प्रकार के आदर्श से मुक्ति सम्भव है । बौद्ध्यो कहते हैं कि इन नवली हीरो (काव्यादम्बर) की झुठी चमक-दमक इटली को ही सुबारक रहे । सरकाव्य के प्रत्येक अंग का नियामक विवेक ही होना चाहिए । आगे चलकर वे स्पष्ट करते हैं कि विवेक ही प्रकृति है । इस प्रकार फ्रांस में जिस नव्यशास्त्रवाद का जन्म हुआ उसका मूल सूत्र था ।

प्रकृति=विवेक (सुरचि)=प्राचीन (शास्त्रीय) साहित्य ।

प्रकृति विवेक का पर्याय किस प्रकार है यह समझने में आज कठिनाई हो सकती है । परन्तु नव्य-शास्त्रवादी इस विषय में स्पष्ट थे प्रकृति से अभिप्राय उनका स्वच्छन्द अमगद प्रकृति से नहीं था—चरन् व्यवस्थित (रीतिबद्ध) प्रकृति से था । 'नियतिकृतनियमरहिता' प्रकृति को वे मान्यता नहीं देते थे । नव्यशास्त्र-

वाद के प्रभावशाली रीतिशास्त्र की परम्परा में फिर बल प्राप्त हुआ—परन्तु द्रष्टव्य युग का विवेचन यूनानी रोमी रीति-सिद्धांतों की पुनरावृत्ति होने के कारण सर्वथा श्रमोत्प्रेषक ही था। इस दृष्टि से इंग्लैंड में ड्राइडन का योगदान कहीं अधिक स्तुत्य था। शास्त्र के प्रति ड्राइडन की श्रद्धा भी असंख्य थी, परन्तु फिर भी उन्होंने जीवन को शास्त्र से अधिक प्रबल माना और निर्भीक घोषणा की, “शरस्तू ने ऐसा कहा है वह काफी नहीं है क्योंकि शरस्तू के दुष्टान्तकी-सिद्धान्त सौकश्लोज्ञ और यूरिपाइडोज्ञ के नाटकों पर आधुन थे—और यदि वे हमारे नाटक देखते तो घपना मन्तव्य बदल देते।” उस युग में यह शब्द साहस का काम था। शैली के विषय में ड्राइडन ने यद्यत् कुछ स्फुट विचार मात्र प्रकट किये हैं। उन्होंने शैली में वस्तु-और वस्तु-आश्रित्य की प्रमाण माना है।—

“मैं दुःस्थान्तों में उदात्त शैली को बुरा नहीं मानता क्योंकि दुःस्थान्त (का वातावरण) तो स्वभाव से वैभवपूर्ण एवं गरिमावरित होता है। किन्तु उदात्त की स्थिति आश्रित्य के अभाव में सम्भव नहीं है। + + + जब मनुष्य किसी ऐसे गुण का अनुकरण करते हैं जो उनकी समता से परे हो तो प्रायः उस गुण से मिलता-जुलता कोई दोष उनके पहले पड़ जाता है। इस प्रकार उदात्त काव्य-रचनर का सहस्राकाशी आविरेकी कवि आश्चर्यपूर्ण वाचाल शैली को ग्रहण कर बैठता है क्योंकि कि आश्चर्य और वाचालता में गरिमा की भाँति हो जाती है। + + +

काव्य का स्तर जहाँ उदात्त हो वहाँ काव्य के उपकरणों को शक्ति-परिस्थिति, विषयवस्तु और व्यक्तियों के अनुरूप ही होनी चाहिए।” ड्राइडन के विचार में—छंद विचार के लिए महान शब्दावली, पुनरावृत्ति, शिथिल पदावली, घोर अत्युक्ति, अनावश्यक वाग्विस्तार आदि अक्षय काव्य-दोष हैं।

ड्राइडन के कुछ ही बाद पृडिसन, पोप और डा० जॉन्सन का समय आता है। इनमें पृडिसन और जॉन्सन तो व्यवसाय से आलोचक थे—उन्होंने नियमित रूप से व्यंग्यकारिक एवं सैद्धान्तिक समीक्षा की है। मिट्टन के महाकाव्य की आलोचना करते हुए पृडिसन ने भाषा के प्रयोग में उदात्त शैली का विवेचन किया है। महाकाव्य की उदात्त शैली में प्रमाद और गरिमा

दोनों गुण अनिवार्यतः होने चाहिए । प्रमाद के विषय में एक बात स्मरण रखनी चाहिए : अनेक शब्द सर्वसाधारण के प्रयोग के कारण धुंध बन जाते हैं—‘अतिपरिचयात् अवज्ञा ।’ अतएव प्रमाद को अतिप्रचलित शब्दों तथा मुहावरों की सहायता से मुक्त रखना चाहिए । किन्तु उदात्त शैली के लिए प्रमाद पर्याप्त नहीं है—गरिमा भी उतनी ही अनिवार्य है । गरिमा का समावेश करने के लिए अरस्तू ने अनेक-उपकरणों का निर्देश किया है—एडिसन उन्हीं को उद्धृत कर देते हैं । वास्तव में एडिसन अरस्तू की भाषा ही बोलते हैं—हम प्रसंग में उन्हें अपना कुछ नहीं कहना है ।

पोप

पोप में नव्यशास्त्रवाद का प्रतिनिधि रूप मिलता है । उन्होंने भी बोह्लो के स्तर में स्तर मिलाते हुए प्रकृति की गौरव-प्रतिष्ठा की—उनकी प्रकृति भी वही रीतिबद्ध प्रकृति है जो शास्त्र का पर्याय है । नव्यशास्त्रवादियों के सिद्धान्त और व्यवहार में एक विविध विरोध दृष्टिगोचर होता है : उनके सिद्धान्तों में जहाँ काव्य के मौलिक तत्वों की प्रतिष्ठा है, वहाँ व्यवहार में काव्य की अनेक कृत्रिमताओं का नियमित रूप से समावेश रहता है । उदाहरण के लिए उन्होंने काव्य में शब्द की अपेक्षा अर्थ को ही महत्व दिया है, परन्तु उनके अपने काव्य का प्रधान गुण है भाषा की मधुरता तथा प्रसन्नता । उन्होंने भाषा को निखारने के लिए भाषा की प्रायः बलि दे दी है । वास्तव में यही युग यूरोप में रीतिवाद का युग है । पोप ने अपने आलोचना-विषयक छन्दोबद्ध निष्कर्ष में शैली के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये हैं : शैली (अभिव्यञ्जना) विचार का परिधान है और वह जितना संगत होगा उसना ही सुन्दर लगेगा । किसी धुंधलक-रूपना को यदि चमक-दमक वाली शब्दावली में अभिव्यक्त किया जाए तो वह ऐसी लगेगी मानों विदूषक को राजसी परिधान पहना दिये हों, क्यों कि जैसा विषय हो वैसी ही शैली होनी चाहिए, जिन्हें तरह कि ग्राम, नगर और राजदरावर की पोशाक अलग-अलग होती है । +

+

+

+

देखिए—पोप का ‘एने ऑन क्रिटिसिज्म’ ।

अशुद्ध शैली और शुद्ध शैली :— मिथ्या वाग्मिता ही अशुद्ध शैली है। उसकी स्थिति एक पंमे शीशे के समान है जो चारों ओर अपने भवकीले रंगों को बिखेर देता है जिससे हम पदार्थों के सहज स्वरूप को नहीं देख पाते। सभी में एक जैसी चमक-दमक उत्पन्न हो जाती है—किमी में कोई भेद नहीं रहता। परन्तु शुद्ध शैली का यह गुण है कि वह सूर्य के प्रकाश के समान प्रत्येक पदार्थ को व्यक्त कर देती है। उसके रूप को भी चमका देती है। वह सभी को स्वर्णिम आभा से दीप्त कर देती है किन्तु किमी के स्वरूप को नहीं बदलती।

आगे चलकर पोप वर्ण-योजना को चर्चा करते हैं। केवल श्रुतिपेशल वर्ण-गुण अपने आप में स्तुर्य नहीं है—केवल संगीत के लिए काव्य का अनुशीलन करना अममगत है। परिवर्तनहीन रणन-प्यनियों की झकार एक प्रकार की अरुचिकर एकस्वरता को जन्म देती है। किमी गतिहीन पंक्ति में रँगते हुए निर्जीव शब्द काव्य का उत्कर्ष नहीं कर सकते। शब्द में अर्थ की गूँज रहनी चाहिए। काव्य के पारखी प्रसन्न ऊर्जस्विता का ही आदर करते हैं—जहाँ श्रोग और माधुर्य का समन्वय रहता है^१।

पोप के इन विचारों में भारतीय शैति-सिद्धान्त के अनेक तत्त्व धर्तमान हैं। पोप ने एक और वस्तु-श्रौचिष्य की अत्यन्त मिश्रान्त शब्दों में प्रतिष्ठा की है, दूसरी ओर प्रसाद, श्रोग और माधुर्य तीनों गुणों के समन्वय पर बल दिया है। उनकी आदर्श शैली वैद्यों की भाँति ही प्रमात्रमयी, श्रोजस्वी और माधुर्य-सयलित है। 'केवल श्रुतिपेशल' के विरुद्ध उनका अभिमत मामह की निम्न-लिखित उक्ति का स्मरण दिलाता है :

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।

भिन्नगोयसिवेद तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥^२

मामह—१।३४।

१ देखिए—'एने ऑन क्रियिमिका'

२ तुलना कीजिए।

वैदर्भी में यदि पुष्ट अर्थ तथा वक्रोक्ति का अभाव, और केवल ऋजु-प्रसन्न कोमल शब्दावली मात्र हो तो वह गीत की भाँति केवल ध्रुतिपेशल हो सकती है—अर्थात् वह हमारे कानों को प्रिय लग सकती है परन्तु उससे हमारी चेतना का परिष्कार नहीं हो सकता है—जो काव्य का चरम उद्देश्य है।

व्यवहार में इस युग के काव्य-सिद्धान्त रीति सिद्धान्त के और भी अधिक निकट हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से तो इस युग में अर्थ-गौरव तथा भाव-सौन्दर्य पर ही बल दिया गया परन्तु वास्तविक व्यवहार ॥ इन कवियों का ध्यान मूलतः भाषा-शैली पर ही केन्द्रित रहा। भाषा शैली को सँवार और सजाकर इन्होंने काव्य-भाषा को एक पृथक् रूप ही दे दिया—सिद्धान्त में अर्थ को गौरव देते हुए व्यवहार में इन्होंने शैली या रीति को ही काव्य की आत्मा माना। रीतिवाद और नव्यशास्त्रवाद में निम्नलिखित समानताएँ अवश्य स्पष्ट हैं

१ काव्य में भाव (रस) की अपेक्षा रीति का महत्त्व।

२. काव्य के प्रति वस्तु-परक दृष्टिकोण।

३ काव्य के बाह्य रूप के उत्कर्षकारी तथा उत्कर्षवर्धक तत्वों (गुण तथा अलंकार) का वस्तुपूर्वक ग्रहण और उत्कर्षकारी तत्वों (दीप) का त्याग।

स्वच्छन्दतावाद

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक पहुँचते पहुँचते अनेक साध्यात्मिक तथा आधिभौतिक कारणों से काव्य-दर्शन में भी मौलिक परिवर्तन आरम्भ हो गया। कान्ट, फ्रिडरे, शैलिंग आदि जर्मन दार्शनिकों ने दृष्टि को वस्तु से हटाकर आत्माभिमुख कर दिया। कान्ट ने स्पष्ट लिखा—“अब तक यह विरवास रहा है कि हमारा समस्त ज्ञान वस्तु के अनुकूल होना चाहिए परन्तु अब इस बात पर विचार करने का समय आ गया है कि क्या मानव उन्नति के लिए (इसके विपरीत) यह धारणा अधिक श्रेयस्कर नहीं है कि वस्तु को हमारे ज्ञान के अनुकूल होना चाहिए।” इन दार्शनिकों के प्रभाव से काव्य में विवेक और रीति के स्थान पर अन्तर्प्रेरणा, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्प्रकाश, कल्पना,

अनन्दतिरेक आदि का प्राबल्य घोषित हुआ। बाह्य रूप-आकार का वस्तुगत सौन्दर्य केवल छाया-सौन्दर्य रह गया। इस प्रकार इस युग में रीति-सिद्धान्त पर सबसे घातक प्रहार हुआ। आत्मा के हृद्य अग्निद्रव में कविता के बाह्य अलंकरण-शृङ्गार घनायास हो भस्म हो गये। परन्तु इस युग की कविता अनलंकृत है—यह बात नहीं है। जर्मनी में गेटे, और इंग्लैंड में कॉलरिज, कीट्स आदि को काव्य-शैली अनुपम है, परन्तु वह साधन मात्र ही है सिद्धि नहीं है। शैली की निम्नलिखित पक्तियों में काव्य-रचना के प्रति रोमानी दृष्टिकोण का सार अन्तर्निहित है—“+ + किन्तु जब रचना आरम्भ होती है तो अन्तर्प्रेरणा का हास उससे पूर्व ही आरम्भ हो जाता है, विरह में उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ कविता कवि की मूल कल्पना की हज़की छाया मात्र है।”—रीति-सिद्धान्त का इसमें स्पष्ट निषेध और क्या हो सकता है ? वास्तव में रोमानी काव्यशास्त्र में जहाँ ‘अकेला’ शब्द भी चिरदीप्त विचार का स्फुलिंग साधा गया हो—जहाँ ‘कविता के शब्दों में विद्युत् शक्ति के वास की कल्पना की गई हो, विशिष्ट पद-रचना के वस्तुगत सौन्दर्य के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस युग में रीति-सिद्धान्त की दृष्टि में सबसे महत्वपूर्ण कॉलरिज और वर्ड्सवर्थ का काव्य शैली-विषयक विशाद है। वर्ड्सवर्थ ने अठारहवीं शताब्दी की काव्य-भाषा का उग्र विरोध किया—उन्होंने उस धमक-धमक-वाली कृत्रिम तथा निष्पाण भाषा को काव्य के अनुपयुक्त माना। काव्य की भाषा के विषय में उनके मूल सिद्धान्त दो हैं। (१) सहज मानव-भाषा ही काव्य की भाषा होनी चाहिए। मानव-भाषा का सहज रूप ग्राम्यजन की भाषा में मिलता है क्योंकि इन व्यक्तियों का ऐसी वस्तुओं से निरन्तर सम्पर्क रहता है जो भाषा के सर्वोत्कृष्ट अंगों के मूल उद्गम हैं। अतएव भाषा का सच्चा रूप यही है—कवि इसी को अपनी कल्पना के रंगों से रँग कर काव्य-भाषा का रूप दे देता है।

(२) यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि गद्य और पद्य की भाषा में कोई अन्तर न है और न हो सकता है।

रीतिशास्त्र के क्षेत्र में वर्ड्सवर्थ की यह घोषणा वास्तव में घोर विप्लव की घोषणा थी। इसका विरोध स्वाभाविक था—मन्त्रसे प्रथम तो वर्ड्सवर्थ के अभिन्न मित्र कॉलरिज ने ही इसके विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण किया।

उन्होंने उपर्युक्त दोनों स्थापनाओं का प्रबल विरोध किया। पहले तो उन्होंने उपर्युक्त “सहज या वास्तविक मानव-भाषा” के ‘सहज’ या ‘वास्तविक’ शब्द पर आपत्ति की। “प्रत्येक मनुष्य की भाषा का स्वरूप उसके ज्ञान की परिधि, उसकी शक्तियों की क्रियाशीलता और उसकी अनुभूति की गहनता अथवा सवेदन-शक्ति के अनुसार भिन्न होता है। प्रत्येक मनुष्य की भाषा में एक तो उसके अपने व्यक्तिगत विशिष्ट गुण होते हैं, दूसरे उसके वर्ग के सामान्य गुण होते हैं और तीसरे सार्वभौम प्रयोग के शब्द और वाक्यांश होते हैं। +

+ + + अतएव ‘सहज’ या ‘वास्तविक’ भाषा के स्थान पर ‘साधारण’ भाषा का प्रयोग करना उपयुक्त होगा।”—इसके उपरांत कॉलरिज ने वर्द्ध-समर्थ की दूसरी मान्यता पर प्रहार किया। “पहले तो स्वयं गद्य की भाषा ही—कम से कम सभी तर्क-प्रधान तथा निबद्ध रचनाओं की भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न होती है और होनी चाहिए, जिस प्रकार पद्य से और बातचीत करने में भेद रहता है।—कॉलरिज का तर्क है कि पद्य की भाषा ग्राथेग की भाषा है। पद्य में एक प्रकार की सधुर जिज्ञासा उत्पन्न करने और उसे मृष्ट करने की शक्ति रहती है। फलतः उसमें चित्रमय भाषा का प्रयोग स्वभावतः अधिक रहता है। गद्य के लिए यह सब अनावश्यक है—प्रायः बाधक भी हो सकता है। अतएव वर्द्ध-समर्थ की यह युक्ति अधिक सार्थक नहीं है कि पद्य की अनेक सुन्दर पक्तियों की शब्द-योजना गद्य-भाषा की शब्द-योजना से सर्वथा अभिन्न है। प्रश्न शब्दों की योजना का नहीं है—प्रश्न यह है कि क्या कतिपय वाक्यांश, रचना-भगिमाण अथवा अभिप्रेतजनार्ण जो प्रौढ गद्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है पद्य के लिए अनुपयुक्त तथा विजातीय नहीं होती? इसलिये पद्य और गद्य की भाषा में भूल भेद होता है और होना चाहिए।

वर्द्ध-समर्थ की प्रथम स्थापना तो भारतीय रीति-सिद्धान्त के मूल पर ही कुठाराघात करती है। भारतीय शास्त्र में वेदों को निबिबाद रूप से सर्वश्रेष्ठ रीति माना गया है और उसकी श्रेष्ठता का आधार है उसमें नागर गुणों का प्राचुर्य—इमोलिण् परवर्ती आचार्यों ने उसका नाम ही उपनागरिका रख लिया था। वेदों की संस्कृत में अनेक प्रशस्तियाँ हैं जिनमें उसके नागर गुणों का यशोगान है। भामह ने और और भामह से भी पूर्व बाण भट्ट ने रीति की अप्रामाण्यता पर अत्यधिक बल दिया है :

अलंकारवदग्राम्याम् अर्थं न्याय्यमनाकुलम् ।

(भामह)

परन्तु वट्सवर्थ इसके विरुद्ध ग्राम्य जन की भाषा को ही सच्ची मान्य-
वाणी और तदनुसार वास्तविक काव्य-भाषा घोषित करने हैं। वट्सवर्थ का
सिद्धान्त स्पष्ट हो सद्योप है। इसमें दो दोष हैं एक तो यह कि ग्राम्य जन
की भाषा को आदर्श काव्यभाषा मानना अशुभ है। जैसा कि कॉलरिज
ने लिखा है, ग्राम्य जन की धारणाएं अत्यन्त परिसीमि होती हैं,—अतएव
उनकी भाषा स्वभावतः सीमि तथा अशुभ होती है। दूसरे, उसमें प्रकृत
गुण अवश्य होते हैं, परन्तु सस्कार नहीं होता, और काव्य की भाषा का
सस्कार-विहीन होना दुर्गुण ही है। दूसरा दोष हमारे का परित्याग है—ग्राम्य
यह यह कि वट्सवर्थ ने नागरता को कृत्रिमता का पर्याय मान लिया है।
नागर भाव सस्कार और परिष्कार का द्योतक है—कृत्रिमता का नहीं।
व्यक्तित्व की समृद्धि को भौति भाषा की समृद्धि के भी आधारभूत तत्व दो
हैं : दार्ढ्य विभूतियाँ और शैक्षिक विभूतियाँ। ग्राम्य जीवन में पहला तत्व
प्रचुर मात्रा में परन्तु अपने अनगढ़ रूप में मिलता है किन्तु दूसरा तत्व अत्यन्त
विरल होता है। अतएव ग्राम्यता यदि दोष नहीं है तो गुण भी नहीं है—
कम से काव्य-भाषा का प्रमुख तत्व नहीं है। इसी प्रकार नागर गुणों की
उपादेयता का भी अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

वट्सवर्थ की दूसरी स्थापना में संस्कृत के अभ्येता के लिए कोई
विशेष ध्वनित्य नहीं है क्योंकि संस्कृत में गद्य और पद्य का ऐसा प्रचुर
पार्थक्य नहीं है जैसा यूरोप की भाषाओं में रहा है। यहाँ गद्य और पद्य
दोनों काव्य के अंग माने गये हैं, उनकी आत्मा में कोई मूल भेद नहीं माना
गया। वास्तव में गद्य का सच्चा स्वरूप संस्कृत गद्य-काव्य में मिलता भी
नहीं है। फिर भी रीति-विवेचन में दोनों के पार्थक्य का बोधात्मा निर्देशन
अवश्य है—उदाहरण के लिए गद्य के लिए प्रायः गौड़ी रीति ही अधिक
उपादेय मानी गयी है और वैदर्भी तथा पाचाली का स्वाभाविक क्षेत्र पद्य ही
है। इस प्रकार वट्सवर्थ-कॉलरिज के इस विवाद में संस्कृत का रीति शास्त्री
कॉलरिज के पक्ष में ही मत देता।

रोमान्टिक युग के बाद ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की भाँति आलोचना पर भी विज्ञान का समाधान हुआ। टेन ने आलोचना के लिए इतिहास को और सेंट श्विग्ट ने व्यक्ति को प्रमाण माना। इस प्रकार यहाँ से आलोचना विज्ञान का रूप धारण करने लगी और क्रमशः समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, मनोविरलेषण-शास्त्र आदि के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत होने लगी। रूप-सम्बन्धी^१ आलोचना समय से पिछड़ गयी।

मैथ्यू आर्नल्ड ने एक बार फिर गभीर काव्य-गत मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने प्राचीन काव्य को काव्य का आदर्श मानते हुए विषय की शुद्धता को काव्य-सर्वस्व घोषित किया। उन्होंने काव्य के लिए तीन तथ्यों पर बल दिया—विषय-निर्वाचन का सर्वाधिक महत्त्व, यथातथ्य वस्तु-विधान की आवश्यकता और अभिव्यञ्जना अथवा शैली की विषयाधीनता^२।^३ आर्नल्ड प्राचीनो की उदात्त शैली के प्रशंसक थे—परन्तु उस शैली की महत्ता का रहस्य भी वे यही मानते थे कि उसको कभी आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं दिया गया—वह आपस्त सरल तथा सर्वथा विषयाधीन है, और वह अपनी शक्ति सीधे विषय के अर्थ गौरव से ही प्राप्त करती है^३। इस प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड ने एक दूसरे मार्ग से रीतिवाद पर प्रहार किया—रीतिवाद के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रायः वही है जो हमारे काव्य-शास्त्र में रस-ध्वनिवादियों का है।

बीसवीं शताब्दी में यूरोप के आलोचना-शास्त्र की को प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा : एक ओर तो आर्नल्ड आदि द्वारा प्रतिपादित विषय की गभीरता के विरोध में एक बार फिर कला में शैली अथवा अभिव्यञ्जना की महत्त्व-प्रतिष्ठा के लिए आदोलन चला। दूसरी ओर मनोविज्ञान और मनो-विरलेषण-शास्त्र को आधार मानकर काव्य के तत्त्वों की व्यवस्था की गयी। इस शती की इन दो प्रमुख प्रवृत्तियों को हम सौन्दर्य-शास्त्रीय आलोचना और मनोवैज्ञानिक आलोचना कह सकते हैं।

सौन्दर्य-शास्त्रीय आलोचना का मूल सिद्धान्त है अभिव्यञ्जनावाद। अभिव्यञ्जना का महत्त्व तो अपने आप में कोई गवीन उद्भावना नहीं है—

१ ग्रैमैल २ मिशेस दू पोरम्स

३ मिशेस दू पोरम्स

यूनानों रोमी आलोचकों के ग्रन्थों में इस विषय में अनेक सूक्त मिलते हैं। परवर्ती काव्य-शास्त्र में आर्नस्ट से पहले ही विस्टर ह्यूगो इस तथ्य की घोषणा कर चुके थे, 'काव्य में अच्छे बुरे विषय नहीं होते—अच्छे बुरे कवि ही होते हैं। + + + यह देखिए कि रचना जिस प्रकार की गयी है—यह नहीं कि किस विषय पर या क्यों ? इस सूत्र की वाद में स्विनबर्न, पेटर, आम्बर वाड्ड, आदि ने पकड़ लिया और क्रोध ने इसे दार्शनिक आधार देकर शास्त्र का रूप दे दिया।

पेटर की स्थिति अपेक्षाकृत मध्यमर्ती है। वे केवल अभिव्यक्ति की महत्त्व नहीं देते—वास्तव में वे विषय-वस्तु को ही अधिक महत्त्व देते हैं। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'शैली' के अन्त में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि महान् कला रूप पर निर्भर नहीं है तत्त्व पर निर्भर है। परन्तु उनके निबन्ध का मूल प्रतिपाद्य यह नहीं है, उसका मूल प्रतिपाद्य है शैली और विषयवस्तु का अनिवार्य सहभाव—साहित्य, जिसे उन्होंने 'अपने अर्थ के प्रति निष्ठा' 'शब्द का अर्थ के साथ पूर्ण सामंजस्य' आदि वाक्यांशों द्वारा अभिव्यक्त किया है। प्लॉटिने की भाँति वे भी शक्तियों में विश्वास नहीं करते—उनका तो केवल एक शैली में विश्वास है। "अनेक शब्दों का समूह में से एक तत्त्व, एक विचार के लिए केवल एक शब्द को प्रयोज्य हो शक्तों की समस्या यहाँ यह थी (प्लॉटिने के मामले) कि केवल एक ही अद्वितीय शब्द, वाक्यांश, वाक्य, अनुच्छेद, निबन्ध, या गीत—कुछ भी हो उसका मन की छवि या मन के चित्र के साथ पूर्ण सादृश्य हो।" इसीलिए अलंकार, शाब्दिक चमत्कार, तथा अन्य प्रसाधन जो अभिव्यक्ति के अभिन्न अंग नहीं हैं—जिनका प्रत्येक अस्तित्व है, शैली का वास्तव में उपकार नहीं करते। वे उसकी मूलभूत एकता को नष्ट कर देते हैं। "शब्द का अर्थ वही मिट जाता है जहाँ वह अर्थ के साथ सदाकार हो जाता है।"

हमारे काव्य-शास्त्र में पेटर का सम्पूर्ण विवेचन अकेले 'साहित्य' शब्द में निहित है 'साहित्य' में शब्द और अर्थ का अनिवार्य सहभाव रहता है। कुन्तक आदि ने इसको व्याख्या में प्रायः वही शब्दावली प्रयुक्त की है जो पेटर ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने में। "न च काव्ये शास्त्रादिव-दर्शप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते, महितयोः शब्दार्थयोः सत्र प्रयोगात् साहित्य तुल्यकक्षेत्रेनान्युपानतिरिक्तत्वम्।" अर्थात् काव्य में शास्त्रादि की भाँति

केवल अर्थ प्रतीति के लिए शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता—साहित्य की रचना तो तब होती है जब शब्द और अर्थ एक दूसरे के तुल्यकच होकर, परस्पर स्पर्धा करते हुए (परस्परस्पर्धाधिरोह), अन्यून और अनतिरिक्त रूप में पूर्ण सहभाव के साथ प्रयुक्त किये जाएँ। उधर वामन ने अपने अर्थ-गुण प्रसाद में भी इसी विशेषता पर बल दिया है—अर्थ-गुण प्रसाद का अर्थ है अर्थ-यैमल्य जिसके लिए प्रयोजक मात्र का प्रयोग अनिवार्य है और प्रयोजक मात्र के प्रयोग का अभिप्राय भी अन्यून-अनतिरिक्त ही है।

पेटर ने शैली के दो मूल तत्व माने हैं मस्तिष्क और आत्मा। “मस्तिष्क के द्वारा कलाकार रूप-विधान के उन स्थिर तथा वस्तुगत सकेतो द्वारा हमारे मन तक पहुँचता है जो सर्वा के लिए सुस्पष्ट रहते हैं। आत्मा द्वारा वह अस्थिर सहायभूति के माध्यम से, एक प्रकार का सघन सम्पर्क स्थापित करता हुआ कुछ विचित्र मनमाने-मे ढंग से हम तक पहुँचता है।” मस्तिष्क के द्वारा रूप-विधान की अभिवृत्ति, और आत्मा के द्वारा वातावरण की अभिवृत्ति घटित होती है—मस्तिष्क रूप देता है और आत्मा रंग। “मस्तिष्क के अन्तर्गत विवेक-संगमन मघटना और आत्मा के अन्तर्गत रंग तथा रहस्यमयी गद्य का अन्तर्भाव है।”—स्पष्ट शब्दों में मस्तिष्क का अर्थ है शैली का वस्तु-तत्त्व और आत्मा का अर्थ है व्यक्ति-तत्त्व। वस्तु-तत्त्व वास्तव रूप में सम्बद्ध—अतएव पृथ मूर्त है, व्यक्ति-तत्त्व अमूर्त अतएव अनिर्वचनीय है।

भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली में शैली का मस्तिष्क अथवा बुद्धि पक्ष रीति है, और आत्मा ध्वनि है। धामन-प्रतिपादित वस्तु-परक पद-रचना-रूपिणी रीति को ही पेटर ने रूप-विधान यात्रि शब्दों से अभिहित करने हुए ‘मस्तिष्क’ मज्ञा की है। आत्मा वह सूक्ष्म आभासमान तत्व है जो रंग अथवा गद्य के समान अनुभूत तो होता है, परन्तु शब्द-बद्ध नहीं किया जा सकता, जो ‘विभाति लावण्यामिवागनासु’—यही ध्वनि है। धामन गौली के मस्तिष्क तक गरी पहुँच पाये इसीलिए उनकी विवेचन अपूर्ण रहा। आनन्दचर्जन ने उनकी आत्मा को खोज निकाला और उनका विवेचन पूर्ण हो गया। पेटर शैली के मस्तिष्क के साथ आत्मा का संयोग कर, अज्ञातरूप में, मानो

देखिए—एप्रिमिबेगन्म—स्वरत

रीतिवाद की श्रुति का परिहार करते हुए आनन्दवर्धन के मत को पुष्ट कर रहे हैं।

वाणी और अर्थ की अभिन्नता के आधार पर ही अंगरेजी में वाटर रेले ने शैली पर अपनी लोकप्रिय पुस्तिका लिखी। उन्होंने विषयवस्तु और रूप-विधान के पार्यन्त को दुप्तर माना : उनके अनुसार साहित्य का कार्य द्विविध है—अर्थ के लिए शब्द ढूँढना और शब्द के लिए अर्थ ढूँढना*। इन दोनों का सामञ्जस्य ही साहित्य है। उन्होंने शैली के दो प्रकार के तत्त्व माने हैं जिसमें कुछ आंतरिक है और कुछ बाह्य। आंतरिक तत्त्व हैं निश्चलता, सयमन, आत्म-निषेध आदि, और बाह्य तत्त्व हैं इन्द्रियगत परिणाम—प्रमाद तथा शक्ति आदि। बाह्य तत्त्वों में सबसे प्रमुख है शब्द जिसके तीन गुण हैं नाद-गुण, चित्र-गुण तथा अर्थ-गुण। नादगुण के अतर्गत वर्ण-संगीत आदि आते हैं, चित्र-गुण के अतर्गत शब्द की मूर्तिविधायिनी शक्ति आती है, और अर्थ में अभिप्राय है अर्थगौरव का चित्र से ऐन्द्रिय पक्ष है, अर्थ में वादिक पक्ष। आगे चलकर रेले ने काव्य के अलंकारों^१ तथा प्रसाधनों^२ का विवेचन किया है। अलंकार को वे उचित से अभिन्न मानते हैं, प्रसाधन उचित से वृथक किया आश्रय है। अलंकृत शैली अपने परम उदात्त रूप में अत्यन्त गंभीर और अत्यन्त शुद्ध-प्रमन्न भी हो सकती। किन्तु अलंकार का प्रसाधन के रूप में भी प्रयोग होता है, रमी स्थिति में वह विषय और शैली को अनेक प्रकार की विषयेतर कल्पना-सामग्री से समृद्ध करता हुआ अपनी उपादेयता मिट्ट करमा है।^३

रेले का शैली-विवेचन पेटर के निबन्ध से बहुत प्रभावित है—यहां तक कि शैली के शुद्धि-पक्ष और आत्म-यम का प्रायः पेटर के शब्दों में ही विवेचन करते हुए अपने वे निबन्ध का उपसंहार करते हैं। रेले द्वारा निर्दिष्ट आंतरिक तत्त्व—निश्चलता तथा सयम शैली के वैयक्तिक तत्त्व हैं तिनका भारतीय रीतिशास्त्र में विवेचन नहीं है। रीति में व्यक्ति-तत्त्व की सत्ता स्वीकार करते हुए भी भारतीय रीतिशास्त्र ने उसका विश्लेषण नहीं किया, केवल वस्तु-तत्त्व का ही किया है। अतएव निश्चलता जैसे अत्यन्त वैयक्तिक तत्त्व का विवेचन हमारे यहां नहीं है—रसाधिक्य के प्रसंग में भी

* देखिए म्यान्टन पृ० ६३ वृ० फ्रान्से वट्टम और व मीनिंग वन्ट वृ० फ्रान्से व मीनिंग और वट्टम। / फिर आफ म्यान्टन ० टैमोरेशन ३ देखिए म्यान्टन पृ० १००

नहीं है क्यों कि वहा भी औचित्य कवि-निबद्ध पात्रों के रूप का ही है, कवि के वैयक्तिक रूप का नहीं। हा मध्यम स्तर की ओर वामन के दो अर्थ-गुणों में—प्रसाद तथा शोज में संकेत मिलता है। अर्थ-गुण प्रसाद में प्रयोजक मात्र के प्रयोग का अर्थ मयम ही है। इसी प्रकार अर्थ-गुण शोज में अर्थप्राप्ति का 'समास' रूप भी मयम का ही स्रोतक। बाह्य स्तरों में नादगुण का विवेचन हमारी वर्ण योजना के अंतर्गत मिलता है—मर्मट आदि में माधुर्य और शोज के प्रसंग में शब्दों के नादगुण का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। चित्रगुण का संकेत वामन के सौकुमार्य, क्वाति आदि शब्द-गुणों मिल जाता है। सौकुमार्य का अर्थ है अपारग्य और क्वाति का अर्थ है औज्ज्वल्य। अपारग्य और औज्ज्वल्य दोनों ऐन्द्रिय संवेदना के विषय हैं—अपरप शब्दावली सुकुमार तथा कोमल चित्र प्रस्तुत करती है और उज्ज्वल शब्दावली भास्वर—रंग और प्रकाश के—चित्र मन में जगाती है। इसी प्रकार रैले का अर्थ-गुण (मीनिंग) वामन के अर्थ-गुण समाधि से बहुत दूर नहीं पड़ता जिसका आधार है अर्थदृष्टि—अर्थात् अर्थ को स्पष्ट रूप से ग्रहण करने के लिए दित ता अधधान। किन्तु वह शब्द के अर्थगुण का केवल एक रूप है—उसके अन्य रूप भी होते हैं। रैले द्वारा निर्दिष्ट अलंकार तथा प्रसाधन का भेद भारतीय काव्य-शास्त्र में वामनवृत्त गुणालंकार-भेद का स्मरण दिलाता है। वामन के अनुसार गुण और अलंकार दोनों सौंदर्य के अंग हैं—गुण मिथ्य अंग है, अलंकार अमिथ्य। गुण काव्य-उत्कर्ष के साधक हैं, अलंकार उत्कर्ष के वर्धक मात्र हैं—अर्थात् गुण काव्य के आंतरिक एवं अविच्छेद्य अंग हैं, अलंकार बाह्य तथा विच्छेद्य। यही बात रैले अलंकार तथा प्रसाधन के सम्बन्ध में कहते हैं। वास्तव में रैले का अलंकार हमारे काव्य-शास्त्र की 'वक्रता' के और भी अधिक निकट है—वक्रि-वक्रता को ही रैले ने अलंकार-सज्ञा दी है और अप्रस्तुत-विधान को प्रसाधन की।

इस विचारधारा का दार्शनिक रूप क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद में मिलता है। अभिव्यञ्जनावाद के सिद्धान्त के अनुसार कला अथवा काव्य अभिव्यञ्जना मात्र है। रूप से भिन्न सौंदर्य का कोई अस्तित्व नहीं है। क्रोचे के इस सिद्धान्त-वाक्य को सुनकर रीतिराज्या काव्यस्य की ओर ध्यान आ सकता है : परन्तु अभिव्यञ्जनावाद और रीतिवाद में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक

है। दोनों उक्ति को महत्व देते हैं इसमें संदेह नहीं।—अभिव्यञ्जनावाद उक्ति के अतिरिक्त अर्थ का अस्तित्व ही नहीं मानता—दूसरे शब्दों में, यह उक्ति को ही सर्व-महत्त्व-सम्पन्न मानता है। उधर रीतिवाद रीति को ही काव्य का प्राणतत्त्व मानता है और रीति भी मूलतः उक्ति ही है। अतएव दोनों में उक्ति की महत्त्व स्वीकृति है। परन्तु इस आधारभूत भाग्य के प्रति-रिक्त वैषम्य भी दोनों पर्याप्त है। पहला भेद तो यह है कि रीति केवल उक्ति नहीं है वह विशिष्ट पदरचना है—विशिष्ट पदरचना भी उक्ति ही है यह ठीक है, परन्तु रीति में उसकी विशिष्टता और रचना पर ही बल अधिक है। इसके विपरीत अभिव्यञ्जनावाद के अनुसार तो अभिव्यञ्जना या उक्ति में विशेष और सामान्य का भेद ही नहीं है—उमका तो एक ही रूप है। वह सफल असफल का भेद ही नहीं मानता क्योंकि असफल अभिव्यञ्जना तो अभिव्यञ्जना ही नहीं है। उधर रीति का आधार रचना की विशिष्टता ही है और विशिष्टता का अर्थ वहा अद्वितीयता नहीं है असाधारणता मात्र है जो गुण तथा अलंकार के आदान और दोष के त्याग पर आश्रित है। अभिव्यञ्जनावाद गुण, अलंकार, दोष आदि को सर्वथा अप्रासंगिक तथा मिथ्या कल्पना मात्र मानता है। अभिव्यञ्जना अखण्ड है और गुण, अलंकार आदि में उसे खण्डित नहीं किया जा सकता। अपना सौंदर्य वह स्वयं अपने आप है—अस्तंशर आदि में उसे खण्डरूप में नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार रीति के समस्त तत्त्व अभिव्यञ्जनावाद के अनुसार व्यर्थ हो जाते हैं। और, रीतिवाद तथा अभिव्यञ्जनावाद यह वैषम्य उनके साग्य से कम मौलिक नहीं है। वास्तव में इस वैषम्य का आधार और भी गहरा है। इन दोनों के दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न हैं—रीतिवाद वस्तुपरक सिद्धान्त है अभिव्यञ्जनावाद शुद्ध आत्म-परक सिद्धान्त है। दोनों कुछ चण के लिए एक स्थान पर पहुँच कर उक्ति के महत्त्व की घोषणा अवश्य कर देते हैं परन्तु मार्ग दोनों के सर्वथा भिन्न हैं।

यूरोप में आधुनिक काव्य-शास्त्र की दूसरी मुख्य प्रवृत्ति का विकास मनोवैज्ञानिक आलोचना में हो रहा है। इस प्रवृत्ति में रीतिवाद का पूर्ण निषेध मिलता है। इस पद्धति के अनुसार कला अथवा काव्य का सर्वस्व है अर्थ जो मुख्यतः सवेदनात्मक तथा गीणत धारणात्मक होता है, और, प्रत्येक सवेदना अथवा धारणा चेतन या अवचेतन मन की प्रक्रिया का परिणाम है। मन की यही प्रक्रिया इस पद्धति के लिए अन्तिम सत्य है शैली अथवा रीति की वहा कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। रीति के शब्द, अलंकार, वर्ण-गुण आदि

सभी तत्त्व प्रतीक मात्र हैं—वे अपने में कुछ नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनोवैज्ञानिक आलोचना शैली अथवा उसके उपकरणों के अस्तित्व को स्वीकार हो नहीं करती।—नहीं, यहाँ भी भाषा, अर्थकार, शब्द-शक्ति, लय-आदि की विस्तार से चर्चा रहती है, परन्तु इनको स्वतन्त्र वस्तु रूप में ग्रहण न कर मानसिक प्रक्रिया के मूर्त प्रतीक रूप में ही माना जाता है। इंग्लैंड के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स के कतिपय उद्धरण इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं :

“वास्तव में शब्द या ध्वनि का प्रभाव जैसी कोई वस्तु नहीं होती। उसका अपना कोई एक प्रभाव नहीं होता। शब्दों के अपने कोई साहित्यिक गुण नहीं होते। कोई शब्द न कुरूप होते हैं और न सुन्दर—न अपने आप में अरुचिकर होते हैं और न रुचिकर। यद्यपि इसके विपरीत प्रत्येक शब्द के कतिपय सम्भाव्य प्रभाव होते हैं—और ये प्रभाव उन परिस्थितियों के अनुसार, जिनमें कोई शब्द ग्रहण किया जाता है, बदलते रहते हैं। + +

शब्द-ध्वनि अपना विशेष गुण हम मानसिक प्रक्रिया से प्राप्त करती है जो पहले से ही आरम्भ हो जाती है। यह पूर्ववर्ती मानसिक उद्देखन कतिपय सम्भाव्य गुणों में से ऐसे विशेष गुण को चुन लेता है जो उसके सबसे अधिक अनुकूल पड़ता है। कोई स्वर अथवा वर्ण न विपण्य होते हैं और प्रसन्न—और किन्हीं अवसरों के प्रभाव का स्वर-व्यञ्जन-मैत्री द्वारा विरलेपण करने वाले अनेक आलोचक देखल खिलवाट करते रहते हैं। किसी शब्द-ध्वनि के ग्रहण किये जाने की विधि पहले से ही उद्बुद्ध भाव के अनुसार बदलती रहती है।”

“चित्र, मूर्ति, वास्तु और काव्य-कला सभी में ऐसे व्यक्तियों से सावधान रहना चाहिए जो यह मानते हैं कि रूप-विधान अपने आप में कतिपय निश्चित एवं रहस्यमय गुणों से सम्पन्न होता है। प्रत्येक स्थिति में उसका प्रभाव उसके अन्तर्भावों से उद्बुद्ध प्रभावों को पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया पर ही (योग पर नहीं) आवृत्त रहता है।”

देखिए—आर० ए० रिचर्ड्स का ग्रन्थ प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज्म

१ पृ० १३६-३७

२ पृ० १३८

इस प्रकार लय को रिचर्ड्स वर्ण-मैत्री का परिणाम न मानकर 'आशा, परितोष, निराशा तथा कुतूहल की प्रतिक्रियाओं की संयोजना मात्र मानते हैं' ।—वामन के रीतिवाद का यह आमूल निषेध है ।

यूरोपीय काव्यशास्त्र में रीति-सिद्धान्त का यही सचित्र इतिहास है ।

यूरोप में, सात रूप में, शैली का तीन अर्थों में प्रयोग हुआ है—व्यक्ति-वैशिष्ट्य^१ के रूप में, अभिव्यजना-रीति^२ के रूप में, निरपेक्ष^३ रूप में—अर्थात् कला के पूर्ण उत्कर्ष के रूप में । व्यक्ति-वैशिष्ट्य के रूप में वह लेखक के व्यक्तित्व की ऐकान्तिक अभिव्यक्ति है—उसके रूप विधान पर लेखक की छाप इतनी स्पष्ट रहती है कि कोई भी विज्ञ पाठक उसके विषय में भ्रान्ति नहीं कर सकता । शैली जैसे शैलीकार के नाम को पुकार कर कह देती है । हम अर्थ में शैली सर्वथा शुभाशंसा का ही विषय नहीं होती—शैलीकार के व्यक्तित्व के अनुरूप हो वह स्तुति और निन्दा दोनों का ही विषय हो सकती है । भारतीय रीतिशास्त्र में इस रूप को दृष्टी आदि ने स्पष्ट शब्दों में मान्यता तो दी है, परन्तु उसका विवेचन नहीं किया । वास्तव में शैली का यह रूप इतना अधिक वैयक्तिक है कि इसकी वस्तु-परक विवेचना सम्भव ही नहीं है । इसकी केवल मनोवैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है जो उस युग में भारतीय शास्त्रकार के लिए सम्भव नहीं थी । अभिव्यजना की रीति के रूप में प्रायः वह भारतीय रीति का ही पर्याय है । उसके अन्तर्गत रचना-कौशल के सभी तत्व आ जाते हैं । इस अर्थ में रीति की स्थिति वस्तुगत है—और उसका शिक्षण तथा अभ्यास सम्भव है । यूनानी-रोमी रीतिशास्त्र में इसी का विवेचन है । तीसरा रूप शैली का निरपेक्ष रूप है—हम अर्थ में शैली विशेष और साधारण—वैयक्तिक और सार्वजनिक तत्त्वों का पूर्णतया समंजित रूप है । शैली का यही आदर्शरूप है । इसमें व्यक्ति-परक तथा वस्तु-परक दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय है । वामन के गुण विवेचन में ऐसे अनेक संकेत हैं, जो इस बात का निर्देश करते हैं कि 'रीतिरत्ना काव्यस्य' की स्थापना करते

समय वामन के मन में अव्यक्त रूप से यही धारणा वर्तमान थी : उनकी प्रतिभा को इसका आभास तो था, किन्तु युग की परिसीमाओं में आवद्ध अपनी वस्तु-परक दृष्टि के कारण वे उसे सम्यक् रूप से व्यक्त नहीं कर पाये ।

हिन्दी में रीति-सिद्धान्त का विकास

हिन्दी में रीति-सिद्धान्त लोकप्रिय नहीं हुआ। वास्तव में रीतिवाद को हिन्दी साहित्य में कभी मान्यता नहीं मिली। यह एक विषमता ही है कि स्वयं रीतिकाल का ही दृष्टिकोण सिद्धान्त रूप में रीतिवादी नहीं रहा—व्यवहार की बात हम नहीं करते। हिन्दी में कोई भी ऐसा कवि अथवा आचार्य नहीं हुआ जिसने रीति को काव्य की आत्मा माना हो। फिर भी रीति और उसके विभिन्न तत्वों—गुण, रचना (—अर्थात् घर्ष-गुण तथा शब्द-गुण या समास), और अभावामक रूप में दोष आदि की उपेक्षा न काव्य में सम्भव है और न काव्यशास्त्र में, अतएव उनके प्रति हिन्दी साहित्य के भिन्न भिन्न युगों में कवियों तथा आचार्यों का अपना कोई न कोई निश्चित दृष्टिकोण रहा ही है और उनका यथाप्रसंग विवेचन भी किया गया है। प्रस्तुत निबन्ध में हम उसी की ऐतिहासिक समीक्षा करेंगे।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में एक ओर स्वयंभू आदि प्राचीन हिन्दी के कवियों की और दूसरी ओर चन्द्र आदि पिंगल के कवियों की कतिपय काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी पंक्तियाँ मिल जाती हैं। उनके आधार पर किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना करना चाहे कठिन हो, किन्तु समग्र काव्य के अध्ययन के साथ साथ तो उनकी सहायता से उनके रचयिताओं के काव्यगत दृष्टिकोण के विषय में चारणा बनाई ही जा सकती है। उदाहरण के लिए स्वयंभू की निम्नलिखित प्रसिद्ध पंक्तियाँ खीजिए :

अक्खर-वास जलोह मणोहर । सुयलंकार-अंश मच्छोहर ।
दीह-समास-पवाहा वंकिय । सकय पायय-पुलिणालंकिय ।

देसी-भाषा उभय तडुज्ज । कवि-दुष्कर घण-सह सिलायल ।

अर्थ-बहुल कल्लोला णिट्टिय । आसा-सय-सम उह परिट्टिय ।

अर्थात् रामकथा-रूपी मरिता में अचर हो मनोहर जलौक हैं, सुन्दर अलंकार तथा छन्द मान हैं, दीर्घ ममाम् चंकिम प्रवाद हैं । संस्कृत-प्राकृत के पुलिन हैं—देशों भाषाएं दो ब्रज्जल तट हैं । कवियों के लिए दुष्कर भयन शब्दों के शिलातल हैं । अर्थ-बहुला कल्लोलें हैं शतशत आशाओं के समान तरंगे उठती हैं ।

उपर्युक्त पंक्तियों में स्वयंभू ने स्वभावतः उन उपकरणों का उल्लेख दिया है जिन्हें वे सत्काम्य के लिए आवश्यक समझते हैं : अचर-गुण, अलंकार, छन्द, दीर्घ ममाम्, संस्कृत-प्राकृत के शब्द, सघन शब्द-बंध, अर्थ-बाहुल्य आदि । इनमें से अचर-गुण, दीर्घ ममास, सघन शब्द-बंध आदि स्पष्टतः रीति के तत्व हैं । महाकाव्य की शैली स्वभाव से ही भोज-प्रधान होती है—अतएव उसके लिए गाँवोवा रीति के तत्व प्रायः अनुरूल पड़ते हैं । इस प्रकार स्वयंभू रीति को काव्य का आवश्यक अंग मानते हैं । परन्तु वैसे उनका दृष्टिकोण निस्मदेह रसवादी ही है—वे तुलसीदास के साहित्यिक पूर्वज हैं ।

चन्द आदि कवि भी रसवादी ही थे ।—शास्त्रविद् होने के कारण काव्य के शास्त्रांग तत्वों—का रीति, गुण, अलंकार, आदि का—उनके काव्य में यथावत् सन्निवेश है, परन्तु रीतिवाद से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था । विद्यापति में रसवाद अपनी चरम सीमा पर है—परन्तु उनको अपनी काव्य-भाषा पर भी कम अभिमान नहीं था । बालचन्द्र के समान उनकी भाषा में नागर-मन को सुगंध करने की अद्भुत शक्ति थी । इसी प्रसंग में उन्होंने काव्य-भाषा के विषय में एक बार फिर अपने विचार का संकेत दिया है :

सकथ वाणी चुहयन भावई, पाउअ रस को भम्म न पावई ।

देसिल यअना सव जन मिट्ठा, तैं तैंसन जम्पय्यो अवहट्ठा ।

(कीर्तिलता)

संस्कृत केवल विद्वानों को ही रचिकर हो सकती है, प्राकृत रस का मर्म नहीं पाती । देशी वाणी सभी को मोठी लगती है, इसलिये में अवहट्ट भाषा में

काव्य रचना करता हूँ । अतएव विद्यापति के मत से काव्य-भाषा के दो मूल गुण हैं नागरता (अग्राम्यत्व) और माधुर्य । ये दोनों पाचाली के आधार-भूत गुण हैं । इस प्रकार विद्यापति अपने मन्वेद्य रम के अनुसार पाचाली रीति का स्तवन करते हैं ।

निर्गुण भक्ति-सम्प्रदाय के अन्तर्गत कबीर आदि ज्ञानमार्गी कवियों का तो रीति से कोई सम्बन्ध ही नहीं था—उनके काव्य में विशिष्ट पदरचना के लिए अवकाश ही नहीं था । इन कवियों की अपेक्षा प्रेममार्गी कवियों का लगाव काव्यांगो से थोड़ा अधिक था यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र में उनका भी कोई विशेष मति नहीं था । स्वभावतः उनके काव्य में भी सैद्धान्तिक विवेचन कहीं नहीं मिलता—परन्तु उनके अध्ययन से इतना स्पष्ट अवगम्य हो जाता है कि वे सब रस ध्वनिवाद के अन्तर्गत ही आते हैं—रहस्यवाद जिसमें व्यक्त की अपेक्षा अत्यक्त या अर्धव्यक्त के प्रति प्रख्य-निवेदन है—जिसके रहस्य सकेतो के लिए साकेतिक भाषा का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है—शास्त्रीय शब्दावली में वे रसध्वनि के अन्तर्गत ही आता है । व्यावहारिक दृष्टि से प्रेममार्गी काव्यों में रीति, गुण, अलंकार आदि की अपेक्षा नहीं हुई—जायसी, उसमान आदि की पद रचना में गुणमम्पदा यथास्थान वर्तमान हैं, परन्तु उनका रीतिवाद से कोई सम्बन्ध नहीं था । रीति का प्रयोग अनायास ही रम के आग्रह में हो गया है—उसे महत्त्व नहीं दिया गया ।

सगुण भक्तों में कृष्णकाव्य के रचयिताओं ने काव्य के आन्तरिक तथा बाह्य दोनों पक्षों को समुचित महत्त्व दिया है । सुर की कला-ममृदि और नन्ददास को पद-रचना का जवाब हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध है । मूलतः रसवादी होते हुए भी ये कवि पद-रचना के सौन्दर्य के प्रति अत्यन्त सचेष्ट थे—नन्ददास को जडिया की उपाधि देकर हिन्दी साहित्य की परम्परा उनके पद-रचना-वैशिष्ट्य का ही गुण गान करती रही है, और इसमें सन्देह नहीं कि नन्ददास हितहरिवंश आदि कवियों में रीति की जितनी प्रभूत गुण-मम्पदा मिलती है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है । फिर भी ये कवि रीतिवादी नहीं थे ।—यही बात तुलसी आदि राममत्त कवियों के विषय में भी कही जा सकती है । तुलसी का शास्त्र से घनिष्ठ परिचय था । स्वान्तः मुखाय भक्ति-साधन-रूप होते हुए भी तुलसी का काव्य शास्त्रीय काव्य है । नन्ददास, हितहरिवंश आदि को भीति तुलसीदास भी अपने रचना-कौशल के प्रति सचेष्ट है ।

तुलसी के काव्य में, व्यवहार-रूप में तो, रीति तथा उसके तत्वों का सम्यक् सन्निवेश है ही—एकाध स्थान पर यैदान्तिक उल्लेख भी है :

कवित-रीति नहि जानौ, कवि न कहावौ ।

यहाँ रीति शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में हुआ है—मार्ग, अथवा कवि प्रस्थान-हेतु के रूप में अथवा और भी व्यापक अर्थ में—जैसा कि हिन्दी काव्यशास्त्र में हुआ है । इस प्रकार यहाँ कवित-रीति का अर्थ काव्य-कला का ही है । विशिष्ट पद-रचना का नहीं है । रामचरितमानस की भूमिका में 'सकल कला, सब विद्या हीनू' कह कर तुलसीदास ने इसी अर्थ की पुष्टि की है । काव्य-कला के उपकरण हैं ।

आखर अरथ अलंकृत नाना । छंद प्रबंध अनेक विधाना ।

भाव-भेद रस-भेद अपारा । कवित-दोष-गुण विविध प्रकारा ॥

अर्थात् अर्थ, अर्थ, अलंकार, छंद, प्रबन्ध-विधान (वस्तु-विधान) रस, भाव तथा गुण, और भावार्थमय रूप से दोष । इनमें से गुण तथा अर्थ-योजना रीति के तत्व हैं । पद-रचना अथवा शब्द-गुम्फ के महत्त्व की ओर भी तुलसी ने इसी प्रसंग में एक स्थान पर संकेत किया है : तुलुति जेहि पुनि पोहिआहि राम चरित बर लाग—यहाँ पोहना अथवा परोना शब्द का प्रयोग गुम्फन-कला—पद-रचना की ओर सूक्ष्म संकेत करता है । इस प्रकार तुलसीदास रीति और उसके तत्वों के महत्त्व को निस्संदेह ही स्वीकार करते हैं, परन्तु फिर भी उन्हें राम (रस) के अधीनस्थ ही मानते हैं, स्वतंत्र नहीं । काव्य का सम्पूर्ण समस्कार राम-रस के बिना व्यर्थ है :

भनिति विचित्र सुकवि-कृत जोऊ । राम-नाम विनु सोह न सोऊ ।

और, आगे चलकर तो तुलसी ने काव्य-तत्वों के पारस्परिक महत्त्व को प्रायः स्पष्ट ही कर दिया है

अरथ अनूप सुभाव सुभासा । सोइ पराग मकरंद सुवासा ।

पुनि अचरेय कवित गुन जाती । मीन मनोहर से बहु भौति ।

अर्थ, भाव, आदि को उन्होंने जहाँ पराग और मकरंद के सदृश माना है वहाँ ध्वनि, यक्षता गुण आदि को मीन कहा है । यद्यपि इस प्रकार के उल्लेख केवल संकेत मात्र हैं और उनमें यथातथ्य सिद्धान्त-निरूपण इतना उचित नहीं होगा, तथापि उनसे कवि के दृष्टिकोण का आभास अवश्य मिल जाता है ।

तुलसी के उपरान्त तो एक प्रकार से रीतिकान्य का ही आरम्भ हो जाता है—जिसमें कान्य के अंग-उपांगों का विवेचन मिदान्त रूप से किया गया है । जैसा कि मैंने आरम्भ में सकेत किया है रीतिकाल में भी रमबाद का ही चोल चलता रहा । रीतिवाद की पुनर्प्रतिष्ठा का तो प्रश्न ही नहीं उठा—रीति तथा उसके तत्त्वों का विवेचन भी प्रायः उपेक्षित ही रहा क्योंकि केवल छ-सात आचार्यों को छोड़ कर अन्य रीति कवियों ने इस प्रयोग का स्पर्श ही नहीं किया ।

केशवदास

केशवदास रीतिकास के प्रवर्तक आचार्य हैं । उन्हें पूर्व ज्ञानि कलकार-वादी परम्परा और उत्तर-ज्योति शृंगारवादी परम्परा—दोनों को—हिन्दी में अवतरित करने का श्रेय प्राप्त है । उन्होंने कविप्रिया में कलकार और दोष तथा रसिकप्रिया में मूलतः रस का वर्णन किया है । रीति का वर्णन तो उन्होंने नहीं किया—किन्तु रीति की सहस्रों रसकृतियों का उन्होंने रसिकप्रिया के अंत में अवश्य मिलता है ।

वौधदुष्ट वृत्ति कवित्त की, कति केगव विधि चारि ।

१४।४२

ये चार वृत्तियाँ हैं—कैशिकी, भारती, आरभटी और मारवती ।

अथ कैशिकी लक्षण—

कहिये केगवदास जहाँ करण हाम शृंगार ।
सरल वरण शुभ भाव जहँ, सो कैशिकी विचार ।

अथ भारती लक्षण—

वरणो जामैं वीर रस, अरु अदभुत रस हाम ।
कहि केशव शुभ अर्थ जहँ, सो भारती प्रकास ॥

आरभटी—

केशव जामैं रुद्र रस, भय वीरसक जान ।
आरभटी आरम्भ यह, पद पद जमक बखान ।

सात्वती—

अद्भुत वीर शृंगार रस, सम रस वरणि ममान ।

सुनतहि समुक्त भाव जिहि, सो सात्विकी मुजान ।

यान्तव मे उपर्युक्त वृत्तियां मूलतः नाट्य वृत्तियां ही हैं काव्य मे इनका प्रयोग सामान्यतः नहीं होता । इनका सम्बन्ध वाणी के अनिरिक्त काविक और मानसिक चेष्टाओं से भी है । काव्याद्मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण-वृत्तयः ॥ (अभिनव)

केशव ने भरत के आधार पर रस के प्रसंग में वृत्तियों का भी वर्णन चलते चलते कर दिया है । परन्तु केशव के वृत्ति-वर्णन में शास्त्रोक्त वर्णन में कुछ भिन्नता है—वास्तव में भारमटी को छोड़ शेष सभी के लक्षण भरत से भिन्न हैं । कैशिकी में भरत केवल शृंगार और हास्य का विधान मानते हैं, किन्तु केशव ने उसमें करुण भी जोड़ दिया है । भारती में भरत ने करुण और अद्भुत का विधान किया है, किन्तु केशव ने करुण के स्थान पर वीर और हास्य को भी भारती के द्वाभयभूत रसों में मान लिया है । सात्वती जहाँ सच से उद्भूत 'वीररौद्राद्भुताभया' है, वहाँ केशव की सात्वती (सात्विकी ?) में रौद्र के स्थान पर शृंगार का विधान है और उसमें ममरसता का गुण माना गया है । किन्तु टीकाकार सरदार कवि ने 'अद्भुत रुद्रवीर रस' पाठ का भी उल्लेख किया है जो भरत के मतानुकूल है । केशव के सात्वती लक्षण में एक और भी विशेषता का उल्लेख है । सुनतहि समुक्त भाव जिहि—अर्थात् प्रसाद गुण । केशव का विवेचन अधिक शास्त्र-सम्मत नहीं है—रसिकप्रिया में नाट्यवृत्तियों का वर्णन करने की सगति भी कुछ नहीं बैठती । वास्तव में केशव की वृत्ति, जैसा कि डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है, रस-वर्णन शैली जान पड़ती है, और कैशिकी तथा सात्वती के लक्षणों में 'सरल वरण' 'पद पद जमक बखान', और 'सुनतहि समुक्त भाव जिहि'—जैसे वाक्यांशों से इस मत की पुष्टि हो जाती है ।

इस प्रकार केशव की वृत्तियां नाट्यवृत्तियों की अपेक्षा रीतियों के ही अधिक निकट हैं । उनमें अर्थ-गुण और शब्द-गुण दोनों का सामंजस्य है । सरलवर्णा तथा शृंगारकरुणहासाभया कैशिकी पाँचाली के समकक्ष है, यम-कादि के प्राचुर्य से गाढ़बन्धा तथा रौद्रभयानकवीर्यमत्त रसों की आभ्रिता आर-

भट्टी गौड़ीया के, और यदि रसिकप्रिया का स्वीकृत पाठ हो शुद्ध है (?) तो, ममरस सात्वती सर्वरस-साधारण चैत्रर्षी के समकक्ष है ।

सेनापति के लक्षणग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु उनके कवित्तरत्नाकर में कुछ पक्तियाँ ऐसी मिल जाती हैं जो उनकी रीति-मन्यन्धी धारणा की ओर थोड़ा-सा सफ़ेद करती हैं .

१. दोष मो मलीन गुनहीन कविताई है तो,
कीने अरघीन परघीन कोर्ड मुनि है ।

२. राम अरचतु मेनापति चरचतु ठोऊ,
कवित रचतु याते पद चुनि चुनि है ।

३. अरुद्धर हैं विसद करत ऊर्खें आपुस मे,
जाते जगती की जडताऊ विनसति है ।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि सेनापति (१) दोष से मलिन तथा गुणहीन काव्य को सर्वथा निरर्थक प्रथम मानते हैं । इसमें निष्कर्ष यह निकलता कि सांस्कृत्य के सिद्ध दोष का त्याग और गुण का ग्रहण अनिवार्य है । बामन ने रीति की परिभाषा में यही कहा है । (२) चुनचुन कर पद-रचना करना जिसमें (३) अक्षर आपस में स्पर्श करते हों—विशिष्टा पदरचना की ही व्याख्या है । इस प्रकार सेनापति निश्चय ही रीति का महारथ स्वीकार करते हैं ।

चिन्तामणि

सेनापति के उपरान्त तो चिन्तामणि के आविर्भाव के साथ-साथ रीतिकार्य की अक्षरद्वारा प्रवाहित हो जाती है । चिन्तामणि ने अपने कविकुलकल्पतरु में रीति और उसके तन्मों का विवेचन किया है । उन्होंने काव्य-गुण्य का रूपक बाँधते हुए विभिन्न काव्यांगों का स्थान निर्धारित किया है ।

सचद अर्थ तनु जानिय, जीवित रस जिय जानि ।

अलंकार हारादि ते उपमादिक मन आनि ॥

श्लेषादिक गुन मूरतादिक से मानो चित्त ।

वरनौ रीति सुभाव ज्यो, वृत्ति धृति-सी मित्त ॥

अर्थात् चिंतामणि के अनुसार गन्द अर्थ काव्य का गरीब है रस प्राण है, अलंकार आभूषण हैं, गुण शौर्यादि गुणों के समान हैं, रीति काव्य का स्वभाव है, और वृत्ति काव्य-पुरुष की वृत्ति के समान है।—इस प्रकार .

(१) वे रीति को काव्य का स्वभाव मानते हैं ।

(२) और, रीति तथा वृत्ति में कदाचित् अंतर मानते हैं—यद्यपि यह अंतर अप्रत्यक्ष सूक्ष्म है जितना कि मनुष्य के स्वभाव और उसकी वृत्ति में ।

इस स्थल पर कुछ प्रश्न अनायास हो उठ सके होते हैं । रीति को काव्य का स्वभाव मानने का क्या अर्थ है ? भारतीय काव्यशास्त्र का अध्येता इस पर चौंक सकता है क्यों कि शास्त्र में रीति को आत्मा, अंग-संस्थान आदि तो माना गया है परन्तु स्वभाव प्रायः कहीं नहीं माना गया । स्वभाव का प्रयोग चिंतामणि ने किसके आधार पर किया है ? इसमें उनका अभिप्राय क्या है ? और, स्वभाव तथा वृत्ति में क्या अन्तर है ?

संस्कृत काव्यशास्त्र में केवल विद्यानाथ तथा अकंसूरि ने रीति को काव्य का स्वभाव माना है । विद्यानाथ ने उसे काव्य का आत्मोत्कर्षावहस्वभाव कहा है और अकंसूरि का अभिमत है :—स्वभावैरिव रीतिभिः ।

चिंतामणि ने प्रचलित काव्य-ग्रन्थों को छोड़ विद्यानाथ का प्रतापरद्र-यशोभूषण तथा अकंसूरि को अप्रकाशित कृति साहित्य-कौमुदी का अध्ययन किया था या नहीं और यदि किया भी था तो मान्य मतों को छोड़ इस अप्रचलित मत का ग्रहण क्यों किया, यह विचारणीय है । चिंतामणि अधीत कवि थे, इसमें सन्देह नहीं है । उनके कविकुलकपतरु में यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यादर्श, आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का भी यथावत् अध्ययन किया था । यह किसी प्रकार भी असम्भाव्य नहीं है कि प्रतापरद्रयशोभूषण भी उन्होंने देखा हो और उसके मत को अपनी धारणा के अनुकूल पाकर उद्धृत कर लिया हो । परन्तु मूल प्रश्न तो शेष भी रह जाता है . स्वभाव से क्या तात्पर्य है ? कुतक ने मार्ग अथवा रीति का कवि स्वभाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध माना है 'स्वभावा मूर्ति वर्तते ।' स्वभाव तीन प्रकार के होते हैं सुकुमार, विचित्र और मध्यम—अतएव काव्य-मार्ग भी इन्हीं के अनुसार तीन ही हैं सुकुमार, विचित्र और मध्यम । जैसा कवि का स्वभाव होगा, वैसी ही उसकी रीति होगी । हमारा अनुमान है कि चिंतामणि ने कुतक का आधार ही अधिक ग्रहण किया है और

उन्हों के अनुसरण पर रीति को काव्य का स्वभाव मान लिया है - जिस प्रकार स्वभाव आत्मा की अभिव्यक्ति का प्रकार है, इसी प्रकार रीति भी रस की अभिव्यक्ति का प्रकार है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चिंतामणि रीति को अग-सस्यान की भाँति बाह्य तत्व न मानकर काव्य का आंतरिक तत्व मानते हैं—उनके मत से रीति का काव्य के साथ आंतरिक सम्बन्ध है।

अब दूसरा प्रश्न रह जाता है स्वभाव और वृत्ति के भेद में चिंतामणि रीति और वृत्ति में क्या भेद मानते हैं? स्वभाव और वृत्ति का भेद वामन में अत्यन्त सूक्ष्म है—स्वभाव अपेक्षाकृत व्यापक है वृत्ति स्वभाव का एक रूप है स्वभाव का अर्थ है प्रकृति, वृत्ति का अर्थ है व्यवहार व्यवहारों ही वृत्तिरूप्युत्पत्ते। व्यक्ति के सहज मौलिक गुणों का समन्वित रूप है प्रकृति या स्वभाव और उसके व्यवहार या प्रयत्न का ढंग है वृत्ति या प्रवृत्ति। इस प्रकार दोनों में सूक्ष्म भेद यह है कि स्वभाव अधिक मूलगत और व्यापक है, वृत्ति अपेक्षाकृत बाध है और उसकी परिधि भी सङ्कुचित है। यही अन्तर रीति और वृत्ति में भी है—रीति अधिक व्यापक है, उसमें अर्थ और शब्द दोनों का सामरस्य रहता है, वृत्ति का आधार मूलतः अर्थ-ध्वनि है। दोनों ही रस की अभिव्यक्ति करता है परन्तु रीति का सम्बन्ध रस के साथ अधिक घनिष्ठ और आन्तरिक है, वृत्ति का अपेक्षाकृत बाह्य है। और, यह मत प्रायः ठीक ही है।

परन्तु इस अन्तर का निर्याह नहीं हो पाया। चिंतामणि ने मम्मट के अनुसार वृत्तियों का वर्णन वृत्त्यनुप्रास के भेदों के रूप में किया है

माधुर्यो विजक वरन उपनागरिका होइ ।

मिलि प्रमाद पुनि कोमला परुषा वोज समोइ ॥

यही मम्मट के ही अनुसरण पर चिंतामणि यह भी मान लेते हैं कि इन वृत्तियों को कुछ आचार्य (वामन आदि) खेडनी, गौड़ी, पाषाणी रीतियों के नाम से अभिहित करते हैं। यह मत पूर्वोक्त भेद-प्रदर्शन के प्रतिकूल प्रतीत होता है और मन में एक बार फिर यह प्रश्न उठता है कि चिंतामणि रीति और वृत्ति में भेद मानते भी थे या नहीं। चिंतामणि का विवेचन मम्मट पर अत्यधिक आश्रित है और प्रायः यही धारणा होती है कि इस प्रसंग में भी मम्मट का अनुसरण करते हुए उन्होंने वामनीया रीतियों को वृत्तियों का ही नामान्तर माना है। परन्तु फिर उपर्युक्त दोहे में रीति को काव्य का स्वभाव

और वृत्ति को काव्य की वृत्ति मानने से क्या अभिप्राय है ? इस द्विविधा का निराकरण यही हो सकता है कि चिंतामणि मूलतः तो काव्य के इन दो रूपों का पृथक् अस्तित्व मान कर चले हैं, परन्तु दोनों में अन्तर इतना सूक्ष्म है और मम्मट का प्रभाव उन पर इतना गहरा है कि अन्त में इन्हें यदि कोई एक भी मानता है तो उन्हें विशेष आपत्ति नहीं होती। वास्तव में कविकुल-कटपतर के प्रारम्भिक सिद्धान्त-विवेचन में चिंतामणि का अपना अभिमत अधिक स्पष्ट हुआ है—उन्होंने अपने मत से काव्य के सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण वहीं किया है।

यहां आधुनिक काव्य-शास्त्र के अध्येता के मन में दो शंकाएँ उठ सकती हैं : (१) कोमला को प्रसादगुण-विशिष्ट मानना कहा तक उचित है ? (२) उपमागरिका, परुषा और कोमला को क्रमज वैरर्भी, गौरी और पंचाली का पर्याय मानने में क्या सगति है ? परन्तु इन शंकाओं का सम्बन्ध चिंतामणि के विवेचन से न होकर उसके आधार-ग्रन्थ काव्य-प्रकाश में ही है। मम्मट ने उपमागरिका में साधुर्यव्यजक शब्दों की स्थिति मानते हुए साधुर्य-गुण और उपमागरिका का नित्य सम्बन्ध माना है। इसी प्रकार परुषा में ओजोव्यजक वशों का आधार मान कर परुषा और ओज का मौलिक सम्बन्ध माना गया है। कोमला के विषय में मम्मट का सूत्र है “कोमला परै”। ‘पर’ का अर्थ है साधुर्य और ओजोव्यजक वशों के अतिरिक्त अन्य वश। मम्मट केवल इतना ही कहते हैं—किन्तु उनके टीकाकार गोविन्द ठक्कुर और वामनाचार्य आदि स्पष्ट ही ‘परै’ का अर्थ कर देते हैं—“ओजोसाधुर्यव्यजका-तिरिक्तै प्रसादवज्जिररै (काव्यप्रदीप)—अर्थात् प्रसादव्यजक वशों के द्वारा।” और इस प्रकार कोमला का प्रसाद के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। क्या मम्मट का आशय यही था—यह कहना कठिन है, परन्तु उनके टीकाकार सभी दिग्गज विद्वान थे, अतएव यह मानना भी उतना ही कठिन है कि इन्होंने ही भूल की है। फिर भी प्रश्न औचित्य का है। क्या प्रसाद को कतिपय वशों और किसी एक वृत्ति से परिसीमित किया जा सकता है ? स्वयं मम्मट का स्पष्ट कथन है

श्रुतिमात्रेण शब्दास्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।

साधारण समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥

(का० प्र० ८।७६)

अतएव प्रसाद को तो वास्तव में 'सर्व-गुण साधारण', 'सर्व-सघटना-साधारण' ही माना गया है—उसे न तो किसी विशिष्ट रस, न किसी विशिष्ट वर्ण-योजना और न किसी विशिष्ट सघटना या वृत्ति तक परिमोमित माना गया है।

मम्मट कहते हैं . + + + प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितमिति ।

+ + सर्वत्रेति । सर्वेषु रसेषु, सर्वान्मु रचनानु च ।

(काव्यप्रकाश ८।११)

उपर्युक्त उक्तियों को 'कोमला और प्रसाद के विषय सम्बन्ध से' किस प्रकार सगति बैठती है, यह विचारणीय है।

मम्मट इस शका का समाधान कैसे करते यह कहना आज कठिन है। इसका एक समाधान हमारी समझ में यही आता है कि मम्मट प्रसाद को सर्व-वृत्ति-साधारण गुण मानते हैं जो उपनागरिका तथा गौडी दोनों में अनिवार्य रूप से वर्तमान रहता है। इन दोनों वृत्तियों में इस सामान्य गुण के साथ साथ एक विशिष्ट गुण और भी होता है—यहो इनकी विरोधता है। किन्तु कोमला में विशिष्ट गुण कोई नहीं रहता—केवल साधारण गुण प्रसाद ही रहता है। इस प्रकार यह पादपाठ्य रीतिशास्त्र की सरल (प्रसन्न) शैली की पर्याय प्रतीत होती है। प्रसाद गुण उसमें परिमोमित नहीं है—वरन् वह ही प्रसाद गुण तक परिमोमित है।—यह हमने अपने मन की शका का समाधान किया है, मम्मट का रहस्य मम्मट के विशेषज्ञ जानें।

दूसरी शका इसी से सम्बद्ध यह है कि वैदर्भी, गौडी और पांचाली को उपनागरिका, परन्पा और कोमला का पर्याय मम्मट ने किस तरह मान लिया है। जब उपनागरिका केवल माधुर्य के आश्रित है तो वह समप्रगुण-भूयिता वैदर्भी की पर्याय कैसे हो सकती है ? इसी प्रकार सोकुमार्य और माधुर्य पर आश्रित पांचाली की समप्रगुण प्रसादगुण विशिष्ट कोमला को कैसे माना जा सकता है ? वास्तव में यदि सगति ही बैठाने हैं तो यह क्रम इस प्रकार होना चाहिए .

वैदर्भी रीति —	समप्र गुण	— उपनागरिका } (प्रौढा = रुदर) वृत्ति }
गौडी रीति —	श्रोत्र गुण	— परन्पा वृत्ति
पांचाली रीति—	माधुर्य गुण	— कोमला वृत्ति

परन्तु यह चिन्तामणि का दोष नहीं है—वे तो अनुवादक मात्र हैं : अनुवादको न दुष्यते । वास्तव में उपर्युक्त असंगति मस्कृत काव्यशास्त्र में मम्मट के भी पहले से खली आ रही है, और उसका कारण कदाचित् यह है कि लक्ष्णों में वैदर्भी को समग्रगुण-सम्पन्न मानने हुए भी शारम्भिक प्राय सभी आचार्यों ने व्यवहार में उसके माधुर्य आदि गुणों का ही यशोगान अधिक किया है ।

कविकुलकल्पतरु में गुण की विस्तार के साथ चर्चा है । चिन्तामणि मम्मट आदि के अनुसार केवल तीन गुणों की ही सत्ता मानते हैं—शेष गुण उन्हीं में अंतर्भूत हो जाते हैं ।

प्रथम कहत माधुर्य, पुनि ओज प्रसाद वस्त्रानि ।

त्रिविधै गुन तिनमें सयै सुकवि लेत मनमानि ॥

इनमें माधुर्य चित्त की द्रुति, और ओज दीप्ति का कारण है । प्रसाद गुण बहा होता है जहाँ अक्षरों में अर्थ इस प्रकार व्यक्त रहता है जिस प्रकार सूते ईंधन में अग्नि, या स्वच्छ जल में जल का गुण तरलता । माधुर्य गुण संयोग मृ गार, विप्रलम्भ, करण और शान्त में रहता है संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ, करण और शान्त में उसका उत्कर्ष और भी अधिक होता है । इसी माधुर्य को चिन्तामणि कविरव का मूल तत्त्व मानते हैं ।

सो माधुर्य वस्त्रानिये यहई तत्त्व कवित्त ।

मूल गुण ये ही तीन हैं । (दण्डी, वामन आदि) प्राचीनों ने दश गुण माने हैं जो वैदर्भी रीति के प्राण हैं । परन्तु चिन्तामणि मम्मट के आधार पर यही मानते हैं कि शेष सात गुणों की स्वतंत्र सत्ता नहीं है ।

चिन्तामणि ने इस प्रसंग से वामन के आधार पर प्रायः उन्हीं के लक्षण और कहीं कहीं उनके उदाहरण भी देकर दश शब्द-गुणों और दश अर्थ-गुणों का सविस्तार वर्णन करते हुए अंत में मम्मट की युक्तियों के द्वारा उन्हें कहीं उपाभाव, कहीं अलंकार कहीं दोष और कहीं अन्य गुणों के रूपान्तर मात्र सिद्ध किया है । वास्तव में हिन्दी रीतिशास्त्र में गुण का इतना सागोपांग-वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता—चिन्तामणि ने वामन और मम्मट दोनों के गुण-विवेचन का हिन्दी में सम्यक् अवतरण करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है ।

हमारी धारणा है कि उनके अतिरिक्त घामन के गुण-विवेचन का प्रभाव हिन्दी के कदाचित् एकाध ही रीतिकार ने ग्रहण किया है ।

उपर्युक्त विवेचन मौलिक नहीं है, इसे मम्मट के काव्यप्रकाश से प्रायः अनूदित ही समझना चाहिये । इसमें केवल एक नवीनता दृष्टिगत होती है - वह यह कि चित्तामणि ने माधुर्य को कविता का प्राण-तत्त्व माना है । मम्मट आदि का ऐसा मत नहीं है । इस अभिमत के लिए तो शृंगार आदि मधुर रसों के प्रति चित्तामणि का सहज आग्रह ही उत्तरदायी है ।

कुलपति

चित्तामणि के उपरान्त दूसरे प्रसिद्ध आचार्य हुए कुलपति मिश्र—उन्होंने रीति का स्थितन्त्र विवेचन न कर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रस रहस्य के छठे दृष्टान्त में रीति के मूल तत्त्व गुण का वर्णन किया है और सानवें में रीति की पर्याय वृत्तियों का । चित्तामणि की भाँति इसका आधार भी काव्यप्रकाश ही है, अपने गुण-लक्षण में कुलपति ने मम्मट का अक्षरशः अनुवाद मात्र करके रस दिया है

जो प्रधान रस धर्म को, निपट बड़ाई हेत ।
सो गुन कहिये अचल छित, मुख कौ परम निकेत ॥

(रस रहस्य)

ये रसस्यागिनो धर्माः शौर्यादया इवात्मना ।
उत्कर्ष-हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा ॥

(का० प्र०)

वीम गुणों में से इन्होंने भी तीन की ही सत्ता मानी है —

तीन गुणन ही वीम गुण, मधुररु ओज प्रसाद ।
अधिक मुखरु लखिये नहीं, वरनै कौन सवाद ॥

कुल का इन तीनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, कुछ दोषभाव मात्र है और कुछ दोषरूप ही है -

कल्लूक इनहीं करि गहै, कल्लूक दोष वियोग ।
कल्लूक दोष ताको भजत, यो गुण वीस न जोग ॥

प्राचीन कवि वीम गुणन को कहते हैं, वे इनसे न्यारे नहीं हैं ।

(२० २०)

अतएव कुलपति ने केवल तीन गुणों के ही ज्वलन किये हैं । इन गुणों के माध्यम हैं वश, समास और रचना । सामान्यतः ये गुणों पर ही आधित हैं, किन्तु इन पर यत्ना, अर्थ (वाच्य) और प्रबन्ध का भी नियंत्रण रहता है । यत्ना, वाच्य और प्रबन्ध के विपर्यय से इनका रूप उलटा हो जाता है ।

यद्यपि गुण सध हैं तऊ रचना वरन समास ।

यत्ता अर्थ प्रबन्ध वश, उलटे होंहि विलास ॥

इसके आगे गुण और अलंकार का भेद है ।

होय बडाई दुहुन ते, विरस करै नहि कोय ।

अलंकार अरु गुनन तें, भेद कौन विधि होय ?

रसहि बदावै, होय जहँ कवहुँक अग निवास ।

अनुप्रास उपमादि है, अलंकार सुप्रकाश ॥

दोनों रस के उपकारक हैं—तब दोनों में भेद क्या है? भेद यह है कि अनुप्रास उपमादि अलंकार अग में निवास करते हुए ही (अगद्वारेख—मम्मट) रस का कभी कभी उत्कर्ष करते हैं । अर्थात् अलंकार शब्द-अर्थ का पहले उत्कर्ष करता हुआ फिर रस का उत्कर्ष करता है—और वह भी कभी कभी । किन्तु गुण सदा ही रस का उत्कर्ष करता है । और स्पष्ट शब्दों में गुण का रस के साथ निरव्यवस्था है, अलंकार का अनित्य । कुलपति का आशय यही है—पर वे उसे पूरी तरह व्यक्त नहीं कर पाये । उनका उपर्युक्त दोहा मम्मट का असमर्थ अनुवाद मात्र होकर रह गया है ।

कुलपति ने वृत्तियों का वर्णन भी मम्मट और वित्तमणि की भाँति वृत्त्यनुप्रास के अंतर्गत ही किया है :

उपनागरिका मधुर गुन-व्यंजक वरनन होय ।

ओज-प्रकाशक वरन तें, पूरुष कहिये सोय ॥

वरन प्रकाश प्रसाद को, करै कोमला सोय ।

तीन वृत्ति गुण भेद तें, कहैं बड़े कवि लोय ॥

यहाँ भी चितामखि को भौंनि कोमला और प्रसाद गुण का सम्बन्ध माना गया है, और अंत में इन तीनों वृत्तियों को रीतियों के साथ एकरूप कर दिया गया है ।

वैदर्भी गौड़ी कट्ट, पुनि पांचाली जानि ।

इन्हों सों कोऊ कवी, वरनत रीति बग्यानि ॥

देव

देव का रीति गुण-वर्णन मम्मट की परम्परा से बहुत कुछ भिन्न है । उन्होंने प्राचीन आचार्यों का आधार अधिक लिया है । रीति-गुण का विशेषतः देव ने काव्यरसायन में किया है । रीतियों को उन्होंने काव्य का द्वार मानते हुए, रस से उनका अभिन्न सम्बन्ध माना है—

ताते पहिले वनिए काव्य-द्वारा रस-रीति ।

काव्य-पुरुष के रूपक में रीति की समता अग-सत्यान संकी गई है । देव का द्वार से तात्पर्य है माध्यम । इस प्रकार इस विषय में देव का मत रस-ध्वनियादी आचार्यों के मत से लगभग मिल ही जाता है क्योंकि शरीर भी तो आत्मा की बाह्य अभिव्यक्ति का माध्यम ही है । परन्तु एक बात बड़ी विचित्र मिलती है । वह यह कि उन्होंने रीति और गुण को एक कर दिया है—या यों कहिए कि रीति शब्द का सर्वत्र गुण के स्थान पर प्रयोग किया है । मस्कून और हिन्दी के भी—आचार्यों ने वैदर्भी, गौड़ी, आदि को रीति कहा है, और प्रसाद, ओज, आदि को गुण । यह ठीक है कि गुण रीति की आत्मा है और रीतियों का वर्गीकरण गुणों के ही आधार पर हुआ है—परन्तु इन दोनों का एकीकरण किसी ने नहीं किया । देव ने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली का उल्लेख तक न कर प्रसाद, ओज, मातुर्य आदि का ही रीति नाम से वर्णन किया है । यह मानना तो निरर्थक होगा कि देव को इन दोनों के विषय में कोई भ्रांति थी । वास्तविकता यही है कि उन्होंने जानबूझ कर ऐसा किया है । परन्तु कारण कुछ भी हो यह एकीकरण सगत किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता क्योंकि रीति गुण की अपेक्षा अधिक व्यापक है—एक रीति के अन्तर्गत अनेक गुणों का समावेश हो जाता है ।

संस्कृत काव्यशास्त्र में, जैसा कि मैंने आरम्भ में स्पष्ट किया है, रीति और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में तीन मत हैं—आनन्दवर्धन आदि आचार्य रीति को गुणाश्रित मानते हैं, बज्रद आदि गुण को रीति आश्रित मानते हैं, और वामन इन दोनों को प्रायः अभिन्न ही मानते हैं। वामन का मत है कि विशिष्ट पदरचना का नाम रीति है और यह विशिष्टता गुणात्मक है। इस प्रकार रीति का स्वरूप गुणात्मक है। परन्तु तत्त्व रूप में दोनों का ऐकात्म्य मानते हुए भी वामन ने व्यवहार रूप में दोनों को पृथक् सत्ता मानी है—बैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली रीतियाँ हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, आदि गुण हैं। गुण इन रीतियों के प्राण हैं—इनका वैशिष्ट्य सर्वथा गुणात्मक है, किन्तु फिर भी दोनों की सत्ता अलग ही है।

भरत ने दस गुण माने हैं—१. श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. समाधि, ५. माधुर्य, ६. शोभ, ७. सांकुमार्य, ८. अर्थव्यक्ति, ९. उदारता, १०. शक्ति। भरत के उपरान्त दण्डी और वामन दोनों ने लक्षणों में परिवर्तन-परिशोधन करते हुए इनको ही स्वीकार किया है—दण्डी और वामन ही एक प्रकार से रीति-गुण सम्प्रदाय के अधिनायक हैं। परन्तु आगे चलकर ध्वनिकार ने गुणों की संख्या दस से घटाकर तीन कर दी—उन्होंने माधुर्य, शोभ और प्रसाद में ही शेष सात गुणों का अंतर्भाव कर दिया।—मम्मद आदि ने भी इन्हीं को स्वीकृति दी और तब से प्रायः ये तीन गुण ही प्रचलित रहे हैं। परन्तु देव ने इस विषय में पूर्व-ध्वनि परम्परा का अनुसरण करते हुए उपर्युक्त दस गुणों (रीतियों) को ग्रहण किया है—परन्तु उन्होंने तो अनुपास और यमक को भी गुणों (रीतियों) के अन्तर्गत मानते हुए उनकी स्मरणा वारह तक पहुँचा दी है। यमक और अनुपास को रीति (गुण) मानना साधारणतः असंगत है क्योंकि गुण काव्य की आत्मा का धर्म है, दूसरे शब्दों में काव्य का स्थायी धर्म है, इसके विपरीत यमक और अनुपास इस के अतिरिक्त तत्त्व त होने से काव्य के अस्थायी धर्म ही रहेंगे। परन्तु देव की इस स्थापना से एक महत्वपूर्ण सञ्ज्ञा अवश्य मिली है : यह यह कि परिदत्तराज जगन्नाथ की भाँति ये गुणों की स्थिति अर्थ के साथ-साथ वहाँ से भी मानते हैं। उपर्युक्त दस गुणों के विवेचन में उन्होंने भरत और वामन की अपेक्षा प्रायः दण्डी का ही अनुसरण किया।—कम भी बहुत कुछ दण्डी से ही मिलता है, लक्ष्य तो कहीं कहीं काव्यादर्श से अनूदित ही कर दिए गए हैं। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति और शोभ के

लक्षण प्रायः दण्डी के ही अनुसार है। केवल दो तीन गुण ही ऐसे रह जाते हैं जिनके लक्षण भरत, दण्डी और वामन तीनों से भिन्न हैं। काति गुण में, देव के अनुसार, सुरुचिपूर्ण चार वचनावली होनी चाहिये जिनमें लोकमर्यादा की अपेक्षा कुछ विरोधता हो और जो अपने इसगुण के कारण लोगोंको सुखकर हो :

अधिक लोकमर्जाद ते, मुनत परम सुख जाहि ।

चार वचन ये काति रुचि, काति वस्त्रानत ताहि ॥

(शब्द-रसायन)

हम लक्षण का शेष भाग तो दण्डी से मिल जाता है, परन्तु दण्डी जहाँ लोक मर्यादा के अनुसरण की (लौकिकार्थनातिक्रमार्) अनिवार्य मानते हैं वहाँ देव ने उसके अतिव्रमण का स्पष्ट उल्लेख है। दण्डी के अनुसार तो अप्राकृतिकता अथवा अस्वाभाविकता का बहिष्कार करते हुए लौकिक मर्यादा के अनुकूल स्वाभाविक वर्णन करना ही काति गुण का मुख्य तत्त्व है। वामन ने समृद्धि अर्थात् औजस्य और रस-दोषों की काति गुण का सार-तत्त्व माना है—जिसके लिए साधारण प्रचलित शब्दावली का बहिष्कार अनिवार्य है। देव ने या तो दण्डी का अभिप्राय नहीं समझा—या फिर कुछ पाठ की गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त एक सम्भावना यह हो सकती है कि 'अधिक लोक मर्जाद ते' से देव का अभिप्राय कदाचित् वामन द्वारा निर्दिष्ट साधारण वचना-वली के बहिष्कार का ही हो—परन्तु वह कुछ त्रिष्ट वक्ष्यता ही लगती है। इसी प्रकार उदारता के लक्षण में भी 'यस्मिन् उक्ते (जाहि मुनत हो)', तथा 'उत्कर्ष' आदि शब्द देव ने दण्डी में ही लिए हैं, परन्तु दण्डी जहाँ उत्कर्ष की भावना को उदारता का प्राण मानते हैं, वहाँ देव का कहना है

जाहि मुनत ही ओज को दूर होत उत्कर्ष ।

(शब्द रसायन)

ओज का उत्कर्ष दूर होने में उनका क्या अभिप्राय है यह जानना कठिन है। प्रयत्न करने पर यही अर्थ निकाला जा सकता है कि उदारता में एक प्रकार का उत्कर्ष होता है, जो ओज के उत्कर्ष से भिन्न होता है—या फिर यहाँ भी प्रतिस्तिपिकार की कृपा से पाठ की कुछ उलट फेर है। इसी प्रकार समाधि के लक्षण देव और दण्डी के यों तो समान हैं—किन्तु दण्डी के वहाँ "लोकमोमानुरोधिना (लोक मर्यादा के भीतर) के स्थान पर देव ने न जाने

क्यों "लोक सौव उल्लेखै अरथ" लिख दिया है ! यहां भी था तो पाठ की गड़बड़ है या अर्थ समझने में आंति हुई है ।

इस प्रसंग में भी देव ने एक नवीन उद्भावना कर डाली है—यह यह है कि आपने प्रायेक रीति (गुण) के दो भेद माने हैं—नागर और ग्राम्य । इन दोनों में यह अन्तर है कि नागर रीति में सुरचि का प्राधान्य होता है, ग्राम्य में रस का आधिक्य होते हुए भी सुरचि का अभाव रहता है ।

नागर गुन आगर, दुतियं रस-सागर रुचि-हीन ।

(शब्द-रसायन)

बैसे दोनों को अपनी अपनी विशेषता है—एक को उत्कृष्ट और दूसरी को निकृष्ट कहना अस्मिकता का परिचय देना होगा ।—देव की अन्य उद्भावनाओं की भांति यह भी महत्वहीन ही है और एक प्रकार से अमंगल भी क्योंकि पहले तो मानव-स्वभाव में नागर और ग्रामीण का मूलगत भेद मानना ही युक्तिसंगत नहीं है (देख अपने उदाहरणों द्वारा यह अन्तर स्पष्ट करने में प्रायः असफल रहे हैं), फिर यदि इस स्थूल भेद को स्वीकार भी कर लिया जाए, तो कांति, उदारता आदि कतिपय गुण ऐसे हैं जिनके लिए ग्राम्यरस अनिवार्य है । ऐसी उदा. में इनके भी नागर और ग्रामीण भेद करना इनकी आत्मा का ही निषेध करना है ।

शब्द-शक्ति, रीति, गुण आदि के अतिरिक्त देव ने कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती वृत्तियों का वर्णन भी किया है जो कि अन्यकाव्य का अंग न होकर दूर्यकाव्य का ही अंग मानी जाती हैं । शृङ्गार, हास्य और करुण में कैशिकी (कांशिकी), रौद्र, भयानक और वीररस में आरभटी; वीर, रौद्र, अद्भुत और शांत में सात्वती, तथा वीर, हास्य और अद्भुत में भारती वृत्ति का प्रयोग होता है । सस्कृत में नाट्य-शास्त्र, दशरूपक, साहित्य-वर्णन आदि में भी रसों के अनुगुण में ही इनका विवेचन है—परन्तु देव का आधार यहाँ उपर्युक्त ग्रन्थ न होकर केशवदास की रसिक-प्रिया ही है । रसिक-प्रिया में ठीक इसी क्रम से इनका रसों के साथ सम्बन्ध बँटाया गया है, एक थोड़ा सा अन्तर यह है कि सात्वती के अन्तर्गत शृङ्गार के स्थान पर देव ने भरत के आधार पर रौद्र को माना है; वसः परन्तु केशव में भी शायद यह लिपि-दोष है ।

देव के उपरान्त दाम तक प्रायः किसी भी कवि ने रीति अथवा रीति-तत्त्वों का विशेष विवेचन नहीं किया । इनके प्रसंग में दो बातें उल्लेख योग्य

हैं . एक तो सूरति मिथ ने अपने लक्षण में रीति का समावेश करते हुए, उसको काव्य का आवश्यक अंग माना है :

वरनन मन-रत्न जहां रीति अलौकिक होइ ।
निपुन कर्म कवि कौ जु तिहि काव्य कहत सय कोइ ॥

जहां तक मुझे स्मरण है संस्कृत-हिन्दी के किसी कवि ने रीति का काव्य-लक्षण में समावेश नहीं किया—गुण का हो प्रायः किया है । दूसरी ओर वान यह है कि श्रीपति ने अपने श्रीपति-सरोज में अर्थ-गुणों का अलग वर्णन किया है । हिन्दी में अर्थ और शब्द के आधार पर गुणभेद प्रायः नहीं किये गये । एक चिंतामणि ही अपवाद है । संस्कृत में भी वामन या भोभराज आदि दो एक आचार्यों को छोड़ किसी ने इस भेद को स्वीकार नहीं किया । हम एहि से श्रीपति का अर्थ-गुण-वर्णन एक उल्लेखनीय विशेषता है । सोमनाथ ने अपने रसपीयूषनिधि में गुण का काव्य-लक्षण में उल्लेख किया है—मम्मट के आधार पर उनका लक्षण इस प्रकार है

सगुन पदारथ दोष विनु, पिंगल मत अधिकुद्ध ।
भूषणजुत कवि-कर्म जो सो कवित्त कहि बुद्ध ॥

परन्तु इन आचार्यों का गुण लक्षण वामन में थोड़ा भिन्न है । ये गुण को रस का धर्म मानते हैं जबकि वामन उसे शब्द-अर्थ का ही धर्म मानते हैं—किर भी व्यवहार रूप में दोनों के गुण-वर्णन में बहुत कुछ सादृश्य भी है, इसीलिए गुण का रीति के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है ।

दास

दास का गुण-वर्णन रीतिकाल के प्रायः अन्य सभी आचार्यों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है । उन्होंने इस प्रसंग का वर्णन अधिक मनोयोग-पूर्वक और साथ ही स्वतन्त्र रीति में भी किया है ।

इस विधि के गुन कहत है, पहिले मुकवि मुजान ।
पुनि तीनै गुन गनि रचौ, सब तिनके दरम्यान ॥
ज्यो सतजन हिय ते नही सूरतादि गुन जाय ।
त्यो विदग्ध हिय में रहे, दस गुन सहज स्वभाय ।

अर्थात् जिस प्रकार सज्जन के हृदय में शौर्य आदि का वास रहता है, इसी प्रकार विदग्ध सहृदय के हृदय में स्वभाव से ही दश गुण निवास करते हैं। दाम की यह स्थापना परम्परा से कुछ भिन्न है। परम्परा के अनुसार स्थायी भावों के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे वासना रूप में सहृदय के हृदय में वर्तमान रहते हैं। दास गुणों की भी यही स्थिति मानते हैं। उनका तर्क कदाचित् यह है कि रस के धर्म होने के कारण गुणों का भी वासना से सहज सम्बन्ध है, और शौर्य आदि गुणों की भाँति वे भी आत्मा में ही निवास करते हैं।

सम्मत आदि रस-प्यनिवादी भी गुणों को चित्त की द्रुति, दीप्ति तथा व्याप्ति (सम्पर्कत्व) रूप मानते हुए इस तथ्य की ओर मकेत करते हैं— और इसी कारण वे गुणों की सख्या दश न मान कर केवल तीन मानते हैं। दास का भी यही मत है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार दश गुणों का वर्णन करने के उपरांत वे मूल गुणों की सख्या केवल तीन मानते हैं।

दश गुणों के वर्गीकरण में दास ने फिर परम्परा से भिन्न मार्ग का अवलम्बन किया है। उन्होंने गुणों के चार वर्ग किये हैं : (१) अक्षर गुण—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद (२) दोषाभाव-रूप गुण—समता, कान्ति और उदारता (३) अर्थ-गुण—अर्थव्यक्ति और समाधि (४) वाक्य-गुण—श्लेष तथा पुनरुक्तिप्रकाश।

अक्षर गुण माधुर्य अरु, ओज प्रसाद विचारि ।
समता कान्ति उदारता, दूषण-हरन निहारि ॥
अर्थव्यक्ति समाधिये अर्थहि करें प्रकास ।
वाक्यन के गुण श्लेष अरु, पुनरुक्ती-परकास ॥

यहाँ पहली बात तो यही विचारणीय है कि दास ने पुनरुक्तिप्रकाश नामक एक नये गुण की कल्पना की है और वामनादि के सौकुमार्य गुण को छोड़ दिया है।

एक शब्द बहु बार जहँ, परै रुचिरता अर्थ ।
पुनरुक्तीपरकाश गुन, बरनै बुद्धि समर्थ ॥

दास ने सौकुमार्य के स्थान पर इस नवीन गुण की कल्पना क्यों की यह कहना कठिन है, फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि सौकुमार्य की

कदाचित् वे माधुर्य में पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं कर सके, अतएव उसे छोड़ कर उन्होंने एक अन्य प्रकार के पदरचना-चमत्कार को जिसका प्रजभाषा में यथेष्ट प्रचार था, दशगुणों में समाविष्ट कर लिया। वामन ने शब्द-गुण सौकुमार्य का अर्थ किया है शब्द-गत अपारम्भ्य—इस दृष्टि में गुणमय-प्रकाश की रुचिर पदावृत्ति को सौकुमार्य का एक माधन भी माना जा सकता है। सौकुमार्य का यह रूप अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक विशिष्ट था, अतएव दाम ने कदाचित् इसका स्वतन्त्र अस्तित्व मानना प्रचलित काव्य-भाषा के अधिक स्वरूपानुचूल समझा।

शेष नौ गुणों में से माधुर्य, ओज, प्रसाद, श्लेष, वान्ति, और अर्थ-व्यक्ति के लक्षण तो दास ने प्रायः दशही अथवा वामन के अनुसार ही दिये हैं—परन्तु समता, आशय और समाधि में परम्परा में वैचित्र्य है।

समता— प्राचीनन की रीतिसों, भिन्न रीति ठहराड।

समता गुन ताको कहैं, पै दूपनन्ह बराड ॥

अर्थात् दास के अनुसार समता गुण बड़ा होता है जहाँ परिपाटी-भुक्त रीति का परित्याग कर नवीन रीति का अवलम्बन किया जाये—किन्तु परिपाटी से मुक्ति हुए प्रयोगों की छूट नहीं देती। यह लक्षण कुछ-कुछ वामन के अर्थ-गुण माधुर्य में मिलता है। दशही और वामन के अनुसार समता का अर्थ है रीति का अवलम्बन।

उदारता—

जो अन्वय बल पठित हवै, समुक्ति परै चतुरैन।

ओरन को लागे कठिन, गन उदारता ऐन ॥

अर्थात् जहाँ अन्वय बल-पूर्वक स्वगाया जा सके—जो केवल विद्वान् जन की ही समझ में आये और दूसरों को कठिन प्रतीत हो वहाँ उदारता गुण होता है। प्रस्तुत लक्षण दास ने कहा से लिया है यह कहना कठिन है। भरत, दशदा, तथा वामनादि किसी ने भी इसका समेत नहीं किया।

तामरा गुण समाधि है जिसमें दास ने कुछ वैचित्र्य प्रदर्शित किया है। जहाँ स्वर क्रम में आरोह-अवरोह हो वहाँ समाधि गुण होता है।

जुदै रोह-अवरोह गति रुचिर भौति क्रम पाय।

इसके आगे दास ने समाधि का जो उदाहरण दिया है वह बहुत कुछ सार अलंकार से मिल जाता है। वामन ने भी क्रमिक आरोह-अवरोह को समाधि का लक्षण माना है, परन्तु वह आरोह अवरोह अक्षर-गुण का है, अर्थ का नहीं। अतएव यह वैचित्र्य बहुत कुछ आन्ति-जन्य है।

दास का गुण-वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। माधुर्य, ओज और प्रसाद को अक्षरगुण मानने का कारण यह है कि मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों ने तात्पर्य में गुण को रस का धर्म मानते हुए भी उसको वर्ण के आश्रित भी प्रकारान्तर से माना ही है—और पण्डितराज जगन्नाथ ने तो स्पष्ट ही यह मान लिया है कि गुण वर्ण के भी आश्रित है। वास्तव में गुण की स्थिति थोड़ी अस्पष्ट-सी रही है। सिद्धान्त में गुण के रस-धर्मत्व की चर्चा करते हुए 'व्यवहार' में प्रायः सभी आचार्य वर्णों के आश्रय से ही उसका स्वरूप-निरूपण करते रहे हैं। दास ने इमोलिप्त गुणों के मूर्त-आधार को प्रमाण मानते हुए माधुर्य, ओज, प्रसाद को वर्ण-गुण मान लिया। इसी प्रकार श्लेष और पुनरुक्तिप्रकाश को वाक्य-गुण मानने में भी मूर्त-आधार को ही प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि ये गुण वाक्य में ही सम्भव हैं—पृथक् पदों में अथवा वर्ण योजना में इनकी स्थिति सम्भव नहीं है। अर्थ-व्यक्ति और समाधि को दास ने अर्थ-गुण माना है—पहले में अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति और दूसरे में अर्थ का क्रमिक आरोह अवरोह होने के कारण। कांति, समता और उदारता को दास ने दूषण-हरण माना है—अर्थात् ये गुण दोषों का सम्मार्जन करते हुए काव्य का उत्कर्ष करते हैं। मम्मट ने काव्य-प्रकाश में जहाँ दश गुणों का माधुर्य, ओज, प्रसाद में अन्तर्भाव सिद्ध किया है, वहाँ कान्ति (शब्द-गुण), समता (अर्थ-गुण) तथा उदारता (अर्थ गुण) को क्रमशः अप्राम्यत्व, प्रक्रमभंग और अप्राम्यत्व दोष का अभाव मात्र माना है। इस प्रकार मम्मटादि के अनुसार उपर्युक्त तीनों गुण किसी न किसी रूप में दोषाभाव—दास के शब्दों में दूषण-हरण—माने जा सकते हैं। परन्तु दास-कृत समता तथा उदारता के लक्षण तो वामन के लक्षणों से भिन्न हैं—उनका समता गुण परिपाटीभुक्त रीति के परिष्ठांग तथा नवीन रीति के अवलम्बन में सन्निहित रहता है, और उदारता में पद रचना इस प्रकार की जाती है कि विदग्ध जन ही उसे समझ सकते हैं, अन्य अर्थात् जन साधारण की बुद्धि वहाँ तक नहीं पहुँच सकती। ये लक्षण यद्यपि वामन के लक्षणों से भिन्न हैं तथापि

इन रूपों में भी उपर्युक्त दोनों गुण दोषाभाव हो सकते हैं। समता गुण की परिभाषा बहुत कुछ वामन के अर्थ-गुण सायुष्य से मिल जाती है, और इस प्रकार यह अनवीकृत दोष का अभाव रूप हो जाता है, इसी तरह उदारता के लक्षण की भी ध्वनि यही है कि उसकी अभिव्यक्ति में वैदग्ध्य रहता है, मस्तापन नहीं होता। 'सस्तेपन' दो ही प्राम्यत्व भी कहा जा सकता है। अतएव प्रकारान्तर से दाम के लक्षण को वामन के लक्षण से सम्बन्ध करते हुए इसकी भी प्राम्यत्व दोष का अभाव रूप मानना असंगत नहीं होगा। निष्कर्ष यह है कि लक्षण-भेद होते हुए भी दाम के ये तीन गुण दूषण हरण माने जा सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन में दाम के गुण वर्गीकरण के विषय में कुछ सन्देह मिल जाते हैं। हमारा अनुमान है कि दाम के दो वर्ग (१) अगर गुण और (२) दूषण-हरण तो भस्मट के गुण-विवेचन पर आधारित हैं। दूषण-हरण अर्थात् दोषाभाव वर्ग के लिए एक और सूक्ष्म दाम को कदाचित् अनिवारिता की इस स्थापना से भी प्राप्त हुआ हो 'महान् निर्दोषता गुण'।

अर्थ-गुण का आधार दण्डी और विशेष रूप से वामन का गुण-विवेचन है, और वाक्य-गुण वर्ग की उद्भावना दाम ने स्वतन्त्र रीति में कर ली है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त चारों वर्गों की स्थापना के पीछे दोष-वर्गीकरण की प्रेरणा रही हो क्योंकि दोषों का वर्गीकरण भी तो कुछ अंशों में अक्षर-योजना, अर्थ, वाक्य आदि के आधार पर हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी वर्ग विशेष नास्तिक नहीं हैं—उनका आधार प्रायः बाह्य रचना ही है। स्वयं दाम ने इसी चलकर प्रकारान्तर से इस तथ्य को अपनी एक अन्य स्थापना में स्वीकार किया है

रस के भूषित करन ते, गुन वरने मुख दानि ।

गुन भूषन अनुमानि के, अनुप्रास उर आनि ॥

अर्थात् उपर्युक्त गुण नहीं तक गुण हैं जब तक वे रस का उत्कर्ष करते हैं। जहाँ वे ऐसा नहीं कर पाते वहाँ वे अनुप्रास मात्र रह जाते हैं। इस स्थापना से दाम मानो उपर्युक्त वर्गीकरण का निषेध कर देते हैं क्योंकि यदि गुण का रस के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है, तो उनका वर्गीकरण रस के आधार पर ही होना चाहिए, रचना के बाह्य तत्वों—अक्षर-बन्ध, वाक्य आदि के आधार पर

नहीं। यदि गुण रस का उत्कर्ष करने पर ही अपनी गुणता सिद्ध करते हैं तो माधुर्य, ओज और प्रसाद को अक्षर-गुण कहना उनकी गुणता का निषेध करता है। वैसी दशा में तो वे अनुप्रास मात्र ही रह जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गुण की धाम्निधिक स्थिति को समस्या दास के सामने भी आयी है, और उनकी व्यावहारिक दृष्टि ने उसे अपने दाय से हल करने का प्रयत्न किया है। तब दृष्टि से तो उन्होंने गुण का रस के साथ ही निरपेक्ष सम्बन्ध माना है, परन्तु व्यवहारिक रूप में उनके बाह्य स्वरूप को स्पष्ट करने का जहाँ प्रश्न आया है, वहाँ उन्होंने मूलतः आचार को ही प्रमाण मानकर गुणों का वर्णन तथा वर्गीकरण आदि कर दिया है। संस्कृत के भी अनेक आचार्यों ने इस समस्या को कुछ इसी प्रकार से सुलझाने का प्रयत्न किया है, परन्तु दास का वर्णन आवश्यकता से अधिक निरवधारक हो गया है। उससे कहीं गुण की मौलिक स्थिति के विषय में कम उत्पन्न न हो जाए, इसलिये आगे बढ़कर दास को उतने ही निरवधारक अन्वेषों में एक अन्य स्थापना करने की आवश्यकता पड़ी है। यह स्थापना परम्परा से मिलने वाले गुणों की साथ से कूर नहीं है क्योंकि रस में हीन वर्णोत्पत्ति अनुप्रास के धार्मिक और क्या है? इस प्रकार दास के गुण-विशेषण में अतिविरोध नहीं है—वास्तव में गुण की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करने हुए वे भी उसी अँधारे में पड़ गये हैं जिसमें कि संस्कृत के अधिकांश आचार्य फँस गये थे। सामान्यतः गुण, गुण और रस का सम्बन्ध, तथा काव्य में गुण का स्थान, आदि मूल विषयों के सम्बन्ध में उनका सिद्धान्त अपने आप से स्पष्ट है। अतिविषयक सिद्धान्तों का सार दास ने इस प्रकार दिया है

ज्यो जीवात्मा में रहे, धर्म सूरता आदि ।
 त्यों रस ही में होत गुन, वरनै गनै सदादि ।
 रस ही के उत्कर्ष को, अचल स्थिति गुन होय ।
 अगी धरम मुरूपता, अग धरम नहि कोय ।
 कहूँ लखि लघु कादर कहै, सूर बडो लखि अग ।
 रसहि लाज त्यों गुन विना, अरि सो सुभग न सग ॥

२ और परम्परा में भी यह बहुत मिल्न नहीं है प्राचीन आचार्यों ने—भामह, उद्भट आदि ने—वृत्तियों में तो अनप्रासवृत्ति माना ही है।

अर्थात् जिस प्रकार शौर्यादि आत्मा के धर्म हैं उसी प्रकार गुण रस के धर्म हैं। गुणों का कार्य है रस का उत्कर्ष करना, अतएव वे रस के ही अलक्ष-स्थिति धर्म हैं शब्द-अर्थ के धर्म नहीं हैं, क्योंकि सौन्दर्य आदि अन्ततः अगो आत्मा के ही गुण ठहरते हैं अगभूत शरीर के नहीं। कहीं कहीं व्यवहार में लघुकाय व्यक्ति को कायर और महाकाय को शूर कह देते हैं, परन्तु वह केवल व्यावहारिक प्रयोग है, तात्त्विक नहीं। इसी प्रकार शब्द-अर्थ के साथ गुणों का सम्बन्ध तात्त्विक नहीं है, उपचार रूप में ही है। इसके विपरीत उपमा, अनुप्रास आदि शब्दार्थालंकार कान्य के बाह्य अलंकार हैं, जिस प्रकार द्वार आदि प्राभूषण प्रथमतः शरीर को अलंकृत करते हैं, इसी प्रकार उपमादि अलंकार शब्द-अर्थ के ही धर्म हैं—वे पहले शब्द-अर्थ का ही उत्कर्ष करते हैं। अतएव अलंकार की स्थिति रस के बिना और रस की स्थिति अलंकार के बिना भी सम्भव है

अलंकार विनु रसहु है, रसहु अलंकृति छडि ।

परन्तु गुण की सत्ता रस के लिए अनिवार्य है—गुण के अभाव में रस का परिपाक नहीं हो सकता —‘रसहि जाज त्यों गुन बिना ।’

इसके उपरान्त उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का वर्णन है। मम्मट के अनुकरण पर दास ने भी वैदर्भी, गौडी और पाचाली रीतियों का वर्णन न कर उपनागरिका आदि वृत्तियों का ही वर्णन किया है। दास का यह वृत्ति विवेचन भी उद्भट आदि प्राचीन प्राचार्यों से जोना भिन्न पूर्णतया मम्मट के विवेचन पर आश्रित है। उन्होंने भी उपनागरिका में माधुर्य-व्यञ्जक वणों की, परुषा में ओजोव्यञ्जक वणों की और कोमला में प्रसादव्यञ्जक वणों की स्थिति मानी है

मिले वरन माधुर्य के, उपनागरिका निनि ।

परुषा ओज, प्रसाद के मिले कोमला वृत्ति ।

(कान्यनिर्णय २० १६६)

अन्य रीतिकार

दास के उपरान्त उत्तर-रीति काल के कवियों ने इस प्रसंग के विवेचन में कोई विशेष योग नहीं दिया। रूपसाहि ने चार नाट्य वृत्तियों का वर्णन किया

है जो प्रायः केशव के आधार पर है। केवल एक ही ग्रन्थ ऐसा है जिसका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है—यौन वह है जगतसिंह का साहित्य-सुधानिधि (संवत् १८८५ वि०)। इस ग्रन्थ की नवीं तरंग में रीति-वर्णन है।

पाँच, षष्ठ, नग-वसु करि जहाँ समास ।
पांचाली, लाटी, क्रम गौड़ी भास ॥
विन समास जहँ कीजै पद-निर्वाह ।
वैदर्भी सो जानो कविन सराह ॥

अर्थात् जहाँ पाँच, छ, सात-आठ समासों का प्रयोग हो यहाँ क्रमशः पांचाली, लाटी और गौड़ी रीति होती है। और स्पष्ट शब्दों में पांचाली में पाँच समास, लाटी में छ और गौड़ी में सात-आठ समास होते हैं। वैदर्भी में सर्वथा असमस्त पद-रचना होती है। यह रीति-वर्णन मान्य परम्परा से थोड़ा-सा भिन्न रूढ़ि से प्रेरित है। संस्कृत में केवल समास-मेलों के आधार पर रूढ़ि में रीति-विभाजन किया है।

द्वित्रिपदा पांचाली लाटीया पंच सप्त वा यावत् ।

शब्दा समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौड़ीया ॥

(रुद्रट-काव्यालंकार २।४-५)

इस प्रकार रुद्रट और जगतसिंह के रीति-वर्णन में केवल सख्या का भेद है। रुद्रट पांचाली में दो-तीन समासों की स्थिति मानते हैं परन्तु जगतसिंह पाँच की, लाटी में रुद्रट के अनुसार पाँच-सात समास होते हैं किन्तु जगतसिंह के अनुसार छ, गौड़ी में रुद्रट के अनुसार यथाशक्ति समस्त पदों का ही प्रयोग रहता है, पर जगतसिंह ने उसके लिए भी सात-आठ समासों की संख्या निश्चित कर दी है। यह अन्तर विशेष महत्वपूर्ण नहीं है और न हमका कोई उचित आधार ही समझ में आता है। समास सख्या के आधार पर रीति-भेद करना भी बहुत न्याय्य नहीं है—संस्कृत में स्वयं रुद्रट की भी आलोचना हुई है। फिर लघुसमास पांचाली में दो-तीन के स्थान पर पाँच-सात समास मानने में तो और भी कोई तर्क नहीं दिखाई देता। मध्यसमास लाटी में रुद्रट और जगतसिंह के वर्णन में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है—रुद्रट पाँच-सात समास मानते हैं, जगतसिंह छ, गौड़ी में जगतसिंह ने कदाचिन् जानबूझ कर अंतर किया है क्योंकि संस्कृत में तो ‘यथाशक्ति समस्तपदों का ही प्रयोग’

सम्भव हो सकता है। किन्तु हिन्दी की प्रकृति इसे सहन नहीं कर सकती, अतएव जगतसिंह को यहाँ भी समाप्त-सत्या निश्चित करनी पड़ी है। वैदर्भी के विषय में रूद्र और जगतसिंह एकमत है—उसमें समाप्त का अभाव रहता है। वैदर्भी की कवि-समाज में बड़ी प्रशंसा है—जगतसिंह का यह कथन सर्वथा सत्य ही है। संस्कृत में श्रीहर्ष, पद्मगुप्त, विल्हण, नीलकण्ठ आदि कवियों ने इसका कीर्तन किया है; दण्डी तथा कालिदास जैसे कलाकारों ने इसका मनोयोग-पूर्वक व्यवहार किया है और वामन, राजशेखर, भोजराज प्रभृति आचार्यों ने इसे मूर्धन्य पर स्थान दिया है।

यह स्पष्ट ही है कि जगतसिंह के रीतिवर्णन में कोई मौलिकता नहीं है—उनका आधार रूद्र का काव्यलकार है। परन्तु हिन्दी में वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों का वर्णन इतना विरल है कि जगतसिंह का इस प्रसंग में आभार मानना ही होगा। हिन्दी में वर्ण्य वृत्तियों का वर्णन मम्मट के अनुसरण पर कई आचार्यों ने किया है, नाट्य वृत्तियों का भी वर्णन हुआ है, किन्तु वामनीया रीति का वर्णन प्रायः दुर्लभ ही रहा है। जगतसिंह के उपरान्त रीतिकाल के चौपे चरण में—अर्थात् बसीसवीं विजय शती के उत्तरार्ध में महाराज रामसिंह, पद्माकर, प्रतापसाहि आदि प्रमुख कवि आचार्य हुए, किन्तु इनमें से प्रायः किसी ने भी रीति के प्रसंग को नहीं उठाया।

काल-विभाजन की दृष्टि से तो रीतियुग सवत् ११०० के आसपास समाप्त हो जाता है, किन्तु रीति-परम्परा बीसवीं शताब्दी में भी लुप्त नहीं हुई और 'आधुनिक युग' में भी अनेक उल्लेखों के रीतिग्रन्थों की रचना हुई। स्वातंत्र्य का स्व-रंग, लक्ष्मीराम का रावबेखर-कपतल, कविराज मुरारिदान का जसवन्त-भूषण तथा अयोध्या-नरेश महाराजा प्रतापनारायणसिंह का रम्य कुसुमाकर आदि इसी परम्परा के महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—किन्तु रीति-गुण का वर्णन इनमें से जसवन्त-भूषण जैसे एकाध ग्रन्थ में ही है, और यह भी अल्प-संख्यक है।

आधुनिक रीतिकार

वर्तमान युग में काव्य-शास्त्र की दिशा बदल गई है, आज के हिन्दी काव्यशास्त्र पर यूरोप के आलोचना-सिद्धान्तों तथा मनोविज्ञान का गहरा

प्रभाव है—रीतिशास्त्र की अपेक्षा आज काव्यशास्त्र पर अधिक बल है। फिर भी हिन्दी की प्राचीन रीति-परम्परा सर्वथा निरक्षर नहीं हुई। सैठ कन्हैयालाल पोद्दार की रस मंजरी, तथा अलंकार-मंजरी, अर्जुनदास केडिया की भारती-भूषण, मिथवन्धुओं का साहित्य-परिज्ञान और हरिऔध का रसकलस आदि प्राचीन परिपाटी के मान्य ग्रन्थ हैं। इनमें से रसकलस रस और नायिकामेद का ग्रन्थ है। शेष सभी में रीति-गुण-वृत्ति का थोड़ा बहुत विवेचन किया गया है। सैठ कन्हैयालाल पोद्दार के विवेचन का आधार मम्मट का काव्यप्रकाश है। उन्होंने दो तो अन्य आचार्यों के मतों का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है, किन्तु प्रमाण माना है मम्मट को ही : इस प्रकार इस ग्रन्थ में मौलिकता का सर्वथा अभाव है—इसका प्रमुख गुण इसकी स्पष्टता है। मम्मट के अनुसार पोद्दार जी ने भी रीति का वर्णन न कर केवल वृत्ति का ही वर्णन शब्दालंकार प्रमग में अनुप्रास के अन्तर्गत किया है। उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का यह वर्णन मम्मट के वृत्ति-वर्णन का अनुवाद मात्र है—पोद्दार जी ने केवल स्पष्ट हिन्दी गद्य में उसका रूपान्तर कर दिया है। गुण का विवेचन रसमंजरी के षष्ठ स्तवक में किया गया है। इस स्तवक में गुण का लक्षण और स्वरूप, गुण-अलंकार का भेद, गुणों की सन्ध्या तथा माधुर्य-भोज-प्रसाद का वर्णन है। अन्त में रचना अथवा रीति का भी अत्यन्त सक्षिप्त उल्लेख है। यह सब भी पूर्णतया मम्मट पर ही आश्रित है। गुण-लक्षण मम्मट के लक्षण का अनुवाद है, इस गुणों में से तीन गुणों की स्वीकृति भी मम्मट के ही अनुसार है, इन तीन गुणों के लक्षण आदि मम्मट से ही अनुरक्षित हैं, और गुण तथा अलंकार के भेद-प्रदर्शन में भी काव्य-प्रकाश के सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है—“गुण रस के धर्म हैं, क्योंकि गुण के साथ निरख रहते हैं। अलंकार रस का साथ छोड़ कर जोरस काव्य में भी रहते हैं। गुण रस का सदैव उपकार करते हैं, पर अलंकार रस के साथ रह कर कभी उपकारक होते हैं और कभी नहीं।” सैठ पोद्दार ने गुण को दोष का अभाव माना है—अरत मुनि का भी यही मत है, परन्तु वामन आदि आचार्यों ने इसका निराकरण किया है क्योंकि गुण भावात्मक विशेषणार्थ हैं अभावात्मक नहीं, निर्दोषता भी अपने आप में एक गुण है, परन्तु वह उपचार में है—वास्तविक गुण को स्थिति भावात्मक ही होनी चाहिये। इसी स्तवक के अन्त में रीतियों का भी उल्लेख है। रीति का ही नाम रचना है।^१

“वैदर्भी, गौड़ी ? (गौड़ी) और पाचाली रीतियों को रचना कहते हैं, ये रीतियाँ गुणों के आश्रित हैं। गुण रस के धर्म और नित्य सहचारी हैं, इमलिए वर्य और रचना में गुण और रस की व्यञ्जना एक ही साथ होती है।” + + + इन रीतियों को श्री मम्मट ने उपनागरिका, परया और कोमला वृत्ति के नाम से लिखा है और माधुर्य-गुण-व्यञ्जक वर्यों की रचना को उपनागरिका, ओजगुण-व्यञ्जक वर्यों की रचना को परया और इन दोनों में प्रयुक्त वर्यों से अतिरिक्त वर्यों की रचना को कोमला वृत्ति बतलाया है।^१—मंडजी मम्मट के आधार पर खनिवाड़ी है—उन्होंने रीति को रचना-ध्वनि या वर्य-ध्वनि के अन्तर्गत ही माना है।

श्री अर्जुनदास केडिया के भारतीभूषण में भी वृत्तियों का वर्यन शाब्दालंकार के अनुपात प्रसंग में ही मिलता है। उनके वर्यन में एक माधुर्य-सौ नवीनता यह है कि उन्होंने वृत्ति के लिये स्वरों का भी आचार माना है—ह्रस्व स्वर उपनागरिका के और दीर्घ स्वर परया के लिए उपयुक्त है। उपर्युक्त क्रम मिश्रबन्धुओं के साहित्य-परिज्ञात में भी रखा गया है वहाँ भी वृत्तियों का ध्वन्यनुपात के ही अंतर्गत हुआ है। “इमन् (वृत्ति के) तीन भेदान्तर है, अर्थात् उपनागरिका या वैदर्भी, परया या गौड़ी ? (गौड़ी) ओज कोमला या पाचाली। + + + उपनागरिका में चित्त-द्रव्यक वर्यों में रचना रहती है। इसमें माधुर्य गुण के व्यञ्जक वर्य आते हैं।” “परया या गौड़ी।” में ओज के प्रकाशक वर्यों की अधिकता होती है। “कोमला या पाचाली में प्रसाद-व्यञ्जक रचना खानी चाहिये।” मिश्रबन्धुओं के विवेचन में दो विशेषताएँ हैं एक तो उसका आधार प्रत्यक्ष मम्मट का काव्यप्रकाश न होकर उसमें प्रभाषित दाम का काव्यनिर्णय है। दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने सर्वत्र स्वरूप का ही आश्रय नहीं लिया है—वथाथान हिन्दी की प्रवृत्ति को भी प्रमाण माना है। उदाहरण के लिए माधुर्य-गुण-व्यञ्जक वर्यों का विशेषण उन्होंने हिन्दी की प्रवृत्ति के ही अनुसार किया है “सम्भृत में या माधुर्य-व्यञ्जक वर्य है, किन्तु ब्रजभाषा में नहीं। अन्धी बोली में इसका प्रयोग फार्सी है।” मिश्रबन्धुओं की यह विशेषता तो वास्तव में स्तुत्य है, परन्तु शास्त्र की दृष्टि से उनके विवेचन में पोद्दार जी के विवेचन की प्रामाणिकता एवं स्थिरता नहीं है।

रीतिपरम्परा के इन आधुनिक ग्रन्थों में सबसे अधिक उपादेय है प० रामदहिन मिश्र का ग्रन्थ 'काव्यदर्पण'। वे केवल काव्यप्रकाश पर आश्रित नहीं रहे—संस्कृत अलंकार-शास्त्र के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों का आधार ग्रहण करते हुए और इधर साहित्य की नवीन गतिविधि का भी ध्यान रखते हुए उन्होंने अपने विवेचन को अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। काव्यदर्पण में गुण, रीति तथा वृत्ति तीनों का संक्षिप्त तथा स्पष्ट विवेचन मिलता है। उनके रीति-विवेचन के आधार वामन या काव्यालंकारसूत्र तथा विरचनाथ का साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थ हैं। वामन के अनुसार मिश्र जी ने तीन रीतियाँ ही मानी हैं—चैदर्भी, गौड़ी और पावाली। किन्तु अन्त में रङ्ग तथा विरचनाथ की छाटी रीति का भी संक्षेप में वर्णन कर दिया है।

उनके गुण-विवेचन का आधार भी व्यापक है—भरत, भोज, विरचनाथ, जगन्नाथ आदि के मत देकर अन्त में उन्होंने प्रायः सम्मत का अनुसरण किया है। तीन गुणों का वर्णन सम्मत के आधार पर ही किया गया है। किन्तु सम्मत द्वारा स्वीकृत तीन गुणों में ही वे गुण की इति भी नहीं मान लेते : 'आजकल ऐसी अभिप्राय रचनाएँ दीख पड़ती हैं जिनमें न तो प्रसाद गुण और न ओज गुण, बल्कि इनके विपरीत उनके अनेक स्वरूप दीख पड़ते हैं। + + + उपर्युक्त दस गुणों में इनका अन्तर्भाव हो सकता है।' मिश्र जी की विशेषता यह है—और रीतिकार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक भी है—कि उनका शास्त्र-विवेचन केवल संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रन्थों पर ही आश्रित नहीं रहा, आधुनिक हिन्दी काव्य का भी उन्होंने आधार माना है। वर्तमान कवियों की प्रसिद्ध रचनाओं को उद्धृत कर उन्होंने अपने निरूपण को तो अधिक प्राज्ञ बना ही दिया है, साथ ही हिन्दी रीतिग्रन्थों की उस दृष्टि का भी परिहार किया है जिसे केशव से लेकर सेठ कन्हैयालाल पोद्दार तक हमारे सभी रीतिकार बराबर करते चले आये हैं। निम्नलिखित धन्य में उनके रीति-गुण-विषयक दृष्टिकोण का भार निहित है।

'गुण तथा रीति का विचार हिन्दी की आधुनिक रचनाओं के विचार से होना चाहिए। संस्कृत की ये रूढ़ियाँ नियमित नहीं, सामान्यतः जागू हो सकती हैं। + + + व्यक्ति-विशेष की जैसी श्रेणी-विभाग का एक विशिष्ट उपादान होगी। तथापि गुण रीति का ज्ञान काव्य-कला के अन्तरंग में पैठने का द्वार है, इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।' २

गुणों तथा वृत्तियों का विवेचन मम्मट के आधार पर किया गया है। मिश्रजी ने भी केवल तीन ही गुणों की सत्ता स्वीकार की है—शेष का उन्हीं में अन्तर्भाव माना है। वृत्तियों का वर्णन वृत्त्यनुपास के अन्तर्गत हुआ है—इन्होंने भी प्रदीप के आधार पर माधुर्य का मम्मन्ध उपनागरिकता से, गोज का गौडी से, और कोमला का प्रसाद से माना है।

हिन्दी काव्यशास्त्र की दूसरी प्रवृत्ति का सम्बन्ध है आधुनिक आलोचना-पद्धति से जिसका आधार पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा मनोविज्ञान है। स्वभावतः यह दूसरी प्रवृत्ति ही आज अधिक समर्थ है। इसके अन्तर्गत प० महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास तथा श्री लक्ष्मीनारायण सुधाशु आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रीति अर्थात् काव्य-भाषा-शैली के विषय में इन विद्वानों ने भी विचार व्यक्त किए हैं जिनका अपना विशेष मूल्य है।

आधुनिक आलोचक

पवित्र महावीरप्रसाद द्विवेदी के सामने काव्य-भाषा और गद्य-भाषा का प्रश्न एक नवीन रूप में उपस्थित हुआ। उस समय काव्य की भाषा ब्रजभाषा थी, और गद्य की भाषा खड़ी बोली। द्विवेदी जी ने वर्द्धमयर्थ के सिद्धान्त के आधार पर व्यावहारिक रूप से इस अंतर को मिटाने का प्रयत्न किया। “मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो क्योंकि कविता की भाषा से बोलचाल की भाषा जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। + + इसी तरह कवि को मुद्रावरे का भी त्याग रखना चाहिए + + हिन्दी उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं, वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग मद्दोष नहीं माना जा सकता।” (रमन-रजन पृ० ४६-४७)। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्द्धमयर्थ के प्रयत्न के समान ही यह प्रयत्न भी विफल ही रहा। इससे यह लाभ तो हुआ कि खड़ी बोली को काव्य-भाषा रूप में स्वीकृति मिल गई—किन्तु बोलचाल की गद्य से अभिन्न भाषा काव्य-भाषा नहीं बन सकी। द्विवेदीजी की कविता तो गद्यमयी हो गई—किन्तु गद्य-भाषा काव्य की भाषा न बन सकी। द्विवेदी जी ने उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार भाषा के गुणों को अपेक्षा उसकी शुद्धता आदि पर अधिक बल दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुद्ध रामदास के प्रवक्तृत्व समर्थक थे। उनका दृढ़ मत था कि ईश्वर के सम्मुख उपकरणों—रीति, शिल्पकार आदि का चमत्कार अर्थ के चमत्कार—रस पर आश्रित रहना है। उन्होंने अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से इस नव्य की उद्घोषणा की है। "अनूटी मे अनूटी उक्ति काव्य सभी हो सकती है जब कि उसका सम्बन्ध, कुछ तर का हो सही, हृदय के किरी माव या कृति में होगा।"^१

"किन्तो भाव या सामिक भावना में आवष्टक अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं।" इस प्रकार के रीतिवाद अलंकारवाद मया यंत्रोक्तिवाद सभी के साथ रस में घोर विरोधी हैं। किन्तु उनका विरोध रीतिवाद आदि में है—रीति, शिल्पकार तथा यंत्रोक्ति का वे वाक्य की आत्मा तो मानने के लिए तैयार नहीं हैं—विर भी, इनमें उनका विरोध नहीं है। रस के आश्रित रह कर इनकी अपनी मर्यादना है, वे तो यहाँ तक मानते हैं कि उक्ति ही काव्य होती है। + + + हमारे यहाँ भी अत्यन्त वाक्य ही काव्य माना जाता है।^२

काव्य-भाषा के विषय में उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है—अर्थात् वाक्य रूपों का वर्णन न कर, उनके शस्त्रतंत्रों का विश्लेषण किया है। काव्य-भाषा या रीति के उन्होंने चार मूलतन्त्र माने हैं। १. शोचर रूप-विधान करने वाले शब्द, २. विशेष रूप-व्यापार-मूचक शब्द, ३. वर्ण-विन्यास अर्थात् श्रुतिवद् ध्वनियों का स्याग, स्तव, अथनुशास आदि शब्द-संयोजन के संगीतमय उपकरण, ४. सामिनाय विशेषण। इनमें से पहला तन्त्र—शोचर रूप-विधान करने वाली शब्दावली शब्दा पर आश्रित रहती है। रीतिवादियों की शब्दावली में वह दृष्टि का समाधि गुण है। जहाँ एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु पर मध्यक् आधान या उपचार हो, वहाँ समाधि गुण होता है—जैसे कुमुद नेत्र बन्द करते हैं, कमल नेत्र खोलने हैं। दृष्टि ने हमें काव्य-सर्वस्व माना है।

‘तत्रैतन् काव्यसर्वस्व समाधिर्नाम यो गुणः’।^३

दूसरा तथा चौथा तन्त्र—विशेष रूप-व्यापार-मूचक शब्द-प्रयोग और सामि-नाय विशेषण-प्रयोग नामक अर्थ-गुण भाव के अन्तर्गत अर्थ-श्रीदि के रूप-

१. काव्य में रहस्यवाद। २. कविता क्या है? ३. वही ४. वाक्यादयः १२, ११२००

भेद माने गये हैं। अर्थ-प्रौढि में कभी विशेष को उभारने के लिए व्यास और समास पद्धतियों का ग्रहण किया जाता है, और कभी साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग होता है। नाद-सौष्टव के संगीतमय उपकरणों का अनर्भाव शब्द-गुण माधुर्य, उदारता, कान्ति आदि में हो जाता है। इस प्रकार शुक्लजी के शैली-तत्त्व रीतिवादियों के रीति-तत्वों से भिन्न नहीं है—यद्यपि उनका दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत रहा है।

आधुनिक ढंग के काव्यशास्त्र-ग्रन्थों में डाक्टर श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' प्रो० गुलाबराय के दो ग्रन्थ 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' और श्री० सुधाशु के दो ग्रन्थ 'जीवन के तन्त्र और काव्य के सिद्धान्त' तथा 'काव्य में अभिव्यजनावाद' का विशेष महत्व है। इन ग्रन्थों में प्राच्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का समन्वय किया गया है। इस प्रकार ये 'काव्यकल्पद्रुम' आदि की परम्परा में भिन्न हैं।

डा० श्यामसुन्दर दास

डा० श्यामसुन्दर दास के रीति या शैली विषयक सिद्धान्तों का माराश इस प्रकार है :

(१) काव्य में बुद्धि-साध, कल्पना-तत्त्व और भाव तन्त्र के अतिरिक्त एक चौथा तत्व भी है—शैली।

(२) शैली का अर्थ है रूप-सौन्दर्य, रूप-चमत्कार अथवा रचना-चमत्कार। बाह्य दृष्टि से किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट, और उनकी ध्वनि का नाम शैली है।

(३) शैली को विचारों का परिधान न कह कर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ सगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।

(४) शैली के आधार तत्व हैं—शब्द और वाक्य। शब्द के अन्तर्गत शक्ति, गुण और वृत्ति का विधान है, और वाक्य के अन्तर्गत रचना का समावेश है।

(५) गुण, रीति, वृत्ति के विषय में डा० श्यामसुन्दर दास की धारणा है। "माधुर्य गुण के लिए मधुरावृत्ति और चेदभी रीति। श्रेष्ठ गुण के लिए

परपा वृत्ति और गौडी रीति, तथा प्रसाद गुण के लिए प्रौढ़ा वृत्ति और पाचाली रीति आवश्यक मानी गई है ।”

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि डाक्टर श्यामसुन्दर दाम रीति-वादी नहीं थे—वास्तव में रीतिवादों का समर्थन आधुनिक युग में सगत भी नहीं है। उन्होंने बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व तथा भाव-तत्त्व अर्थात् अर्थ को ही काव्य में प्रमुख माना है। किन्तु उनका दृष्टिकोण समन्वयात्मक है—वाणी के बिना अर्थ का क्या रूप? अनपेक्ष शैली को काव्य का आवश्यक अंग मानने में उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। उनके शैली या रीति के लक्षण पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रभाव है, परन्तु फिर भी वस्तु-दृष्टि में वह घामन के लक्षण में बहुत भिन्न नहीं है। रचना-चमत्कार या चमत्कृत रचना घामन की विशिष्टा पदरचना से भिन्न नहीं है। डा० श्यामसुन्दर दाम के मत से शैली के आधार हैं—शब्द-शक्ति, गुण, वृत्ति तथा वाक्य रचना। यह मत भी घामन के मत से प्रायः अभिन्न ही है। किन्तु इनका रीति-वृत्ति-विवेचन शास्त्रीय परम्परा से कुछ हटकर है। उन्होंने न तो घामन का ही अनुसरण किया है और न मम्मट का ही। घामन के अनुसार चैतर्भी समप्रशुणसम्पन्ना है—उसको परिधि केवल माधुर्य तक ही सीमित नहीं है, और पाचाली के गुण है माधुर्य तथा सौकुमार्य न कि प्रसाद। इसी प्रकार मम्मट का विवेचन भी भिन्न है—उन्होंने माधुर्य-विशिष्ट पूर्ति को उपनागरिका कहा है न कि मधुरा, और प्रसादगुण-विशिष्ट वृत्ति को प्रौढ़ा नाम से नहीं वरन् कोमला नाम से अभिहित किया है। मधुरा और प्रौढ़ा नामों का प्रयोग रूद्रट में मिलता है और डा० श्यामसुन्दर दाम ने इन्हें वहीं से ग्रहण किया है। परन्तु अनुसरण उन्होंने रूद्रट का भी नहीं किया, क्योंकि रूद्रट ने मधुरा, प्रौढ़ा, परपा, ललिता तथा भद्रा ये पाँच वृत्तियाँ मानी हैं। रूद्रट ने न तो गुणों और वृत्तियों का कोई निश्चित सम्बन्ध माना है और न वृत्तियों तथा रीतियों का, इनकी तो रीतियाँ भी गुणाश्रित नहीं हैं। फिर भी डा० श्यामसुन्दरदाम ने अकरण ही यह माम-भेद नहीं किया—इसके पीछे कदाचित् रीति-गुण-वृत्ति सम्बन्धी उस अस्पष्टता को दूर करने की भावना रही है जिसका शास्त्र मम्मट अथवा मम्मट के टीकाकारों द्वारा दृष्टा है। परन्तु डाक्टर महोदय भी पूर्णतः सफल नहीं हुए हैं—उन्होंने एक त्रुटि को दूर कर दूसरी त्रुटि का सूत्रपात कर दिया है। प्रसाद-गुण-विशिष्ट वृत्ति का नाम कोमला की अपेक्षा प्रौढ़ा निश्चय ही अधिक सगत है। प्रसाद गुण प्रौढ़ रचना का परि-

चायक है, केवल होमल रचना का नहीं। इसी प्रकार उपनागरिका के स्थान पर माधुर्य-विशिष्ट वृत्ति को मधुरा कहना भी ठीक ही है। परन्तु एक तो प्रांदा वृत्ति और पांचाली रीति को पर्याय मानना असंगत है क्योंकि, जेम्स कि मैने अभी मनेन किया है, पांचाली रीति के उद्भासक वामन ने स्पष्ट ही उसे केवल माधुर्य और सौन्दर्य से उपपन्न माना है, प्रसाद से नहीं। दूसरे वंदर्भा और मधुरा को एक मानने में फिर उसी त्रुटि की पुनरावृत्ति हो जाती है। डा० श्यामसुन्दर दास इस उलझन को मुलझा नहीं सके हैं—वरन् एक प्रकार में और भी उलझा बैठे हैं।

वायू गुलावराय ने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में रीति, गुण, वृत्ति का शैली के अन्तर्गत विवेचन किया है। वायूजी की दृष्टि व्यापक और सहज समन्वयात्मक है, साथ ही उनका पाश्चात्य मनोविज्ञान तथा काव्य-शास्त्र से घनिष्ठ परिचय है, उन्होंने भी केवल मम्मट को प्रमाण नहीं माना—भरत, भामह, दण्डी, वामन, कुल्लुक, मम्मट, निरवनाथ, जगन्नाथ आदि प्राय सभी के मतों का माराश प्रदण किया है और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के प्रकाश में उन्हें प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। गुणों के विषय में मम्मट के विवेचन को उचित गौरव देते हुए भी वे यह नहीं मानते कि वामन के दस गुणों का अन्तर्भाव केवल तीन गुणों में अनिवार्यतः कर ही देना चाहिए। उनकी धारणा है—और यह ठीक भी है—कि वामन के इन गुणों में शैली की अनेक विशेषताएँ प्रकाश में आती हैं। उन सभी को मान्यता देने से शैली के सत्रों के विश्लेषण में निश्चय ही सहायता मिलती है। गुण के प्रसंग में वायूजी ने एक रोचक बात कही है।—

गुणैर्धनानि वस्त्वच्छजलवत्सहसैव य ।

व्याप्तोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितमिति ॥

की भ्यान्पा करते हुए उन्होंने ने लिखा है 'प्रसादगुण माधुर्य और ओज दोनों के साथ रह सकता है, इसलिए उसके दो उपमान अग्नि और जल दिये गये हैं। अग्नि का सम्बन्ध ओज से है, और जल का सम्बन्ध माधुर्य से।' यह वायूजी का अपनी मौखिक भूक तो नहीं है—काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इसका संकेत किया है, तथापि यह आग्यान सर्वथा सटीक तथा अपने आप में अत्यन्त रोचक है। उनके रीति, गुण आदि के विवेचन में तो कोई विशेष मौखिकता नहीं है, परन्तु शैली और रीति का तुलनात्मक अध्ययन

निरूप्य ही उपयोगी है। यहाँ कुन्तक के उद्धरण के आधार पर राघवन से प्रेरणा प्राप्त कर बाबू जी ने यह सिद्ध किया है कि 'शैली ही व्यक्तित्व है' ॥ सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र के लिए अपरिचित नहीं था। कुल मिलाकर प्रा० गुलाबराय के रीति-गुण विवेचन में प्राच्य और पश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय दृष्टिगत होता है, और यह उनको अपनी विशेषता है।

सुमित्रानन्दन पन्त

वर्तमान युग हिन्दी काव्य में कला के पुनरुत्थान का युग है—कला की समृद्धि की दृष्टि से छायावाद का स्थान हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। छायावाद में कला की यत्नज्ञ तथा अयत्नज्ञ दोनों प्रकार की शोभा का उत्कर्ष मिलता है, और इस उत्कर्ष में सबसे अधिक योगदान है पतंजी का। पंत जी में छायावाद की मणि-कुट्टिम कला का अपूर्व वैभव है। बामन की वैदर्भी रीति और उसके समग्र गुणों की सम्पदा पत-काव्य से अधिक और कहाँ मिलेगी? पद-रचना-सौन्दर्य पत की कला की विशेषता है। किन्तु सिद्धान्त रूप में पतंजी रीतिवादी नहीं हैं—उन्होंने भी रीतिवाद का विरोध ही किया है। परलक्ष की भूमिका में उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने बहुमूल्य विचार प्रकट किये हैं।

रीतिकार्य की रूढ़ि-प्रस्त पद-रचना की कदर्यना करते हुए पंतजी ने लिखा है—'भाष और भाषा का ऐसा शुद्ध प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एकस्वर रिमकिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुमास तथा तुकों की ऐसी अग्रान्त उपरु वृष्टि क्या ससार के और किसी साहित्य में मिल सकती है? धन की बहर, मेकी की बहर, भिरली की बहर, विजली की बहर, मोर की बहर, समस्त सगीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया।'।

पतंजी का अभिमत है कि ध्रजभाषा में केवल माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का ही उत्कर्ष सम्भव है—अतएव वह पाचाली सदृश निर्जीव रीति के ही उपयुक्त है। काव्य की ममथ भाषा में समस्त गुणों की सम्पदा होनी चाहिए। इसी तथ्य को अपनी रोचक लाक्षणिक शैली में अभिव्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

“अज्ञ-भाषा की उपन्यास में, उसकी भिन्न अंचल-छाया में मन्दिरों का कागमोर भले ही बसाया जा सके, जहाँ चौदनी के करने राशि राशि मोती बिखराते हों, विहंग-कुल का कलरव आवाहूँवी को स्तर के तारों में गूँथ देना हो, महत्त्व-रसों की पुष्प-शय्या पर कल्पना का इन्द्रधनुष अर्ध-प्रसृत पड़ा हो, जहाँ मन्दिरों की वासन्ती नन्दन-वन का स्वप्न दाखती हो, पर उमरा वत्-स्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्ध, जल-स्थल, अनिल-आकाश, ज्योति-अन्धकार, वन-पर्वत, नदी-खाड़ी, नहर-खाड़ी, ढोप-उपनिवेश, उसरी ध्रुव में दृष्टिहीन ध्रुव तार का प्राकृतिक मन्दिर, दक्ष-शीत-प्रधान देशों के वनस्पति-धृङ्ग, पुष्प-पौधे, पशु पक्षी, विविध प्रवेशों का जल वायु, आचार-व्यवहार,—जिनके गङ्गा में यात-उत्पान, वह्नि-वाद, उल्का भूकम्प सब कुछ समा सके, बाया जा सके, जिनके दृष्टों पर मानव-जाति की सम्पत्ता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आनन्द-विवर्तन, नूतन-पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके।”

(परसूत्र भूमिका पृ० १४-१५)

रीतिराज्य के हाथ युग में हीनतर कृतियों के हाथ में पड़ कर रीति रुढ़ि का पर्याय बन गयी थी। द्विपदी युग के कवियों ने उसका रुढ़ि-पाश तो फाट कर फेंक दिया—उसकी सजीवन भी दिया, परन्तु वे उसके व्यक्तित्व को उचित समृद्धि प्रदान नहीं कर सके। यह परिणति थी मनुष्य के पतन की प्रतीति। रीति रुढ़ि-मुक्त हुए, नवीन जीवन के अनुकूल गुण-सम्पत्ति में समृद्ध हुए, और पदाचित् फिरे एक दूसरे प्रकार की रुढ़ियों में बंधने लगी। इस प्रकार मिथ्यान्त की रीति से रीतिवाद के समर्थक न होत हुए भी व्यवहार की रीति में वर्तमान युग में रीति का सबसे अधिक उत्कर्ष पतन की ओर हो गया है।

सामान्य रूप में वर्तमान युग की कला में रीति की अपेक्षा अभिव्यक्ति का ही प्राधान्य रहा है। छायावाद की ही कला में अभिव्यक्ति का अद्भुत विकास मिलता है। छायावाद के उपरान्त अब अभिव्यक्ति-विषयक प्रयोगों का युग आया है—जहाँ शब्द में उसके प्रचलित अर्थ से भारी अर्थ भरने के प्रयत्न चल रहे हैं त्रिके फल-स्वरूप रचना की नयी रीतियाँ सामने आ रही हैं। परन्तु इन रीतियों का अस्तित्व वस्तुपरक न होकर मर्यादा

व्यक्ति-परक ही है, अतएव वाग्विनीया रीतियों से इनका सम्पर्क सर्वथा टूट गया है ।

हिन्दी काव्यशास्त्र में रीति-सिद्धान्त का यही ससिद्ध इतिहास है । जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा है हमारे काव्यशास्त्र में रीतिवाद सिद्धान्त रूप में कभी लोकप्रिय नहीं रहा—वैसे रीति के प्रभाव से अदृष्टा काव्य कौन-सा हो सकता है ?

रीति-सिद्धान्त का अन्य सिद्धान्तों के साथ संबंध

रीति सम्प्रदाय, जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, भारतीय काव्यशास्त्र का देहवादी सम्प्रदाय है—अतएव यह अलंकारवाद तथा वक्रो-
त्तिवाद का सहयोगी और रस तथा ध्वनिवाद का प्रतियोगी है। रीति-सिद्धान्त
के स्वरूप को सम्यक् रूप से व्यक्त करने के लिए इन सहयोगी तथा प्रनि-
योगी सिद्धान्तों के साथ उसके सम्बन्ध पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

रीति तथा अलंकार—अलंकार सम्प्रदाय की स्थापनाएँ इस प्रकार
हैं

(१) काव्य का सौंदर्य शब्द-अर्थ में निहित है।

(२) शब्द-अर्थ के सौंदर्य के कारण है अलंकार —

काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते । दण्डी काव्यादर्श २, १ ।

(१) अलंकार के अन्तर्गत काव्य-सौंदर्य के सभी प्रकार के ताव आ-
जाते हैं काव्य का विषयगत सौंदर्य सामान्य अलंकार के अन्तर्गत आता है
और शैलीगत सौंदर्य विशेष अलंकार के अन्तर्गत। इस प्रकार गुण, रीति
आदि भी अलंकार हैं परिचयमार्गविभागार्थमुक्ता प्राग्व्यलक्ष्या । (दण्डी)
अर्थान् वंदर्म तथा गौडीय मार्गों का भेद करने के लिए (श्लेष-प्रसाद आदि)
कुछ अलंकारों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

और मन्धि, संध्यं, वृत्ति, लक्ष्ण आदि भी अलंकार हैं :

यच्च सन्ध्यंग-वृत्त्यंग लक्षणाद्यागमान्तरे ।

व्यावर्णितमिदं चेष्टं अलंकारतयैव न ॥ (दण्डी)

रीति सम्प्रदाय के प्रत्येक वामन की स्थापनाएं इससे मूलतः भिन्न न होते हुए भी परिणामतः भिन्न हो जाती है ।

(१) वामन भी काव्य का सौंदर्य शब्द-अर्थ में निहित मानते हैं ।

(२) वामन भी अलंकार का प्रयोग काव्य सौंदर्य के पर्याय रूप में करते हैं सौंदर्यमलंकार । परन्तु उनका आशय दण्डी आदि से भिन्न है ।

(३) वे अलंकार की दो कोटियाँ मान लेते हैं - गुण और अलंकार । साधुर्वादिगुण सौंदर्य के मूल कारण अर्थात् काव्य के नित्य धर्म हैं, और उपमादि अलंकार उसके उत्कर्षवर्धक अर्थात् अनित्य धर्म हैं । दूसरे शब्दों में गुण नित्य अलंकार हैं और प्रसिद्ध 'अलंकार' अनित्य । इस प्रकार वामन अलंकार की परिधि संकुचित कर देते हैं और उनकी कोटि अपेक्षाकृत हीन हो जाती है । वामन स्पष्ट कहते हैं कि अकेला गुण काव्य को शोभा-मय्यन्न कर सकता है किन्तु अकेला अलंकार नहीं कर सकता । काव्य में यदि गुण का मूल सौंदर्य ही न हो तो 'अलंकार' उसे और भी कुरूप बना देता है ।

यम यहीं आकर अलंकार सिद्धान्त और रीति सिद्धान्त में अन्तर पड़ जाता है । दोनों का एष्टिकोण मूलरूप में समान हैं — दोनों ही काव्य-सौंदर्य को शब्द-अर्थ में निहित मानते हैं, दोनों ही अलंकार को समिति रूप में काव्य-सौंदर्य का पर्याय मानते हैं । परन्तु अलंकार सम्प्रदाय जहाँ उपमा आदि 'अलंकारों' को मुख्य रूप में और अन्य गुण, वृत्ति, लक्षण आदि को उपचार रूप से अलंकार मानता है, वहाँ रीति सम्प्रदाय रीति और गुण को मुख्य रूप से और उपमादि को गौण रूप में अलंकार मानता है । अर्थात् रीति सम्प्रदाय में गुण अथवा गुणात्मा रीति की प्रधानता है, और उपमादि 'अलंकारों' की स्थिति अपेक्षाकृत हीन है—किन्तु अलंकार सम्प्रदाय में उनकी स्थिति यदि गुण आदि से श्रेष्ठतर नहीं तो कम से कम उनके समकक्ष अवश्य है ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि पारिभाषिक शब्दों के आचरण को हटा कर गुणात्मा रीति और 'अलंकार' में वस्तुगत भेद क्या है ? और स्पष्ट शब्दों में, शब्द-अर्थ का कौनसा प्रयोग रीति है, कौन सा 'अलंकार' ? वामन ने रीति

का लक्षण किया है प्रशिष्टा पदरचना—अर्थात् गुणमयी पदरचना । गुण के दो भेद हैं शब्द-गुण और अर्थ-गुण । शब्द-गुण में वर्ण-योजना तथा समास-प्रयोग पर आश्रित सौंदर्य और अर्थ-गुण में उपयुक्त सार्यक शब्द-चयन एवं रागात्मक तथा प्रज्ञात्मक तत्त्वों के सुचारु क्रम-बन्धन आदि का अन्तर्भाव है । इस प्रकार रीति में अभिप्राय ऐसी रचना से है जो अपनी वर्ण-योजना, ममस्त पदों के कुशल प्रयोग, उपयुक्त अर्थवान् शब्दों के चयन तथा भावों एवं विचारों के सुचारु क्रम-बन्धन के कारण मन का प्रसादन करती है । अतएव रीति में रचना अर्थात् व्यवस्था एवं अनुक्रम का सौंदर्य है । अलंकार का सौंदर्य अनेक अर्थों में इसमें भिन्न है । अलंकारों को अलंकारवादियों ने शब्द-अर्थ के (काव्य) शोभाकर धर्म कहा है । धर्म शब्द से मयं पहले तो स्फुटता का घातन होता है, अर्थात् अलंकार रचना का व्यवस्थित सौंदर्य न होकर स्फुट सौंदर्य-विधायक स्वरूप है । दूसरे उसमें चमत्कार का भी आभाव है आधुनिक शब्दावली में रीति सम्बन्धन शब्दों का पर्याय है और अलंकार उक्ति-चमत्कार का अर्थ है शब्द-अर्थ के प्रसादन का—वामन इसको अतिरिक्त प्रसादन ही मानते हैं । इन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है, अब यह प्रश्न है ? इसका उत्तर यह है कि रीति का क्षेत्र अधिक व्यापक है—अलंकार रीति का अंग है । वामन ने और पारशरथ आचार्यों ने उसे रीति या शैली का अंग रूप माना है । इसके अतिरिक्त, यद्यपि रीति का विधान भी प्रायः वस्तु-परक ही है, फिर भी अर्थ-गुण कान्ति या अर्थ-गुण साधुय में व्यक्ति-तत्त्व का समावेश रहता है । अलंकार में भी रसवत् तथा ऊर्जस्विन् आदि अलंकारों का अन्तर्भाव व्यक्तित्व के समावेश का ही प्रमाण है, परन्तु वहाँ रसवत् आदि अलंकारों का कोई नियम महत्त्व नहीं है । रीति सम्प्रदाय में अन्य गुणों के साथ अर्थ-गुण कान्ति भी घेदनी रीति अथवा सत्काव्य का अनिवार्य तत्त्व है—इस प्रकार रस का भी सत्काव्य के साथ अनिवार्य सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रूप में हो ही जाता है । अतएव अलंकार-सिद्धान्त को अपेक्षा रीति-सिद्धान्त में व्यक्ति या आत्म तत्त्व अधिक है ।

रीति और यक्रोक्ति कुतक के अनुसार यक्रोक्ति का अर्थ है वैदग्ध्य-भगो-भणिति । वैदग्ध्य का अर्थ है कान्य या कला नेपथ्य जो अजित विद्वत्ता या शास्त्र-ज्ञान से भिन्न प्रतिभा जन्म होता है । भगो-भणिति का अर्थ है उक्ति-चाहल । अतएव यक्रोक्ति का अर्थ हुआ कवि-प्रतिभा-जन्य उक्ति-

चारत्व । यह वक्रता या चारत्व छ प्रकार का होता है, वर्ण-वक्रता, पद-पूर्वाध-वक्रता अर्थात् पर्याय शब्दों तथा विशेषण आदि का चार प्रयोग, पद-परार्ध-वक्रता अर्थात् प्रत्यय-वक्रता, वाक्य-वक्रता अर्थात् अर्थालङ्कार-प्रयोग, प्रकरण-वक्रता या कथा के किसी प्रकरण की चार कल्पना, प्रबन्ध-वक्रता या प्रबन्ध-विधान-कौशल । इस प्रकार वक्रोक्ति का क्षेत्र रीति की अपेक्षा अत्यन्त व्यापक है, वर्ण से लेकर प्रबन्ध-विधान तक का चारण्य उसके अन्तर्गत समाविष्ट है । रीति का क्षेत्र तो वास्तव में वक्रता के पहले चार भेदों तक ही सीमित है । वर्ण-वक्रता रीति के शब्द-गुणों की वर्ण-योजना है, पद-पूर्वाध तथा पदपरार्ध वक्रता में अर्थ-गुण ओज, उदारता, सौन्दर्य आदि का अन्तर्भाव हो जाता है, वाक्य-वक्रता में अर्थालङ्कार हैं ही । अथ रीति का अधिकार-क्षेत्र यहीं समाप्त हो जाता है । वह वर्ण, पद, तथा वाक्य से आगे नहीं जाती । प्रकरण-कल्पना, प्रबन्ध-कल्पना उसकी परिधि से बाहर हैं । अर्थात् वह काव्य की भाषा-शैली तक ही सीमित है, काव्य की व्यापक वर्णन शैली तक उसकी पहुँच नहीं है । रीति में वर्णों का, पदों का तथा भावों और विचारों का क्रम वर्णन मात्र है, जीवन की घटनाओं का, जीवन के स्थिर दृष्टिकोणों का वह क्रम-बन्धन या नियोजन नहीं आता जो वक्रोक्ति में आता है । और स्पष्ट शब्दों में रीति केवल भाषा-काव्य-शैली तक ही सीमित है, किन्तु वक्रोक्ति समस्त काव्य-कौशल की पर्याय है । इस प्रकार जैसा कि स्वयं कुतक ने ही निर्देश किया है रीति या मार्ग वक्रोक्ति का एक अंग मात्र है । वक्रोक्ति कवि-कर्म है रीति कवि-मार्ग है ।

दोनों सम्प्रदायों का दृष्टिकोण कुछ अंशों में समान है । दोनों में कवि-कर्म की बहुत कुछ वस्तु परक व्याख्या है । वर्ण-वक्रता से लेकर प्रबन्ध-वक्रता तक वक्रोक्ति के सभी रूपों में काव्य को कवि का कौशल मात्र माना गया है—कवि-कर्म अन्ततः नियोजन की कुशलता मात्र उद्हरता है । उसमें कवि की प्रतिभा को तो आधार माना गया है, परन्तु कवि की सवासनता अथवा हादिक विभूतियों को और उभर पाठक और श्रोता की सहृदयता की अपेक्षा है । इस प्रकार रस की अपेक्षा तो दोनों सम्प्रदायों में है, परन्तु इसके आगे व्यक्ति-तत्त्व की अपेक्षा दोनों में समान नहीं मानी जा सकती क्योंकि वक्रोक्ति को कुतक निरसर्ग कविप्रतिभा-जन्य मानते हैं—उसका प्राणतत्त्व है विदग्धता जो विद्वता से भिन्न है । कहने का तात्पर्य यह है कि रीति सम्प्रदाय तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय के दृष्टिकोणों में यहाँ तक तो मूलभूत समानता है कि

दोना ही रस को अपेक्षा कर कवि-कर्म का वस्तु-परक निष्प्रेषण करते हैं, परन्तु आगे चलकर ब्रह्मोक्तिवाद व्यक्ति-तन्त्र को 'कवि-प्रतिभा' के रूप में आग्रह-पूर्वक स्वीकार कर लेता है। इसमें मन्देह नहीं कि ब्रह्मोक्तिवाद की 'कवि-प्रतिभा' आधुनिक शब्दावली में महत्त्वयता की अपेक्षा कल्पना की ही महत्त्व-स्वीकृति है, परन्तु फिर भी कुन्तक का दृष्टिकोण व्यक्ति-सत्य की महत्ता को तो स्वीकार करना ही है। ब्रह्मोक्ति की प्रतिभा-जन्य मानना, विदग्धता की यत्ना का प्रासंगिक मानना, और मार्ग (रीति) में कवि-स्वभाव को मूर्धन्य पर स्थान देना—यह सब व्यक्ति-तन्त्र का ही आग्रह है। वामन में कुन्तक के समय तक ध्वनि-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और रस का उत्कर्ष निरूपित हो चुका था, इसलिए वामन की अपेक्षा उनके सिद्धान्त में व्यक्ति-तन्त्र का प्राधान्य होना स्वाभाविक हो था।

रीति और ब्रह्मोक्ति का साम्य और वैषम्य स्पष्ट में इस प्रकार है

(१) दोनों के मूल दृष्टिकोणों में पर्याप्त साम्य है—दोनों में काव्य का वस्तु-परक विश्लेषण है। दोनों सिद्धान्त काव्य की रचना-नैपुण्य मानते हैं—आत्म सृजन नहीं।

(२) रीति की अपेक्षा ब्रह्मोक्ति की परिधि व्यापक है। रीति केवल वर्ण, पद, तथा वाक्य की रचना तक ही सीमित है, ब्रह्मोक्ति का क्षेत्र प्रकरण तथा मनन्य रचना तक व्याप्त है।

(३) रीति की अपेक्षा ब्रह्मोक्ति में व्यक्ति-तन्त्र का कहीं अधिक समावेश है—ब्रह्मोक्ति में कवि-प्रतिभा और कवि-स्वभाव को आधार माना गया है। इसी अनुपात से ब्रह्मोक्ति रीति की अपेक्षा रस-सिद्धान्त के भी निरुद्ध है।

रीति और ध्वनि : रीति और ध्वनि सिद्धान्तों के दृष्टिकोण परस्पर-विपरीत हैं। रीति सम्प्रदाय देहवादी है और ध्वनि-सम्प्रदाय आत्मवादी। ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना रीति की स्थापना के लगभग अर्धशताब्दी के पुराने हुई है, अतएव प्रत्यक्षरूप में रीति-सिद्धान्त पर ध्वनि का प्रभाव या रीति में उसका अंतर्भाव आदि तो सम्भव नहीं हो सका किन्तु, ऐसा कि आनन्दप्रसन्न ने सिद्ध किया है, रीति-सिद्धान्त में ध्वनि के प्रच्छन्न सकेत निस्सन्देह मिलते हैं। वामनरत्न अर्थालंकार ब्रह्मोक्ति के लक्षण—सादर्याल्लक्षणा ब्रह्मोक्ति में व्यञ्जना की स्वीकृति है। स्वयं रीति-गुण के निवेदन में ही अनेक स्थलों पर ध्वनि के

संकेत दूँ निकालना कठिन नहीं है। उदाहरण के लिए अनेक शब्द-गुणों में वर्ण-ध्वनि का संकेत है, अर्थ-गुण शब्द के अन्तर्गत अर्थ-प्रौढ़ि के कई रूपों में भी ध्वनि की प्रचक्षुस् स्वीकृति है। 'समास' भेद में केवल 'निमित्ति' कह देने से ही दिवागता का व्यक्तित्व ध्वनित हो जाता है, इसी प्रकार 'साभि-प्राय विशेषण' प्रयोग में पर्याय ध्वनि (पिनाका और कपाला के ध्वनि-भेद) का ही प्रकारान्तर से वर्णन है। अर्थ-गुण कान्ति में तो असलक्ष्यक्रम ध्वनि की प्रत्यक्ष स्वीकृति है ही।

ध्वनि-सम्प्रदाय समन्वयवादी है। ध्वनिकार आरम्भ में ही प्रतिज्ञा करके चले हैं कि ध्वनि में सभी सिद्धान्तों का समाहार हो जाएगा, अतएव रीति का भी ध्वनि में समाहार हुआ है। रीति के बाह्य तत्वों वर्ण-योजना और समास का अन्तर्भाव वर्ण-ध्वनि और रचना ध्वनि में किया गया है। उच्च दश गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों के भीतर करते हुए उनका असलक्ष्य-क्रम ध्वनि रस से अचल सम्बन्ध स्थापित किया गया है। धामन ने रीति को गुणारम्भ मानते हुए रीति को प्रधानता दी थी—और कम में कम उसे गुण के समतुल्य अद्वय माना था। ध्वनिवादियों ने उसे मवटना रूप मानते हुए गुण के आश्रित माना गुण की स्थिति अचल है, मवटना की चल है। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त में रीति का स्थान गौण भी हो जाता है।

रीति और रस - रीति-सिद्धान्त की स्थापना करते समय धामन के समस्त रस-सिद्धान्त निरुपय ही विद्यमान थे। वास्तव में रस को दृश्यकाव्योचित मानने के कारण ही अलंकार और रीति सिद्धान्तों की उद्भावना हुई। धामन ने काव्य में रस को विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया और उसे रीति के गुणों में से केवल एक गुण अर्थ-गुण कान्ति का आधार-तत्त्व माना। इस प्रकार उनके मत में रस रीति का एक अङ्ग मात्र है। रस की दीप्ति रीति की शोभा में घोषदान करती है—यही रस की सार्वकता है। अर्थात् रस अग है, रीति भगी। परन्तु इसके विपरीत रसवाद रस को आत्मा और रीति को केवल अंगमस्थानवत् मानता है। वर्णगुण और समास से निमित्त रीति गुण पर आश्रित है और गुण रस का धर्म है, अतएव गुण के सम्बन्ध में रीति रसाश्रिता है। उसके स्वरूप का निर्णय रस के द्वारा ही होता है : आनन्दार्थन ने रसोचित्य को रीति का प्रधान नियामक माना है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार कीजिए। रस चित्त की आनन्दमयी स्थिति है। गुण भी चित्त की स्थिति ही है। मायुर्य द्रुति है,

शोज रीति और प्रमाद परिग्याप्ति—ये रम-दशा के पूर्व की स्थितियाँ हैं जो चित्त की उस आनन्दमयी परिस्थिति के लिए तैयार करती हैं। वरुण तथा गज्ज मन की स्थितियों के प्रतीक हैं—वे स्वयं मन की स्थितियाँ तो नहीं हैं परन्तु विशेष मनोदशाओं के सम्भार उन पर आरुढ़ हैं। अनपेक्षित यह व्याख्या है कि कुछ वरुण अथवा शब्द चित्त की दुर्नि के अनुकूल पड़े और कुछ रीति के और कुछ परिग्याप्ति के। इस प्रकार ये वरुण और शब्द दुर्नि-रूप मायुष्य के, रीति-रूप शोज के और परिग्याप्ति रूप प्रमाद के अनुकूल या प्रतिकूल पड़ते हैं। यही इनकी मायकता है। अलंकार की तरह रीति भी रम का उपकार करती हुई काव्य में अपनी मायकता प्रिष्ट करती है। कुसुमातिथि उसे शग-सम्भार के समान माना गया है। सुन्दर शरीर रचना जिस प्रकार आत्मा का उपर्य-वर्धन करती है, उसी प्रकार रीति भी रम का उपकार करती है।

इस प्रकार रीति और रम सम्प्रदायों के दृष्टिकोण भी मूलतः परस्पर विपरीत हैं। रीति सम्प्रदाय देह को ही जीवन-पर्यन्त मानता हुआ आत्मा को उमर का एक पोषक तत्व मात्र मानता है, और उधर रम सम्प्रदाय आत्मा को मूल मध्य मानता हुआ देह को उमर का बाह्य माध्यम मात्र समझता है। दोनों की ओर से समझौते का प्रयत्न हुआ है, परन्तु यह समझौता परस्पर सम्मान सूचक नहीं है रीति रम को अपने उपकरण रूप में ग्रहण करती है और रम रीति को अपने शग-सम्भार रूप में स्वीकार करता है। यार्ण और अर्थ का यह काव्य समन्वय, जिसका आधाहल कालिदास ने किया है, दोनों की साम्प्रदायिक भावना के कारण मान्य नहीं हो सका—रीति ने अपने स्वरूप को आनन्दयकता से अधिक वस्तुगत बना लिया है और रम ने व्यक्तता के द्वारा अपने स्वरूप की अत्यधिक व्यक्ति-परक। पाञ्चाय माहिम्य में मनो-विज्ञान के प्रभावशाली ग्राम अनुभूति और अभिव्यक्ति अथवा भाव और शैली का जो अनिवार्य सहभाव माना गया है वह मस्कृत काव्यशास्त्र में 'माहिम्य' शब्द की शुल्पति में ही सीमित होकर रह गया, विधान रूप में मान्य न हो सका।

रीति-सिद्धान्त की परीक्षा

रीति-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र में अन्ततः मान्य नहीं हुआ—
अलंकार सम्प्रदाय तो फिर भी किसी न किसी रूप में वर्तमान रहा, परन्तु
वामन के उपरान्त रीति-सिद्धान्त प्रायः निरशेष ही हो गया। रीति को काव्य
की आत्मा मानने वाला कोई बिरहवादी पैदा हुआ, समस्त संस्कृत काव्यशास्त्र
में वामन के पश्चात् केवल दो नाम ही इस प्रसंग में लिए जा सकते हैं—एक
वामन के टीकाकार तिप्पभूषण का—असवो रीतयः, और दूसरा अमृतानन्द-
योगिन् का—रीतिरात्माऽत्र (अलंकारसंग्रह)। इनमें से एक तो केवल
व्याख्याता मात्र हैं, और दूसरे का कोई विशिष्ट स्थान नहीं।

यह स्वाभाविक भी था क्योंकि अपने उग्र रूप में रीतिवाद की नींव
इतनी कच्ची है कि वह स्थायी नहीं हो सकता था। वह को महत्व देना तो
आवश्यक है, परन्तु उसे आत्मा या जीवन का मूल आधार ही मान लेना
प्रयत्न है।

रीतिवाद में पद-रचना (शैली) को ही काव्य का सर्वस्व माना गया
है—रम को शैली का अंग माना गया है और वह भी महत्वपूर्ण अंग नहीं।
एक तो उसका समावेश बीस गुणों में से एक गुण काशित में ही है और दूसरे
स्वयं काशित अपने आप में कोई विशिष्ट गुण नहीं है क्योंकि काशित और भोज
शौलीया के गुण माने गये हैं और शौलीया को वामन ने निश्चय ही अग्रधान
रीति माना है : “इनमें से पहली अर्थान् वैदर्भी ही ग्राह्य है क्योंकि उसमें सभी
गुण वर्तमान रहते हैं। शेष दो अर्थान् शौलीया और पांचाली नहीं क्योंकि उनमें
भेदे से ही गुण होते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि इन दो का भी

अभ्यास करना चाहिये क्योंकि ये घँदर्भी तक पहुँचने के सोपान हैं । यह ठीक नहीं है क्योंकि अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है ।" (काव्यालङ्कारसूत्र) । गौडीया के इस तिरस्कार से यह स्पष्ट है कि रीति सिद्धांत में कान्ति और उसके आधार तत्त्व रस का कोई विशेष महत्व नहीं है । रस का यह तिरस्कार या अवमूल्यन ही अन्त में रीतिवाद के पतन का कारण हुआ और यही सगत भी था । काव्य का मूल गुण है रमणीयता, उसकी चरम सिद्धि है सहृदय का मन प्रसादन, और उद्दिष्ट परिणाम है चेतना का परिष्कार । यह सब भावों का ही व्यापार है—भाव-तत्त्व के कारण ही काव्य में रमणीयता आती है, भाव-तत्त्व ही सहृदय के भावों को उद्बुद्ध कर उन्हें उत्कट आनन्दमयी चेतना में परिणत करता है, और उन्हीं के द्वारा भावों का परिष्कार सम्भव है । शैली में भी रमणीयता का समावेश भाव-तत्त्व के द्वारा ही होता है । भावों की उत्तेजना से ही वाणी में उत्तेजना आती है—चित्त के चमत्कार से ही वाणी में चमत्कार का समावेश होता है, यह स्वतः-सिद्ध मनोवैज्ञानिक तथ्य है । सामान्य एवं व्यापक रूप में भी जीवन का प्रेरक तत्त्व राग ही है । अतएव राग था रस का तिरस्कार दर्शन भी नहीं कर सका, काव्य का तो समस्त व्यापार ही उस पर आश्रित है । रीति-सिद्धान्त ने रीति को आत्मा और रस को एक स्वाधारण अंग मात्र मान कर प्रकृत कम का विपर्यय कर दिया, और परिणामतः उसका पतन हुआ ।

परन्तु फिर भी रीतिवाद सर्वथा सारहीन अथवा निर्मूल्य सिद्धान्त नहीं है । दामन भायत मेघावी आचार्य थे—उनके अपने युग की परिमीमाप् थीं, तथापि उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है, और उनके सिद्धान्त का अपना उज्ज्वल पक्ष है ।

सब से पहले तो वह इतना पक्काभी नहीं है जितना प्रतीत होता है । उसके अनुसार काव्य का आदर्शरूप घँदर्भी में प्राप्त होता है जहाँ उश शब्द-गुणों और दश अर्थ-गुणों की पूर्ण सम्पदा मिलती है । दश शब्द-गुणों के विश्लेषण से, आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में, निम्नलिखित काव्य-तत्त्व उपलब्ध होते हैं

(१) वर्ण-योजना का चमत्कार—

(क) ऋकार (सौकुमार्य तथा श्लेष गुणों में)

(ख) अज्ज्वल्य (कान्ति)

(२) शब्द-गुण का चमत्कार (श्लोक, प्रसाद, समाधि, समता, अर्थव्यक्ति)

(३) स्फुट शब्द का चमत्कार (माधुर्य, कान्ति)

(४) अर्थ का चमत्कार—(उदारता)

उपर्युक्त अर्थ-गुणों का विश्लेषण निम्नलिखित काव्य-तत्वों की ओर निर्देश करता है

(१) अर्थ-प्रौढ़ि—अर्थात् समास तथा व्यास शैलियों का सफल प्रयोग, साभिप्राय-विशेषण-प्रयोग आदि । (श्लोक)

(२) अर्थवैमल्य—अन्यून-अनतिरिक्त शब्दों का प्रयोग, आनुगुण्यत्व (प्रसाद) ।

(३) उक्ति-वैचित्र्य (माधुर्य)

(४) प्रक्रम (समता)

(५) स्वाभाविकता तथा यथार्थता । (अर्थव्यक्ति)

(६) अप्राप्त्यत्व—अभङ्ग, असंगत तथा अश्लेष शब्दों का त्याग (अर्थार्थ और शैलीमार्थ)

(७) अर्थ-गौरव (समाधि, श्लेष)

(८) रस (कान्ति)

इनमें से अर्थ-गौरव, रस, अप्राप्त्यत्व तथा स्वाभाविकता वर्ण्य विषय के गुण हैं और अर्थ-वैमल्य, उक्ति-वैचित्र्य, प्रक्रम, अर्थ-प्रौढ़ि अर्थात् समास और व्यास शैली तथा साभिप्राय-विशेषण-प्रयोग वर्ण्य-शैली के गुण हैं ।

इस प्रकार वामन के अनुसार आदर्श काव्य के मूल तत्व हैं :—

शैलीगत — अर्थवैमल्य (आनुगुण्यत्व), उक्ति-वैचित्र्य, प्रक्रम, अर्थ-प्रौढ़ि अर्थात् समास-शक्ति, व्यास-शक्ति तथा साभिप्राय-विशेषण-प्रयोग ।

विषय-गत .— अर्थ-गौरव, रस, परिष्कृति (अप्राप्त्यत्व) तथा स्वाभाविकता ।

आधुनिक आलोचना-शास्त्र के अनुसार काव्य के चार तत्व हैं . राग-तथ, बुद्धितरव, कल्पना और शैली । उपर्युक्त गुणों में ये चारों तत्व पथावत

समाविष्ट हैं। रस, परिष्कृति (अप्राग्यत्व) तथा स्वाभाविकता रागतात्त्व है ; अर्थ-गौरव बुद्धितत्त्व है , उक्ति-वैचित्र्य तथा साभिप्राय विशेषण कल्पना-तत्त्व है ; और अर्थवैमल्य, समासगुण तथा प्रक्रम शैली के तत्त्व हैं ।

अतएव वासन का रीतिवाद वास्तव में सर्वथा एकागो नहीं है—उसमें भी अपने दग से काव्य के सभी मूल तत्वों का समावेश है ।

इसके अतिरिक्त रीति अथवा शैली को महत्त्व प्रतिष्ठा अपने आप में भी कोई नगण्य सिद्धान्त नहीं है । वाणी के बिना अर्थ गूगा है । शैली के अभाव में भाव उस कोकिल के समान असहाय है जिसे विधाता ने हृदय का मिठास देकर भी रसना नहीं दी और कल्पना उस पत्नी के समान असमर्थ है जिसे, पर बाध कर, पिंजड़े में डाल दिया गया हो । वास्तव में काव्य को शास्त्र से पृथक् करने वाला तत्त्व अनिवार्यतः शैली ही है । शास्त्र से विचार की समृद्धि तो रहती ही है—कल्पना का भी प्रचुर उपयोग हो सकता है, इसी प्रकार भाव का सौन्दर्य भी लोक-वार्ता में निस्स्पन्देह रहता है, परन्तु अभिव्यञ्जना-कला—शैली—के अभाव में वे काव्य-पद के अधिकारी नहीं हो सकते । इस दृष्टि से शैलीतत्त्व की अनिवार्यता अमदिश्य है, और रीतिवाद ने उस पर धल देकर काव्यशास्त्र का निस्स्पन्देह ही उपकार किया है ।

हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः की
हिन्दी व्याख्या

दो शब्द

'हिन्दी ध्वन्यालोक' के प्रकाशन के बाद डेढ़ वर्ष के भीतर यह तीसरा ग्रन्थ विद्वद्गण की सेवा में प्रस्तुत करने हुए प्रगल्भता हो रही है। अगस्त १९५२ में 'ध्वन्यालोक' की हिन्दी व्याख्या प्रकाशित हुई थी। हिन्दी तथा संस्कृत के सभी शोधों में उमका भारी स्वागत हुआ। उत्तरप्रदेश के शिक्षा-विभाग ने ८००) का पुरस्कार देकर उमको सम्मानित किया। उमके बाद नवम्बर १९५३ में 'हिन्दी तर्कभाषा' नाम से 'तर्कभाषा' की हिन्दी व्याख्या प्रकाशित हुई। उम का भी सभी शोधों में अच्छा स्वागत हुआ और उत्तरप्रदेश सरकार क शिक्षा-विभाग ने पुरस्कार देकर उमको भी सम्मानित किया। अब हम 'हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र' नाम से वामन-वृत्त 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' की हिन्दी व्याख्या विद्वद्गण की सेवा में उपस्थित कर रहे हैं।

यह कार्य एक निश्चित योजना के अनुसार चल रहा है जिसके अन्तर्गत संस्कृत साहित्य-शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों की विस्तृत व्याख्याएँ प्रस्तुत करने का सङ्कल्प किया गया है। योजना के जन्मदाता हैं दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डा० नगेन्द्र, जो इस ग्रन्थमाला के सम्पादक हैं। इन्हीं की प्रेरणावश 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली' तथा हिन्दी की प्रसिद्ध प्रकाशन मस्था 'आत्माराम एण्ड सन' के सहयोग से योजना सफलतापूर्वक आगे बढ़ रही है। डा० नगेन्द्र ने 'हिन्दी ध्वन्यालोक' के लिए विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका लिखी थी, और इस 'हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र' के लिए उमसे भी अधिक परिश्रमपूर्वक और विस्तृत भूमिका लिखने की कृपा की है। उनकी इस विद्वत्तापूर्ण भूमिका में ग्रन्थ की उपयोगिता अवश्य बढ गई है। आशा है उमसे अलङ्कारशास्त्र के प्रेमियों को बहुत लाभ होगा। हमके उपरान्त 'कुन्तक' के अप्राप्य 'वक्रोक्तिजीवितम्' की हिन्दी व्याख्या प्रकाशित हो रही है। 'अभिनवगुप्त' की अप्राप्य 'अभिनव-भारती' तथा 'मुकुल भट्ट' की 'अभिनव वृत्ति मातृका' के हिन्दी-व्याख्या-सहित सम्पादित संस्करण भी शीघ्र ही प्रकाशित हो सकेंगे, ऐसी आशा है।

दुर्लभ वाचा-विष्णो और बहुमुखी व्यस्त कार्यक्रम के बीच यह जो साहित्य-साधना निरन्तर चल रही है, इसका थोड़ा भाई विजयेंद्र तथा अन्य प्नेही बन्धुओं की व्याग्रहपूर्ण प्रेरणाओं को ही है, अतएव वे धन्यवाद के पात्र हैं।

नव-सम्बत्सर

२०११

ध्याचाय विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

मुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन

विषयानुक्रमिका

'शांरीर' नामक प्रथम

अधिकरण

[पृष्ठ १-६० तक]

प्रथम अध्याय

[प्रयोजन स्थापना पृष्ठ १-११]

ग्रन्थ परिचय	१
काव्य लक्षण	४
काव्य और अलङ्कार	५
काव्य के प्रयोजन	७
काव्य प्रयोजन विषयक मनो का तुलनात्मक विवेचन	८
मामह का मत	१०

द्वितीय अध्याय

**[अधिकारि-चिन्ता, रीति निश्चय
१२-३८]**

काव्य के अधिकारी	११
कवियों के दो भेद	१२
कवि और भावक का सम्बन्ध	१३
'साहित्य मीमांसा' की कार्यविधि	१४
अराचकी अधिकारी	१५
सन्तुष्टाभ्यवहारी अनधिकारी	१६
अधिकारी विषयक निरवतन मत	१७
काव्य का आत्मा रीति	१८
रीति के तीन भेद	१९
देश और रीति का सम्बन्ध	२०

वेदमी, गौडो, पाञ्चवादी

रीतियों के लक्षणोदाहरण	२०
रीतियों की उपादेयता का तारनम्य	२६
वेदमी की ज्योत्सना के विषय में अन्य मत	२७
अन्य रीतियों का वेदमी से माय सम्बन्ध	२९
मामह कार्लिन दा मार्ग का मिद्धान्त	३३
कुल्लक का त्रिमाण मिद्धान्त	३५
देसायिन रीतिवाद और मागवाद का लण्डन	३६
पाश्चात्य मत में चार प्रकार की रीतियों का विवेचन	३८

तृतीय अध्याय

[वाक्याङ्ग और काव्य भेद ३९-५३]

काव्य के तीन अङ्ग या वाक्य	३९
काव्य के प्रयोजक त्रेतुओं के विषय में विभिन्न मनो का तुलनात्मक विवेचन	४०
प्रथम अङ्ग 'लोक्वतृन्'	४१
द्वितीय अङ्ग 'विद्या' के मान भेद	४२
विद्या के मानों भेदों का विवेचन	४३-४९
तृतीय अङ्ग प्रकीर्ण के पद्यों का विवेचन	४९
शब्द पाठ	५१

'अदन्ति सुन्दरी' का मत	५२
'माहित्य मीमामा' की कारिकाएँ	५३
काव्य के गद्य पद्य दो भेद	५५
गद्य काव्य के तीन भेद	५५
पद्य काव्य के भेद	५७
प्रदग्ध-काव्य और मुक्तक	५९
प्रदग्ध-काव्यों में रूपक का महत्व	६०
भामहकृत, काव्यों के 'सगवन्ध', 'अभिनेयार्थ' और 'आख्यायिका' रूप तीन भेद	६२
काव्य भेदों के विषय में आनन्द वर्धन का मत	६५

अश्लीलत्व के तीन प्रकार के अपवाद	८१
अ गुणार्थ	८१
व लक्षितार्थ	८१
स सवृत्त	
अश्लीलत्व के तीन भेद	८३
५ विलप्टार्थ	८४
अश्लीलत्व तथा विलप्टत्व का वाक्यदोषत्व	८५

द्वितीय अध्याय

[वाक्य वाक्यार्थ दोष विभाग
८८-१०२]

'दोष-दर्शन' नामक द्वितीय अधिकरण

[पृष्ठ ६७-११२ तक]

प्रथम अध्याय

[पदपदार्थ-दोष विभाग ६६-८७]

गत प्रथमाध्याय के साध सम्बन्ध	६७
दोष का सामान्य लक्षण	६८
पाँच प्रकार के पद दोष	७०
१ अमरपद पदत्व	७१
२ कष्टपद	७२
३ ग्राम्यपद	७२
४ अप्रतीत पद	७३
५ अनर्थक पद	७४
पाँच प्रकार के पदार्थ दोष	७६
१ अनर्थार्थ	७७
२ नेयार्थ	७८
३ गूढार्थ	८०
४ अश्लील	८८

तीन प्रकार के वाक्य दोष	८८
१ भिन्न वृत्त	
२ यति भ्रष्ट	
चातु भाग तथा नाम भाग के भेद में यति भ्रष्टत्व के उदाहरण	८९
भिन्न वृत्त तथा यति भ्रष्ट का परस्पर भेद	९६
३ विसन्धि	९४
विमन्धि दोष के तीन भेद	९४
अ सन्धि विस्लेप	
व अश्लील सन्धि	
स कष्ट सन्धि	
सात प्रकार के वाक्यार्थ दोष	९८
१ व्यर्थ	९८
२. एकार्थ	९९
एकार्थ या पुनरुक्ति की अदोषता	१००
घनुर्ज्या आदि पदों की अदोषता	१००
कर्णावतसादि पदों की अदोषता	१०१
मुक्ताहार आदि पदों की अदोषता	१०२

पुष्पमाला आदि पदों की अदोपता	१०३
उष्ट्र-कलभ आदि पदों की अदोपता	१०४
यह अदोपता प्रयुक्त पदों में ही मानी जाती है ।	१०५
३ सन्दिग्ध	१०६
४ अप्रयुक्त	१०७
५ अप्रयुक्त	१०७
६ लोक विरुद्ध	१०८
७ विद्या विरुद्ध	११०

'गुण विवेचन' नामक तृतीय अधिकरण

[पृष्ठ ११३-१५९ तक]

प्रथम अध्याय

[गुणालङ्कार विवेक और शब्द गुण]
११३-१३९

गुण तथा अलङ्कार का भेद	११३
काव्य शोभा के जनक गुण	११३
काव्य शोभा के अतिशय हेतु अलङ्कार	११४
मम्मटाचार्य कृत गुण अलङ्कार भेद	
गुणों की नित्यता	११५
दस प्रकार के शब्द गुण	११८
१ ओज गुण	११९
२ प्रमाद गुण	१२०
संयुक्त रूप प्रमाद के गुणत्व का उपपादन	१२०
३ श्लेष गुण	१२३
४ समता गुण	१२४
५ समाधि गुण	१२४

आरोह अवरोह के ओज प्रमाद रूप होने में समाधि गुण का स्वप्न	१२६
समाधि गुण के स्वप्न में प्रसन्न युक्ति का निराकरण	१२६
६ माधुर्य गुण	१३१
७ मौकुमार्य गुण	१३२
८ उदारता गुण	१३२
९ अर्थ व्यक्ति गुण	१३३
१० कान्ति गुण	१३६
११ शब्द गुणों के विषय में मप्रह श्लोक	१३५
गुणों की अभावस्वप्ता का निराकरण	१३७
गुणों की भ्रमस्वप्ता का निराकरण	१३८
गुण के पाठधर्मत्व का निराकरण	१३९

द्वितीय अध्याय

[अर्थ गुण विवेचन १४०-१५९]

ओज आदि दस अर्थ गुण	१४०
१ अर्थ गुण ओज	१४१
अर्थ प्रीति रूप ओज के पांच भेद	१४१
क पद के अर्थ में वाक्य रचना	१४१
स वाक्य के अर्थ में पद का प्रयोग	१४६
ग अर्थ का विस्तार में कथन	१४४
घ अर्थ का संक्षेप कथन	१४५
ङ अर्थ की साभिप्रायता	१४५
२ अर्थ गुण प्रमाद	१४६
३ अर्थ गुण श्लेष	१४७
४ अर्थ गुण समता	१४८

५ अर्थ गुण समाधि	१५०	भङ्ग में यमक का उत्कर्ष	१७१
क अयोनि अर्थ	१५०	भङ्ग के तीन भेद	१७१
ख अन्यच्छाया योनि अर्थ	१५१	क शृङ्खला भङ्ग	१७१
अर्थ के व्यक्त, सूक्ष्म दो भेद	१५२	ख परिवर्तक भङ्ग	१७२
सूक्ष्म के भाष्य और वामनीय दो भेद	१५२	ग चूर्ण भङ्ग	१७३
६ अर्थ गुण माधुर्य	१५३	यमक के विषय में सान सङ्ग	१७४
७ अर्थ गुण मौकुमार्य	१५४	श्लोक	१७४
८ अर्थ गुण उदारता	१५५	अनुप्रास का लक्षण	१७७
९ अर्थ गुण अर्थ व्यक्ति	१५६	अनुवृत्ति अनुप्रास की श्रेष्ठता	७९
१० अर्थ गुण कांति	१५७	पाद यमक के समान पादानुदास	१८०
काव्यपाक विषयक तीन सङ्ग		यमक के अन्य भेदों के समान अनुप्रास के अन्य भेद	१८४
श्लोक	१५८		
काव्य पाक विषयक राजसेखरमत	१५९		

द्वितीय अध्याय

[उपमा विचार १८५-२१०]

'आलङ्कारिक' नामक चतुर्य अधिकरण		उपमा का लक्षण	१८५
पृष्ठ १६०-२७०		उपमान और उपमेय का लक्षण	१८६
प्रथम अध्याय		उपमा लक्षण में दोनों की अनिवार्यता	१८६
[आलङ्कारिक विचार १६०-१८४]		उपमा के कल्पिता और लौकिकी दो भेद	१८७
गुण अलङ्कार का भेद		उनके उदाहरण	१८०
यमक, अनुप्रास दो आलङ्कार	१६०	पदवृत्ति, वाक्यार्थ वृत्ति रूप	
यमक का लक्षण	१६२	उपमा के दो और भेद	१९०
यमक के स्थान	१६३	प्रकारान्तर में उपमा के पूर्णा तथा लुप्ता दो भेद	१९२
क पाद यमक	१६३	अन्य आचार्यों द्वारा किए हुए	
ख एक पाद के आदि मध्य अन्त यमक	१६४	उपमा के २७ भेदों की चर्चा	१९३
ग दो पादों के आदि मध्य अन्त यमक	१६५	उपमा के कारण	१९९
घ एकान्तर पादान्त यमक	१६७	स्तुति, निन्दा और वत्सास्थान के उदाहरण	२०९
ङ समस्त पादान्त यमक	१६८	उपमा के दोष	२०९
च. एकाक्षर यमक	१६९	१ हीनत्व उपमा दोष	२०९

जाति, प्रमाण, घमंहीनता के उदाहरण	२०२
२ अधिकन्व उपमा दोष	२०७
३ लिङ्ग भेद उपमा दोष	२१०
लिङ्ग भेद अपवाद रूप से अभीष्ट	२११
४ वचन भेद ५ या दोष	२१३
५ अमादृश्य रूप उपमा दोष	२१३
उपमान के आधिपत्य में अमादृश्य दोष का अभाव	२१५
६ अस्तम्भ उपमा दोष	२१८

तृतीय अध्याय

[उपमा प्रपञ्च विचार २२०-२८०]

वामन के अभिमत ३०	
अलङ्कार	२२०
अलङ्कारों की मर्या के विषय में अन्य भाचार्यों के मतों की तुलनात्मक विवेचना	२२१
'साहित्य मीमांसा' में अलङ्कार विषयक ८ कारिकाएँ	२२१
प्रतिबन्ध आदि अलङ्कार उपमा के ही प्रपञ्च हैं	२२२
१ प्रतिबन्ध	२२३
२ समामोक्ति	२२४
३ अपस्तुत प्रशंसा	२२६
४ अपस्तुति	२२८
५ रूपक	२२९
६ श्लेष	२३१
७ वक्रोक्ति	२३५
८ उत्प्रेक्षा	२३८
९ अतिशयोक्ति	२४१
१० सन्देश	२४४

११ विरोध	२४५
१२ विभावना	२४८
१३. वनन्वय	२४९
१४ उपमेयोपमा	२४९
१५ परिबृति	२५०
१६ व्यर्थ	२५२
१७ दीपन	२५१
१८ निन्दनता	२५७
१९ अर्थान्तरन्यास	२५९
२० स्थानिरेक	२६१
२१ विशेषोक्ति	२६४
२२ व्याज स्तुति	२६६
२३ व्याजोक्ति	२६७
२४ तुल्ययोगिता	२६९
२५ आश्लेष	२७०
वामन क 'आश्लेष' की 'समामोक्ति' के साथ तुलना	२७२
मन्त्रोक्ति अलङ्कार	२७६
समाहित अलङ्कार	२७५
समष्टि अलङ्कार के दो भेद	२७६
उपमा 'रूपक'	२७६
उत्प्रेक्षा अवयव	२७७
भामह के मत से इन तीनों अलङ्कारों का विवेचन	२७८
आलङ्कारिक चतुर्धाधिकरण का उपमहार	२८०

'प्रायोगिक' नामक पञ्चम अधिकरण
[प्रथम अध्याय २८१-२९५]
काव्य समय

पुनरुक्ति परित्याग	२८१	'नैक' शब्द का समास	३०८
सन्धि नित्यता	२८२	गमिगाम्यादि समास	३०९
लघु गुरु भाव	२८३	'त्रिवर्ती' पद का साधुत्व	३१०
पादादि में सङ्ग आदि का निषेध	२८५	'विम्बावर' पद का उपपादन	३१०
अर्धान्तर पदना का निषेध	२८६	'आमूलोल' का समास	३११
बहुव्रीहिपरक कर्मधारय का निषेध	२८७	'घाम्यपट्ट' का समास	३१२
सङ्गृह्य का प्रयोग	२८८	पञ्चपोतिमा का समास चिन्त्य	३१२
विशेषण का प्रयोग	२८९	जन्मात्तरपद बहुव्रीहि अवर्जनीय	३१३
सवनाम स समासगत का परामञ्ज	२९०	गुणगुणी के भेदाभेद में पूर्वनिपात	३१४
परम्परा सम्बन्धपरक पठ्ठी	२९१	चिन्त्य पूर्वनिपात	३१५
देशज पदों का प्रयोग	२९१	निपात में अभिहित में कर्मता निषेध	३१६
प्रचलित लिंग और अध्याहार	२९१	'सक्य' का भिन्न लिंग प्रयोग	३१६
प्रचलित लक्षणा शब्दों का प्रयोग	२९२	अङ्गाधिक्य भी अङ्ग विकार	३१८
लक्षण प्राच्य का निषेध	२९३	'कुमिकोटाना' में बहुवचन अनुपपन्न	३१८
स्तनादि पदों का द्विवचनान्त			
प्रयोग	२९४	'शराष्ट्रों' प्रयोग चिन्त्य	३१९
जाति व्यक्ति का भेदाभेद	२९५	'आम' प्रयोग का उपपादन	३२०
		'युध्यते' पद का उपपादन	३२०
		'विश्लाघमात' चिन्त्य	३२०

द्वितीय अध्याय

[२९६-३६१ शब्द शुद्धि]

शब्द शुद्धि

चिन्त्य एकशेष	२९६	'केसराल' का उपपादन	३२२
अपठितधातुत्व	२९८	'पत्रल' का उपपादन	३२३
आत्मनेपद का अनित्यत्व	२९८	महोश आदि का उपपादन	३२४
कर्मकर्त्ता के प्रयोग	३००	'अरिहा' आदि की अमिद्धि	३२३
चिन्त्य आत्मनेपद	३०२	'ब्रह्मविद्' आदि का उपपादन	३२४
चानस् प्रत्यय में साधुत्व	३०३	'मतीर' आदि का उपपादन	३२५
'लभ' धातु का द्विवचन भिज्जन्त		'भिदु' का कर्त्ता और कर्मकर्त्ता में	
प्रयोग	३०४	द्विवचन प्रयोग	३२५
'ते-मे' तृतीयावक प्रयोग	३०६	'गुण विस्तर' आदि चिन्त्य	३२६
परिभव में 'तिरस्कृत' का		'अवतर अपचाय' चिन्त्य	३२६
उपपादन	३०६	'शोभा' निपातन से मिद्ध	३२६

अ प्रत्यय की वहुल विवक्षा	३२७	'अर्वाह' म वृद्धि चिन्त्य	३४८
'व्यवमित' में कर्त्ता में 'वत्'	३२८	'अपाङ्गनेत्रा' म मन्तर्मी का	
'आह' का भूत में प्रयोग चिन्त्य	३२९	लुक् चिन्त्य	३८८
'शबला' में टाप् अप्रान्त	३३०	'दिग्ट प्रिय' म पुवद्भाव चिन्त्य	३४९
प्राणा में 'नीला' प्रयोग चिन्त्य	३३१	'दृढ भक्ति' का पुवद्भाव युक्त	३४९
मनुष्य जाति की विवक्षा		'जम्बुवृता' म ह्रस्वविधि युक्त	३५०
अविषक्षा में द्विविध प्रयोग	३३२	'निलरुक्ती' पद का उपपादन	३५१
ऊकारान्त म ऊर्ध्व का विधान	३३८	निगम्य निगमय्य द्विविध प्रयोग	
'कातिशीय' प्रयोग चिन्त्य	३३५	प्रकृति भेद मूलक	३५२
'शादर' प्रयोग चिन्त्य	३३५	मयम्य नियम्य अणिजन्त प्रयोग	३५३
'शाश्वत' प्रयोग का उपपादन	३३५	प्रपीय' पद का उपपादन	३५४
'राश्वद्य' आदि का उपपादन	३३६	'दूरयति' पद का उपपादन	३५४
'दारव' शब्द का दुप्रयोग	३३७	'गच्छन्ती' म नृम् का अभाव चिन्त्य	
'मुनिवमा' आदि चिन्त्य	३३७	'गोत्रा' पद म पुवद्भाव का उपपादन	
'ओपम्य' शब्द का उपपादन	३३८		३५५
वैदाव्य वैदग्ध्यो द्विविध प्रयोग	३३८	'वेन्म्यमि' पद का उपपादन	३५६
'धन्वी' पद का उपपादन	३३९	'कामयान' शब्द का उपपादन	३५६
'चतुरम्बशाभि' का उपपादन	३३९	'मोहद दाह द पश का उपपादन	३५७
'नक्षत्रीया' का उपपादन	३४१	'विगम' पद का उपपादन	३५१
राष्ट्र प्रतिभागो हान पर तम्		'उत्तरि क योग म कीप्सा म पाठी	३५८
तम् का प्रयोग	३४१	'मन्द मन्द' अप्रकारावक प्रयोग	३५८
'कोशिल' आदि का उपपादन	३४४	'निद्राद्रक्' प्रयोग चिन्त्य	३५९
'मारिनकम्' का उपपादन	३४४	'निप्यन्द' पद में पत्व चिन्त्य	३६०
'प्रातिभ' आदि का उपपादन	३४४	'अगुलियम' में पत्वाभाव चिन्त्य	३६०
'सगभम' चिन्त्य	३४४	'ज्वन्ति मेन' आदि में भी पत्वाभाव	
'धृत धनुषि' पद चिन्त्य	३४५	चिन्त्य	३६०
'दुर्गन्धि' पद चिन्त्य	३४६	'इद्रवाहन' म णत्वाभाव का	
'मुदती' पद का उपपादन	३४६	उपपादन	३६०
उर शब्दान्त म कप् का निषेध	३४७	शब्दसुद्धि प्रकरण का उपपादन	३६१

पण्डितवरश्रीवामनविरचिता

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः

‘शारंग’ नाम प्रथममधिकरणम्

अथ श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिता

काव्यालङ्कारदीपिकाख्या हिन्दी-व्याख्या

आ नो यज्ञं भारती तूर्यमेदिविहामनुष्यार्द्रं चेतयन्ती ।

तिष्ठो देवीर्गहिरेद स्योन सरस्यती स्वयस सद्गताम् ।

गुणातीत गुणागारमनवद्यमलकृतम् ।

वन्दे त रसात्मान कविमाद्य महेश्वरम् ॥

ध्वन्यालोके विषमविषमे या मयाऽकारि व्याख्या

प्रौढाऽप्येषा सपदि सुयुधैः सादर सा गृहीता ।

साहिर्येऽतो रुचिमानुभवन् नूतनाना तु प्रत्ने

जातोस्तादृशतदनु विवृतिं वामनीये तनोमि ॥

भारतीय साहित्य-शास्त्र में ‘रससम्प्रदाय’, ‘ध्वनि सम्प्रदाय’, ‘अलङ्कार सम्प्रदाय’ आदि नामों से अनेक साहित्यिक सम्प्रदाय प्रचलित रहे हैं । उनमें से ‘रीति सम्प्रदाय’ नाम से भी एक सम्प्रदाय माना जाता है । इस ‘रीति सम्प्रदाय’ के प्रवर्तक श्री वामन माने जाते हैं । ‘रस सम्प्रदाय’ के प्रवर्तक भरत मुनि रस को ही काव्य का आत्मा मानते हैं । ‘ध्वनि सम्प्रदाय’ के प्रवर्तक श्री आनन्द-वर्धनाचार्य के मत में ध्वनि ही काव्य का आत्मा है । इसी प्रकार ‘रीति मार्ग’ के प्रवर्तक आचार्य वामन के मत में ‘रीति’ ही काव्य का आत्मा है । ‘रीतिरात्मा काव्यस्य’ । साहित्य के इन विविध सम्प्रदायों का उल्लेख करते हुए हमने अपने ‘साहित्यमीमांसा’ नामक संस्कृत ग्रन्थ में उनका संग्रह इस प्रकार किया है—

'एकत्वेऽपि परेशस्य विश्वधर्मविभेदवत् ।
 साहित्येऽपि समुद्रता सम्प्रदायास्तु सतत्वा ॥ ३१ ॥
 काव्यस्यात्मा रसः कैश्चित् कैश्चिन्चैव ध्वनिर्मतः ।
 वक्रोक्तिगुणं श्रौचित्यमलङ्कारोऽयं रीतयः ॥ ३२ ॥
 भरतो रसरादान्तमलङ्कारं च भामहः ।
 गुणं दण्डी ततोऽभिन्नं रीतिमात्रं च वामनः ॥ ३३ ॥
 कुन्तकश्चैव वक्रोक्तिः ध्वनिमानन्दवर्धनः ।
 ग्रन्थमौचित्यरादान्तं चेमेन्द्रः प्रख्यापयन् ॥ ३४ ॥
 प्राधान्यात् तत्र तत्रैषा मता एते प्रवर्तकाः ।
 अन्यथा मस्तादौ तु दृश्यते सर्वसङ्करः ॥ ३५ ॥

इन साहित्यिक सम्प्रदायों में से 'रीति सम्प्रदाय' के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। उनका केवल एक यही 'काव्यालङ्कारसूत्रम्' ग्रन्थ उपलब्ध होता है। इसकी रचना यद्यपि प्राचीन काल की सूझसौली में की गई है परन्तु वह उतना प्राचीन नहीं है। जैसा कि इस ग्रन्थ के इस प्रारम्भिक मङ्गल श्लोक से प्रतीत होता है, श्री वामनाचार्य ने अपने एतों पर यह वृत्ति भी स्वयं लिखी है। इस वृत्ति में अनेक स्थानों पर उन्होंने कालिदास तथा भवभूति आदि प्रसिद्ध कवियों के श्लोक उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वामन, भवभूति आदि के बाद, लगभग आठवीं शताब्दी में हुए हैं। उनके ग्रन्थ की रचना मूल रूप में होते हुए भी वे वस्तुतः सूत्रकालीन ग्रन्थकार नहीं हैं। 'ध्वन्यालोक' की व्याख्या 'लोचन' में श्री अभिनवगुणाचार्य ने—

‘अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुर सरः ।

अहो देवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः ॥

वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्यान्वेषयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरत् ग्रन्थकृत् ।^१ इस सन्दर्भ में वामन के नाम का उल्लेख किया है। इससे भी प्रतीत होता है कि अभिनवगुण की दृष्टि में भी वामनाचार्य आनन्दवर्धनाचार्य के पूर्व लगभग आठवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए हैं, क्योंकि आनन्दवर्धन का समय ८५० के लगभग माना जाता है।

ग्रन्थकार वामन ने अपने इस ग्रन्थ को पांच 'अधिकरणों' में विभक्त किया है। प्रत्येक 'अधिकरण' अनेक 'अध्यायों' में विभक्त है। प्रथम अधिकरण का नाम 'शारीराधिकरण' रखा है। इसमें तीन अध्याय हैं, जिनमें ग्रन्थ के 'अनुबन्धचतुष्टय' का वर्णन किया है। 'अनुबन्धचतुष्टय' में (१) प्रयोजन, (२) अधिकारी, (३) विषय, तथा (४) सम्बन्ध इन चार का ग्रहण होता है। प्रथम अध्याय में ग्रन्थ के 'प्रयोजन' का, दूसरे अध्याय में 'अधिकारी' तथा 'विषय' का निरूपण किया गया है। इन 'विषय', 'प्रयोजन' तथा 'अधिकारी' तीनों का ज्ञान हो जाने पर विषय और ग्रन्थ का 'प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव' और अधिकारी तर्फी ग्रन्थ का 'बोध्यबोधकभाव' सम्बन्ध स्वयं ज्ञात हो सक्ता है। इसलिए उसका अलग प्रदर्शन ग्रन्थकार ने नहीं किया है।

द्वितीय अधिकरण का नाम 'दोषदर्शन अधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में 'पद-दोषों' तथा 'पदार्थ-दोषों' का और दूसरे अध्याय में 'वाक्य-दोषों' का वर्णन किया गया है।

तृतीय अधिकरण का नाम 'गुणविवेचनाधिकरण' है। इसमें भी दो अध्याय हैं। इनमें से प्रथम अध्याय में गुण और अलङ्कारों के भेदों तथा शब्दगुणों का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में अर्थगुणों का वर्णन हुआ है।

चतुर्थ अधिकरण 'आलङ्कारिक अधिकरण' कहा जाता है। इसमें तीन अध्याय हैं। इनमें से प्रथमाध्याय में शब्दालङ्कार—यमक, अनुप्रास आदि का विवेचन है। दूसरे अध्याय में समस्त अलङ्कारों के मूलभूत उपमा अलङ्कार का विवेचन है और तीसरे अध्याय में उपमा के प्रसङ्गभूत अन्य अलङ्कारों का विवेचन किया गया है।

पञ्चम अधिकरण का नाम 'प्रायोगिकाधिकरण' रखा है। इसमें भी दो अध्याय हैं जिनमें से प्रथम अध्याय में काव्यममय का और दूसरे में शब्दशुद्धि का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार कुल १२ अध्याय वाले पांच अधिकरणों में वामन ने अपने इस ग्रन्थ को पूर्ण किया है। वामन के पूर्ववर्ती मामह 'अलङ्कार सम्यग्दाय' के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके ग्रन्थ का नाम भी 'काव्यालङ्कार' ही है और उसमें भी प्रतिपाद्य विषय का विभाग इसी प्रकार किया गया है। वामन का पहिला अधिकरण 'शारीराधिकरण' है, तो मामह का प्रथम परिच्छेद 'शारीर परिच्छेद'

शारीर नाम प्रथममधिकरणम्

प्रथमोऽध्यायः

[प्रयोजनस्थापना]

प्रणम्य परं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया ।

काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेपा वृत्तिर्विधीयते ॥

काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् । १, १, १ ।

है। भामह ने स्वयं 'पठ्या शरीरं निर्णोतम्' लिख कर इस परिच्छेद की शारीरपरता को सूचित किया है। वामन का दूसरा अधिकरण 'दोषदर्शनाधिकरण' है, तो भामह का तीसरा परिच्छेद 'दोषवर्णन' परक है। भामह ने 'पञ्चाशता दोषद्वि.'^१ लिखकर उसको सूचित किया है। वामन ने तृतीय अधिकरण में गुणों का और चतुर्थ अधिकरण में अलङ्कारों का वर्णन किया है। भामह ने गुणों के लिए अलग परिच्छेद न रख कर दूसरे परिच्छेद के प्रारम्भ में गुणों का और द्वितीय परिच्छेद के शेष भाग तथा तृतीय परिच्छेद में अलङ्कारों का वर्णन किया है। वामन ने पञ्चम अधिकरण के प्रथमाध्याय में 'काव्यसमय' तथा द्वितीयाध्याय में 'शब्दशुद्धि' का वर्णन किया है। परन्तु भामह ने पञ्चम परिच्छेद में 'न्यायनिर्णय' तथा षष्ठ परिच्छेद में 'शब्दशुद्धि' का निरूपण किया है। इस प्रकार का भामह और वामन का विषय-विभाग प्रायः समान और पांच भागों में विभक्त है। काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि नवीन ग्रन्थों में प्रतिपाद्य विषय को पांच के स्थान पर दस भागों में विभक्त किया गया है।

वामन के इस प्रकृत ग्रन्थ का यह प्रथम अध्याय प्रयोजन का प्रतिपादक अध्याय कहा गया है। ग्रन्थकार उसका प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं—

‘शारीर’ नामक प्रथम अधिकरण में

प्रथम अध्याय

[प्रयोजन स्थापना]

परं ज्योति [स्वरूप परमात्मा] को नमस्कार कर के [इस ग्रन्थ के

^१ भामह काव्यालङ्कार उपसंहार । ^२ भामह काव्यालङ्कार उपसंहार ।

काव्यं खलु ग्राह्यमुपादेयं भवति, अलङ्कारात् । काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते ॥ १ ॥

कोऽसावलङ्कार इत्यत आह—

सौन्दर्यमलङ्कार । १, १, २ ।

अलङ्कृतिरलङ्कारः । करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमाविषु वर्तते ॥ २ ॥

निर्माता] वामन अपने [बनाये हुए काव्यालङ्कार] सूत्रों की [कविप्रियानामक अधवा] कवियों को प्रिय लगने वाली इस वृत्ति [ग्रन्थ] की रचना करते हैं ।

काव्य, अलङ्कार [के योग] से [ही] उपादेय होता है ।

काव्य, अलङ्कार [के योग] से निश्चय से उपादेय [आदेरणीय] होता है । [यद्यपि मुख्य रूप से] यह काव्य शब्द गुण तथा अलङ्कार से संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है [इस लिए अलङ्कार काव्य से भिन्न कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका योग काव्य में ही] फिर भी यहाँ शब्दार्थ और काव्य का भेद मान कर काव्य शब्द [परन्तु लक्षणा से यहाँ केवल शब्दार्थ मात्र का बोधक [काव्यशब्द] लिया जाता है । [इसलिए अलङ्कार के योग से काव्य उपादेय होता है यह सूत्र का अर्थ उपपन्न हो जाता है] ॥ १ ॥

[काव्य की उपादेयता का प्रयोजक] यह अलङ्कार क्वा [पदार्थ] है इस [शङ्का के होने पर उसके निवारण] के लिए कहते हैं—

[काव्य में] सौन्दर्य [के आधायक तत्त्व] का नाम अलङ्कार है ।

[भावार्थक] अलङ्कृति अलङ्कार [शब्द का मुख्यार्थ] है । [परन्तु] करण [में घञ् प्रत्यय द्वारा] व्युत्पत्ति [करने] से [यह] अलङ्कार शब्द उपमा आदि [प्रसिद्ध] अलङ्कार में [प्रयुक्त होता] है ॥ २ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि ग्रन्थकार यहाँ भावमेघञ् प्रत्यय करक अलङ्कार शब्द बनाना चाहते हैं । करणार्थक घञ् प्रत्यय से नहीं । इसीलिए उन्होंने अपने वृत्ति ग्रन्थ में इस अलङ्कार शब्द की सप्त रूप से मान में क्तिन् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न 'अलङ्कृति' शब्द से व्याख्या की है । अर्थात् ग्रन्थकार जब

स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् । १, १, ३ ।

॥ खल्वलङ्कारो दोषहानाद् गुणालङ्कारादानाच्च सम्पाद्यः कवेः ॥ ३ ॥

शास्त्रतस्ते । १, १, ४ ।

ते दोषगुणालङ्कारहानादाने । शास्त्रादस्मान् । शास्त्रतो हि ज्ञात्वा दोषान् जह्याद् गुणालङ्काराश्चाददीत ॥ ४ ॥

‘काव्य ग्राह्यमलङ्कारान्’ यह कहते हैं तब अलङ्कार शब्द से यह उपमादि अलङ्कारों का ग्रहण नहीं करते हैं अपितु काव्य के ‘सौन्दर्य’ को ही ग्रहण करते हैं । काव्य अपने सौन्दर्य के कारण ही उपादेय होता है यह उस सूत्र का अभिप्राय है । उपमादि के लिए जो अलङ्कार शब्द का प्रयोग होता है वह इससे भिन्न करणार्थक घञ् प्रत्यय से निष्पन्न होता है और वह ‘सौन्दर्य के साधन’, ‘सौन्दर्य के कारण’, इस अर्थ में प्रयुक्त होता है । उपमादि, काव्य सौन्दर्य के कारण अथवा साधन होने से अलङ्कार कहलाते हैं । वामन ने अपने प्रथम या द्वितीय सूत्र में जो अलङ्कार शब्द का प्रयोग किया है वह करणार्थक नहीं अपितु भावार्थक घञ् प्रत्यय से निष्पन्न शब्द का योग है । अतएव वहां अलङ्कार शब्द सौन्दर्य साधन का नहीं अपितु साक्षात् सौन्दर्य का वाचक है । अतएव जो साहित्यदण्डकार आदि अलङ्कार को कटक-कुण्डल स्थानीय मान कर उनको काव्य का स्वरूपाधायक मानने का खण्डन करते हैं उनका मत वामन के इस अभिप्राय के अनुरूप नहीं है ॥ २ ॥

वह [सौन्दर्य रूप अलङ्कार] दोषों के हान [परिहाराग] और गुण तथा [सौन्दर्य के साधनभूत करणार्थक प्रभिन्न उपमादि] अलङ्कारों के उपादान से होता है ।

और वह [काव्य सौन्दर्य रूप] अलङ्कार दोषों के [परिहाराग] हान तथा गुण एव [उपमादि] अलङ्कारों के उपादान से कवि सम्पादन कर सकता है ॥ ३ ॥

ये दोनों [दोषों का हान तथा गुणों का उपादान इस] शास्त्र से [हो सकते] हैं ।

ये दोनों अर्थात् दोष तथा गुणालङ्कार के हान और उपादान [दोषों का

किं पुनः फलमङ्गारवता काव्येन येनैतदर्थोऽयमित्याह—

काव्यं सत् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् । १, १, ५ ।

काव्यं सत् चारु, दृष्टप्रयोजनं प्रीतिहेतुत्वात् । अदृष्टप्रयोजनं कीर्तिहेतुत्वात् । अत्र श्लोकाः —

प्रतिष्ठा काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः ।

अकीर्तिवर्तिनी^१ त्वेव कुकवित्वविहम्बनाम् ॥ १ ॥

हाम तथा गुण और अलङ्कार का उपादान] इस [काव्यालङ्कार रूप] शास्त्र [के अध्ययन] से [ही] हो सकते हैं । शास्त्र से [दोषों के स्वरूप लक्षण आदि को] जान कर दोषों का परित्याग करे और गुण तथा अलङ्कारों [के स्वरूप, लक्षण आदि को] जान कर उन [का उपादान [अपने काव्य में यथोचित प्रयोग] करे । [इसी से काव्य सौम्य की सिद्धि होती है] ॥ ४ ॥

अलङ्कारयुक्त काव्य का क्या फल है जिससे इस [काव्य निरूपण] के लिए यह [काव्यालङ्कारसूत्र रूप ग्रन्थ, या उसके लिखने का यह प्रयास] किया गया है । [इस शब्दा के होने पर उसके उत्तर के लिए] यह कहते हैं ।

सुन्दर काव्य [कवि तथा पाठक दोनों की] प्रीति [आनन्द] का और [कवि के जीवन काल में तथा उसकी मृत्यु के बाद भी उसकी स्थायी] कीर्ति का हेतु होने से दृष्ट [ऐहिक] और अदृष्ट [आमुष्मिक दोनों प्रकार के] फल वाला होता है ।

सत् [अर्थात्] सुन्दर काव्य [कवि तथा पाठक दोनों की] प्रीति [आनन्द] का हेतु होने से दृष्ट [ऐहिक, लौकिक] फल वाला होता है । और [कवि के इस जीवन में तथा उसकी मृत्यु के बाद भी] कीर्ति का हेतु होने से अदृष्ट [आमुष्मिक] फल वाला होता है । इस विषय में [सप्रद रूप स्वलिखित] श्लोक [जिन् प्रकार] हैं । [उनमें काव्य का और हमारे इस ग्रन्थ का प्रयोजन भली प्रकार विदित होता है ।]

काव्य रचना की प्रतिष्ठा [सुन्दर काव्य की रचना ही] यश की प्राप्ति का मार्ग कहा जाती है । इसी प्रकार कुकवित्व की [अपहास्यता रूप] विहम्बना की अकीर्ति का मार्ग कहा जाता है ।

कीर्ति स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपरिचितः ।

अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशादूतिकाम् ॥ २ ॥

तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिञ्च निवर्हितुम् ।

काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवै ॥ ३ ॥ ५ ॥

विद्वान् लोय कीर्ति को जब तक ससार रहे तब तक [पावस्वभद्र-
दिवाकरी] रहने वाली तथा स्वर्ग रूप फल को देने वाली कहते हैं । और
अकीर्ति को आलोकहीन [अन्धकारमय] नरक स्थान की दूती कहते हैं ।

इसलिए कीर्ति को प्राप्त करने के लिए और अकीर्ति के विनाश के लिए
श्रेष्ठ कवियों को [हमारे इस ग्रन्थ] 'काव्यालङ्कारसूत्र' के अर्थ को भली प्रकार
हृदयङ्गम करना चाहिए । [इस 'काव्यालङ्कारसूत्र' के विषय को भली प्रकार
हृदयङ्गम करने के बाद काव्य रचना में प्रवृत्त होने वाले कवि, उत्तम काव्य की
रचना में सतर्प होकर, कीर्ति के भाजन बनेंगे और लुप्तविश्व के दोष से बच
सकेंगे । यह इस ग्रन्थ के प्रयोजन की स्थापना ग्रन्थकार ने की ।]

अपने ग्रन्थ के इस प्रथम अध्याय में वामन ने काव्य के प्रयोजनों का
निरूपण करते हुए 'कीर्तिप्रीतिहेतुत्वात्' कह कर मुख्यतः दो प्रकार के काव्य
प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है । सारे साहित्यशास्त्र में काव्य प्रयोजनों का यह
सबसे सक्षिप्त विवेचन कहा जा सकता है । वामन के पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती
सभी आचार्यों ने इससे अधिक विस्तार के साथ काव्य के प्रयोजनों का निरूपण
किया है । उनके पूर्ववर्ती भामह ने काव्य-प्रयोजनों का वर्णन करते हुए
लिखा है—

१ धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलामु च ।

कोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥

अर्थात् उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चारों
पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता को और कीर्ति तथा प्रीति अर्थात्
आनन्द को उत्पन्न करती है ।

भामह के इस श्लोक को उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने आदरपूर्वक

अपनाया है। और अपने ग्रन्थों में उसको उद्धृत किया है। इसके अनुसार कीर्ति और प्रीति के अतिरिक्त पुस्त्यार्थचतुष्टय और कला तथा व्यवहार आदि में नैपुण्य का लाभ भी काव्य का प्रयोजन है।

कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवितम्' में इसको और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने काव्य के प्रयोजनों का निरूपण करते हुए लिखा है—

१ धर्मादिसाधनोपाय सुकुमाररमोदित ।
 काव्यवन्द्योऽभिज्ञाताना हृदभाह्वद्विह्वलक ॥ ३ ॥
 व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्य व्यवहारिभिः ।
 गतकाव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाग्यते ॥ ४ ॥
 चतुर्वर्गफलस्वात्ममत्तिरूपं तद्विदाम् ।
 काव्यामृतमेतान्तरचमत्कारो विनश्यते ॥ ५ ॥

अर्थात् काव्य की रचना अभिज्ञात भेष्टकुल में उत्पन्न राजकुमार आदि के लिए कहा हुआ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की मिष्टि का सरल मार्ग है।

साकाव्य के परिज्ञान से ही, व्यवहार करने वाले सर प्रकार के लोगों को अपने-अपने व्यवहार का पूर्ण एव सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है।

[और सबसे बड़ी बात यह है कि] चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति से भी बढ़ कर सहृदयों के हृदय में चमत्कार उत्पन्न उत्पन्न होता है।

कुन्तक के इस काव्य प्रयोजन के निरूपण को काव्यप्रकाशकार श्री मम्मटाचार्य ने और भी अधिक व्यापक तथा स्पष्ट करके इस प्रकार लिखा है—

१ काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारवदे शिवेतरक्षतये ।
 सग्नः परनिवृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

इसमें काव्यप्रकाशकार ने काव्य के ६ प्रयोजन प्रतिपादन किए हैं। जिनमें से तीन को हम मुख्यतः करिनिष्ठ और शेष तीन को मुख्यतः पाठनिष्ठ प्रयोजन कह सकते हैं। 'यशसे', 'अर्थकृते' और 'शिवेतरक्षतये' अर्थात् यश और अर्थ की प्राप्ति तथा अजिष्ट का नाश यह तीनों प्रयोजन कवि के उद्देश्य

से और 'व्यवहारविदे', 'सद्यः परनिवृत्तये' तथा 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' यह तीन प्रयोजन पाठक के उद्देश्य से रखे गए हैं। इस प्रकार काव्य प्रयोजनों के निरूपण में उत्तरोत्तर विकास हुआ जान पड़ता है।

कीर्ति को काव्य का मुख्य प्रयोजन बतलाते हुए वामन ने जिस प्रकार के तीन श्लोक इस अध्याय के अन्त में लिखे हैं, उसी प्रकार के श्लोक भामह के 'काव्यालङ्कार' में भी पाए जाते हैं। जो इस प्रकार हैं—

'उपेयुषामपि दिव सन्निवन्धविधायिनाम् ।
 आश्न एव निरातङ्ग कान्त काव्यमय वपुः ॥ ६ ॥
 दृग्द्वि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी ।
 तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुध पदम् ॥ ७ ॥
 अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं श्येयसीमाभुवः स्थिते ।
 यश्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः ॥ ८ ॥
 सर्वथा पदमप्येक न निगाद्यमवद्यवत् ।
 विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनैव निन्द्यते ॥ ११ ॥
 अर्कचित्तमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।
 कुक्कित्य पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥ १२ ॥

अर्थात् उत्तम काव्यों की रचना करने वाले महाकवियों के दिवङ्गत हो जाने के बाद भी उनका सुन्दर काव्य शरीर [यावच्चन्द्रादिवाक्यैः] अक्षुण्ण बना रहता है।

और जब तक उसकी अनश्वर कीर्ति इस भूमण्डल तथा आकाश में व्याप्त रहती है तब तक वह सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देव पद का भोग करता है।

इसलिए प्रलय पर्यन्त स्थिर कीर्ति को चाहने वाले कवि को कवि के उपयोगी समस्त विषय का ज्ञान प्राप्त कर उत्तम काव्य रचना के लिए परम प्रयत्न करना चाहिए।

काव्य में एक भी अनुपयुक्त पद न आने पावे इस बात का ध्यान रखे। क्योंकि कुक्कित्य की रचना से कवि उणी प्रकार निन्दा का भाजन बनता है जिस प्रकार कुपुत्र को उत्पन्न करके।

इति श्री पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
 'शारीरे' प्रथमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ।
 इति प्रयोजनस्थापना ।

[कुकवि बनने से तो अकवि रहना अच्छा है । क्योंकि] अकवित्र से तो अधिक-से-अधिक व्याधि या दण्ड का भागी हो सक्ता है परन्तु कुकवित्व को तो विद्वान् लोग साक्षात् मृत्यु ही कहने हैं ।

वामन ने जिस प्रकार के तीन सग्रह श्लोक इस अध्यायकी समाप्ति में दिए हैं इसी प्रकार के श्लोक सारे ग्रन्थ में उन्होंने अनेक जगह उद्धृत किए हैं । इनमें से अधिकांश श्लोकों का यह पता नहीं चलता है कि उन्होंने कहा से लिए हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि यह श्लोक उनके स्वयं अपने ही बनाए हुए हैं । 'ध्वन्यालोक' तथा 'वन्दोक्तिजोषित' आदि में यह शैली देखी जाती है । इन ग्रन्थों के लेखकों ने भी अपने मूल ग्रन्थों की रचना कारिका रूप में करके उनकी वृत्ति भी स्वयं ही लिखी है । उन्होंने वृत्ति लिखते हुए अनेक स्थलों पर कुछ सग्रह श्लोक लिखे हैं । वह श्लोक कारिकाओं से भिन्न और वृत्ति ग्रन्थ के भाग हैं । कुन्तक ने इन श्लोकों को 'अन्तरश्लोक' शब्द से कहा है । 'ध्वन्यालोक' में 'सग्रह' नाम से उनका निर्देश हुआ है । इसी प्रकार वामन ने अपने सूत्रों पर स्थल 'वृत्ति' लिखते हुए स्थान-स्थान पर इस प्रकार के श्लोक लिखे हैं । इन्हीं को प्रायः 'अत्र श्लोका' आदि शब्दों से वामन ने निर्दिष्ट किया है । कहीं-कहीं इस प्रकार के श्लोक वामन ने भागवत के काव्यालङ्कार आदि प्राचीन ग्रन्थों से भी उद्धृत किए हैं । जहाँ उनका पता लग जाता है वहाँ तो वह प्राचीन श्लोक ही मानने होंगे, शेष श्लोक वामन के अपने श्लोक मानने होंगे । हमें लिए यह श्लोक भी वामन स्वचित्त 'संग्रह' रूप ही हैं ।

श्री पण्डितवरवामनविरचित 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में
 प्रथम 'शारीराधिकरण' में प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ।
 प्रयोजन की स्थापना समाप्त हुई ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिताया
 काव्यालङ्कारदीपिकाया हिन्दीव्याख्याया
 प्रथमे शारीराधिकरणे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः

शारीरत्नाग्नि प्रथमाधिकरणे

द्वितीयोऽध्याय

[अधिकारिचिन्ता रीतिनिश्चयश्च]

अधिकारिनिरूपणार्थमाह—

अरोचकिन सतृणाभ्यवहारिणश्च कवय । १, २, १ ।

शारीर नामक प्रथम अधिकरण में द्वितीय अध्याय

[अधिकारी तथा रीतियों का विचार]

प्रथम अध्याय में काव्य के प्रयोजन का निरूपण कर अब इस अध्याय में 'अनुबन्ध चतुष्टय' के द्वितीय अङ्ग 'अधिकारी' तथा तृतीय अङ्ग 'विषय' का निरूपण प्रारम्भ करते हैं। 'अधिकारी' के निरूपण के लिए ग्रन्थकार ने पहिले कवियों के दो भेद किए हैं, एक 'अरोचकी' और दूसरे 'सतृणाभ्यवहारी'। 'सतृणाभ्यवहारी' शब्द का मुख्यार्थ है—तिनके आदि के सहित खा जाने वाला। अविवेकी पुरुष के भोजन में यदि कुछ तिनका आदि पड़ जाय तो वह उसको चिन्ता किए बिना, अर्थात् रहीसही भोजन को भी खा जाता है। दूसरे प्रकार के वे लोग होते हैं जिनके भोजन में कूके की तो बात दूर रही, यदि नमक मिर्च मसाले आदि का भी तनिक सा ही विपर्यास या गड़बड़ हो जावे तो उनको वह भोजन भी पसन्द न आवे। ऐसे लोगों को 'अरोचकी' नाम से कहा जाता है। यह दो प्रकार की वृत्ति वाले लोग होते हैं। उनमें से एक को 'विवेकी' और दूसरे को 'अविवेकी' कहा जा सकता है। इसी आधार पर यहा ग्रन्थकार ने कवियों के भेद करते हुए 'विवेकी' कवियों के लिए 'अरोचकी' और 'अविवेकी' कवियों के लिए 'सतृणाभ्यवहारी' शब्दों का प्रयोग किया है। 'विवेकी' और 'अविवेकी' अर्थ में क्रमशः 'अरोचकी' तथा 'सतृणाभ्यवहारी' शब्दों का प्रयोग सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा के आधार पर किया गया है। अपने इस अभिप्राय को ग्रन्थकार ने वृत्तिग्रन्थ में स्पष्ट रूप से कह भी दिया है।

अधिकारी के निरूपण के लिए कहते हैं—

'अरोचकी' [विवेकी] और 'सतृणाभ्यवहारी' [अविवेकी] दो प्रकार के कवि होते हैं।

इह खलु द्वये कवय सम्भवन्ति । अरोचकश्च सत्तृणाभ्यवहारिणश्चेति । अरोचकिसत्तृणाभ्यवहारिशब्दौ गौणार्थौ । कोऽस्तावध । विवेकित्वमविवेकित्वञ्चेति ॥ १ ॥

यहाँ [इस सप्ताह में] दो प्रकार के कवि हो सकते हैं । [एक] 'अरोचकी' और [दूसरे] 'सत्तृणाभ्यवहारो' । यहाँ 'अरोचकी' और सत्तृणाभ्यवहारी' शब्द गौणार्थक [सादर्यमूलक गौणों लक्षणा से प्रयुक्त हुए] हैं । [इन शब्दों का विवक्षित] वह अर्थ कौन सा है ? [यह प्रश्न करके उसका उत्तर देते हैं] 'विवेकित्व' [अरोचकी पद का] और 'अविवेकित्व' [सत्तृणाभ्यवहारी शब्द का विवक्षित अर्थ है] ॥ १ ॥

प्रकृत ग्रन्थकार वामन ने यहाँ कवियों के 'अरोचकी' और 'सत्तृणाभ्यवहारी' यह दो भेद किए हैं । परन्तु उनका उत्तरवत्ता राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में किन्हीं अज्ञात आचार्यों 'मङ्गल' का उल्लेख करके 'भावकों' के यहाँ दो भेद किए हैं । 'भावक' शब्द का प्रयोग 'आलोचक' के अर्थ में किया गया है । राजशेखर ने दो प्रकार की प्रतिभा का वर्णन किया है, एक 'भावयित्री प्रतिभा' और दूसरी 'भावयित्री प्रतिभा' । 'कारयित्री प्रतिभा' कवि की काव्य-रचना में उपयोगी होती है और 'भावयित्री प्रतिभा' 'भावक' अर्थात् आलोचक को काव्य के गुण-दोष की परीक्षा में सहायता देती है । 'कवेर्यपकुर्वाणा कारयित्री' 'भावकर्योपकुर्वाणा भावयित्री । सा हि कवे. श्रममभिप्राय च भावयति ।' 'भावयित्री प्रतिभा' कवि के श्रम तथा अभिप्राय को भावित करती है । कवि के श्रम और अभिप्राय को 'भावित' करने के अभिप्राय में अंग्रेज़ी का 'अप्रीशिएशन' [appreciation] शब्द प्रयुक्त होता है ।

'कवि' तथा 'भावक' के सम्बन्ध में आलोचना करते हुए राजशेखर ने किन्हीं प्राचीन आचार्यों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कवि स्वयं भी भावक हो सकता है । परन्तु उन्होंने इस विषय में कालिदास की सम्मति प्रकट करते हुए लिखा है कि कालिदास के मत में कवि और भावक एक नहीं हो सकते । 'कवित्व' और 'भावकत्व' दोनों अलग-अलग रहते हैं । काव्यमीमांसा में उक्त विषय का निरूपण इस प्रकार किया गया है —

२सा च द्विधा । कारयित्री भावयित्री च । कवेर्यपकुर्वाणा कारयित्री ।

भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री । सा हि कवेः श्रममभिप्रार्थय च भावयति । तया खलु फलितं कवेर्वापास्तस्म्यथा सोऽवकेशी स्यात् । क पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कवि इत्याचार्या । तदाहुः ।

प्रतिभातारतभ्येन प्रतिष्ठा खलु भूरिधा ।

भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमा दशाम् ॥

न, इति कालिदासः । पृथगेव हि कवित्वाद् भावकत्वं भावकत्वाच्च कवित्वम् । स्वरूपभेदाद् विषयभेदाच्च । यदाहुः—

कश्चिद् वाच रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्ता

कल्याणी ते मतिन्मयथा विस्मय नस्तनोति ।

न ह्येकस्मिन्नतिशयवता सन्निपातो गुणाना

एक मूले कनकमुपलस्ततरीज्ञाक्षमोऽप्य ॥

ते च द्विधा, अरोचकिन सतृणाभ्यवहारिणश्च, इति 'मङ्गल' । कवयोऽपि भवन्ति, इति वामनीयाः । चतुर्धा इति यायावरीयः । मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च ।^१

इस उद्धरण की अन्तिम पक्तियों में राजशेखर ने यह दिखलाया है कि मङ्गलाचार्य के मत में 'भावक' दो प्रकार के होते हैं । एक 'अरोचकी' और दूसरे 'सतृणाभ्यवहारी' । उसके साथ ही वामन के मत का भी उल्लेख किया है कि वामन के मत में 'भावक' ही नहीं, कवि भी 'अरोचकी' और 'सतृणाभ्यवहारी' भेद से दो प्रकार के होते हैं । और यायावरीय अर्थात् राजशेखर के अपने मत में 'भावक' अर्थात् आलोचक दो की जगह चार प्रकार के होते हैं । 'मत्सरी' और 'तत्त्वाभिनिवेशी' यह दो भेद और जोड़ दिए हैं । हमने अपने 'साहित्यमीमांसा' नामक संस्कृत भाषा में कारिका रूप में लिखे हुए ग्रन्थ में इस विषय का वियेचन करते हुए कुछ कारिकाएँ इस प्रकार लिखी हैं—

^२प्रतिभा कारयित्री च भावयित्री तथैव च ।

काव्ये कलाया साहित्ये द्विधा सर्वत्र सम्मता ॥ १६ ॥

आद्या काव्यादिनिर्माणे द्विर्वा तद्विवेचने ।

कवि च भावन चैव योजयत्यात्मकर्मणि ॥ १७ ॥

पूर्वे शिष्या विवेकित्वात् । १, २, २ ।

आधुनिके तु साहित्ये शास्त्रमालोचनाह्वयम् ।
 यदर्थं दृश्यते कायं पुरासीद् भावकस्य तत् ॥ १८ ॥
 कवे ख्यातिरपख्यातिर्भावकादेव जायते ।
 तस्मात् स एव सर्वेष्वं तस्य प्राज्ञैः प्रकीर्तितः ॥ १९ ॥
 भावकानां पुनर्भेदा भूयान् सन्ति दर्शिताः ।
 हृदये चात्र गूढश्च मुख्यास्ते भावकाश्च यः ॥ २० ॥
 हृदये भवयेदर्थं शिष्या न प्रकाशयेत् ।
 हृदये भावकः सोऽयमुच्यते राजशेखरैः ॥ २१ ॥
 काव्यनिष्ठं गुरुं दोषं हृदये भावितं स्वयम् ।
 स तु वाग्भावकः प्रोक्तो वचसा यः प्रकाशयेत् ॥ २२ ॥
 भुल्लनेषादिचेष्टाभिरानन्दं हृदगतं पुनः ।
 अभिव्यनक्ति यः सोऽयं सम्मतो गूढभावकः ॥ २३ ॥
 गूढस्य भावकस्यैव वर्णनेऽन्यत्र 'विजिज्ञा' ।
 लिलेख स्तावकत्वेन श्लोकमेतन्मनोऽङ्कितम् ॥ २४ ॥

“कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमात्रेण पदेषु केवलम् ।
 वदद्भिरङ्गैः कुरोमविक्रियैर्जनस्य तृष्णीम्वतोऽयमञ्जलिः ॥”

एकेऽरोचकिनं परे 'मनृणाभ्यवहारिण' ।
 एव द्वैविध्यमाग्नान् कवेश्च भावकस्य च ॥ २५ ॥
 अरोचकिपदं चात्र विवेक्यैः प्रयुज्यते ।
 दोषऽरचितस्तदीयेव परस्य नाविरोकिनः ॥ २६ ॥
 सदोपमसि गृह्णन्ति सतृणाभ्यवहारिणः ।
 अविवेकप्रधानत्वात् तत्पदं तस्य बोधकम् ॥ २७ ॥

ग्रन्थकार वामन ने अचिन्तारिषों के निरूपण के लिए यहाँ कवियों के दो भेद किए हैं । इन दोनों में से प्रथम 'अरोचकी' अर्थात् 'विवेकी' कवि ही इस ग्रन्थ के अधिकारी हैं । 'मनृणाभ्यवहारी' अर्थात् 'अविवेकी' नहीं । इसी बात को अगले सूत्रों में कहते हैं ।

[उन दो प्रकार के कवियों में से] प्रथम [अरोचकी कवि ही] विवेकी होने से शिष्य पाने के 'अधिकारी' हैं ।

पूर्वे स्वल्बरोचकिन. शिष्या, शासनीया, विवेकित्वात् विवेचन-
शीलत्वात् ॥ २ ॥

नेतरे तद्विपर्ययात् । १, २, ३ ।

इतरे सतृणाभ्यवहारिणो न शिष्या. । तद्विपर्ययात् । अविवेचन-
शीलत्वात् । न च शीलमपाकर्तुं शक्यम् ॥ ३ ॥

• नन्वेवं न शास्त्र सर्वत्रानुग्राहि स्यात् । को वा मन्यते ? तदाह—

न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत् । १, २, ४ ।

न खलु शास्त्रमद्रव्येष्वविवेकिष्वर्थवत् ॥ ४ ॥

[पूर्वोक्त दो प्रकार के कवियों में से] प्रथम अर्थात् 'अरोचकी' शिष्या
के योग्य अर्थात् उपदेश के पात्र हैं, विवेकशील अर्थात् विवेचनशील
होने से ॥ २ ॥

दूसरे [अर्थात् 'सतृणाभ्यवहारी' अविवेकी कवि] उसके विपरीत होने
से [अर्थात् विवेचनशील न होने से शिष्या के अधिकारी] नहीं हैं ।

दूसरे अर्थात् 'सतृणाभ्यवहारी' उस [विवेचनशीलता] के विपरीत होने
से शिष्या के योग्य [काव्य शिष्या के अधिकारी] नहीं हैं । अविवेचनशील होने
से । [यदि यह कहा जाय कि शास्त्र के पढ़ने में उनकी अविवेकशीलता दूर हो
जायगी इसलिए उनको भी उपदेश देना चाहिए सो प्रत्यकार इसका खपदन
करते हैं कि] और स्वभाव दूर नहीं किया जा सकता । [इसलिए अनधिकारी
व्यक्ति के ग्रन्थ पढ़ने से भी उसका वह अविवेक दूर होना सम्भव नहीं है] ॥ ३ ॥

[प्रश्न] यदि ऐसा है तो [आपका] शास्त्र सबका अनुग्राहक नहीं
हुआ ?

[उत्तर] तो [इस शास्त्र को सब का अनुग्राहक] मानता कौन है ?
[अर्थात् हम स्वयं इस शास्त्र को सबका अनुग्राहक नहीं मानते हैं । यह केवल
विवेकशील अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है, सबके लिए नहीं ।] इसी
बात को [अगले सूत्र में] कहते हैं—

अनधिकारियों [अविवेकी, अयोग्य व्यक्तियों] में शास्त्र सफल नहीं
हो सकता है ।

[यह ही नहीं, कोई भी] शास्त्र अद्रव्य अर्थात् [अनधिकारी]
व्यक्ती पुरुषों में सफल नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥

इसलिए अन्य शास्त्रकारों ने भी अनधिकारी व्यक्ति को उद्देश देने का निषेध किया है। निष्कृतकार वास्क मुनि ने अधिकारी का निरूपण बड़े सुन्दर दग से करते हुए लिखा है—

१ विद्या इ वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेषनिःश्रेष्ठमस्मि ।
 अस्कायानृजवेऽयनाय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्थाम् ॥ १ ॥
 य आतृण्यवितयेन कर्णावद्वृत्तां कुर्यन्मृत सम्प्रयच्छन् ।
 तं मयेत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुहोत् कतमन्वनाह ॥ २ ॥
 अश्रिता ये गुरु नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
 यथैव ते न गुणेर्भोजनीयास्तथैव तान् भुनक्ति भुत तत् ॥ ३ ॥
 यमेव विद्या शुचिमप्रमत्त मेधाविन ब्रह्मचर्योपपन्नान् ।
 यस्ते न द्रुहोत् कतमन्वनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ ४ ॥

अभिप्राय यह है कि विद्या ब्राह्मण आचार्य के पास जाकर प्राप्ति करना करती है कि मेरी रक्षा करो। मैं ही तुम्हारी सम्पत्ति हूँ। सुभते, निन्दा करने वाले, कुटिल और तपोविहीन को मत दो जिससे मैं वीर्यवती, सबल और सशक्त बनूँ।

जो गुरु बिना कष्ट के विद्या रूप अमृत को प्रदान करके कानों को सत्य-तत्य से आप्लावित करते हैं, उन गुरु को ही माता-पिता समझना चाहिए और उसका द्रोह कभी भी नहीं करना चाहिए।

जो पढ़ाए हुए ब्राह्मण मन से, वचन से, या कर्म से गुरुओं का अनादर करते हैं, वह जैसे गुरु के लिए फलप्रद नहीं होते हैं उसी प्रकार उनका यह पढ़ना-लिखना उनके लिए सफल नहीं होता है।

जो अपने गुरु का किसी प्रकार द्रोह न करे उसी अपनी निधि की रक्षा करने वाले पवित्र, मेधावी, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले अधिकारी को मुझे प्रदान करना।

यह सभी विद्याओं के अधिकारी का सामान्य लक्षण है। भिन्न-भिन्न विद्या के अधिकारियों में कुछ और विशेष लक्षण होना भी आवश्यक है। जिनका निरूपण उन-उन शास्त्रों में विशेष रूप से किया जाता है।

इसी दृष्टि से प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में 'अनुबन्ध चतुर्थो' में 'अधिकारी'

निर्दर्शनमाह—

न कतक पङ्क्तुप्रसादनाय । १, २, ५ ।

न हि कतकं पयस इव पङ्क्तुप्रसादनाय भवति ॥ ५ ॥

अधिकारिणो निरूप्य रीतिनिरचयार्थमाह—

रीतिरात्मा काव्यस्य । १, २, ६ ।

रीतिर्नामैयमात्मा काव्यस्य शरीरस्येवेति वाक्यशेष ॥ ६ ॥

का निरूपण करना आवश्यक रखा गया है । इसी बात को स्पष्ट करने के लिए अगले सूत्र में उदाहरण देते हैं ।

[इसी विषय में] उदाहरण देते हैं—

निर्मली कीचड़ को स्वच्छ करने के लिए नहीं होती ।

निर्मली [वृक्ष विरोध का फल] जैसे जल को स्वच्छ कर देता है इस प्रकार कीचड़ को स्वच्छ करने में समर्थ नहीं होता है ।

कतक एक प्रकार का वृक्षविशेष होता है । उसके फल को पीस कर यदि गदले जल में डाल दिया जाय तो जल तुरन्त साफ हो जाता है । उसका मेल सब नीचे बैठ जाता है । उस कतक फल को हिन्दी में निर्मली कहते हैं ।

[निर्मली के डालने से मलिन जल तो स्वच्छ हो जाता है परन्तु यदि निरी कीचड़ में ही उसको डाल दिया जाय तो उससे कीचड़ तो स्वच्छ नहीं होगी । इसी प्रकार अज्ञानी किन्तु विवेकशील पुरुष तो इस शास्त्र के अध्ययन से ज्ञान-प्रसाद को प्राप्त कर सकता है परन्तु कीचड़ के समान सर्वथा विवेक रहित पुरुष को इस शास्त्र के पढ़ने से भी कोई लाभ नहीं होगा । इसलिए 'अरोचकी' अर्थात् 'विवेकशील' कवि ही इसके अधिकारी है । 'सतृष्णाम्यवहारी' अर्थात् अत्यन्त 'अविवेचनशील' पुरुष इस शास्त्र के अधिकारी नहीं हैं । यह ग्रन्थकार का अभिप्राय हुआ ॥ ५ ॥

इस प्रकार इस शास्त्र के अधिकारियों का निरूपण करके प्रतिपाद्य विषय का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार सबसे अधिक प्रिय विषय 'रीति' के निरूपण से अपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

अधिकारियों का निरूपण करके रीतियों के निम्नवत् वे लिख रहे हैं—

रीति [ही] काव्य की आत्मा है ।

यह रीति [ही] काव्य की आत्मा है । शरीर के समान यह वाक्य शेष समझना चाहिए ॥ ६ ॥

किं पुनरिवं रीतिरित्याह—

विशिष्टपदरचना रीति । १, २, ७ ।

विशेष्यती पदाना रचना रीति ॥ ७ ॥

कोऽसौ विशेष इत्याह—

विशेषो गुणात्मा । १, २, ८ ।

वक्ष्यमाणगुणरूपा विशेषः ॥ ८ ॥

सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति । १, २, ९ ॥

सा चेय रीतिस्त्रेधा भिद्यते । वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली चेति ॥ ९ ॥

जैसे शरीर में रहने वाला उसका जीवनाधायक तत्त्व आत्मा है इसी प्रकार काव्य में रहने वाला उसका जीवनाधायक तत्त्व 'रीति' है । काव्य में शब्द तथा अर्थ शरीरस्थानीय है । और वामन के मत में 'रीति' आत्मस्थानीय है । साहित्यदर्पणकार आदि अन्य लोगों ने 'रीति' को अवयवस्थान के समान माना है । अर्थात् जैसे शरीर में अङ्गों की गठन है [आस्र आदि अवयव स्थान-विशेष पर बनाए गए हैं], इसी प्रकार काव्य की रचना शैली रूप 'रीतिया' हैं । इसलिए वे लोग 'रीति' को काव्य की आत्मा न मान कर 'रस' को काव्य की आत्मा मानते हैं । परन्तु वामन के मत में काव्य का चमत्कार 'रीति' में ही निहित है । इसलिए वह 'रीति' को ही काव्य की आत्मा मानते हैं ॥ ६ ॥

[प्रश्न] यह रीति क्या [पदार्थ] है यह कहते हैं—

[उत्तर] विशेष प्रकृत की पद-रचना [शैली] को रीति कहते हैं ।

विशेष युक्त पद-रचना रीति है ॥ ७ ॥

वह विशेष [जिसमें युक्त पदरचना को रीति कहते हैं] तीन सा है, यह बतसाने हैं—

[विशिष्ट पद रचना में] विशेष गुण [के अस्तित्व] स्वरूप है ।

विशेष [ता] गुण रूप है—त्रिन [गुणों] का वर्णन आगे किया जायगा ॥ ८ ॥

वह [रीति] वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली इस तरह तीन प्रकार की है ।

उस रीति के तीन प्रकार के भेद होते हैं—(१) वैदर्भी, (२) गौडीया, और (३) पाञ्चाली ॥ ९ ॥

निदर्शनमाह—

न कतक पङ्क्तप्रसादनाय । १, २, ५ ।

न हि कतकं पयस इव पङ्क्तप्रसादनाय भवति ॥ ५ ॥

अधिकारिणो निरूप्य रीतिनिश्चयार्थमाह—

रीतिरात्मा काव्यस्य । १, २, ६ ।

रीतिर्नामियमात्मा काव्यस्य शरीरस्येवेति चाव्यशेषः ॥ ६ ॥

का निरूपण करना आवश्यक रखा गया है । इसी बात को स्पष्ट करने के लिए अगले सूत्र में उदाहरण देते हैं ।

[इसी विषय में] उदाहरण देते हैं—

निर्मली कीचड़ को स्वच्छ करने के लिए नहीं होती ।

निर्मली [वृक्ष विशेष का फल] जैसे जल को स्वच्छ कर देता है इस प्रकार कीचड़ को स्वच्छ करने में समर्थ नहीं होता है ।

कतक एक प्रकार का वृक्षविशेष होता है । उसके फल को पीस कर यदि गदले जल में डाल दिया जाय तो जल तुरन्त साफ हो जाता है । उसका मेल सब नीचे बैठ जाता है । उस कतक फल को हिन्दी में निर्मली कहते हैं । [निर्मली के डालने से मलिन जल तो स्वच्छ हो जाता है परन्तु यदि निरी कीचड़ में ही उसको डाल दिया जाय तो उससे कीचड़ तो स्वच्छ नहीं होगी । इसी प्रकार अज्ञानी किन्तु विवेकशील पुरुष तो इस शास्त्र के अध्ययन से ज्ञान-प्रसाद को प्राप्त कर सकता है परन्तु कीचड़ के समान सर्वथा विवेकरहित पुरुष को इस शास्त्र के पढ़ने से भी कोई लाभ नहीं होगा । इसलिए 'अरोचकी' अर्थात् 'विवेकशील' कवि ही इसके अधिकारी है । 'सतृणाभ्यवहारी' अर्थात् अत्यन्त 'अविवेचनशील' पुरुष इस शास्त्र के अधिकारी नहीं हैं । यह ग्रन्थकार का अभिप्राय हुआ ॥ ५ ॥

इस प्रकार इस शास्त्र के अधिकारियों का निरूपण करके प्रतिपाद्य विषय का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार सबसे अधिक प्रिय विषय 'रीति' के निरूपण से अपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

अधिकारियों का निरूपण करके रीतियों के निश्चय के लिए कहते हैं—

रीति [ही] काव्य की आत्मा है ।

यह रीति [ही] काव्य की आत्मा है । शरीर के समान यह वाक्य जेप समझना चाहिए ॥ ६ ॥

किं पुनरियं रीतिरित्याह—

विशिष्टपदरचना रीति । १, २, ७ ।

विशेष्यती पदाना रचना रीति ॥ ७ ॥

कोऽसी विशेष इत्याह—

विशेषो गुणात्मा । १, २, ८ ।

वक्ष्यमाणगुणरूपा विशेषः ॥ ८ ॥

सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति । १, २, ९ ॥

सा चेयं रीतिस्त्रेधा भिद्यते । वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली चेति ॥ ९ ॥

जैसे शरीर में रहने वाला उसका जीवनाधायक तत्त्व आत्मा है इसी प्रकार काव्य में रहने वाला उसका जीवनाधायक तत्त्व 'रीति' है । काव्य में शब्द तथा अर्थ शरीरस्थानीय है । और धामन के मत में 'रीति' आत्मस्थानीय है । साहित्यदर्पणकार आदि अन्य लोगों ने 'रीति' को अवयवस्थान के समान माना है । अर्थात् जैसे शरीर में अङ्गों की गठन है [आख आदि अवयव स्थान-विशेष पर बनाए गए हैं], इसी प्रकार काव्य की रचना शैली रूप 'रीति' है । इसलिए वे लोग 'रीति' को काव्य की आत्मा न मान कर 'रस' को काव्य की आत्मा मानते हैं । परन्तु धामन के मत में काव्य का चमत्कार 'रीति' में ही निहित है । इसलिए वह 'रीति' को ही काव्य की आत्मा मानते हैं ॥ ६ ॥

[प्रश्न] यह रीति क्या [पदार्थ] है यह कहते हैं—

[उत्तर] विशेष प्रकार की पद-रचना [शैली] को रीति कहते हैं ।

विशेष युक्त पद-रचना रीति इ ॥ ७ ॥

यह विशेष [जिसमें युक्त पदरचना का रीति कहते हैं] तीन सा है, यह बतलाते हैं—

[विशिष्ट पद रचना में] विशेष गुण [के अन्तिम] स्वरूप है ।

विशेष [ता] गुण रूप है—विन [गुणों] का वर्णन आगे किया जायगा ॥ ८ ॥

यह [रीति] वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली इस तरह तीन प्रकार की है ।

उस रीति के तीन प्रकार के भेद होते हैं—(१) वैदर्भी, (२) गौडीया, और (३) पाञ्चाली ॥ ९ ॥

किं पुनर्देशवशाद् द्रव्यगुणोत्पत्तिः काव्याना येनार्य देशविशेष-
व्यपदेशः ? नैवम् ।

यदाह—

विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या । १, २, १० ।

त्रिदर्भगौडपाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वात्
तत्समाख्या । न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम् ॥ १० ॥

तासा गुणभेदाद् भेदमाह—

समग्रगुणा वैदर्भी । १, २, ११ ।

समग्ररोज प्रसादप्रमुखैर्गुणैरुपेता वैदर्भी नाम रीति ।

[प्रश्न] क्या काव्यों के 'द्रव्य गुण' [विशेषता] की उत्पत्ति देश
[विशेष] के कारण होती है जिसके कारण [रीतियों में] यह देश विशेष
[विदर्भ, गौड, पाञ्चाल आदि] से [उनका] नामकरण किया है ?

[उत्तर] यह बात नहीं है ।

देश विशेष से 'द्रव्य गुण' अर्थात् काव्य के गुणों की उत्पत्ति नहीं
होती है । और न इस कारण रीतियों के नाम देशों के नाम पर रखे गए हैं ।
अपितु उन उन देशों के लोगों ने उस-उस विशेष प्रकार की रचना
शैली का आविष्कार किया है इसलिए उन देशों के नाम पर 'रीतियों' का
नामकरण किया गया है । जैसा कि आज कल भी बहुत से वैज्ञानिक आविष्कारों
के नाम उनके आविष्कारकों के नाम पर रखे गए हैं ।

जैसा कि कहते हैं —

विदर्भादि [देशों] में आविष्कृत [देखी गई] होने से [रीतियों की
देशों के नामों से] वह सजाए रखी गई है ।

विदर्भ, गौड तथा पाञ्चाल [देशों] में वहाँ के कवियों द्वारा वास्तविक
रूप में [उपलब्ध, आविष्कृत या] प्रयुक्त होने से वह [उस प्रकार के] नाम
रखे गये हैं । [वैसे] देशों से काव्य का कोई उपकार नहीं होता है, [जिससे
किसी देश के नाम पर रीतियों का नामकरण किया जाता] ॥ १० ॥

उन [रीतियों] का गुणों के भेद से भेद [होता है यह] कहते हैं—
समस्त गुणों से युक्त वैदर्भी [रीति] है ।

समस्त [अर्थात् दश शब्द गुण तथा दश अर्थ गुण] योज प्रसाद

अत्र श्लोको—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणमुष्मिना ।
विषस्त्रीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥

तामेता कवयः स्तुवन्ति—

सति चकतरि स्तुत्यर्थे मतिं गच्छानुशामने ।
अस्ति तन्न विना येन परिभवति वाङ्मधु ॥

उदाहरणम्—

आदि से युक्त रीति का नाम वैदर्भी रीति है । इस [वैदर्भी रीति के निरूपण] में निम्न दो श्लोक हैं—

[आगे कहे जाने वाले काव्य —] दोषों की मात्रा में भी रहित और समस्त गुणों से युक्त वाणी के स्वर के समान मधुर [लगने वाली] वैदर्भी रीति मानी जाती है ।

उस [वैदर्भी रीति] की कवि लोग इस प्रकार स्तुति करते हैं—

[मुकवि रूप योग्य] वक्ता, [सुन्दर वर्य विषय रूप] अर्थ, और शब्दों पर अधिकार [शब्दकोष] रहते हुए भी जिस [विशिष्ट रचना शैली] के बिना वाणी का मधुर रस लक्षित नहीं होता है [वह ही वैदर्भी रीति है] ।

[महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक का निम्न पद्य इस वैदर्भी रीति का सुन्दर] उदाहरण है—

आज हम राजा दुष्यन्त वन में मृगया के लिए भेजे जायेंगे हमलिय वन में सब प्राणी निश्चिन्त होकर आनन्द मनाए । इस भाव को प्रकट करते हुए राजा दुष्यन्त ने यह श्लोक कहा है । इस श्लोक में आए हुए महिष, मृग और वराह शब्द यद्यपि पुल्लिङ्ग में ही प्रयुक्त हुए हैं परन्तु उनसे उम जाती के नर और मादा दोनों का ग्रहण किया जायगा । 'महिषश्च महिषाश्च इति महिषाः' इस विग्रह में 'पुमान् स्त्रिया' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार एकशेष से पुल्लिङ्ग का प्रयोग किया गया है ।

अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक ॥ राजा दुष्यन्त शिकार खेलने के लिए निकले हैं । उसी प्रसङ्ग में वह महर्षि कण्व के आश्रम में जा पहुँचते हैं । वहां महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में उनकी पोष्यपुत्री नवयौवना शकुन्तला को देखकर

‘गाहन्ता महिषा’ निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
 द्यावावद्वकटम्बकं मृगकुलं रोमन्यमभ्यस्यतु ।
 विस्रब्ध कुरुतां वराहविततिर्मुस्नाच्चति पल्वले
 विश्रान्ति लभतामिदं च निथिलज्याबन्धमम्मदनुः ॥ ११ ॥

वह उस पर मोहित हो जाते हैं । और अन्य सब भूल कर उनकी प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उड़ते हैं । दूसरे दिन उनके सेनापति आदि उनको शिकार के लिए बहुत कुछ प्रोत्साहित करते हैं । परन्तु उनका मन तो वहाँ और है । बहुत बहने-मुनने पर भी वह मृगया के लिए उद्यत नहीं होते हैं । उन्नी घातालाप के प्रसङ्ग में उन्होंने यह श्लोक कहा है जिसका भाव यह है कि आज वन के सब प्राणी आराम करें और हमारा यह वनुष भी विश्राम करे । श्लोक का अर्थ इस प्रकार है ।

[आज] भैंसे मीनों में बार-बार तावित किए हुए कुपुं के समीपवर्ती पोखरों में जल में लूब डुबकी लगावे । [भैंसों और भैंसियों का यह स्वभाव है कि यदि उन्हें पोखरों का जल मिल जावे तो वह डममें घुस जाते हैं । मुख को छोड़ कर शेष सारा शरीर पानी में डुबा लेते हैं । इससे शायद उनको मक्खियों के कट से छुटकारा मिल जाता है । परन्तु फिर भी उनका मुख भाग जो ऊपर रह जाता है डममें मक्खियाँ लगती ही हैं । उस समय उन मक्खियों के उड़ाने के लिए वह जोर से सिर हिलाते रहते हैं, जिससे उनके सोंग पानी में उगते रहते हैं । इसी दरप को कवि ने स्वभावोक्ति से ‘गाहन्ता महिषा निपानमलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितम्’ इन शब्दों में लिखा है ।] मृगों [मृगों और मृगियों] का समूह [वृक्षों की शीतल] द्यावा में मुण्ड बना कर [निश्चित होकर बैठ कर] बार बार जुगाली करे । [जड़की] सूत्रों की पत्ति पल्लव [छोटे लालाच के किनारे] पर नागरमोथा [की जड़ों] को निष्पिण्ठ होकर खोदें [और खावें । नागरमोथा एक प्रकार की घास होती है । इसकी जड़ को मूषर अपनी धूनी से खोद कर बड़े चाव से खाता है । इसी का वर्णन यहाँ कवि ने किया है । यह औषधि के रूप में प्रयुक्त होती है और हवन सामग्री में भी पड़ती है ।] और प्रयत्ना डीली कर देने से आज हमारा यह वनुष भी विश्राम करे ।

कालिदास के इस श्लोक को वामन ने समस्त गुणों से युक्त वैदर्भी रीति

१ अभिज्ञान शाकुन्तलम् २, ६ ।

२ ‘आह्वयतु निपान स्यादुपकूपजलाशये’ । इत्यमरः ।

श्रोज कान्तिमती गौडीया । १, २, १२ ।

श्रोज कान्तिश्च विद्येते यस्यां सा श्रोज कान्तिमती, गौडीया नाम रीतिः । माधुर्यसौकुमार्ययोरभावात् समामबहुला अन्युल्लक्षणपदा च । अत्र श्लोकः—

के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है । वामन के अनुसार (१) श्रोज, (२) प्रसाद, (३) माधुर्य, (४) सौकुमार्य, (५) उदास्ता, (६) श्लेष, (७) कान्ति, (८) समाना, (९) समाधि और (१०) अर्थ व्यक्ति ये दस प्रकार के शब्द गुण तथा अर्थगुण माने गए हैं । इस श्लोक में यथासम्भव इन सभी गुणों का अस्तित्व पाया जाता है । जैसे कि 'छायावदकदम्बक' और 'शिथिलज्वाबन्धम्' इन पदों में बन्ध के गाढ़ होने से 'बन्धवैकट्य लक्षण' (१) 'श्रोज' गुण विद्यमान है । 'छायावदकदम्बक मृगकुल' इसमें बन्ध के गाढ़त्व तथा शैथिल्य के कारण (२) 'प्रसाद' है । 'महिषा निपानसलिलम्' में कोमल रचना के कारण (३) श्लेष है । 'गाहन्ता महिषा' इन पदों में जिम नम से पद्य का प्रारम्भ हुआ है उसी शैली से पद्य की समाप्ति भी हुई है इसलिए 'मार्गाभेद' रूप (४) 'समता' गुण भी उपस्थित है । 'गाहन्ता' में आरोह और 'महिषा' में एक प्रकार का अवरोह होने से 'आरोहावरोहक्रम' रूप (५) 'समाधि' गुण पाया जाता है । 'शृङ्गेर्मुहुस्ताडितम्' इसमें 'पृथक्पदत्व' से (६) माधुर्य गुण, 'शेमन्धमग्न्ययै' इसमें कोमल बन्ध के कारण (७) सौकुमार्य, 'शिथिलज्वाबन्धमत्सङ्गुः' में बन्ध के विकटत्व के कारण (८) उदास्ता, पदों के उज्ज्वल होने से (९) कान्ति, और पदों के स्वार्थक होने से (१०) अर्थव्यक्ति गुण पाया जाता है । इन प्रकार इस पद्य में प्रायः समस्त गुणों के उपस्थित होने से वामन ने उसे 'समप्रगुणा वैदर्भा' रीति के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है ॥ १२ ॥

वैदर्भा रीति के बाद क्रमप्राप्त गौडी रीति का लक्षण करते हैं ।

'श्रोज' और 'कान्ति' [नामक केवल दो गुणों] से युक्त 'गौडी' [रीति] है ।

[पूर्वोक्त दस गुणों में से केवल दो] श्रोज और कान्ति जिस में पाए जायें वह श्रोज कान्तिमती गौडीया रीति [कही जाती] है । 'माधुर्य' तथा 'सौकुमार्य' [गुणों] के न होने से [यह गौडी रीति] समासबहुल और अत्यन्त उग्र पदों वाली होती है । [जैसा कि] उसके विषय में [निम्न] श्लोक [से प्रतीत होता] है ।

समस्तात्युद्धतपदामोजःकान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणा ॥

उदाहरणम्,

‘दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
प्रङ्कारध्वनिरार्णवालचरितप्रस्तावनाद्विण्डिम ।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥ १० ॥

गुणों से समन्वित रीति को रीति [शब्द] के परिचित ‘गौडीया’ रीति कहते हैं ।

[गौडीया रीति का] उदाहरण [निम्न श्लोक है]

महाकवि भवभूतिनिर्मित ‘महावीरचरितम्’ नाटक के प्रथमाङ्क में रामचन्द्र के द्वारा शिव-धनुष के तोड़ दिए जाने के बाद यह लक्ष्मण की उक्ति है । लक्ष्मण यह रहे हैं कि रामचन्द्र जी के तोड़े हुए धनुष का भयङ्कर शब्द अब तक भी शान्त नहीं हुआ है । श्लोक का शब्दार्थ इस प्रकार है—

[श्री रामचन्द्र जी के द्वारा अनायास] हाथ में उठाए हुए [चन्द्रशेखर] शिव जी के धनुष के दण्ड के टूटने से उत्पन्न हुआ और आर्घ्य [रामचन्द्र जी] के बाल चरित्र रूप [उनके मावी जीवन की] प्रस्तावना का बहुघोषक, टङ्कारध्वनि [उस भीषण टङ्कार के कारण] एतदम काव उठने [द्राक् कटिति पर्यस्ते चञ्जिते] बाले [वृक्षी तथा आकाश रूप छोटे-छोटे] कपाल-सपुटों में सीमित [छोटे से] ब्रह्माण्ड रूप भाण्ड [बड़ा भादि रूप वर्तन] के भीतर घूमने के कारण और अधिक भयङ्करता को प्राप्त होकर अब तक भी शान्त नहीं हुआ है । यह आश्चर्य है ।

इसमें बन्व की गाढ़ता और पदों की उज्ज्वलता के कारण ‘ओज’ और ‘कान्ति’ नामक दोनों गुण स्पष्ट हैं । इसलिए ग्रन्थकार ने इसे ‘गौडी’ रीति के उदाहरण रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है ॥ १२ ॥

इसके बाद क्रमप्राप्त तीसरी पाञ्चाली रीति का निरूपण करते हैं ।

माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली । १, २, १३ ।

माधुर्येण सौकुमार्येण च गुणेनोपपन्ना पाञ्चाली नाम रीतिः ।
ओज.कान्त्यमावादनुल्यखपदा विच्छाया च । तथा च श्लोक —

अश्लिष्टश्लवभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम् ।

मधुरा सुकुमाराश्च पाञ्चाली कवयो विदुः ॥

यथा,

‘पामेऽस्मिन् पयिकाय नैव वसति पान्थाधुना दीयते,
रात्रावत्र विहारमवदपतले पान्थ प्रसुप्तो युवा ।
तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रिया तत्कृतम्,
येनाद्यापि करद्वददपतनाशङ्की जनस्तिष्ठति ॥

[ओज और कान्ति के विपरीत] ‘माधुर्य’ और ‘सौकुमार्य’ [रूप दो गुणों] से युक्त पाञ्चाली रीति होती है ।

‘माधुर्य’ तथा ‘सौकुमार्य’ गुणों से युक्त ‘पाञ्चाली’ नामक रीति होती है । [उसमें] ओज और कान्ति का अभाव होने से उनके वह [गायत्व रूप ‘ओज’ से विहीन] सुकुमार और [कान्ति का अभाव होने से] विच्छाया [कान्तिविहीन] होते हैं । जैसा कि [उस ‘पाञ्चाली’ के विषय में मित्र-लिखित पाष्ठीन] श्लोक है—

गादग्रन्थ मे रहित [ओजोविहीन] आर शिथिल [अनुगुञ्ज] पद वाली, [गौदी रीति के विषय भूत, ‘ओज’ के विपरीत] ‘माधुर्य’ और [कान्ति के विपरीत] ‘सौकुमार्य’ से युक्त सम्पूर्ण सौन्दर्य से शोभित ‘रीति’ को कवि ‘पाञ्चाली’ रीति कहते हैं ।

जैसे —

हे पथिक इस ग्राम में अब पथिकों को [रात्रि में ठहरने के लिए] स्थान नहीं दिया जाता है । [क्योंकि एक बार ऐसे ही किसी पथिक का यहाँ ठहरा लिया था, परन्तु] रात्रि में यहाँ विहार [बौद्ध मठ] के मण्डप में नीचे सोते हुए उम [नवयुवक पथिक] ने [घरा अतु की रात्रि में] मेव के गर्जने पर डक कर [उसके कारण] अपनी प्रिया को स्मरण करके वह

एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्त्रिव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठित-
मिति ॥ १३ ॥

तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् । १, २, १४ ।

[कर्म] किया [जो कहने योग्य भी नहीं है और] जिसके कारण यहा
[ग्राम] के लोग [पथिक के] बध के दृष्ट की शक्ता से भयभीत हैं ।

करक शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'शव' और 'तप्तृत' से पथिक की मृत्यु
सूचित होती है, ऐसी व्याख्या की है । अर्थात् घर्ष की रात्रि में मेवों के गर्जन को
सुनकर और अपनी प्रिया का स्मरण कर वह पथिक युवक इतना दुःखी और
उत्तेजित हुआ कि दुःख के आवेग में उसकी मृत्यु हो गई । प्रातःकाल उसका
शव पड़ा मिला । जिसके कारण यहा लोग यह समझने लगे कि इस पथिक की
हत्या का दोष हमारे लिए पड़ेगा कि गाव वालों ने इसे मारकर इसका घन आदि
छीन लिया है । इसलिए इसका दण्ड गाववालों को भोगना पड़ेगा । इस भय
से ग्राम के लोग आज तक भयभीत हैं । इसलिए तब से इस गाव में रात्रि में
किसी पथिक को ठहरने की अनुमति न दिए जाने का नियम बना लिया है ।

किसी गृहस्थ के महा कोर् पथिक रात्रि को ठहरने के लिए स्थान भागने
गया । उसके उत्तर में गृहपति, गृहस्वामिनी अथवा कुलशुद्धा का यह वचन उस
दूसरे पथिक के प्रति कहा गया है ।

इस पद्य में माधुर्य और सौकुमार्य गुण स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं और उनके
कारण सम्पूर्ण पद्य सौन्दर्ययुक्त प्रतीत होता है इसलिए ग्रन्थकार ने इसे
'पाञ्चाली रीति' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है ।

इन तीन रीतियों के भीतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है
जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र प्रतिष्ठित होता है ॥ १३ ॥

इस प्रकार रीतियों का निरूपण करने के बाद उनके आपेक्षिक महत्त्व
तथा उपादेयता के तारतम्य का प्रश्न स्वयं उपस्थित हो जाता है । क्या ये
तीनों रीतियां समान महत्त्व की हैं अथवा उनकी उपादेयता में तारतम्य है । इस
प्रश्न का उत्तर देने के लिए ग्रन्थकार अगला प्रकरण प्रारम्भ करते हैं ।

उनमें से प्रथम [अर्थात् वैदर्भी रीति] समस्त [अर्थात् दशों] गुणों
से युक्त होने के कारण प्राप्य है । [शेष दोनों उतनी ग्राह्य नहीं हैं] ।

तासां तिसृणा रीतीना पूर्वा वैदर्भी ग्राह्या गुणानां साक-
ल्यात् ॥ १४ ॥

न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् । १, २, १५ ।

इतरे गौडीयपाञ्चाल्यौ न ग्राह्ये, स्तोकगुणत्वात् ॥ १४ ॥

उन तीनों रीतियों में से प्रथम अर्थात् वैदर्भी [रीति सबसे अधिक]
ग्राह्य है, सम्पूर्ण [दशों] गुणों से युक्त होने के कारण ॥१४॥

अन्य दोनों [गौड़ी तथा पाञ्चाली रीतिया] अल्प गुण [केवल दो-दो
गुण] वाली होने से [उतनी] ग्राह्य नहीं हैं।

दूसरी गौड़ी और पाञ्चाली [यह दोनों रीतियां] स्वल्पगुण वाली
[केवल दो दो गुण वाली] होने से [उतनी] ग्राह्य नहीं हैं ॥१५॥

इन तीनों रीतियों में से वामन ने केवल वैदर्भी को ग्राह्य और शेष
दोनों को अग्राह्य अथवा वैदर्भी की अपेक्षा अल्पग्राह्य कहा है। यह मत केवल
उनका ही नहीं है अपितु अन्य अनेक विद्वद्दस्त और प्रसिद्ध कवियों ने भी उनके
इस मत का समर्थन किया है, अथवा कम-से-कम वैदर्भी रीति की अत्यधिक
प्रशंसा की है। 'नवसाहस्राङ्गचरितम्' काव्य के रचयिता श्री पद्मगुप्त पद्मिल ने
वैदर्भी रीति को जहाँ सबसे उत्तम मार्ग कहा है वहाँ उसका अनुसरण तलवार की
धार पर चलने के समान कठिन बताया है। उन्होंने लिखा है—

‘तत्त्वस्थश्चस्ते कवयः पुराणा श्रीभर्तृमेष्टप्रमुखा जयन्ति ।

निस्त्रिंशधारासदृशेन वेपा वैदभमार्गेण गिर प्रवृत्ता ॥

‘विक्रमाङ्कदेवचरितम्’ के रचयिता महाकवि ‘विल्हम्’ ने भी वैदर्भी रीति
की अत्यन्त प्रशंसा करते हुए लिखा है—

‘अनभ्रवृष्टि अवयामृतस्य सरस्यतीविभ्रमजन्मभूमि ।

वैदर्भीरीति कृतिनामुदेति सौभाग्यलामप्रतिभु पदानाम् ॥

महाकवि नीलकण्ठ ने अपने ‘नलचरितम्’ नामक नाटक में वैदर्भी रीति
की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

‘आदि. स्वादुषु या परा कवयता काष्ठा यदारोहरे,

या ते नि श्वसित नवायि च रसा यत्र स्वदन्तेतराः

१ नवसाहस्राङ्गचरितम् १, ५ ।

२ विक्रमाङ्कदेवचरितम् १, ६ ।

३ नलचरितम् नाटक अङ्क २

पाञ्चालीति परम्परापरिचितो वादः कपीना पर,
वैदर्भा यदि सैव वानि किमितः स्वर्गोऽपवर्गोऽपि वा ॥

नीलकण्ठ के मत में 'वैदर्भी' रीति स्वाहु, आह्लाददायक वस्तुओं में सबसे प्रथम है। उसका अवलम्बन करने से कवियों को अपने कवित्व की पराकाष्ठा प्राप्त होती है। 'या ते निश्चितम्' जो वैदर्भी तैरी अर्थात् सरस्वती की प्राण स्वरूप है जिसमें नवों रसों का आस्वादन हो सकता है। कुछ लोग 'पाञ्चाली' को भी रीति कहने हैं परन्तु यह उन कवियों का केवल परम्परापरिचितवादमात्र [भेदचाल] है, उसमें तथ्य नहीं है। वास्तव में तो वैदर्भी रीति ही इन गुणों से युक्त है। यदि वाणी में उस वैदर्भी रीति का राज्य है तो फिर उसके नामने स्वर्ग या अपवर्ग में भी कुछ तत्व नहीं हैं।

महाकवि 'श्रीहर्ष' परिश्रुत कवि थे। उनकी कविता कठिन और शास्त्र-चर्चा बहुल है। परन्तु वह भी अपने को 'वैदर्भी' के पाश में फसा हुआ पाते हैं। जैसे वैदर्भा क्षमयन्ती ने अपने सौन्दर्यादि गुणों से नैषध नल को अपनी ओर खींच लिया था इसी प्रकार 'समग्रगुणसम्पन्ना' वैदर्भी रीति ने महाकवि श्रीहर्ष के नैषध काव्य को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है। इस रहस्य को श्रीहर्ष श्लेष मुख से स्वयं ही स्वीकार करते हुए नैषध काव्य में लिखते हैं—

१ धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यथा समाकृत नैषधोऽपि ।

इतः स्तुति का खलु चन्द्रिकाया यदभिव्यप्युत्तरलीकरोति ॥

नैषध के श्लेषमय चौदहवें सर्ग में भी श्रीहर्ष ने श्लेष से वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

१ गुणानामास्थानी नृपतिलकनारीति विदिता

रसस्पीतामन्त तथ च तव वृत्ते च कवितु* ।

भवित्री वैदर्भोमधिकमधिकण्ठ रचयितु

परीरम्भक्रीडा चरणशरणामन्वहमथम् ॥

अधिक क्या इस अध्याय के अन्त में स्वयं ग्रन्थकार काभल ने भी वैदर्भी रीति की प्रशंसा में दो प्राचीन श्लोक उद्धृत किए हैं। फलतः इस वैदर्भी रीति के सामने अन्य दोनों रीतियाँ हय अर्थात् अल्प महत्व की हैं यह वामन का अभिप्राय है। जिसे उन्होंने इन दोनों मूर्तों में अभिव्यक्त किया है ॥ १५ ॥

* नैषध ३, ११६ ॥

* नैषध १४, ६१ ॥

तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके ॥ १, २, १६ ॥

तस्या वैदर्भ्या एवारोहणार्थमितरयोरपि रीत्योरभ्यास इत्येके
मन्यन्ते ॥ १६ ॥

तच्च न, अतत्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पत्ते ॥ १, २, १७ ॥

न ह्यतत्त्व शील्यतस्तत्त्वं निष्पद्यते ॥ १७ ॥

निदर्शनमाह—

न शणसूत्रवानाभ्यामे त्रमरसूत्रवानवैचित्यलाभ ॥ १, २, १८ ॥

कुछ लोगों का मत है कि वैदर्भी मार्ग की प्राप्ति का साधन पाञ्चाली तथा गौड़ी रीतियाँ का अभ्यास है। अर्थात् गौड़ी तथा पाञ्चाली रीति में रचना करना सरल है और उसका अभ्यास करते-करते कवि समय पर वैदर्भी रीति में रचना करने में भी समर्थ हो सकता है। परन्तु वामन इस मत के अत्यन्त विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की प्राप्ति नहीं किया जा सकता है। जैसे सन की सुतली से टाट की पट्टी बुनने वाला व्यक्ति अपने उस अभ्यास से टमर के सुन्दर रेशमी वस्त्र बुनने में कौशल प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी प्रकार पाञ्चाली तथा गौड़ी रीतियों का अभ्यास करने वाला कवि उनके अभ्यास के द्वारा वैदर्भी रीति में अभ्यास पाठ्य प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी बात को ग्रन्थकार आगे कहते हैं।

उस [वैदर्भी रीति] के आरोहण के लिए दूसरी [गौड़ी तथा पाञ्चाली रीति] का अभ्यास [उपयोग या साधनभूत होता] है ऐसा कोई लोग मानते हैं।

उस [वैदर्भी रीति] के आरोहण [उसकी प्राप्ति] के लिए ही शेष दोनों [गौड़ी तथा पाञ्चाली] रीतियों का अभ्यास होता है ऐसा कोई लोग मानते हैं ॥ १६ ॥

उनके मत का खण्डन करते हैं—

वह ठीक नहीं है। अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती।

अतत्त्व का अभ्यास करने वाले को तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है ॥ १७ ॥

[अपने इस कथन की पुष्टि में] उदाहरण [के लिए] कहते हैं—

सन की डोरी [की पट्टियों] के बुनने के अभ्यास करने पर टमर

न हि शणसूत्रवानमम्यसन् कुविन्दस्त्रसरसूत्रवानवैचित्र्य
लभते ॥ १८ ॥

सापि समासाभावे शुद्धवैदर्भी । १, २, १९ ।

सापि वैदर्भी शुद्धवैदर्भी भण्यते, यदि समासवत् पदं न
भवति ॥ १९ ॥

तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या । १, २, २० ।

[रेशम] के सूत्र के बुनने में विचक्षणता [कौशल] की प्राप्ति नहीं
होती है ।

सन के सूत्र से बुनने का अभ्यास करने वाला बुनकर ठसर [रेशम]
के सूत्र के बुनने में वैचित्र्य को प्राप्त नहीं करता है ।

इसी प्रकार का एक प्रसङ्ग योगदर्शन के प्रथम पाद में आया है । योग
दर्शन में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकार की समाधि मानी गई है । जिस
प्रकार यहा अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है यह कहा है,
उसी प्रकार वहा सम्प्रज्ञात या सालम्बन समाधि के अभ्यास से असम्प्रज्ञात समाधि
की सिद्धि नहीं हो सकती है यह बात कही गई है ।

‘सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक
आलम्बनीक्रियते ।’ ॥ १८ ॥

ऊपर जिस समग्रगुण विभूषित वैदर्भी रीति का वर्णन किया है वह और
भी उत्कृष्ट शुद्ध वैदर्भी हो जाती है यदि उसमें समास का प्रयोग न हो । इसको
ग्रन्थकार आगे कहते हैं ।

वह [वैदर्भी रीति] भी समास के न होने पर [और भी उत्कृष्ट]
शुद्ध वैदर्भी कहलाती है ।

वह वैदर्भी भी शुद्ध वैदर्भी कही जाती है यदि उसमें समासयुक्त पद न
हों । [वैदर्भी का भी उत्कृष्ट रूप यह शुद्ध वैदर्भी है । यह अभिप्राय
है] ॥ १९ ॥

उसमें अर्थ गुणों का वैभव [सम्पत्ति, समप्रता, पूर्ण सौन्दर्य आस्वाद्य
अर्थान्] अनुभव करने योग्य होता है ।

तस्या वैदर्भ्यामर्थगुणसम्पदात्वाद्या भवति ॥२०॥

तदुपारोहार्थगुणलेशोऽपि । १, २, २१ ।

तदुपघानतः स्वत्वर्थलेशोऽपि स्वदते । किमङ्ग पुनरर्थगुणसम्पत् ।
तथा चाहुः—

उस वैदर्भी [रीति] में अर्थगुणों का वैभव आस्वाद के योग्य होता है ।

वामन ने जो दश गुण माने हैं उनको शब्दगुण तथा अर्थगुण दोनों रूप में माना है । उनके नाम दोनों जगह समान हैं परन्तु लक्षण दोनों जगह भिन्न-भिन्न हैं । इनमें से शब्दगुणों का क्षेत्र कुछ सीमित है परन्तु अर्थगुणों का क्षेत्र बहुत व्यापक है । उसमें वस्तुतः काव्य के उपयोगी और उत्कर्षाधायक प्रायः समस्त अर्थों का समावेश हो जाता है । (१) अर्थ की प्रीति 'ओज' नाम से, (२) उक्ति का वैचित्र्य 'माधुर्य' नाम से, (३) नवीन अर्थ की कल्पना अर्थदृष्टिरूप 'समाधि' नाम से, (४) रसों का प्रकर्ष कान्ति नाम से, (५) अर्थवैमल्य प्रसाद नाम से, इत्यादि रूप से काव्य के उत्कर्षाधायक समस्त अर्थों का समावेश अर्थगुणों के अन्तर्गत हो जाता है । वह सारी अर्थ सम्पत्ति वैदर्भी रीति के अन्तर्गत आस्वाद्य अथवा अलौकिक चमत्कार रूप से अनुभव योग्य होती है । इसीलिए वैदर्भी रीति विशेषरूप से प्राज्ञ और प्रशस्ता के योग्य मानी गई है ॥ २० ॥

वैदर्भी रीति में अर्थगुणों की सम्पत्ति या वैभव तो अनुभव योग्य होता ही है परन्तु यदि उसमें गुणों का पूर्ण विकास न हुआ हो और लेश मात्र ही हो तो उस लेशमात्र का भी सौन्दर्य कुछ अलौकिक रूप से भासने लगता है । जिसके कारण उसमें वर्णित एक छोटी-सी बात भी बड़ी चमत्कार युक्त प्रतीत होती है । इसी बात की ग्रन्थकार अगले सूत्र में कह रहे हैं ।

उस [वैदर्भी रीति] के सहारे में अर्थगुणों का लेश मात्र भी आस्वाद योग्य हो जाता है [अर्थगुण-सम्पत्ति की तो बात ही क्या ।]

उस [वैदर्भी रीति] के सहारे से अर्थ का लेश [सामान्य अर्थ] भी आस्वाद योग्य हो जाता है अर्थगुण सम्पत्ति की तो बात ही क्या कहना ।

जैसा कि [वैदर्भी रीति की प्रशंसा में लिखे गए निम्न श्लोकों में] कहा है—

किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी,
यस्या न किञ्चिदपि किञ्चिदिवावभाति ।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता,
चेतः सताममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा ॥

किन्तु यह [वैदर्भी रीतिमयी] कुछ और ही [प्रकार की लोकोत्तर] पद रचना है जिसमें [निषेध होने पर] न कुछ [कुछ या असत्] सी वस्तु भी कुछ [ब्रह्मौकिक चमत्कारमय] सी प्रसीत होती है । और सहृदयों के कर्ण-गोचर होकर उनके चित्त को इस प्रकार भाङ्गादित करती है मानो [कहीं से] समुद्र की वर्षा हो रही है ।

इस श्लोक की व्याख्या के प्रसङ्ग में श्री गोपेन्द्रशिपुरहरभूषणविरचित 'वामनालङ्कार सूत्रवृत्ति' की कामधेनु नामक व्याख्या में इसके पूर्वार्द्ध रूप में यह दो पक्तियाँ और उद्धृत की हैं ,

जीवन् पदार्थपरिरम्भणमन्तरेण
शब्दावधिर्भवति न स्फुरणेन सत्यम् ।

इन पक्तियों का अभिप्राय यह है कि जीवित अर्थात् चमत्कारयुक्त पदार्थ के विभा केवल वैदर्भी रीति के स्फुरणमात्र से वाक्य या काव्य के सौन्दर्य की पराकाष्ठा नहीं होती है, यह सत्य है किन्तु, इस प्रकार इस पूर्वार्द्ध की अगली श्लोक के साथ सङ्गति तो लग जाती है परन्तु वह इस 'किन्त्वस्ति०' इत्यादि श्लोक का पूर्वार्द्ध नहीं है । किन्तु इसके पूर्व यदि एक पूर्वपक्ष का श्लोक दिया जाय यह पक्तियाँ उस पूर्वपक्ष के श्लोक का उत्तरार्द्ध हो सकती हैं ।

परन्तु यह श्लोक स्वयं परिपूर्ण है। ग्रन्थकार ने पूरा श्लोक उद्धृत किया है । केवल उत्तरार्द्ध नहीं । फिर टीकाकार ने न जाने क्यों 'अत्र . . इति पूर्वार्द्धं पठन्ति' लिख कर ऊपर की दोनों पक्तियाँ उद्धृत की हैं । श्लोक में आए हुए 'न किञ्चिदिव' शब्द का असद्वन्तु और 'किञ्चिदिवावभाति' का अर्थ 'सदिवावभाति' यह अर्थ टीकाकार ने भी अपनी टीका में दिया है ।

ग्रन्थकार श्री वामन वैदर्भी रीति की प्रशंसा में आगे एक और श्लोक उद्धृत करते हैं—

वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्री-
 र्वितथमवितथत्व यत्र वस्तु प्रयाति ।
 सद्यति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भीरीती
 मद्ददयद्दद्याना रखक कोऽपि पाक ॥२१॥

साऽपि वैदर्भी तात्स्थ्यात् । १, २, २२ ।

सापीयमर्थगुणसम्पद् वैदर्भीत्युक्ता । तात्स्थ्यादित्युपचारतो
 व्यवहारं दर्शयति ॥ २२ ॥

जिस [वैदर्भी रीति] को [काव्य रूप] वाक्य में प्राप्त करके शब्द
 सौन्दर्य [वाचकश्री] धिरकने लगता है, जहां [वैदर्भी रीति में पदुप कर]
 नीरस [वितथ] वस्तु भी सरस [अवितथ] हो उठती है, सद्बुद्धों के हृदयों
 को आह्लादित करने वाला कुछ ऐसा अनिर्वचनीय शब्दपाठ वैदर्भी रीति में
 [हो] कहीं उदय हो जाता है । [जिसके कारण शब्द शोभा मानो नाचने
 लगी होती है और नीरस वस्तु भी सरस हो जाती है । टीकाकार ने वितथ
 शब्द का अर्थ नीरस और अवितथ शब्द का अर्थ सरस किया है ।] ॥ २१ ॥

उस [वैदर्भी रीति] में रहने के कारण वह [अर्थगुण सम्पत्ति भी]
 [उपचार या लक्षणा से] वैदर्भी [नाम से कही जा सकती] है ।

वह अर्थगुण सम्पत्ति भी वैदर्भी [नाम से] कही गई है । [सूत्र में
 प्रयुक्त 'तात्स्थ्यात्' इस पद से] उस [वैदर्भी रीति] में स्थित होने के कारण
 [अर्थसम्पत्ति भी वैदर्भी नाम से कही गई है] । इस प्रकार उपचार [लक्षणा]
 से व्यवहार दिखलाते हैं ।

क्रिमान् लोग खेतों की रक्षा के लिए उनसे मचान बना कर और उन
 पर बैठ कर अनाज आदि को खाने वाले पक्षी आदि को उड़ाते हैं । वहां पक्षियों
 को उड़ाने की आवाज मचानों पर स्थित पुरुष देते हैं परन्तु वहां 'मन्त्रा'
 प्रोशन्ति—मचान पुकारते हैं—इस प्रकार का व्यवहार होता है । यह व्यवहार
 'तात्स्थ्य' सम्बन्ध से लक्षणा वृत्ति के द्वारा गौण रूप से होता है । वहां जैसे
 'तात्स्थ्य' सम्बन्ध से मन्त्रार्थ पुरुषों के लिए मन्त्र शब्द का औपचारिक प्रयोग
 होता है, इसी प्रकार यहां वैदर्भी रीति में स्थित अर्थगुणसम्पत्ति के लिए भी
 उपनाम अर्थात् लक्षणा से वैदर्भी शब्द का प्रयोग किया गया है । यह ग्रन्थकार
 का अभिप्राय है ।

भामहफाल्गुन दो भाषों का सिद्धान्त—

वामन ने इस अध्याय में 'वैदर्भी', 'पाञ्चाब्धी' तथा 'गोष्ठी' इन तीन

रीतियों का वर्णन किया है और उन्हीं को काव्य की आत्मा माना है। वामन के पूर्ववर्ती भामह ने रीति के स्थान पर 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है और उसके तीन की जगह केवल दो भेद किए हैं—'वैदर्भ मार्ग' तथा 'गौडीय मार्ग'। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय में काव्य-रचना के यह दो मार्ग प्रचलित थे। परन्तु वह स्वयं दोनों मार्गों का भेद मानने के पक्ष में नहीं हैं। मार्ग-भेद के विषय में अरुचि सी दिखलाते हुए उन्होंने लिखा है—

वैदर्भमन्यदन्तीति मन्यन्ते सुषियं परे ।

तदेव च किल ज्याय. सदर्थमपि नापरम् ॥ ३१ ॥

गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् ।

गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेघसाम् ॥ ३२ ॥

ननु चाश्मकवशादि वैदर्भमिति कथ्यते ।

काम तथास्तु प्रायेण सञ्ज्ञेच्छातो विधीयते ॥ ३३ ॥

अपुष्टार्थमबज्रोक्ति प्रमन्नमृशु कोमलम् ।

भिन्न गेयमिवेदन्तु केवल श्रुतिपेशलम् ॥ ३४ ॥

अलङ्कारवदग्राम्यमर्थं न्याय्यमनाकुलम् ।

गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ॥ ३५ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि कुछ लोग 'वैदर्भ मार्ग' को 'गौडीय मार्ग' से अलग मानते हैं और यह कहते हैं कि वही 'वैदर्भ मार्ग' उत्तम मार्ग है। सदर्थ युक्त होने पर दूसरा अर्थात् 'गौडीय मार्ग' उस वैदर्भ 'मार्ग' के बराबर नहीं हो सकता है। परन्तु भामहान्चार्य का कथन यह है कि यह 'वैदर्भ' और 'गौडीय' मार्ग के भेद की कल्पना व्यर्थ है। मूल लोग गतानुगतिक न्याय से, या भेद-चाल से क्या नहीं कह सकते हैं। सब प्रकार की अनर्गल बातें कहने लगते हैं। अर्थात् उनके मतानुसार यह 'वैदर्भ' तथा 'गौडीय' मार्ग के भेद की कल्पना केवल भेद-चाल के आधार पर चल रही है और मूर्खतापूर्ण है।

कोई यदि यह कहे कि नहीं, मार्ग की यह कल्पना निराधार नहीं है अपितु देश के आधार पर की गई है। अश्मक वश आदि देश विदर्भ कहलाता है। उसी के आधार पर 'वैदर्भमार्ग' माना जाता है। और वह 'गौडीयमार्ग' से भिन्न है। इसके उत्तर में भामहान्चार्य कहते हैं कि यह वैदर्भ आदि सहाय तो आपने अपनी इच्छा के अनुसार कर ली हैं। काव्य का सौन्दर्याभायक तत्त्व तो एक ही है। उसे चाहे 'वैदर्भ मार्ग' से, चाहे 'गौडीय मार्ग' से निरु-

‘पण करो यदि वह तत्व आ जाता है तो दोनों अवस्थाओं में काव्य उपादेय होगा अन्यथा उससे भिन्न होने पर ‘वैदर्भ मार्ग’ भी काव्य को उपादेय नहीं बना सकता है । यदि अलङ्कारयुक्त, ग्राम्यता दोष से रहित, सुन्दर अर्थ से युक्त और सुसङ्गत काव्य है तो वह भले ही ‘गौड़ीय मार्ग’ से लिखा गया हो, वह अवश्य सहृदयों के हृदय में चमत्कार को उत्पन्न करेगा । और यदि इन गुणों से विहीन काव्य है तो फिर वह भले ही ‘वैदर्भ मार्ग’ से लिखा गया हो वह सहृदयों के लिए चमत्कारजनक नहीं हो सकता है ।

इस प्रकार भामह ने अपने समय के मार्गों के प्रचलित भेद के प्रति अस्मिन् प्रकट की है परन्तु उस में यह स्पष्ट है कि वामन की तीन रीतियों के स्थान पर भामह के समय दो मार्गों का मानने वाला कोई सम्प्रदाय प्रचलित था ।

कुन्तक का त्रिमार्ग सिद्धान्त—

‘वक्रोक्ति जीवितम्’ नामक प्रसिद्ध सहित ग्रन्थ के निर्माता कुन्तक ने देश के आधार पर माने गए दोनों मार्गों तथा वामन की तीनों रीतियों का खण्डन कर ‘रचना शैली’ के आधार पर ‘सुकुमार’, ‘मध्यम’ और ‘विचित्र’ इन तीन प्रकार के मार्गों का प्रतिपादन किया है ।

‘अथानि तत्र ये मार्गाः कश्चिप्रधानहेतवः ।

सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयत्मकः ॥

अर्थात् काव्य रचना के केवल तीन मार्ग हो सकते हैं । न इससे कम एक या दो और न इससे अधिक चार या पांच । इन तीनों मार्गों में से पहिला सुकुमार, दूसरा विचित्र और तीसरा सुकुमार तथा विचित्र के योग से बना मध्यम मार्ग है ।

वैशाखित रीतिवाद तथा मार्गवाद का खण्डन—

विदर्भादि देशों के आधार पर माने गई वामन की तीन रीतियों तथा भामह द्वारा उल्लिखित दो मार्गों के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कुन्तक ने लिखा है—

‘अत्र बहुविधा विप्रतिपत्तयः सम्भवन्ति । यस्मान्चिरन्तर्नेविदर्भादिदेशसमाश्रयेण वैदर्भाप्रभृतयो रीतयस्तिष्ठन् । समान्ताताः । तासां चोत्तमाधममध्यमत्वेन त्रैविध्यम् । अन्येष्वैव वैदर्भगौड़ीयलक्ष्य मार्गद्वितयमाख्यातम् । एतच्चोभयमभ्युक्ति-

युक्तम् । यस्माद्देशभेदनिवन्धनत्वे रीतिभेदानां देशानामानन्त्यादसख्यत्व प्रसज्यते । न च विशिष्टरीतियुक्तत्वेन काव्यकरणं मानुष्यभगिनीविवाहवद् देशधर्मतया व्यक्तस्थापयितुं शक्यम् । देशधर्मो हि वृद्धव्यवहारपरम्परामात्रशरणः शस्मानुष्ठानता नातिवर्तते । तथाविधकाव्यकरणं पुनः शक्त्यादिकारणकलाप-साकल्यमपेक्षमाणो न शक्यते यथाकथञ्चिदनुष्ठानम्^१ ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि मार्ग के विषय में अनेक प्रकार के मत-भेद हो सकते हैं । क्योंकि वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने विदर्भ आदि देश विशेष के आश्रय से वैदर्भी आदि तीन रीतियाँ मानी हैं । और उन रीतियों में वैदर्भी को सर्वोत्तम मान कर उत्तम, मध्यम, अधम रूप से तीन विभाग किए हैं । इसका अतिरिक्त भामह के काव्यालङ्कार में पाए जाने वाले मत के अनुसार अन्य लोगों ने वैदर्भ तथा गौडीय रूप दो प्रकार के मार्ग माने हैं । यह दोनों मत युक्तिसङ्गत नहीं हैं । क्योंकि काव्य रचना की रीतियों को यदि देशविशेष के आधार पर विभक्त किया जायगा तो देशों के अनन्त होने से रीतियों की अनन्तता माननी होगी । जो कि असङ्गत है । किसी देशविशेष में प्रचलित ममेरी बहिन के साथ विवाह आदि के समान रीतियों को देशिक आचारमात्र नहीं माना जा सकता है । क्योंकि देशिक आचार में तो केवल वृद्धव्यवहार-परम्परा ही प्रमाण है । इसी लिए वृद्धव्यवहार के अनुसार उसका अनुष्ठान किया जा सकता है परन्तु काव्य की रचना तो वृद्धव्यवहार के ऊपर आश्रित नहीं है । उसके लिए तो शक्ति और व्युत्पत्ति आदि कारणकलाप की आवश्यकता होती है । उसके बिना केवल देशिक धर्म के रूप में काव्य की रचना नहीं की जा सकती है । इसलिए देशिक आचार्यों के समान देश-भेद के आधार पर काव्य-रचना की रीतियों का भेद करना उचित नहीं है ।

किञ्च शक्तौ विद्यमानायामपि व्युत्पत्त्यादि साहाय्यकारणसम्पत् प्रतिनियत-देशविषयतया न व्यवतिष्ठते । नियमनिवन्धनाभावात् तत्रादर्शनादन्यत्र च दर्शनात् ।

और शक्ति के होने पर भी व्युत्पत्ति आदि उपार्जित कारण सामग्री की भी काव्य-रचना में आवश्यकता होती है । वह कारण-सामग्री भी किसी देशविशेष में नियमित नहीं है । क्योंकि विदर्भ आदि उम-उस देश में रहने वाले अन्य बहुत से पुरुषों को उम प्रकार की शक्ति तथा व्युत्पत्ति प्राप्त नहीं होती है और उस देश से भिन्न स्थल में भी उस प्रकार की सामग्री प्राप्त हो जाती है । इसलिए काव्य-

रचना की कोई भी समशी देशविशेष के ऊपर अवलम्बित नहीं है। न प्रतिभा किमी देशविशेष से सम्बन्ध रखती है और न व्युत्पत्ति आदि। वह दोनों प्रकार की सामग्री सब देशों और कालों में सर्वत्र उपलब्ध हो सकती है। सभी देशों में उत्तम कवि हो सकते हैं। इसलिए देशविशेष के आधार पर काव्य-रचना की रीतियों का विभाजन करना उचित नहीं है।

आगे देश-भेद के आधार पर मानी हुई उन रीतियों के उत्तम, मध्यम, अधम भाव का मानना भी उचित नहीं है, यह दिखलाते हुए कुन्तक लिखते हैं—

‘न च रीतीनामुत्तमाधममध्यमस्यभेदेन त्रैविध्यमवस्थापयितुं न्याय्यम् । यस्मान् सहृदयहृदयाह्लादकारीकाव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भासदृशसौन्दर्यासम्भषान्मध्यमाधमयोदनदेशवैयर्थ्यमायानि । परिहार्यत्वेनाप्युपदेशो न युक्ततामवलम्बते । तैरेवानुपपत्तत्वात् । नञ्वागतिरुक्तित्यायेन यथाशक्ति दरिद्रदानादिवत् काव्य करणीयतामर्हति । तदेव निर्वचनसमाख्याभाष्यकारणकारणस्य देशविशेषाश्रयणस्य वयं न विदामहे । मार्गद्वितीयवादिनामन्वेतान्येव दूषणानि । तदलमनेन निःसारधस्तुपरिमलनध्यमनेन ।

अर्थात् देशविशेष के आधार पर मानी गई रीतियों का जो उत्तम, मध्यम अधम रूप से तीन प्रकार का जो विभाजन किया गया है वह भी उचित नहीं हुआ। क्योंकि सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्य की रचना के प्रसङ्ग में यह तीन प्रकार का रीतिविभाग किया गया है। और यह कहा गया कि वैदर्भा रीति सबसे अधिक सहृदयहृदयाह्लादकारी है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अन्य रीतियाँ ‘वैदर्भा’ के समान हृदयाह्लादक नहीं हो सकती हैं। अतः जो सहृदयहृदयाह्लादकारी है वही काव्य की एकमात्र रीति हो सकती है। इसलिए तीन रीतियाँ नहीं अपितु केवल एक ही रीति माननी चाहिए। शेष दो रीतियों का उपदेश व्यर्थ हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि शेष रीतियों का उपदेश उनके परित्याग के लिए किया गया है तो यह ब्रह्मा उचित नहीं होगा क्योंकि रीतियों का प्रतिपादन करने वाले धामन इस बात को नहीं मानते हैं कि शेष रीतियों का उपदेश उनका परित्याग करने के लिए किया गया है। दो मार्गों के मानने में भी यही दोष आते हैं।

इस प्रकार कुन्तक ने देशभेद के आधार पर माने गए दो मार्ग और तीन रीतियों के सिद्धान्त का खण्डन कर वस्तुतः ‘शैली’ के आधार पर सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग का निरूपण किया है।

इति श्री परिडत्तवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
 'शारीर' प्रथमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ।
 अधिकारिचिन्ता रीतिनिश्चयश्च ।

पादचात्य 'रीति' विवेचन—

न केवल भारतीय साहित्य में अपितु पाश्चात्य साहित्य में भी 'रीतियों' का विवेचन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। पाश्चात्य दर्शन तथा साहित्य के जन्मदाता प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् 'अरस्तू' ने साहित्य शास्त्र सम्बन्धी दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं जिनके नाम 'रेटारिक्स' तथा 'पोइटिक्स' हैं। इनमें से 'रेटारिक्स' के तृतीय खण्ड में रीतियों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। अरस्तू ने 'साहित्यिक' तथा 'वादात्मक' दो प्रकार की रीतियों का विवेचन किया है। हमारे यहाँ 'साहित्यिक' रीतियों का विवेचन साहित्यशास्त्र में और 'वादात्मक' रीतियों का विवेचन न्याय शास्त्र में किया गया है।

'अरस्तू' के बाद 'हिमेट्रियस' नामक एक और प्रसिद्ध यूनानी आलङ्कारिक १०० ईसवी पूर्व हुए हैं। उन्होंने 'आन स्टाइल' [On Style] नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ रीति ग्रन्थ में चार प्रकार की रीतियाँ मानी हैं—

१ प्रसन्न मार्ग [Plain Style], २ उदात्तमार्ग [Stately Style]
 ३ मनुष्य मार्ग [Polished Style], ४ ऊर्जस्वी मार्ग [Powerful Style]

हमारे यहाँ जैसे 'कुत्तक' ने अपने मार्गों के साथ अथवा वामन ने अपनी रीतियों के साथ गुणों का सम्बन्ध प्रदर्शित किया है, इसी प्रकार 'हिमेट्रियस' ने भी अपने मार्गों के साथ गुणों का सम्बन्ध दिखाया है। उन गुणों के अभाव में चार दूषित रीतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं—

१ शिथिल मार्ग [Frigid Style], २ कृत्रिम मार्ग [Affected Style],
 ३ नीरस मार्ग [Arid Style], ४ अननुकूल मार्ग [Disagreeable Style]

श्री परिडत्तवरवामनविरचित 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में
 प्रथम 'शारीराधिकरण' में द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।

अधिकारिचिन्ता और रीतिनिश्चय समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिताया
 काव्यालङ्कारदीपिकाया हिन्दीव्याख्याया
 प्रथमे शारीराधिकरणे द्वितीयोऽध्याय समाप्त ।

शारीरनाम्नि प्रथमाधिकरणे

तृतीयोऽध्यायः

[काव्याङ्गानि काव्यविशेषाश्च]

अधिकारिचिन्ता रीतितत्त्वश्च निरूप्य काव्याङ्गान्युपदर्शयितुमाह—

लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि । १, ३, १ ।

शारीर नामक प्रथम अधिकरण में तृतीय अध्याय

[काव्य के अङ्ग और काव्य के भेद]

पिछले अध्याय में ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के 'अधिकारी' तथा उसके प्रतिपाद्य विषय के मुख्य भाग 'रीति' का विवेचन किया था । उसके पूर्व अर्थात् प्रथमाधिकरण के प्रथम अध्याय में ग्रन्थ के 'प्रयोजन' का निरूपण कर चुके हैं । इस प्रकार इन विगत दो अध्यायों में 'अनुबन्ध चतुष्टय' में से 'अधिकारी', 'प्रयोजन' और 'विषय' इन तीनों अनुबन्धों का निरूपण हो गया । अब शेष चौथा 'सम्बन्ध' नामक अनुबन्ध रह जाता है । उसके स्पष्ट होने से ग्रन्थकार ने अलग नहीं दिखाया है । ग्रन्थ का, विषय के साथ 'प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव', और अधिकारी के साथ 'बोध्य-बोधकभाव' सम्बन्ध सदा ही होता है । इसलिए उसको अलग दिखलाने की अधिक आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार यहाँ तक 'अनुबन्ध चतुष्टय' का निरूपण कर चुकने के बाद ग्रन्थकार अब अपने विषय का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं ।

जैसे पिछले अध्याय में 'अधिकारी' तथा 'रीति निश्चय' रूप दो विषयों का प्रतिपादन किया था वही प्रकार इस अध्याय में 'काव्य के अङ्ग' और 'काव्य के भेद' इन दो विषयों का निरूपण करेंगे । काव्य के अङ्ग शब्द से काव्य के अवयवों का नहीं अपितु साधनों का ग्रहण करना चाहिए । ग्रन्थकार इस अध्याय के प्रारम्भिक २० सूत्रों में काव्य के साधनों का और अन्तिम १२ सूत्रों में काव्य के मुख्य भेदों का निरूपण करेंगे । सबसे पूर्व पिछले अध्याय के साथ इस अध्याय की सङ्गति जोड़ते ■ए ग्रन्थकार अध्याय का प्रारम्भ करते हैं—

अधिकारिचिन्ता और रीतिनिश्चय का [पिछले अध्याय में] निरूपण करके [अब इस अध्याय में] काव्य के साधनों [अङ्गों] को दिखलाने के लिए कहते हैं—

(१) लोक [अर्थात् स्थावर जङ्गमीरमक लोककाव्यनद्वार], (२) विद्या

चौदह ध्यवा धटादह भेदों में प्रसिद्ध समस्त विद्याएं], और ३. [काव्यों का ज्ञान, काव्यज्ञों की सेवा, पदों के निर्वाचन की सावधानता, और स्वाभाविक प्रतिभा, तथा उद्योग रूप पांच को मिलाकर], प्रकीर्ण [फुटकर इस प्रकार यह तीन मुख्य] काव्य [निर्माण में कौशल प्राप्त करने] के साधन हैं ॥ १ ॥

काव्य के इन्हीं साधनों को लेकर काव्यप्रकाशकार श्री मम्मटाचार्य ने अपने ग्रन्थ में काव्य के हेतुओं का इस प्रकार निरूपण किया है—

‘शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।

काव्यजशिक्षयाम्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

इसमें वामन के लोक और विद्या दोनों का ‘लोकशास्त्राद्यवेक्षणात् निपुणता’ के अन्तर्गत और प्रकीर्ण में से शक्ति को असंग करके तथा वृद्धसेवा आदि को ‘काव्यजशिक्षयाम्यास’ में अन्तर्गत करके, ‘काव्यप्रकाशकार’ ने भी वामन के समान ही ८ काव्याङ्गों को मुख्य रूप से तीन काव्य-साधनों के रूप में प्रस्तुत किया है । वामन के पूर्ववर्ती आचार्य ‘मामह’ ने काव्य के साधनों का निरूपण इस प्रकार किया है—

‘शब्दरङ्गान्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रया कथा ।

श्लोको युक्ति कलाश्चेति मन्तव्या काव्यधैरमी ॥६॥

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम् ।

विलोचयान्यनिबन्धाश्च कार्यं काव्यक्रियादरः ॥१०॥

इन सब काव्याङ्गों के निरूपण की तुलना करने से प्रतीत होता है कि काव्य के साधन सब लोगों की दृष्टि में लगभग एक जैसे ही हैं । परन्तु उन्हीं के पौर्वापर्य अथवा विभाग आदि में भेद करके भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से उनका निरूपण कर दिया है ।

मामह के ऊपर उद्धृत किए हुए श्लोकों में अन्तिम पद का पाठ भ्रष्ट मालूम होता है । ग्रन्थ के सम्पादक महोदय स्वयं भी शुद्ध पाठ का निश्चय नहीं कर सके हैं । उन्होंने मूल में ही ‘काव्यधैर्यमी’ और ‘काव्यधैरमी’ यह दो पाठ दिए हैं । और एक तीसरा पाठ ‘काव्यधैर्यमी’ नीचे टिप्पणी रूप में दिया है । इन तीनों में से किसी से भी अर्थ की सङ्गति ठीक नहीं लगती है । फिर भी ‘स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया’ इस सिद्धान्त के अनुसार

उद्देशक्रमेणैतद् व्याचष्टे—

लोकवृत्त लोक । १, ३, २ ।

लोक. स्थावरजङ्गमात्मा । तस्य वर्तनं वृत्तमिति ॥ २ ॥

स्थित पाठ की ही व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है । इस पाठ में वस्तुतः 'काव्यैः' पद अस्पष्ट है । उसको यदि 'काव्य याति इति काव्यय' अर्थात् जो काव्य निर्माण की ओर चलना चाहता है वह 'काव्यय' हुआ ऐसा अर्थ कर लें तो पाठ की कथञ्चित् सङ्गति लग जावेगी । उस दशा में प्रथम श्लोक का अर्थ यह हो जायेगा कि जो काव्य निर्माण की ओर प्रवृत्त होना चाहे उस अभिनव कविपदाकाङ्क्षी को 'शब्द-स्मृति' अर्थात् 'व्याकरण', छन्द, कोश, इतिहासाश्रित कथाय, लोकव्यवहार, न्यायादि युक्तिशास्त्र और चौंसठ प्रकार की कलाओं का मनन और ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । यह पहिले श्लोक का अर्थ हुआ । और उसके बाद शब्द और अर्थ को भली प्रकार समझ कर, दूसरे महाकवियों के काव्यों का अवलोकन, तथा काव्यक विद्वानों की समझति करते हुए काव्यरचना का अभ्यास करना चाहिए । यह मामू के काव्यसाधन-प्रतिपादक दोनों श्लोकों का भावार्थ हुआ । वामन ने भी प्राय इन्हीं साधनों का निरूपण किया है ।

'नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तन उद्देश'—नाम मात्र से वस्तु के कथन करने अर्थात् पदार्थों के केवल नाम गिनाने को 'उद्देश' कहते हैं । जैसे कि यहा प्रथम सूत्र में लोक, विद्या, और प्रकीर्ण यह काव्याङ्गों के नाम मात्र गिना दिए हैं । उनका लक्षण आदि नहीं किया है । इसी को 'उद्देश' कहते हैं । 'उद्देश' के समय पदार्थों के पौर्वापर्य का जो क्रम रहता है उभी क्रम से आगे उनकी ध्याग्या, लक्षण आदि किए जाते हैं । इसलिए यहा भी ग्रन्थकार 'उद्देश-क्रम' से काव्याङ्गों के लक्षण आदि करने के लिए अवतरणिका करते हैं—

उद्देश के क्रम से इनकी व्याख्या करते हैं—

लोक व्यवहार [यहा] लोक [शब्द से अभिप्रेत] है ।

स्थावर [वृक्षादि अचल] और जङ्गम [चल मनुष्यादि] रूप [जगत्]

लोक [शब्द का मुरयार्थ] है । उसका वृत्त अर्थात् व्यवहार यह [लोकवृत्त पद का] अर्थ है ॥ २ ॥

शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्र-
दण्डनीतिपूर्वा विद्या । १, ३, ३, ।

शब्दस्मृत्यादीना तत्पूर्वकत्वं पूर्वं काव्यबन्धेष्वपेक्षणीय-
त्वात् ॥ ३ ॥

प्रथम साधन 'लोकवृत्त' की व्याख्या के बाद द्वितीय साधन 'विद्या' की व्याख्या अगले सूत्र में करते हैं—

शब्दस्मृति [व्याकरण शास्त्र], अभिधानकोश [कोशग्रन्थ], छन्दो-
विचिति [छन्द शास्त्र], कलाशास्त्र [चौंसठ प्रकार की कलाओं और चौदह
प्रकार की उपकलाओं के प्रतिपादक शास्त्र], कामशास्त्र [धारस्यापन आदि
प्रणीत], और दण्डनीति [कोटिल्यादि प्रणीत अर्थशास्त्र] 'विद्या' [शब्द से
ग्रहण करने योग्य] हैं ।

शब्दस्मृति [व्याकरण] आदि का काव्य का पूर्ववर्तिस्त्व [तत्पूर्वकत्व]
काव्यरचना में [सबसे] पहिले अपेक्षित होने के कारण [कहा गया]
है ॥ ३ ॥

इस सूत्र में जो 'शास्त्र' शब्द आया है उसको 'कला' और 'काम' इन
दो शब्दों के साथ ही जोड़ना चाहिए ऐसा इस ग्रन्थ के प्राचीन टीकाकार का
मत है । ग्रन्थ 'शब्दस्मृति', 'अभिधानकोश', 'छन्दोविचिति' आदि के साथ
'शास्त्र' शब्द को जोड़े बिना भी उनका शास्त्रत्व स्वतः सिद्ध ही है इसलिए
उनके साथ शास्त्र शब्द को जोड़ने की आवश्यकता नहीं है । केवल 'कला' तथा
'काम' शब्द के साथ उसको जोड़ कर 'कामशास्त्र' तथा 'कलाशास्त्र' ऐसा
अग्रन्थ कर लेना चाहिए यह टीकाकार का भाव है । परन्तु सूत्रकार ने सम्भवतः
'कामशास्त्र' को एक पद मान कर प्रयोग किया है इसलिए उस 'शास्त्र' शब्द
को अलग करके 'कला' के साथ भी जोड़ने की आवश्यकता नहीं है । सूत्र का
'पूर्वा' पद 'इत्यादि' के अर्थ में प्रयुक्त है । इसलिए सूत्र में अनुक्त गणितादि
विद्याओं का भी उससे ग्रहण कर लेना चाहिए । अर्थात् कवि के लिए सभी
विद्याओं का परिज्ञान आवश्यक है । इसीलिए 'भामह' ने लिखा है कि कोई
शब्द, या अर्थ या विद्या या कला ऐसी नहीं है जिसका काव्य में उपयोग न
हो । इसीलिए कवि के ऊपर उन सबका ज्ञान प्राप्त करने का एक बड़ा भारी
भार है ।

तासां काव्याङ्गत्वं योजयितुमाह—

शब्दस्मृते शब्दशुद्धि । १, ३, ४ ।

शब्दस्मृतेर्व्याकरणत्, शब्दानां शुद्धि साधुत्वनिश्चय^१ कर्तव्य^२ ।
शुद्धानि हि पदानि निष्कम्पैः कविभिः प्रयुज्यन्ते ॥ ४ ॥

^१ न स शब्दो, न तद् वाच्यं, न स न्यायो, न सा कला ।

जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥

मूल में व्याकरण, कोश, और छन्दशास्त्र आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया है परन्तु 'अलङ्कारशास्त्र' का नामोल्लेख नहीं दिया है इसका कारण यह है कि अलङ्कार का वर्णन वह प्रथम अध्याय में ही 'शास्त्रतस्ते' सूत्र में कर चुके हैं इसलिए यहां उसका पृथक् निर्देश नहीं किया है ।

ऊपर कहे हुए काव्याङ्गों का काव्य में उपयोग दिखाने के लिए आगे सूत्रों में प्रत्येक का काव्य से सम्बन्ध दिखलाते हैं ।

उनकी काव्याङ्गता की योजना करने के लिए कहते हैं—

शब्दस्मृति [व्याकरणशास्त्र] से शब्द की शुद्धि होती है ।

शब्दस्मृति अर्थात् व्याकरण से शब्दों की शुद्धि अर्थात् साधुत्व का निश्चय करना चाहिये । शुद्ध पदों को कवि निष्कम्प [निष्कम्प] होकर प्रयुक्त कर सकते हैं ॥ ४ ॥

व्याकरण का ज्ञान न होने पर कवि को पद के शुद्ध होने का तन्वेह हो जाता है इसलिए उसमें पदों का प्रयोग करते हुए उर लगता है और बहुधा अशुद्ध प्रयोग कर जाने पर अपकीर्ति का तथा उपहास का वाश बनता है । इसी लिए पातञ्जल महाभाष्य में व्याकरण के प्रयोजनों के प्रसङ्ग में लिखा है—

* यस्तु प्रसुक्ते कुशलो विशेषेण शब्दान् यथावद् व्यवहारमात्रे ।

मोहनस्तमाप्नोति अथ पन्थं वाग्योगविद् दुष्यति चापराधे ॥

भामह ने भी कहा है—

* सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यन् ।

विलक्षणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्दते ॥

^१ भामह काव्यालङ्कार, ५, ४ ।

^२ वामन काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १, १, ४ ।

^३ महाभाष्य १ ।

भामह काव्यालङ्कार १, ११ ।

अभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः । १, ३, ५ ।

पदं हि रचनाप्रवेशयोग्यं भावयन् सन्दिग्धार्थत्वेन 'गृहीयान्न वा गृहीयात्, जह्यान्न वा जह्यादिति काव्यबन्धविघ्नः । तस्मादभिधान-
कोशतः पदार्थनिश्चयः कर्तव्य इति ।

* अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।

कुक्कवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥

दण्डी ने भी अपने 'काव्यादर्श' में इसी बात की पुष्टि की है—

१ भीमौ. कामबुधा सम्यक् प्रयुक्ता रमयन्ते बुधैः ।

दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्रं प्रयोक्तुः सैव शसति ॥

इसलिए सत्कवि के लिए व्याकरण शास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है । उसके बिना उसका काम नहीं चल सकता है ॥ ४ ॥

आगे कोश के ज्ञान का उपयोग दिखाते हैं—

अभिधान कोश [के परिज्ञान] से पदों के [ठीक] अर्थ का निश्चय [करना चाहिए]

रचना में रखने योग्य पद का विचार करते हुए [यदि कोश का ज्ञान नहीं है तो] अर्थ का सम्यक् रहने से [उस विशेष पद को] ग्रहण करे अथवा न करे, छोड़ दे अथवा न छोड़े यह [द्विविधा] काव्य रचना में [बड़ा] विघ्न [करती] है । इसलिए अभिधान कोश से पदों के अर्थ का [ठीक तरह से] निश्चय करना चाहिए ।

कुछ लोगों का विचार यह भी है कि कोश के ज्ञान से काव्य को नए-नए शब्द प्रयोग करने के लिए मिल जाते हैं । जैसा कि महाकवि माघ के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने 'शिशुपाल-वध' नामक काव्य के प्राग्भिन्न नौ सर्गों में कोश के अधिकांश शब्दों का प्रयोग कर डाला है । इसलिए नौ सर्गों माघ के पढ़ जाने के बाद नवीन शब्द का मिलना रुठिन हो जाता है—'नवसर्गगतं माघे नवशब्दो न विद्यते ।' परन्तु वामन का मत है कि अपूर्व, अप्रयुक्त नए

१ वनारस वालों सस्करण में 'गृहीयान्न वा जह्यादिति' इस प्रकार का पाठ छपा है जो ठीक नहीं है । उसके बीच में कुछ पाठ छूट गया है । हमने उसकी पूर्ति करके पाठ दिया है ।

२ भामह काव्यालङ्कार १, १२ ।

३ काव्यादर्श ।

अपूर्वाभिधानलाभार्थत्वं त्वयुक्तमभिधानकोशस्य । अप्रयुक्तस्या-
प्रयोज्यत्वात् ।

यदि तर्हि प्रयुक्तं प्रयुज्यते किमिति सन्दिग्धार्थत्वमाशङ्कितं पदस्य ?

तन्न । तत्र सामान्येनार्थावगतिरभ्यवसति । यथा नीवीशब्देन
जघनवस्त्रप्रस्थिरुच्यते इति कस्यचिन्निश्चयः । स्त्रियो वा पुरुषस्य वेति
संशयः । 'नीवी संप्रथनं नार्या जघनस्यस्य वामस' इति नाममालाप्रती-
कमपश्यत इति ।

शब्दों की खोज को 'कोश' के परिज्ञान का प्रयोजन नहीं मानना चाहिए ।
क्योंकि बहुत से शब्द ऐसे भी हैं जो कोश में सो पाए जाते हैं परन्तु काव्य में
उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए । ऐसे शब्दों का प्रयोग करने से काव्य में
'अप्रयुक्तत्व दोष' हो जाता है । जैसे 'हन हिसागत्यो.' इस धातुपाठ के अनुसार
'हन' धातु का 'गति' अर्थ भी है । परन्तु काव्य में समनार्थ में उसका प्रयोग
निषिद्ध है । इसीलिए 'कुञ्ज हन्ति कशोदरी' इत्यादि उदाहरण 'अप्रयुक्तत्व' दोष से
ग्रस्त माने गए हैं । 'पद्य' शब्द, कोश के अनुसार पुलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग
दोनों में प्रयुक्त हो सकता है परन्तु कवि उसे नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयुक्त करते हैं ।
काव्य में उसका पुलिङ्ग प्रयोग दोषाघायक माना जाता है । इसलिए वामन का
मत यह है कि अपूर्व शब्दों के अनुसन्धान को अभिधानकोश का प्रयोजन नहीं
समझना चाहिए अपितु उसका उपयोग शब्द के अर्थ के निश्चय में ही करना
चाहिए । इसी बात को आगे कहते हैं ।

अपूर्वं [नए नए] पद के लाभ की अभिधानकोश का फल मानना
उचित नहीं है । [क्योंकि महाकवियो द्वारा] 'अप्रयुक्त' [पद का] प्रयोग
उचित नहीं है ।

[प्रश्न] फिर यदि प्रयुक्त [पदो] का [ही] प्रयोग किया जाता
है तो [उनका तो अर्थ निश्चित हो है] फिर पदों की सन्दिग्धार्थकता की
शङ्का क्यों की है ?

[उत्तर] ऐसा कहना ठीक नहीं है । ऐसे शब्दों में सामान्य रूप से
अर्थ की प्रतीति हो सकती है [परन्तु विशेष अर्थ का ज्ञान न होने से संशय
अथवा अनुचित प्रयोग हो जाता है । ऐसे संशय के निवारण के लिए कोश का
उपयोग करना चाहिए] जैसे कमर पर पहिने जाने वाले वस्त्र के बाधने वाले

१ नाऽप्रयुक्तं प्रयुज्यते चेत् सम्मोहकारिणम् ।

तुल्यायत्वेऽपि हि दूयात् कोटुमिति गतिवाचिनम् ॥

आमह काव्यालङ्कार ६, २४ ।

नारे को 'नीवी' कहते हैं यह कोई [कवि सामान्य रूप से] जानता है । परन्तु 'नीवी सप्रयन नार्या जघनस्थस्य वासस' इस नाममाला के प्रतीक को न जानने वाले [कवि] को, वह स्त्री का [नारा] या पुरुष का [नारा नीवी कहलाता है] यह सदाय हो सकता है । [जब वह इस 'नीवी सप्रयन नार्या जघनस्थस्य वासस' इत्यादि कोश को देख लेता है तब उसको वह निश्चय हो जाता है कि 'नीवी' शब्द पुरुष के नारे के लिए नहीं, केवल स्त्री के नारे के लिए प्रयुक्त करना चाहिए] ।

इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि 'नीवी' शब्द केवल स्त्री के नारे का ही बोधक है तो पुरुष के नारे के लिए निम्नलिखित श्लोक में कैसे प्रयुक्त किया गया है । इन नीचे लिए श्लोक में किसी 'भोजनभट्ट' का वर्णन है । वह जब किसी बढिया निमन्त्रण आदि के अवसर पर भोजन करने बैठा था तो पहले से ही ज़रा नारा दीला करके बैठा था ताकि भोजन करते समय पेट कसे नहीं । परन्तु फिर भी जब खाते-खाते उसका पेट बढने लगा तो उसने अपने नारे को और दीला कर दिया । यह इस श्लोक का भाव है । इसमें 'वर्धमानोदरास्थिता' और 'केनचित्' इन दोनों पुल्लिङ्ग विशेषणों से, भोजन करने वाला पुरुष ही है यह बात निश्चित है । और 'नीवीबन्ध. श्लोकाकृत.' में उसके 'नीवी' दीली करने का वर्णन है । यदि 'नीवी' शब्द केवल स्त्री के नारे के लिए प्रयुक्त होता है तो यहाँ पुरुष के साथ उसका प्रयोग कैसे हुआ यह प्रश्नकर्ता का आशय है ।

इसका उत्तर ग्रन्थकार ने यह दिया है कि यह प्रयोग या तो भ्रान्तिमूलक है, या औपचारिक अर्थात् लक्षणाभूलक । या तो कवि यह जानता ही नहीं है कि 'नीवी' शब्द का प्रयोग केवल स्त्री के नारे के लिए ही करना चाहिए इसलिए भ्रान्तिग्रस्त उसने 'नीवी' शब्द को सामान्य रूप से दोनों का वाचक समझ कर भ्रम से पुरुष के नारे के लिए प्रयोग कर दिया है । और यदि वह इस बात को जानता है फिर भी जानबूझ कर उसने इस शब्द का प्रयोग किया है तो गौण, औपचारिक या लक्षणाभूलक प्रयोग कहना चाहिए ।

साधारणतः लोगों का विचार है कि आधुनिक पायजामा नेकर आदि भारतीय वेषभूषा के अङ्ग नहीं हैं । उनका प्रचार कदाचित् मुसलमानों के काल से हुआ परन्तु इस श्लोक से प्रतीत होता है कि वामन के काल के पूर्व भी इन वस्त्रों का उपयोग भारत में होता था । अन्यथा वामन ने अपने पूर्व-वर्ती किसी कवि का जो यह श्लोक उद्धृत किया है उसमें 'नीवी' शब्द का

अथ कथम् :—

विचित्रमोजनाभोगवर्धमानोद्गराश्रितः ।

केनचित् पूर्वमुक्तोऽपि नीचीवन्धः श्लथीकृतः ॥

इति प्रयोगः । भ्रान्तेरुपचाराद्वा ॥ ५ ॥

छन्दोविचितेर्वृत्तमशयच्छेदः । १, ३, ६ ।

काव्याभ्यामाद् वृत्तसक्रान्तिर्भवत्येव, किन्तु मात्रावृत्तादिषु कश्चित् संशयः स्यात् । अतो वृत्तमंशयच्छेदश्छन्दोविचितेर्विधेय इति ॥ ६ ॥

कलाशास्त्रेभ्यः कलातत्त्वस्य सवित् १, ३, ७ ।

कला गीतनृत्यचित्रादिकास्तासामभियायकानि शास्त्राणि विशा-
रितादिप्रणीतानि कलाशास्त्राणि । तेभ्यः कलातत्त्वस्य सवित् सवेदनम् ।
न हि कलातत्त्वानुपलब्धौ कलायन्तु सम्यङ् निवद्धं शक्यमिति ॥ ७ ॥

उल्लेख कैसे आता । 'नीची' या नारे का उपयोग इन्हीं में हो सकता है । मूल ग्रन्थ की पक्तियों का शब्दार्थ इस प्रकार है—

[प्रश्न—यदि 'नीची' शब्द स्त्री के वस्त्र के नारे के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है] तो फिर,

नाना प्रकार के व्यञ्जनो के प्रचुर परिमाण [मैं पेट में पहुँचने] से पेट फूलने वाले [भोजनमट्ट] ने पहले से ही ढीले किए हुए अपने नारे को और भी ढीला कर दिया ।

यह [पुरुष के नारे के लिए 'नीची' शब्द का] प्रयोग कैसे हुआ ?

[उत्तर] भ्रान्ति से अथवा उपचार से ॥ ५ ॥

भ्रान्त काव्य निर्माण में छन्द शास्त्र का उपयोग दिखलाते हैं —

छन्दोविचिति [छन्द शास्त्र] से वृत्त [छन्द] विषयक संशय का नाश होता है ।

[यद्यपि] काव्य [रचना] के अभ्यास में [साधारणतः] वृत्तो का परिचय हो जाता है । फिर भी [कभी-कभी] मात्रिक वृत्त आदि में कहीं संशय हो सकता है । इसलिए छन्द शास्त्र [के अभ्यास] से वृत्त [सम्बन्धी] संशय का निराकरण करना चाहिए ॥ ६ ॥

कलाशास्त्रों के द्वारा कला के तत्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।

कला, गाना, नाचना, और चित्र आदि हैं । उनका प्रतिपादन करने वाले

तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम् । १, ३, १२ ।

अन्येषां काव्येषु परिचयो लक्ष्यज्ञत्वम् । ततो हि काव्यबन्धस्य
व्युत्पत्तिर्भवति ॥ १२ ॥

काव्यबन्धोद्यमोऽभियोग ॥ १, ३, १३ ॥

बन्धनं बन्ध- । काव्यस्य बन्धो रचना काव्यबन्ध- । तत्रोद्यमो-
ऽभियोग- । स हि कवित्वप्रकर्षमादधाति ॥ १३ ॥

काव्योपदेशगुरुशुश्रूषण वृद्धसेवा ॥ १, ३, १४ ॥

काव्योपदेशे गुरव उपदेष्टार । तेषां शुश्रूषण वृद्धसेवा । ततः
काव्यपिद्यायाः संक्रान्तिर्भवति ॥ १४ ॥

उनमें से [अन्य महाकवियों के बनाए हुए] काव्यों का परिचय [पुनः
पुनः प्रबलोकन] लक्ष्यज्ञत्व [यह से यहाँ अभिप्रेत] है ।

हूसरों [अन्य महाकवियों] के काव्यों में परिचय [अभ्यास] लक्ष्यज्ञत्व
[कहलाता] है । उस [काव्यानुशीलन] से काव्यरचना में व्युत्पत्ति होती है ।
[इसलिये कविता करने की इच्छा रखने वाले को अन्य कवियों की रचनाओं
का अनुशीलन अवश्य ही करना चाहिए] ॥ १२ ॥

आगे 'अभियोग' का लक्षण करते हैं—

काव्य रचना के लिए उद्योग 'अभियोग' [कहलाता] है ।

[यद्यपि अर्थात्] रचना [का नाम] बन्ध है । काव्य का बन्ध
अर्थात् रचना काव्यबन्ध [कहलाती] है । उसके लिये प्रयत्न [यहाँ सूत्र में]
अभियोग [शब्द से अभिप्रेत] है । वह [प्रयत्न] कवित्व के उत्कर्ष का प्राधान
करता है ॥ १३ ॥

'वृद्धसेवा' का लक्षण करते हैं—

काव्य की शिक्षा देने वाले गुरुओं की सेवा 'वृद्धसेवा' [शब्द से
अभिप्रेत] है ।

काव्योपदेश में गुरु [अर्थात् शिक्षा देने वाले] उपदेष्टा [काव्योपदेश-
गुरु कहलाते हैं] । उनकी सेवा 'वृद्धसेवा' [शब्द से अभिप्रेत] है । उससे
'काव्य विद्या' [अर्थात् काव्य निर्माण में नैपुण्य] की [अभ्यासी शिष्य में]
संक्रान्ति होती है ॥

यहाँ शुश्रूषा शब्द का प्रयोग सेवा के अर्थ में किया गया है । यद्यपि
व्युत्पत्ति के अनुसार, श्रोतु इच्छा शुश्रूषा, अर्थात् सुनने की इच्छा यह शुश्रूषा

पदाधानोद्धरणमवेक्षणम् ॥ १, ३, १५ ॥

पदस्याधान न्यासः, उद्धरणमपसारणम् । नयो. खल्ववेक्षणम् ।
अत्र श्लोकौ :—

आधानोद्धरणे तावद् यावद्दोलायतेऽमनः ।

पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त मिद्धा सरस्वती ॥

यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् ।

तं शब्दन्यासनिष्णाता शब्दपाक प्रचक्षते ॥ १५ ॥

शब्द का व्युत्पत्तिसम्यक् अर्थ होता है । परन्तु यह शब्द सेवा के अर्थ में रुद्ध हो गया है । इसीलिए 'परिवृत्तस्य तु शुभ्रपा परिचर्यायुपासनम्' इस कोश में भी 'शुभ्रपा' शब्द सेवा या परिचर्या के अर्थ में मिलता है । इसी कोश के आधार पर ग्रन्थकार ने यहाँ सेवा के अर्थ में 'शुभ्रपा' पद का प्रयोग किया है और अन्यत्र भी इस अर्थ में शुभ्रपा पद का प्रचुर प्रयोग होता है ॥ १४ ॥

पद [विशेष] के [रचना में] रखने और हटाने [के द्वारा उसके सौन्दर्य और उपयोगिता की परीक्षा करने] को अवेक्षण कहते हैं ।

पद का आधान अर्थात् रचना, और उद्धरण अर्थात् निकालना उन दोनों [क्षणों] में [उसकी उपयोगिता की परीक्षा] अवेक्षण है । इस विषय में [निम्न लिखित] दो श्लोक हैं :—

जब तक मन [पद की उपयोगिता के विषय में] स्थिर नहीं होता तब तक पद का रखना और हटाना होता [ही] रहता है । और [कवि के पदों में] स्थिरता स्थापित हो जाने पर तो सरस्वती मिट्ट हई समझो ।

जिस [अवस्था] में [पहुँच कर कवि के] पद परिवर्तनसहस्र को छोड़ देते हैं [अर्थात् कवि ने जहाँ जो पद एक बार रख दिया उसको बदल कर कोई और अधिक सुन्दर शब्द वहाँ रख सकना सम्भव नहीं रहता है । कवि की] उस [स्थिति] को शब्द विन्यास में निपुण [महाकवि] 'शब्दपाक' [पद से] कहते हैं ॥ १५ ॥

इन दोनों श्लोकों को वामन के टीकाकार श्री गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल ने भामह का श्लोक बताया है । परन्तु भामह के काव्यालङ्कार में वे नहीं मिलते

कवित्वबीज प्रतिभानम् ॥ १, ३, १६ ॥

कवित्वस्य बीज कवित्वबीजम् । जन्मान्तरागतमंस्कारविशेष-
करिचत् । यस्माद्विना काव्य न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतन
स्यात् ॥ १६ ॥

हैं । सम्भव है यह भी अन्य बहुत से सग्रह श्लोकों के समान वामन के अपने
बनाए हुए सग्रह श्लोक ही हों । या फिर भामह के किसी अन्य ग्रन्थ से उद्धृत
किए गए हों जा श्रव नहीं मिलता है ।

इन श्लोकों में शब्दों की परिवर्तन की असहिष्णुता को सर्वोत्कृष्ट 'शब्द-
पाक' कहा गया है । परन्तु काव्यमीमांसा के देखने से विदित होता है कि महाकवि
राजशेखर की विदुषी पत्नी 'अवन्ति मुन्दरी' वामन के इस मत से सहमत नहीं
है । वह शब्दों की परिवर्तन की असहिष्णुता को कवि की शक्ति नहीं अपितु
अशक्ति का परिचायक मानती है । उनका कहना है कि महाकवि तो एक ही
अर्थ को दस तरह से वर्णन कर सकते हैं और सभी वर्णनों में अलौकिक चमत्कार
हो सकता है । इसलिए जिस कवि को एक अर्थ वर्णन करने के लिए एक प्रकार
के वाक्य को झोंड़ कर दूसरे प्रकार का वाक्य ही न पड़े वह कवि कैसा ?

१ इयमशक्तिर्न पुन पाक, इत्यवन्तिमुन्दरी । यदेकस्मिन् वस्तुनि
महाकवीनामनेकोऽपि पाठ परिपाकत्वात् भवति । तस्माद् रसोत्तिराब्धार्यसृजि-
निषम्भन पाकः ।

कवित्व का बीज प्रतिभा [जन्मसिद्ध सत्कार विशेष] है ।

कवित्व का बीज कवित्वबीज [यह पष्ठी-स्ततुरूप सभास कवित्वबीज
पद में है और उसका अर्थ] जन्मान्तरागत कोई [अपूर्व] सत्कार विशेष है ।
जिस [प्रतिभा] के बिना काव्य बनता ही नहीं श्रवण [जैसा सैसा कुछ]
धम भी जाय तो उपहास के योग्य होता है । [उस जन्म सिद्ध प्रतिभा का होना
कवि के लिए अनन्यत आवश्यक है] ॥ १६ ॥

हमने अपने 'साहित्यमीमांसा' नामक कारिकात्मक रचित ग्रन्थ में इस
विषय में इस प्रकार लिखा है :—

चित्तैकाग्र्यमवधानम् ॥ १, ३, १७ ॥

चित्तैकाग्र्यं बाह्यार्थनिवृत्तिस्तदवधानम् । अवहितं हि चित्तमर्थान्
पश्यति ॥ १७ ॥

तद्देवकालाभ्याम् । १, ३, १८ ।

तदवधानं देशात् कालाच्च ममुत्पद्यते ॥ १८ ॥

‘काव्ये वाऽथ कलाया वा प्रतिभैष प्रयोजिका ।

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ॥१८॥

प्रतिभाया वलादेव कथय. कान्तदर्शिन ।

भूत भव्य भवन्तञ्च पश्यन्ति वर्णयन्ति च ॥१९॥

दर्शनेऽप्युक्त, रूपाणा वर्णने च मनोहरे ।

कवीना मातृभूतेय प्रतिभैवोपयुज्यते ॥२०॥

अतोऽभिनवगुप्तस्य मइतौतोऽस्ति यो गुह ।

ऋषित्थ नेन सग्रोक्त कवीना काव्यकर्मणि ॥२१॥

‘मातृपि कविरित्युक्त कविश्च मिल दर्शनान् ।

विचित्रभाषधर्मोऽतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्’ ॥

काव्य के प्रकीर्ण साधनों में अन्तिम साधन ‘अवधान’ है । ‘अवधान’ का अर्थ चित्त की एकाग्रता है । अगले सूत्र में सूत्रकार उमी का लक्षण करते हैं ।

चित्त की एकाग्रता अवधान [कहलाती] है ।

चित्त की एकाग्रता अर्थात् बाह्य अर्थों से निवृत्ति अवधान [कहलाती] है । क्योंकि अवहित [एकाग्र] चित्त [ही] अर्थों को देखता है । [एकाग्रता के बिना कोई भी काम ठीक ढंग से नहीं होता है । इसलिए काव्य-रचना भी उसके बिना सम्भव नहीं है । इसलिए काव्य-रचना करते समय कवि के लिए एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है । वह चित्त की एकाग्रता कैसे प्राप्त हो इसके लिए सूत्रकार आगे कहते हैं ।] ॥ १७ ॥

वह [एकाग्रता रूप अवधान] देश और काल से [प्राप्त होता है ।]

वह अवधान [अर्थात् एकाग्र] देश और काल [विज्ञेय] से उत्पन्न होता है ॥ १८ ॥

विविक्तो देश । १, ३, १६ ।

विविक्तो निर्जनः ॥ १६ ॥

रात्रियामस्तुरीय काल । १, ३, २० ।

रात्रेर्यामो रात्रियाम प्रहरस्तुरीयश्चतुर्थः काल इति । तद्वशाद् विषयोपरत चित्तं प्रमथ्यमवयसे ॥ २० ॥

वह विशेष देश और काल कौन-से हैं जिनमें एकाग्रता उत्पन्न होती है यह कहते हैं—

विविक्त [अर्थात् निर्जन] देश [एकाग्रता के लिए आवश्यक] है ।

विविक्त [का अर्थ] निर्जन है । [स्थान की निर्जनता, चित्त की एकाग्रता-सम्पादन के लिए अत्यन्त आवश्यक है] ॥ १६ ॥

रात्रि का चौथा पहर [ब्राह्ममुहूर्त का काल चित्त की एकाग्रता के लिए सबसे अधिक उपयुक्त] काल है ।

रात्रि का याम रात्रियाम [यह पच्छी तत्पुरुष समाप्त] है । [याम का अर्थ] प्रहर है । तुरीय [का अर्थ] चतुर्थ । [रात्रि का चतुर्थ पहर, अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त का समय चित्त की एकाग्रता का उपयुक्त] काल है । उस [समय] के प्रभाव से विषयो से विरक्त और निर्मल चित्त एकाग्र हो जाता है । [वह समय काव्य निर्माण के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।]

ब्राह्ममुहूर्त का समय काव्य रचना आदि बौद्धिक कार्यों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त और अनुकूल है । उसमें नवीन भावों की स्फूर्ति होती है । इसलिए महाकवि कालिदास ने—

‘पश्चिमाद् यामिनीयामात्र प्रसादमिष चेतना ।’^१

यह पद लिखा है । महाकवि माघ ने भी लिखा है कि—

‘गहनमपरात्रप्राप्तलुब्धिप्रसादाः

कवय इव महीपान्चिन्त्यन्त्यर्यजातम् ॥२०॥

इस प्रकार इस अध्याय के इन प्रारम्भिक बीस सूत्रों में काव्य के साधनों

^१ रघुवत् १७, १ ।

^२ माघ ११, ६ ।

पवं काव्याङ्गान्युपदिश्य काव्यविशेषकथनार्थमाह—

काव्यं गद्यं पद्यञ्च । १, ३, २१ ।

गद्यस्य पूर्वनिर्देशो दुर्लभ्यविशेषत्वेन दुर्बन्धत्वात् । तथाहुः—

‘गद्यं कथीना निरूपं वदन्ति’ ॥ २१ ॥

तच्च त्रिधा भिन्नमिति दर्शयितुमाह—

गद्यं वृत्तगन्धिं चूर्णमुत्कलिकाप्रायञ्च । १, ३, २२ ।

तल्लक्षणान्याह—

पद्यभागवद् वृत्तगन्धिः । १, ३, २३ ।

पद्यस्य भागा पद्यभागा । तद्वद् वृत्तगन्धिः । यथा—

‘पातालतालुतलचामिषु दानयेषु’ इति ।

का निरूपण कर अब श्रगले १० सूत्रों में काव्य के भेदों का निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

इस प्रकार काव्य के साधनों का कथन करके काव्य के भेदों के निरूपण के लिए कहते हैं—

काव्यं गद्यं श्रीर पद्यं [रूप से दो प्रकार का] होता है ।

[काव्य के इन दोनों भेदों में से] गद्य का पहले निर्देश उसकी विशेषताओं के दुर्लभ और उसकी रचना के कठिन होने के कारण किया गया है । जैसा कि [लोकोक्ति में] कहा है—

गद्यं को कवियो को [प्रतिभा की] कसीदी कहते हैं ॥ २१ ॥

यह [गद्य] भी तीन प्रकार का होता है यह दिखलाने के लिए कहते हैं—

गद्यं (१) वृत्तगन्धिः, (२) चूर्णं, श्रीर (३) उत्कलिकाप्रायं [तीन प्रकार का] होता है ॥ २२ ॥

उन [तीनों गद्यभेदों] के लक्षण कहते हैं—

[जो गद्य पढ़ने में] पद्यभाग से युक्त [या उसके समान प्रतीत] हो [उसमें वृत्त अर्थात् छन्द की गन्ध होने से] उसको ‘वृत्तगन्धि’ कहते हैं ।

[‘पद्यभागवत्’ का समास कहते हैं] पद्य का भाग पद्यभाग [यह यही समास है] उससे युक्त [या उसके समान गद्य] ‘वृत्तगन्धि’ [कहलाता] है ।

जैसे—

पाताल के ताल के तले में रखे बाने दानवों में ।

इत्यादि दो श्लोक दिए हैं। उनको मी टीकाकार ने 'भामह' का ही श्लोक कहा है। परन्तु वह भी 'भामह' के इस 'काव्यालिङ्कार' में नहीं पाए जाते हैं। इससे जान पड़ता है कि 'काव्यालिङ्कार' के अतिरिक्त छन्द शास्त्र विषयक 'भामह' का कोई और ग्रन्थ भी रहा होगा जो इस समय मिलता नहीं है। यह श्लोक उसी ग्रन्थ से उद्धृत किए गये होंगे। 'भामह' के नाम से छन्दःशास्त्र विषयक कतिपय उद्धरण अन्य ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। स्वयं 'वृत्तरत्नाकर' की टीका में निम्ना-
द्धित श्लोक भामह के नाम से उद्धृत किये गए हैं।

तदुक्तं भामहोऽन—

१ श्रवणांन् सम्पत्तिर्भवति मुदिवर्णादनशता—
न्युवर्णादुच्यते. सरभसमृवर्णाद्वरहितात् ।
तथाह च. सौख्य इ-ज-ण रहितादक्षरमणान्
पदार्थो विन्यासात् मरबहलहाहाविरहितात् ॥१॥

तद्वक्त भामिने—

१६ देवतावाचका शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः ।
 ते सर्वे नैव निन्द्या स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा ॥२॥
 क खो गो धश्च लक्ष्मीं वितरति वियशो हस्तथा च मुख छ्
 मीति जो मित्रलाभ भयमरणकरो भनौ टठौ खेवदुःखे ।
 ड शोभा दो विशोभा भ्रमणमथ च हस्तः सुत धश्च मुद
 दो घ सौख्य मुद न सुखभयमरणक्लेशदुःख पवर्गः ॥३॥
 यो लक्ष्मी रश्च दाह व्यसनमथ लवौ श मुख पश्च खेद
 सः सौख्य हश्च खेदं विलयमपि च ल क्ष् सप्तुद्धिं करोति ।
 सयुक्त चेद न स्यान् सुखभरणपदुर्वर्णविन्यसयोत्ता
 पयादौ गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्राकृतादौ समोऽयम् ॥४॥

इसी प्रकार रावबमद्व ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक की टीका में 'क्षेम सर्वगुरुर्धत्ते मगणो भूमिदैवत, इति भामहोक्ते.' लिखकर 'भामह' के छन्द-शास्त्रविषयक मत का उल्लेख किया है। यह सब वर्तमान काव्याङ्कार में नहीं पाए जाते हैं। अतएव यह प्रतीत होता है कि 'भामह' कृत छन्द शास्त्र विषयक कोई और ग्रन्थ अवश्य था जो अब मिलता नहीं है। वृत्तस्तोत्र की टीका

* यस्मिन्नाकारे पृ० ६ ।

२. बृत्तरत्नाकर पृ० ७ ।

³ 'प्रभिज्ञान शोकुन्तलम्' निर्णय सागर सत्करण पृ० ४ ।

तदनिबद्ध निबद्धञ्च । १, ३, २७ ।

तदिदं गद्यपद्यरूपं कान्यमनिबद्धं निबद्धञ्च । अनयो प्रसिद्धत्वा-
ल्लक्षणं नोक्तम् ॥ २७ ॥

क्रमसिद्धिस्तयो स्तगुत्तसवत् १, ३, २८ ।

तयोरित्यनिबद्धं निबद्धञ्च परामृश्येते । क्रमेणसिद्धिः क्रमसिद्धिः ।
अनिबद्धसिद्धौ निबद्धसिद्धिः । यथा सर्जि मालाया सिद्धाया, उत्तंस,
शेखरः सिद्ध्यतीति ॥ २८ ॥

तथा 'कान्वालाङ्गारस्रगृत्ति' की टीका के प्रकृत उद्धरण उसी से लिए गए जान पड़ते हैं ॥ २६ ॥

गद्य और पद्य दोनों प्रकार की रचनाएँ पहिले अनिबद्ध अर्थात् परस्पर असम्बद्ध फुटकर 'मुक्तक' रूप में होती हैं । फिर जब कवि को रचना का अभ्यास हो जाता है तब वह एक सम्बद्ध गद्य अथवा पद्यात्मक 'प्रबन्ध' काव्य, नाटक, आख्यायिका आदि की रचना करता है । इसी बात को ग्रन्थकार अगले प्रकारण में कहते हैं ।

यह [गद्य गद्यात्मक काव्य प्रकारान्तर से] अनिबद्ध [फुटकर मुक्तक आदि रूप में] और निबद्ध [परस्पर सम्बद्ध खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि रूप में] दो प्रकार के होते हैं ।

यह गद्य और पद्य रूप काव्य अनिबद्ध [परस्पर असम्बद्ध, फुटकर मुक्तक आदि रूप] और निबद्ध [परस्पर सम्बद्ध प्रबन्धकाव्य का खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि रूप से] दो प्रकार का होता है । इन दोनों [मुक्तक अनिबद्ध, और निबद्ध प्रबन्धकाव्यों] के प्रसिद्ध होने से [यहा उनके] लक्षण नहीं कहे हैं ॥ २७ ॥

माला और मोर [शेखर] के समान उन दोनों [अनिबद्ध और निबद्ध काव्यों] की सिद्धि क्रमशः होती है ।

'तयो' पद से अनिबद्ध और निबद्ध का ग्रहण होता है । क्रम से सिद्धि क्रमसिद्धि [यह तृतीया तत्पुरुष सप्रस] है । अनिबद्ध [मुक्तक] की सिद्धि हो जाने पर निबद्ध, [प्रबन्ध काव्य] की सिद्धि होती है । माला और मोर के समान । जैसे स्रक् अर्थात् माला के बन जाने पर [उससे ही] उत्तंस अर्थात् मोर [मुकुट शेखर] बन जाता है ॥ २८ ॥

केचिदनिबद्धा एव पर्यवसितास्तद्दूषणार्थमाह—

नानिवद्ध चकास्त्येकतेज परमाणुवत् । १, ३, २६ ।

न एत्वनिबद्धं काव्य चकास्ति, दीप्यते । यथैकतेजःपरमाणुरिति ।

अत्र श्लोक —

असङ्कलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता ।

न प्रत्येक प्रकाशन्ते तैजसाः परमाणवः ॥२६॥

सन्दर्भेषु दशरूपक श्रेयः । १, २, ३० ।

सन्दर्भेषु प्रबन्धेषु दशरूपक नाटकादि श्रेयः ॥ ३० ॥

कस्मात् तदाह—

तद्वि चित्र चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात् । १, ३, ३१ ।

तद् दशरूपकं हि यस्माच्चित्रं चित्रपटवत् । विशेषाणां साकल्यात् ॥ ३१ ॥

कुछ [काव्य] मुक्तकों [की रचना] में ही समाप्त हो जाते हैं उनका बोध दखलाने के लिए कहते हैं—

[अग्नि के अकेले परमाणु के समान मुक्तक अकेला शोभित नहीं होता है ।] जैसे अग्नि का एक परमाणु नहीं चमकता है । इसी प्रकार अनिवद्ध [मुक्तक] काव्य प्रकाशित नहीं होता है । इसी विषय में यह निम्न श्लोक है—

असङ्कलित [मुक्तक] काव्यों में आरुता नहीं आती । जैसे अग्नि के अलग-अलग परमाणु नहीं चमकते हैं [मिल कर ही चमकते हैं । इसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य ही शोभित होते हैं । 'मुक्तक' उतने शोभित नहीं होते ।] ॥२६॥

प्रबन्ध काव्यों में दस प्रकार के रूपक उत्तम होते हैं ।

सन्दर्भ अर्थात् प्रबन्ध काव्यों में दश रूपक नाटकादि उत्तम होते हैं ॥ ३० ॥

वह [प्रबन्ध काव्यों में दशरूपक की उत्तमता] क्यों है यह बतलाते हैं—

वह [दश प्रकार के रूपक] चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त होने के कारण चित्र रूप [आश्चर्यकारक तथा आनन्ददायक] है ।

क्योंकि वह दश प्रकार के रूपक चित्रपट के समान चित्ररूप [अभिनय के चित्ररूप अथवा आश्चर्यकारक तथा आनन्ददायक] हैं समस्त गुणों से पूर्ण होने से [और चित्ररूप होने से वह चित्रपट के समान आश्चर्यक है ।]

चित्रपट का प्रयोग यहा आजकल के प्रचलित चित्रपट अर्थ में लेना

ततोऽन्यभेदवर्लृप्ति । १, ३, ३२ ।

अधिक उपयुक्त है आधुनिक चित्रपट में आख्यायिका, गीति, वस्तुविन्यासादि सब कुछ होता है । इसी प्रकार चित्रपट पर प्रदर्शित होने वाले प्राचीन अभिनयों में भी आख्यायिका गीति आदि रहती थीं । इसी लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि काव्य के आख्यायिका, गीतिकाव्य, महाकाव्य आदि अन्य भेदों की कल्पना चित्रपटमय दशरूपक से ही की गई है ।

साहित्य शास्त्र में ऐतिहासिक दृष्टि से काव्य और नाटक के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में तीन प्रकार के मत पाए जाते हैं । सबसे पहिले मत में काव्यों में नाटक का ही प्राधान्य माना जाता था । इसलिए भरत मुनि ने अपने साहित्य ग्रन्थ का निर्माण 'नाट्य शास्त्र' के रूप में ही किया था । वामन भी इसी मत की ओर सकेत कर रहे हैं । उनके कथनानुसार प्रबन्ध काव्यों में दश रूपक ही सर्वश्रेष्ठ हैं । उन्हीं से आख्यायिका, महाकाव्य आदि की कल्पना की गई है । दूसरे मत में नाटकादि से भिन्न महाकाव्य आदि का अलग स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाता है । इसके विपरीत तीसरे मत में महाकाव्यों में ही नाटकों का माना जाता है । उस मत के अनुसार काव्य का निरूपण करने वाले ग्रन्थों में एक अश विशेष के रूप में नाटकों का निरूपण किया जाता है । जैसे साहित्य-दर्पण ग्रन्थ में दश परिच्छेदों में एक छठे परिच्छेद में नाटकों का निरूपण किया गया है ।

इन तीन मतों में से वामन प्रथम मत के समर्थक हैं । अर्थात् प्रबन्ध काव्यों में दशरूपकों को उत्तम मानते हैं । भरत के 'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याकार 'अभिनयगुप्त' ने भी 'काव्य तावन्मुख्यतो दशरूपात्मकमेव' लिख कर दशरूपक की ही प्रधानता प्रतिपादित की है । परन्तु इसके विपरीत ऐसा भी एक पक्ष साहित्य में पाया जाता है जो कि अभिनेय दशरूपकों की अपेक्षा काव्य को और अभिनेताओं की अपेक्षा कवि को अधिक महत्व देता है । इस मत का प्रतिपादन करने वाले 'भोजराज' हैं । उन्होंने अपने ग्रन्थ में लिखा है —

‘ततोऽभिनेतृभ्यः’ कवीनेव बहु मन्यामहे अभिनेयेभ्यश्च काव्यमिति ।

परन्तु वामन 'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेय' इसी पक्ष में मानने वाले हैं । उनके मत में काव्यादि अन्य भेदों की कल्पना दशरूपक के आधार पर ही हुई है । इसी बात को वह अगले सूत्र में लिख रहे हैं ।

उत्त [दशरूपक] से [काव्य आख्यायिका आदि साहित्य के] ग्रन्थ भेदों की कल्पना की जाती है ।

ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां कल्पितं. कल्पनमिति । दशरूप-
कस्यैव हीदं सर्वं विलसितम् । यच्च कथाख्यायिकं महाकाव्यमिति ।
तल्लक्षणञ्च नातीव हृदयज्जममित्युपेक्षितमस्माभिः । तदन्यतो
प्राह्यम् ॥ ३२ ॥

उक्त दशरूपक से [काव्यादि] अन्य भेदों की कल्पित अर्थात् कल्पना
होती है । यह सब जो कथा, अष्टाध्यायिका और महाकाव्य आदि हैं दशरूपक
का ही विस्तार मात्र हैं । उनके लक्षण अधिक अनोखे नहीं हैं इसलिए
हमने उनकी यहाँ उपेक्षा कर दी है । उनका ज्ञान अन्य ग्रन्थों से प्राप्त कर
लेना चाहिए ॥ ३२ ॥

इसमें कथा और आख्यायिका दो शब्दों का प्रयोग ग्रन्थकार ने किया
है । यह दोनों पद सामान्यतः कथा के ही बोधक हैं परन्तु उन दोनों में
पारिभाषिक अन्तर यह है कि उच्छ्वास आदि भागों में निबद्ध और वच्चा-
प्रतिवच्चा आदि युक्त कथा 'आख्यायिका', और उनसे रहित कथा 'कथा'
कहलाती है । ^१ पद्म्यालोककार ने परिकथा, सकलकथा और खण्डकथा नाम से
कथाओं के तीन भेद और भी दिखाए हैं । उनमें से धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष
किसी एक पुरुषार्थ के सम्बन्ध में बहुत-सी कथाओं का समूह 'परिकथा' कहलाता
है । फलपर्यन्त सम्पूर्ण इतिवृत्त को कहने वाली कथा 'सकलकथा' और उसके
किसी एक देश को कहने वाली कथा 'खण्डकथा' कहलाती है ।

'भामह' के मतानुसार काव्य के भेद .—

भामह ने अपने काव्यालङ्कार में काव्य के भेद इस प्रकार किए हैं .—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्य पद्यञ्च तद् द्विधा ।

संस्कृतं प्राकृतञ्चाग्न्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥ १६ ॥

वृत्तं देवादित्तरितशशि चोत्साद्यवस्तु च ।

कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः ॥ १७ ॥

सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे ।

अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पञ्चशेष्यते ॥ १८ ॥

अर्थात् रचना शैली की दृष्टि से विभाग करने पर काव्य के (१) गद्य
और (२) पद्य यह दो भेद होते हैं । दूसरी प्रकार से भाषा के आधार पर काव्य के

(१) संस्कृत काव्य, (२) प्राकृत काव्य, और (३) अपभ्रंश काव्य यह तीन भेद किए जा सकते हैं। विषय की दृष्टि से यदि काव्य का विभाग किया जाय तो (१) ऐतिहासिक चरित्र वाले काव्य, (२) कल्पित वस्तु वाले काव्य, (३) बला-प्रधान काव्य और (४) 'भट्टिकाव्य' सदृश शास्त्रप्रधान काव्य यह चार भेद किए जा सकते हैं। शैली की दृष्टि से ही अन्य प्रकार से (१) सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य, (२) अभिनेयार्थ अर्थात् नाटक, (३) आख्यायिका तथा, (४) कथा यह चार प्रकार के प्रबन्ध काव्य और (५) पञ्चवा अनियत अर्थात् मुक्तक काव्य यह पांच प्रकार के काव्य के भेद किए जा सकते हैं। इन भेदों का निरूपण करते हुए 'भामह' ने सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य का वर्णन इस प्रकार किया है.

‘सर्गबन्धो महाकाव्य महताञ्च महश्च यत् ।

अप्राप्त्यनुदसर्गञ्च सालङ्कार सदाश्रयम् ॥ १६ ॥

मन्त्रदूतप्रयाणाभिनायकान्मुदयैश्च यत् ।

पञ्चमि. सन्धिभिर्बुधैर्नातिव्याख्येयमुद्धिमत् ॥ २० ॥

चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसाद्योपदेशहत् ।

युक्त लोकरत्नमाद्येन रसेश्च सकलै पृथक् ॥ २१ ॥

नाथक प्रागुपन्यस्य वशवीर्यश्रुतादिभिः ।

न तस्यैव वध ब्रूयादन्त्योत्कर्षाभिर्धिसया ॥ २२ ॥

यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते ।

न चान्युदयभाक् तस्य सुधादो ग्रहणस्तथै ॥ २३ ॥

सर्गबन्ध महाकाव्य कहलाता है। उसमें महाकाव्य कहने के दो कारण हैं एक तो यह कि उसमें महापुरुषों के चरित्र का वर्णन होता है और दूसरा यह कि वह रस भी महत् होता है। 'महताञ्च महश्च' होने से ही उनको महाकाव्य कहते हैं। उसमें प्राप्ति शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। उत्कृष्ट अर्थ से युक्त अलङ्कारों से अलङ्कृत और उत्तम गुणों का आश्रय होना चाहिए। (१) मन्त्र-सन्धि अर्थात् विजयादि विषयक विनार, (२) दूतसन्धि अर्थात् दूतप्रेरणादि, (३) प्रयाण सन्धि अर्थात् विजययात्रा, (४) युद्ध सन्धि अर्थात् युद्ध का वर्णन और (५) नायकान्मुदयसन्धि अर्थात् नायक की विजय प्राप्ति रूप पांच सन्धियों से युक्त, अत्यन्त लम्बे और कठिन व्याख्या योग्य प्रसङ्गों से रहित और गुण अलङ्कारादि से समृद्ध महाकाव्य होता है। उसमें चतुर्वर्ग का वर्णन होने पर भी अधिकतर

‘अर्थ’ अर्थात् लौकिक अभ्युदय का उपदेश प्राधान्येन होना चाहिए। लोकस्वभाव से मुक्त और अपने-अपने स्थान पर समुचित रीति से अलग-अलग वर्णित समस्त रसों से युक्त होना चाहिए। वश, पराक्रम अथवा ज्ञान आदि कारणों से जिसे पहिले नायक रूप में महाकाव्य में चित्रित किया जाय बाद में किसी अन्य प्रतिनायक आदि का उत्कर्ष दिखलाने के लिए उसका वध वर्णन नहीं करना चाहिए। यदि उस नायक को सारे कथा रूप शरीर में व्यापक रखना अभीष्ट नहीं है तो आदि में उसका नायक रूप से ग्रहण करना और उसकी स्तुति आदि करना श्रद्धा है। अर्थात् जिसको एक बार महाकाव्य का नायक मान लिया है उसका वध आदि दिखा कर उसको बीच में नहीं छोड़ देना चाहिए।

यह साधारणतः महाकाव्य के विषय में ‘भामह’ का निरूपण है। आगे ‘अभिनेयार्थ’ नाटक आदि का निरूपण ‘भामह’ ने इस प्रकार किया है—

१ नाटक द्विपदीशम्यारासकस्कन्धादि यत्।

उक्त तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः ॥ २४ ॥

अर्थात् नाटक, द्विपदी, शम्या, रासक और स्कन्धादि जो पांच प्रकार के काव्य हैं वह ‘अभिनेयार्थ’ काव्य कहलाते हैं। भरत नाट्यशास्त्र आदि में उनका विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। इसलिए हम यहाँ उनका निरूपण नहीं करेंगे।

काव्य के तीसरे भेद ‘आख्यायिका’ का लक्षण ‘भामह’ ने इस प्रकार किया है—

२ प्राकृतानाकुलश्रवणार्थपदवृत्तिना।

गद्येन मुक्तोदात्तार्था रोच्यवासाख्यायिका मता ॥ २५ ॥

वृत्तमाख्यायते तस्या नायकेन स्वचेष्टितम्।

वदन्न च परवदन्न च काले भाव्यार्थशसि च ॥ २६ ॥

अर्थात् गद्य रूप में अच्छे वाकों में विभक्त करके लिखी गई, विषय के अनुकूल, उपयुक्त, सुनने में अच्छे लगने वाले शब्द, अर्थ और समास आदि से युक्त उत्तम वर्ण्य वस्तु वाली रचना ‘आख्यायिका’ कहलाती है। उसमें वक्ता प्रतिवक्ता के वार्तालाप आदि के रूप में नायक अपने पूर्वानुष्ठित और समय पर होने वाली समृद्धि की सूचना से युक्त वृत्तान्त का वर्णन करता है।

काव्य के चौथे भेद ‘कथा’ का लक्षण करते हुए ‘भामह’ ने लिखा है—

३ कथंभिप्रायवृत्तैः कथानैः कैश्चिदङ्गिता।

कन्याहरणसग्राम - विप्रलम्भोदयान्विता ॥ २७ ॥

न वक्त्रापरवक्त्राभ्या युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि ।

सस्रुत सस्रुता चेष्टा कथापत्र शमाक्तया ॥ २८ ॥

अन्ये स्वचरित तस्या नायकेन ॥ नोच्यते ।

स्वगुणाविष्टृतिं कुर्यादभिजात कथं जन ॥ २९ ॥

अर्थात् वक्ता, प्रतिवक्ता तथा उच्छ्वास आदि विभागों से रहित कन्या के हरण, उसके कारण सग्राम, उसके विप्रलम्भ, पुन प्राप्ति रूप उदय आदि के वर्णन से युक्त, कवि के स्वकल्पित कथानक के आधार पर सस्रुत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश भाषा में लिखी गई कथा 'कथा' नाम से कही जाती है । उसमें अन्य लोग अपने तथा नायक के चरित्रादि का वर्णन करते हैं । नायक अपने चरित्र का वर्णन नहीं करता है । क्योंकि कोई अभिजात कुलीन व्यक्ति अपने गुणों को स्वयं अपने मुख से वर्णन करे यह उचित प्रतीत नहीं होता है ।

इमं कं आगे 'मुक्तक' काव्य का वर्णन करते हुए 'भामह' ने लिखा है—

अनिबद्ध पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत पुन ।

युक्त वक्त्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतद्विष्यते ॥ ३० ॥

अर्थात् वक्तव्य अथवा स्वभावोक्ति युक्त गाथा या श्लोकमात्र आदि रूप में लिखे गए काव्य को अनिबद्ध अर्थात् 'मुक्तक' काव्य कहते हैं ।

इम प्रकार 'भामह' ने 'वामन' की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तार से काव्य के भेदों का निरूपण किया है ।

द्वन्द्वालोक के अनुसार काव्य के भेद—

द्वन्द्वालोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने प्रसङ्गत, काव्य के भेदों का निरूपण करते हुए लिखा है—

यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तक सस्रुतप्राकृतापभ्रंशनिबद्ध, सन्दानितक-विशेषक-कलापक-कुलकानि, पर्यायबन्ध, परिकथा, सशब्दकथा सकलकथे, सर्ग-बन्धोऽभिनेयार्थ आख्यायिका-कथे, इत्येवमादयः ।

अर्थात् काव्य सस्रुत, प्राकृत या अपभ्रंश में लिखे गए 'मुक्तक' [जैसे गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती और अमरकशतक आदि] सन्दानितक [दो श्लोकों में अन्वय होने वाले शुग्म श्लोक], विशेषक [तीन श्लोकों में

^१ भामह का० अ० १, २७-२९ । ^२ भामह का० अ० १, ३० ।

^३ द्वन्द्वालोक पृ० २५० ।

इति पण्डितवरत्नामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ

‘शारीर’ प्रथमाधिकरणे तृतीयोऽध्यायः ।

काव्याङ्गानि काव्यविशेषाश्च ।

समाप्तञ्चेदं ‘शारीर’ प्रथममधिकरणम् ॥

—०—

एक साथ अन्वय होने वाले श्लोक], कलापक [चार श्लोकों में एक साथ अन्वय होने वाले श्लोक], कुलक [पांच या अधिक श्लोकों का एक साथ अन्वय होने वाले श्लोक], यह सब ‘मुक्तक’ काव्य के भेद हैं । मुक्तक आदि का वर्णन अग्नि पुराण में इस प्रकार किया गया है—

मुक्तक श्लोक एवैकस्वमत्कारजम् सताम् ।

द्वागंशु शुभ्रम् ज्ञेयं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।

चतुर्भिस्तु कलापः स्यात् पञ्चभिः कुलकं मतम् ॥

लोचनकार ने प्रबन्ध-काव्यों के अन्तर्गत भी ‘मुक्तकों’ की सत्ता स्वीकार करते हुए भण्डूत के ‘त्वामालिङ्ग्य प्रणयमुपिता धातुरागै शिलायाम्’ इत्यादि ४२वें श्लोक को ‘मुक्तक’ माना है ।

वसन्त-वर्णनादि रूप किसी एक उद्देश्य से प्रवृत्त काव्य को ‘पर्यायबन्ध’ कहा जाता है । लोचनकार ने लिखा है—‘वसन्तवर्णनादिरेकवर्णनोद्देशेन प्रवृत्त पर्यायबन्ध’ । इसी प्रकार ‘एक धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रसारवैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रकारा परिकथा ।’ अर्थात् धर्म, अर्थ आदि में से किसी एक पुष्पार्थ के उद्देश्य से नाना प्रकार से अनन्त वृत्तान्तों का वर्णन करने वाली कथा ‘परिकथा’ कही जाती है । सकल-कथा तथा स्वलक्ष-कथाएँ केवल प्राकृत भाषा में प्रसिद्ध हैं । उनमें कुलकादि का बहुत प्रयोग होता है । आख्यायिका और कथा का भागद्वय भेद ही प्राक्. सर्वत्र मान्य हुआ है ।

श्री पण्डितवरत्नामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में

प्रथम ‘शारीर अधिकरण’ में तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।

काव्य के ग्रन्थ और काव्य के भेद समाप्त हुए ।

और यह ‘शारीर’ प्रथम अधिकरण समाप्त हुआ ।

—०—

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिदान्तशिरोमणिविरचिताया

‘काव्यालङ्कारदीपिकाया’ हिन्दीव्याख्याया

प्रथमे शारीराधिकरणे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ।

समाप्तञ्चेदं ‘शारीर’ प्रथममधिकरणम् ।

‘दोषदर्शन’ नाम द्वितीयमधिकरणम्

प्रथमोऽध्यायः

[पद-पदार्थ-दोष-विभागः]

‘दोषदर्शन’ नामक द्वितीय अधिकरण में प्रथम अध्याय

[पद तथा पदार्थ के दोषों का विभाग]

इस प्रश्न के प्रथम अधिकरण का नाम ‘शरीर’ अधिकरण था । उसमें काव्य के शरीर का निरूपण किया गया था । शरीर-सौन्दर्य के लिए उसका सत्कार अपेक्षित है और वह सत्कार मुख्यतः दो प्रकार से होता है। एक ‘दोषाप-नयन’ रूप सत्कार और दूसरा ‘गुणाधान’ रूप सत्कार । साधारणतः अपने भौतिक शरीर के सत्कार में प्रवृत्त पुरुष पहले हाथ, पैर, मुख आदि धोने और स्नान आदि से शरीर की शुद्धि अथवा ‘दोषापनयन’ रूप सत्कार करता है । उसके बाद मुगन्धित तैल आदि लगा कर ‘गुणाधान’ रूप सत्कार करता है । इसी क्रम से ग्रन्थकार काव्यशरीर के सत्कार के लिए प्रवृत्त होकर पहिले ‘दोषापनयन’ के लिए दोषों का निरूपण प्रारम्भ करते हैं । इस द्वितीय अधिकरण का नाम उन्होंने ‘दोषदर्शनाधिकरण’ रखा है । दोषा इत्यन्ते अस्मिन् इति ‘दोषदर्शनम्’ । इस प्रकार अधिकरणार्थ में ल्युट् प्रत्यय मान कर यह शब्द सिद्ध किया है । और इसी अधिकरणार्थ में प्रत्यय करके इस अधिकरण का नाम ‘दोषदर्शन’ अधिकरण रखा है ।

शब्द और अर्थ दोनों मिल कर काव्य के शरीर हैं । इसलिए काव्य शरीर के सत्कार के लिए दोनों का ही संस्कृत होना आवश्यक है । अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों में ‘दोषापनयन’ और ‘गुणाधान’ रूप दोनों प्रकार के सत्कार होने चाहिए । इसलिए शब्द और अर्थ दोनों के ‘दोष’ और शब्द और अर्थ दोनों के ‘गुणों’ का परिज्ञान आवश्यक है । इसलिए ग्रन्थकार ने इस अधिकरण के दो भाग या अध्याय बनाए हैं । प्रथम अध्याय में ‘शब्द दोषों’ का और दूसरे अध्याय में ‘अर्थ दोषों’ का निरूपण किया है । इसी आधार पर उन्होंने ‘शब्द गुण’ और ‘अर्थ गुणों’ का विभाग भी किया है । इस रूप में गुणों का द्विविध विभाग करने का श्रेय केवल वामन को ही प्राप्त है । यहाँ प्रथम अध्याय में ‘शब्द दोषों’ का निरूपण करना है । उस शब्द के भी दो भेद हैं एक ‘पद’ रूप शब्द

काव्यशरीरे स्थापिते काव्यसौन्दर्यान्नेपहेतवस्त्यागाय दोषा विज्ञा-
तव्या इति 'दोषदर्शन' नामाधिकरणमारभ्यते । दोषस्वरूपकथनार्थमाह—
गुणविपर्ययात्मानो दोषा । १, १, १ ।

गुणानां वक्ष्यमाणानां ये विपर्ययास्तदात्मानो दोषा ॥ १ ॥

और दूसरा 'वाक्य' रूप शब्द । इसलिए इस प्रथमाध्याय में पद दोष तथा वाक्य दोषों का निरूपण किया गया है । उन दोषों के विवेचन के भी पूर्व दोष का सामान्य लक्षण होना आवश्यक है इसलिए ग्रन्थकार सबसे प्रथम पूर्व अधि-
करण के साथ इस अधिकरण की सङ्गति दिखाते हुए दोष का सामान्य लक्षण करके इस अध्याय में पद और वाक्यगत दो प्रकार के शब्द दोष का निरूपण करेंगे ।

[प्रथम शरीर अधिकरण में] काव्य के शरीर ही स्थापना हो जाने पर काव्य के सौन्दर्य के विघातक दोषों के परित्याग के लिए [उन] दोषों का ज्ञान आवश्यक है । इसलिए 'दोषदर्शन' नामक [द्वितीय] अधिकरण को प्रारम्भ करते हैं । [उसमें भी सबसे पहले] दोष के [सामान्य] स्वरूप का कथन करने के लिए कहते हैं —

गुणों के विपरीत स्वरूप वाले दोष होते हैं ।

जो, प्रागे कहे जाने वाले गुणों के [विपरीयन्ते इति विपर्यया विपरीता ,
कर्माणिश्च प्राप्यते] विपरीत स्वरूप से युक्त हैं, वह दोष [कहलाते] हैं ।

इसका अभिप्राय यह है कि गुणों के विपर्यय का अर्थ गुणों का अभाव भी हो सकता है । उस दशा में गुणाभाव का नाम दोष होने से दोष अभावरूप होंगे । परन्तु ग्रन्थकार दोषों को अभाव रूप नहीं अपितु गुणविरोधी भावभूत मानते हैं । इसीलिए उन्होंने आत्म शब्द का भी प्रयोग किया है । उसी के साथ सङ्गति लगाने के लिए विपर्यय शब्द का अर्थ अभाव न करके 'विपरीयन्ते विरुद्ध गच्छन्ति इति विपर्यया,' यह करना उचित है । अर्थात् उस विपर्यय के साथ जुड़ा हुआ आत्म शब्द दोषों की भावरूपता को और भी अधिक स्पष्ट करता है । अर्थात् गुणों के विपरीत विरुद्धगामी स्वरूपवाले दोष होते हैं । यह दोष का सामान्य लक्षण हुआ ॥ १ ॥

यह प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि दोष गुणों के विरुद्धगामी ही हैं तो गुणों के ज्ञान से ही उनका ज्ञान हो सकता है । उनके लक्षण आदि करने

अर्थतस्तदवगम । २, १, २ ।

गुणस्वरूपनिरूपणात् तेषा दोषाणा अर्थद्वयगमोऽर्थ-
मिद्वि ॥ २ ॥

किमर्थन्ते पृथक् प्रपञ्च्यन्त इत्याह—

सौकर्याय प्रपञ्च । १, १, ३ ।

सौकर्याय प्रपञ्चो विस्तरो दोषाणाम् । उद्दिष्टा लक्षिता द्वि दोषा
मुज्जाना भवन्ति ॥ ३ ॥

की आवश्यकता नहीं है । फिर दोष निरूपण के लिए हम 'दोषदर्शन' अधिकरण की रचना आपने क्यों की है ? ग्रन्थकार हम प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि यह ठीक है कि गुणों के परिज्ञान से भी उनका विरोधी दोषों का ज्ञान हो सकता है । परन्तु यदि उनका माद्वान् लक्षण कर दिया जाय तो पाठकों को अधिक सरलता होगी इसलिए पाठकों के सौकर्य के लिए यहाँ दोषों का प्रपञ्च अथवा निरूपण किया है । इसी पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्ष को अगल दो सूत्रों में दिखलाते हैं ।

[प्रश्न] अर्थापत्ति से उन [गुणविरोधी दोषों] का ज्ञान हो सकता है ।

गुणों के स्वरूप के निरूपण में उन दोषों का अर्थापत्ति से ज्ञान या अभ्यु-
त्तिहि हो सकती है ॥ २ ॥

[फिर] उनका पृथक् निरूपण किम लिए कर रहे हैं, यह कहते हैं—

[उत्तर—पाठकों को] सरलता के लिए [दोषों का] प्रपञ्च [विस्तार]
किया है ।

सुगमता के लिए प्रपञ्च अर्थात् दोषों का विस्तृत विवेचन [किया]
है । [दोषों के] नाम गिना देने [उद्देश] और लक्षण कर देने से दोष सरलता
से समझ में आते हैं ।

यहाँ वृत्तिग्रन्थ में 'उद्देश' तथा 'लक्षण' शब्दों का प्रयोग किया गया है । 'उद्देश' का अर्थ 'नाममात्र का कथन करना' अर्थात् अभिमत पदार्थों का केवल नाम गिना देना है । 'नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनमुद्देशः' । और 'लक्षणान् असाधारणधर्मवचनम्' । असाधारण धर्म का कथन करना लक्षण कहलाता है । जैसे 'गन्धवती पृथिवी' अथवा 'सास्नादिमत्त्व गोत्वम्' यह पृथिवी तथा गौ के लक्षण हैं । अभिमत पदार्थों के नाम गिनाकर उनके असाधारण धर्मों को बताने से अर्थात् लक्षण कर देने से यदार्थ मली प्रकार समझ में आ जाते हैं । इसीलिए

पददोषान् दर्शयितुमाह—

दुष्ट पदमसाधु कष्ट ग्राम्यमप्रतीतमनर्थकञ्च । २, १, ४ ।

उद्देश तथा लक्षण कर्त्तव्य की पद्धति सर्वत्र पारि जाती है । न्याय शास्त्र में त्रिविध शास्त्र प्रवृत्ति का वर्णन आया है । अर्थात् उसमें 'उद्देश' और 'लक्षण' इन दो के साथ 'परीक्षा' को और बढ़ा दिया गया है । इन तीनों रूपों में न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति होती है । परन्तु वैशेषिक आदि दर्शनों में 'परीक्षा' को छोड़ कर 'उद्देश' तथा 'लक्षण' रूप द्विविध शास्त्र प्रवृत्ति का ही वर्णन किया गया है । यहाँ बामन ने भी 'उद्देश' तथा 'लक्षण' दो का ही कथन किया है ।

इस अभिप्राय में स्थूल रूप से ही प्रतीत होने वाले काव्य के असाधुता-पादक स्थूल दोषों का ही निरूपण किया गया है । आगे ग्रन्थकार लिखेंगे कि 'ये स्वल्पे शब्दार्थदोषा, सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने वक्ष्यन्ते' । इस पंक्ति से यह अभिप्राय निकलता है कि यहाँ निरूपण किए जाने वाले दोष, स्थूल दोष ही हैं, सूक्ष्म दोष नहीं । गुण निरूपण स्वरूप सूक्ष्म दोषों का निरूपण गुणनिरूपण के प्रसङ्ग में किया जायगा ॥३॥

इस प्रकार दोष का सामान्य लक्षण और उसके निरूपण की उपयोगिता का प्रतिपादन करके अब दोषों का निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

पद दोषों को दिलताने के लिए कहते हैं—

१ असाधुपद, २ कष्टपद, ३ ग्राम्यपद, ४ अप्रतीतपद, और ५ अनर्थक पद [यह पाँच प्रकार के पददोष प्रत्येक] दुष्ट पद होते हैं ॥४॥

शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं । उनमें से शब्द, पद और वाक्य रूप, तथा अर्थ, पदार्थ, वाक्यार्थ रूप से दो-दो प्रकार के हैं । पद और पदार्थ की प्रतीति हो जाने के बाद ही वाक्य और वाक्यार्थ की प्रतीति हो सकती है । इसलिए वाक्य या वाक्यार्थ के दोषों के निरूपण के पूर्व पद और पदार्थ के दोषों का निरूपण किया है । उनमें भी पद से ही पदार्थ की प्रतीति हो सकती है इसलिए पदार्थ दोषों की अपेक्षा पद-दोषों का निरूपण पहिले किया है ।

यह सूत्र पद दोषों का 'उद्देश' सूत्र है । इसमें पद दोषों के नामों का सङ्कीर्तन मात्र किया गया है । उनके लक्षण आदि आगे किए जायेंगे । सूत्र में आया 'पद' शब्द असाधु, कष्ट, ग्राम्य, अप्रतीत और अनर्थक इन पाँचों के साथ जोड़ कर असाधुपद, कष्टपद, ग्राम्यपद, अप्रतीतपद, और अनर्थकपद यह पाँच प्रकार के पददोष समझने चाहिए । यहाँ सूत्रकार ने केवल पाँच प्रकार के ही

क्रमेण व्याख्यातुमाह—

शब्दस्मृतिविरुद्धमसाधु । २, १, ५ ।

शब्दस्मृत्या व्याकरणेन विरुद्धं पदमसाधु । यथा 'अन्यकारक-
वैयर्थ्यम्' इति । अत्र हि,

१ 'अपष्टवृत्तीयास्यस्याऽन्यस्य दुक् आशीरारास्यास्थितोत्सुकीति-
कारकरागच्छेषु' इति दुष्ठा भवितव्यम् इति ॥ ५ ॥

पददोषों का निरूपण किया है परन्तु वामन के बाद दोषों की संख्या में वृद्धि होकर अन्त ॥ साहित्यदर्पण के युग में पहुँच कर पाँच की जगह १८ प्रकार के पद दोष हो गए हैं । साहित्यदर्पणकार ने उनको इस प्रकार गिनाया है—

१ दुःश्रवत्रिविधाश्लीलानुचिनायांप्रयुक्ता ।	६
ग्राम्याप्रतीतिसन्दिग्धनेयार्यनिहितार्थता ॥	५
अवाचकत्वं क्लृप्तत्वं विरुद्धमतिकारिणा ।	३
अभिमृष्टविषयाशुभावश्च पदवाक्ययो ॥	१
दोषाः कंचिद् भवन्त्येषु पदाशेषेऽपि पदे परे ।	—
निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा ॥	३
	१८

[उद्देश के] कम से व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

व्याकरणशास्त्र के विपरीत [शब्द का प्रयोग] 'असाधु' [पद], कहलाता है ।

शब्दस्मृति अर्थात् व्याकरणशास्त्र से विरुद्ध पद 'असाधु' [पद] कहलाता है । अंशे, अन्यकारक अर्थ है । महा [इस प्रयोग में] अपष्टवृत्तीयास्यस्यान्यस्य दुक् आशी-आशा-आस्था-स्थित-उत्सुक-कृति कारक-राग-च्छेषु इति सूत्र ॥ [अन्य शब्द के अन्त्य अक्ष से परे] दुक् [का आगम होकर 'अन्यकारकवैयर्थ्यम्' ऐसा प्रयोग] होना चाहिए ।

यहाँ दुक् का आगम न करके 'अन्यकारक' पद का प्रयोग किया गया है । उक्त पाणिनि सूत्र का आशय यह है कि आशी आदि पदों के परे रहते अन्य शब्द को दुक् का आगम हो । इस प्रकार दुगागम होकर अन्यदाशी, अन्यदाशा, अन्यदास्था, अन्यदास्थितः, अन्यदुत्सुकः, अन्यदूति, अन्यद्राग, और छ प्रत्यय का अन्यदीय आदि प्रयोग बनते हैं । 'अपष्टी' आदि देने से पष्टी

पूरणार्थमनर्थकम् । २, १, ६ ।

पूरणमात्रप्रयोजनमव्ययपदमनर्थकम् । दण्डापूपन्यायेन पदमन्य-
दप्यनर्थकमेव ।

सत्ता और सत्कार इन 'पञ्च स्कन्धो' में से प्रथम 'स्कन्ध' के लिए प्रयुक्त होता है और उससे विषय तथा इन्द्रिय का ग्रहण होता है] और नान्तरीयक [पद मुख्य रूप से व्याप्ति दर्शन में अविनाभाव या 'व्याप्ति' के अर्थ में प्रयुक्त होता है] यह दोनों पद लोक में प्रयुक्त नहीं होते इसलिए 'अप्रतीत पद' [दोष] कहलाते हैं । [नवीन आचार्यों ने भी इस दोष को 'अप्रतीतत्व' नाम से पद दोष कहा है] ॥८॥

[केवल पाद की] पूर्ति के लिए प्रयुक्त पद अनर्थक होते हैं ।

[इतोक में] केवल [पाद] पूर्ति मात्र के लिए प्रयुक्त होने वाले [च आदि] अव्यय पद अनर्थक [पद कहलाते] हैं । 'दण्डापूपिका न्याय' से अन्य पद भी अनर्थक होते हैं ।

श्लोक रचना करते समय कभी-कभी वृत्तों की गणना में एक दो अक्षरों की कमी पड़ती है और उसके लिए कोई अधिक उपयुक्त शब्द कवि को नहीं मिलता है उस समय कवि च, तु, हि, खलु, वै, आदि अव्ययों का प्रयोग करके उसकी पूर्ति कर देता है । उनसे छन्द के पाद की पूर्ति तो हो जाती है, परन्तु उस का वहा कोई अर्थ नहीं होता है । इसलिए इस प्रकार के पदों का प्रयोग 'अनर्थक पद' कहलाता है । जब इन अव्यय पदों को भी अनर्थक, या दोषयुक्त पद कहा जा सकता है तब अन्य पद यदि कहीं निध्प्रयोजन प्रयुक्त किए जाय तो 'दण्डापूपिका' न्याय से वह अन्य पद भी अनर्थक ही होंगे ।

'दण्डापूपिका न्याय' का अभिप्राय यह है कि जैसे किसी ने अपूप अर्थात् पुष्पा या गुल्लगुल्ला कपड़े में रख कर अपने ढंके में बांध कर रख दिए थे । उसके किसी दूसरे साथी ने उसको रखते देख लिया । जब वह कहीं बाहर गया तो उस दूसरे साथी ने पुण तो लेकर स्वयं खा लिए और टट्टा उठाकर कहीं इधर-उधर फेंक दिया । जब पहिला पुरुष लौट कर आया तो उसने अपना ढंका जहा रखा था वहा न देख कर अपने साथी से पूछा कि ढंका कहा गया ? तो उसने उत्तर दिया कि मालूम नहीं, जान पड़ता है चूहे ढंका उठा ले गए । पहिले आदमी को भूल लग रही थी । उसे उस समय ढंके की इतनी आवश्यकता न थी जितनी पुष्पों की । इसलिए उसने, अच्छा फिर पुण कहा गए ? इस प्रकार का

यथा—

उदितस्तु हासिकविनीलमय,
तिमिर निनीय किरलै सविता ॥

अत्र 'तु' शब्दस्य पादपूर्णाव्ययं प्रयोगः । न वाक्यालङ्काराथम् । वाक्यालङ्कारप्रयोजनं तु नानर्थकम् । अपवादाव्ययमिदम् । यथा—

न स्वल्पिद् गतागता नयनगोचर मे गता ॥६॥

दूसरा प्रश्न किया । परन्तु उसके साथी ने इस दूसरे प्रश्न का उत्तर दिया कि जब डडा ही चूरे ले गए तो क्या पुए उन्होंने छोड़ दिए होंगे । पुए भी चूरे ही ले गए यह तो स्पष्ट ही निश्चय हो जाता है, कहने की आवश्यकता नहीं होती । इस प्रकार जहां एक बात के कहने से दूसरा परिणाम तो स्पष्ट ही निकल आता है उसको 'दण्डापुत्रिका-न्याय' कहा जाता है । दार्शनिक क्षेत्र में इसी से अपवादि प्रमाण भी कहा जाता है । इनका नाम है 'दण्डापुत्रिका-न्याय' । प्रकृत में, 'च' आदि निषान, जो किसी अर्थ के वाचक नहीं होते केवल स्रोतक होते हैं, पाद ही केवल पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त होने पर जब अनर्थक कहलाने लगते हैं तो वाचक पद यदि निष्प्रयोजन कहीं प्रयुक्त हो जायें तो वे भी अनर्थक कहलाने लगेंगे यह तो 'दण्डापुत्रिका-न्याय' से स्पष्ट सिद्ध है ही । इसी बात को ग्रन्थकार ने 'दण्डापुत्रिका-न्यायं पदमन्यदपि अनर्थकमेव ।' लिख कर प्रकट किया है । आगे अनर्थक पद का उदाहरण देते हैं ।

जैसे—

हाथियों के तन्मूह की मोतिमा से निर्जित [संते] अन्धकार को [अपनी] किरणों द्वारा वान [नाश] करके सूर्यदेव उदय हुए ।

यहां [मूल श्लोक में] 'तु' शब्द का प्रयोग पादपूर्णाव्ययं ही किया गया है, वाक्यालङ्कार के लिए नहीं । [इसलिए वह अनर्थक है] । वाक्यालङ्कार के लिए किया गया [तु आदि का प्रयोग] तो अनर्थक नहीं होता ।

अर्थात् 'तु', 'स्तु' आदि का प्रयोग वहाँ केवल पादपूर्ति मात्र के लिए किया जाता है और वहाँ वाक्यालङ्कार के लिए भी उनका प्रयोग किया जाता है । इनमें से जहां केवल पादपूर्ति के लिए 'तु' आदि का प्रयोग किया जाता है वहां 'अनर्थकपद' दोष होता है । और जहां वाक्यालङ्कार में उनका प्रयोग होता है वहां दोष नहीं होता है । यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है ।

यह [पूर्वोक्त नियम के] अपवाद के लिए कहा है । जैसे—

[वह] यहा आती जाती मुझे दिखाई नहीं दी ।

इति । तथा, हि 'खलु' हन्तेति ।

सम्प्रति पदार्थदोषानाह—

अन्यार्थनेयगूढार्थश्लीलक्लिष्टानि च । २, १, १० ।

दुष्टं पदमित्यनुवर्तते, अर्थश्च, वचनविपरिणामः । अन्यार्थादीनि पदानि दुष्टानीति सूत्रार्थः ॥१०॥

यह [यहां खलु पद वाचयासङ्खार के लिए प्रयुक्त हुआ है पादपूर्ति के लिए नहीं । इस लिए यह अनर्थक पद नहीं है ।] इसी प्रकार, हि, खलु, हन्ते इत्यादि [पद वाचयासङ्खार के लिए प्रयुक्त होने पर अनर्थक नहीं होते] हैं ॥ ६ ॥

इस प्रकार वामन ने यहां पांच प्रकार के पद-दोषों का निरूपण किया है परन्तु साहित्यदर्पण में १८ प्रकार के पद दोष माने हैं । उनमें अश्लील दोष का उल्लेख वामन ने पददोष में न करके केवल पदार्थ दोषों में किया है परन्तु नवीन आचार्यों ने पद दोष तथा अर्थ दोष दोनों में उसकी गणना की है ।

पदार्थ दोषों का निरूपण—

इसी प्रकार वामन ने अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढार्थ, अश्लील और क्लिष्ट रूप पांच प्रकार के पदार्थ दोष माने हैं । परन्तु साहित्यदर्पण के समय तक अर्थ-दोषों की संख्या बढ़कर पांच के स्थान पर २३ तक पहुंच गई है । साहित्य दर्पणकार ने तीसरे प्रकार के अर्थदोष इस प्रकार गिनाए हैं—

१ अपुष्ट-दुःक्रम-प्राग्ग्रह-व्याहता—अश्लील-कष्टता ।	६
अनवीकृत-निर्हेतु-प्रकाशितविरुद्धता ॥	३
सन्दिग्ध-पुनरुक्तत्वे ख्याति-विद्या—विरुद्धते ।	४
साक्षात्ता-सहचरभिन्नता—स्थानयुक्तता ॥	३
अविशेषे विशेषश्चा—नियमे नियमस्तथा ।	२
तयोर्विरुध्यो विव्यनुवादायुक्ते तथा ॥	४
निर्मुक्तपुनरुक्तस्मर्यदोषाः प्रकीर्तिताः ॥	१
	—
	२३

[ग्रन्थकार वामन] अब पदार्थ दोषों को कहते हैं—

१ अन्यार्थ, २ नेयार्थ, ३ गूढार्थ, ४ अश्लील, और ५. क्लिष्ट [यह पांच प्रकार के पदार्थ दोष हैं ।]

दुष्ट पद इस [शब्द अथवा दुष्ट पद शब्दों के अर्थ] की

एषा क्रमेण लक्षणान्याह—

रुद्धिच्युतमन्यार्थम् । २, १, ११ ।

रुद्धिच्युत रुद्धिमनपेक्ष्य यौगिकार्थमात्रोपादानान् । अन्यार्थ पदम् स्थूलत्वान् सामान्येन घटशब्द पटशब्दार्थ इत्यादिकमन्यार्थं नोक्तम् ।
यथा—

ते दुःखमुच्चावचमावदन्ति,

ये प्रस्मरन्ति प्रियमङ्गमानाम् ।

अत्र 'आवहनि' करोत्यर्थो धारणार्थे प्रयुक्तः । प्रस्मरतिविस्मर-
णार्थः प्रकृष्टस्मरण इति ॥११॥

को अनुवृत्ति [पूर्वसूत्रो से] आती है । और अर्थ [इस शब्द की] भी [अनुवृत्ति आती है । और दुष्ट पद में जो एक वचन है उसका] वचन-
विपरिणाम [परिवर्तन करके बहुवचन कर लेना चाहिए । तब इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार] होगा । अन्य अर्थादि [के बोधक] पद दुष्ट होने हैं । यह सूत्र का अर्थ हुआ ॥ १० ॥

[इस प्रकार इस सूत्र में पदार्थ बोधो का 'उद्देश' अर्थात् नाममात्र से कथन करके आगे] कम से इनके लक्षण कहने हैं—

[योगरुद्ध अथवा रुद्ध शब्द जब] रुद्धि से व्युत् [अर्थात् रुद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है तो वह] अन्यार्थ होता है ।

रुद्धि से व्युत् अर्थात् रुद्धि की पराहिए बिना यौगिकार्थ मात्र का उपादान करने से [रुद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ पद] अन्यार्थ पद कहलाता है । साधारणत घट शब्द पट शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होने पर अन्यार्थ पद होता है [यह अन्यार्थ का लक्षण कहा जा सकता है । परन्तु] यह मोटी [स्थूलबुद्धि प्राज्ञ] बात होने से नहीं कहा । [अर्थात् 'रुद्धिच्युतमन्यार्थम्' इस प्रकार अन्यार्थ का तनिक सूक्ष्म लक्षण किया है । आगे उसका उदाहरण देते हैं] जैसे—

जो प्रियजनो के सङ्गो को विशेष रूप से स्मरण करते हैं वह नाना प्रकार के दुःखो को उठाते हैं ।

यहां करने [कृन् धातु] के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला आट्-पूर्वक वह धातु का [आवहति] प्रयोग धारण के अर्थ में किया गया है । और

कल्पितार्थं नेयार्थम् । २, १, १२ ।

अधृतस्याप्युन्नेयस्य पदार्थस्य कल्पनात् कल्पितार्थं नेयार्थम् ।

यथा—

सपदि पक्तिविहङ्गमनामभृत्-तनयसंचलितं बलशालिना ।

त्रिपुलपर्वतयपि शितैः शरैः, प्लवगसैन्यमुलूकजिता जितम् ॥—

विस्मरणार्थक प्र पूर्वक स्मृ धातु का [प्रस्मरन्ति] प्रयोग प्रकृष्ट स्मरण के अर्थ में किया गया है ।

धाट् पूर्वक वह धातु 'करोति' के अर्थ में रूट है । उस रूट अर्थ की उपेक्षा करके यहाँ उसका प्रयोग 'धारण' अर्थ में किया गया है । इसी प्रकार 'प्र' पूर्वक 'स्मृ' धातु विस्मरण के अर्थ में रूट है । नैपथ आदि महाकाव्यों में विस्मरण अर्थ में 'प्रस्मृत,' पद का प्रयोग पाया जाता है । जैसे—

नाक्षराणि पठता किमपाठि ।

प्रस्मृत किमपवा पठितोऽपि ॥

इत्यादि में विस्मरण में, प्रस्मृत, पद का प्रयोग हुआ है । यहाँ पूर्व उदाहरण में रुद्रि की उपेक्षा करके 'प्रस्मरन्ति' पद का प्रयोग 'प्रकृष्ट स्मरण' रूप यौगिक अर्थ में किया गया है इसलिए यह अन्याय का उदाहरण हुआ ॥ ११ ॥

कल्पित [अर्थात् वाक्य में स्पष्ट रूप से सुनाई न देने वाले] अर्थ का बोधक [पद] नेयार्थ [कहलाता] है ।

[वाक्य में] अधृत होने पर भी [अनुमान आदि से] कल्पनीय पदार्थ की कल्पना करने से कल्पितार्थ नेयार्थ [कहलाता] है । जैसे—

दशरथ के पुत्रों के सहित, बड़े-बड़े पर्वतों को बरसाने वाली बानरो की सेना को महाबली मेघनाद ने तीक्ष्ण बाणों से जीत लिया ।

पक्ति अर्थात् दश । विहङ्गमनाम अर्थात् चक्रवाक पक्षी के नाम का अश्रुत जो चक्र उसको धारण करने वाला, चक्रयुक्त, रथ । अर्थात् पक्ति-विहङ्गमनामभृत् का अर्थ हुआ 'दशरथ' । उनके पुत्रों अर्थात् राम लक्ष्मण से युक्त प्लवग सैन्य अर्थात् बानर सेना को बलवान् 'उलूक' अर्थात् कौशिक इन्द्र को जीतने वाले, मेघनाद ने जीत लिया । 'कौशिक' पद के दो अर्थ होते हैं एक उलूक और दूसरा इन्द्र । इस प्रकार 'उलूकजिता' का अर्थ हुआ 'इन्द्रजिता' अर्थात् इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद ने बड़े-बड़े पर्वतों की वर्षा

अत्र विहङ्गमरचक्रवाकोऽभिप्रेत । तन्नामानि चक्राणि । नानि विभ्रतीति विहङ्गमनामभृतो रथा । पक्तिरिति दश संग्रह्य लक्ष्यते । पक्तिर्दश विहङ्गमनामभृतो रथा यस्य स पक्तिविहङ्गमनामभृद् 'दशरथ' । तत्तनयाभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां मन्त्रालित 'लवगमैर्न्य जितम् । उलूकजिता इन्द्रजिता । कौशिकशब्देनन्द्रोलूकयोरभिवानर्मानि कौशिकशब्दवाच्य त्वेनेन्द्र उलूक उक्त ।

ननु चैव रथाङ्गनामादीनामपि प्रयोगोऽनुपपन्न । न । तथा निरुद्धलक्षणत्वात् ॥१२॥

करने वाली 'लवगमैर्न्य' अर्थात् वानर सेना को अपने 'शितै शरै,' तीक्ष्ण शार्णों से जीत लिया ।

यहा विहङ्गम [शब्द से सहजो पक्षियों में से केवल] चक्रवाक [रूप पक्षी विशेष] अभिप्रेत हैं । उसके नाम धारण, चक्र [रूप के पहिए] हुए । उनको धारण करने वाले रथ, 'विहङ्गमनामभृत' हुए । पक्ति शब्द से दश सख्या लक्षित होती है । पक्ति अर्थात् दश 'विहङ्गमनामभृत' अर्थात् रथ जिनके हैं वह 'पक्तिविहङ्गमनामभृत' 'दशरथ' हुआ । उसके रामलक्ष्मण दो पुत्रों से परिपूहीत वानर सेना को जीत लिया । 'उलूकजिता' अर्थात् इन्द्रजित् मेघनाव ने । कौशिक शब्द से इन्द्र तथा उलूक दोनों का कथन किया जाता है । इसलिए कौशिक शब्द वाच्य होने से इन्द्र को उलूक कहा है ।

इस प्रकार यहा सारे अर्थ की स्पष्टता कर रखना जरूरी पड़ती है इसलिए यहा कल्पितार्थ होने से 'नेयार्थ' दोष हुआ ।

[प्रश्न] यदि ऐसा [नेयार्थ दोष] मानेंगे तो 'रथाङ्गनामा' आदि [महाकविषों द्वारा प्रयुक्त] पदों का प्रयोग भी अनुचित हो जायगा ।

[उत्तर] नहीं ['रथाङ्गनामा' आदि पदों का प्रयोग] उनको उस [चक्रवाक पक्षी रूप] अर्थ में रूढ लक्षणा होने से [दूषित नहीं होता है ।]

निरुद्ध लक्षणा वाले प्रयोग वाचक शब्द ठ समान ही हो जाते हैं । जैसा कि कहा भी है—

निरुद्धा लक्षणा, काश्चित्ता रामवर्षादभिवानवत् ।

क्रियन्ते साम्प्रत काश्चित् काश्चिन्नेव त्वशक्तिन ॥

रूढि अथवा प्रयोजनवती लक्षणा से किया हुआ प्रयोग दूषित नही होता है । उन दोनों के अभाव में ही नेयार्थता दोष होता है । इसलिए साहित्यदर्पणकार ने 'रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृत लक्षणार्थप्रकाशन नेयार्थत्वम्' एसा नेयार्थ का लक्षण किया है ॥ १२ ॥

अप्रसिद्धार्थप्रयुक्त गूढार्थम् । २, १, १३ ।

यस्य पदस्य लोकेऽर्थं प्रसिद्धाप्रसिद्धश्च तदप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्त गूढार्थम् । यथा—

महत्स्रगोरिवानीकं दुस्सह भवतः परैः ।

इति । सहस्र गावोऽक्षीणि यस्य स सहस्रगुरिन् । तस्येवेति, गोशब्दस्याक्षिवाचित्व कविष्वप्रसिद्धमिति ॥ १३ ॥

असम्भार्यन्तिरमसभ्यस्मृतिहेतुञ्चाश्लीलम् । १, १, १४ ।

अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त पद 'गूढार्थ' [दोष से युक्त] होता है ।

जिस [अनेकार्थक] पद का [एक] अर्थ लोक में प्रसिद्ध और [दूसरा अर्थ लोक में] अप्रसिद्ध होता है उसका अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग [होने पर वह पद] गूढार्थ होता है । जैसे—

सहस्र नेत्र वाले इन्द्र के समान आपकी सेना शत्रुओं के लिए असह्य है । यह । [इसमें गो शब्द का इन्द्रिय अर्थ मान कर] सहस्र गाँव अर्थात् चक्षु रूप इन्द्रिया जिसके हैं वह 'सहस्रगु' इन्द्र हुआ । उसके समान [आप] यह [कवि का विवक्षित अर्थ है] गो शब्द का नेत्रवासकत्व कवियों में अप्रसिद्ध है ।

गौर्नाके वृषभे चन्द्रे चाग्भू दिग्धेनुषु स्त्रियाम् ।

द्वयोस्तु रश्मि-दग्न्वागस्वर्ग वज्रा-ऽम्बुलोमसु ॥

इस कोश के अनुसार 'गो' शब्द का नेत्र अर्थ भी हो सकता है परन्तु गो शब्द को सुकविगण प्रायः नेत्र अर्थ में प्रयुक्त नहीं करते हैं । इसलिए प्रकृत उदाहरण में प्रयोग 'गूढार्थ' दोष कहलाता है । इसी प्रकार—

तीर्थाग्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्त्वः ।

सुरस्रोतस्विनीमेव हन्ति सम्प्रति सादरम् ॥

इत्यादि स्थलों में 'हन्ति' पद का गमनार्थ में प्रयोग भी 'गूढार्थ' दोष का उदाहरण है । 'हन् ह्रिस्तागत्यो.' इस धातु पाठ के अनुसार 'हन्' धातु के हिमा और गति दोनों अर्थ हैं । परन्तु कविगण 'हन्' का गमनार्थ में प्रयोग नहीं करते हैं । इसलिए 'सुरस्रोतस्विनीमेव हन्ति' यहाँ गमनार्थ में 'हन्ति' का प्रयोग 'गूढार्थ' दोष कहा जाता है । नवीन आचार्य इसी 'गूढार्थ' दोष को 'अप्रयुक्तत्व' दोष कहते हैं ॥ १३ ॥

[आगे अश्लीलार्थ रूप यदार्थ दोष का निरूपण करते हैं]—

जिसका दूसरा अर्थ असम्भ्य [असम्भ्यता सूचक] हो और जिससे असम्भ्यार्थ स्मृति होती हो उसको 'अश्लील' कहते हैं ।

यस्य पदभ्यानेकाधर्म्यैकाऽर्थोऽसम्भ्य स्यात् तदसम्भ्याधान्तरम् ।
यथा वर्चः इति पद तेजसि विष्ठायाञ्च । यत्तु पद सम्भ्यार्थवाचकमपि
एकदेशद्वारेणासम्भ्यार्थं स्मरयति तदसम्भ्यमृतिहेतुः यथा 'कृकाटिका'
इति ॥ १४ ॥

न गुप्तलक्षितमवृत्तानि । २, १, १५ ।

अपवादार्थमिदम् । गुप्तं लक्षितं मवृत्तञ्च नाश्लोसम् ॥ १५ ॥

एषा लक्षणाभ्याह—

अप्रसिद्धासम्भ्य गुप्तम् । २, १, १६ ।

जिस अनेकावक पद का एक अर्थ असम्भ्य हो, वह [इस सूत्र में]
असम्भ्यार्थान्तर [पद] कहा गया] है । जैसे 'वर्चम्' पद तेज तथा विष्ठा [दोनो]
अर्थों में [प्रयुक्त होता है इनमें से विष्ठा एवं दूसरा अर्थ जुगुप्सा व्यञ्जक
अश्लील है । इसलिए यह पद 'असम्भ्यार्थान्तर' पद होने में अश्लील है] । और
जो पद [केवल] सम्भ्यार्थ का वाचक होने पर भी एकदेश से असम्भ्यार्थ का
स्मरण कराने वाला हो, वह [भी] असम्भ्य अर्थ की स्मृति का हेतु होने में
अश्लील है । जैसे 'कृकाटिका' पद । ['कृकाटिका' पद कर्ण के नीचे के भाग
कनपटी का वाचक है । कर्णापरभागवाचकमपि कृकाटिका पद] परन्तु उसके
एकदेश 'काटि' से मुँह को लेजाने वाली 'काटी' का स्मरण हो जाता है इसलिए
वह 'असम्भ्य व्यञ्जक अश्लीलता' का उदाहरण है । 'प्रेतयान खटि काटी' इस
यैजयन्ती कोश के अनुसार 'काटी' शब्द 'प्रेतयान' अर्थात् मुँह से जाने वाली
'काटी' का बोधक है । एकदेश से उसका स्मरण होने से 'कृकाटिका' पद भी
'असम्भ्य व्यञ्जक अश्लील' कहलाता है । ॥ १६ ॥

[यदि असम्भ्यार्थ] गुप्त [अप्रसिद्ध] अथवा लक्षित [लक्षणाबोध] अथवा
[लोकव्यवहार से] दब गया [सवृत्त हो गया] हो तो वह अश्लील नहीं होता ॥

यह [सूत्र] अपवाद के लिए है । गुप्त [अप्रसिद्ध], लक्षित [लक्षणा-
गम्य] अथवा [लोकव्यवहार से] सवृत्त [दब जाने वाले असम्भ्यार्थ का बोधक
पद] अश्लील नहीं है ॥ १५ ॥

इन [गुप्त, लक्षित तथा सवृत्त] के लक्षण कहते हैं—

[जिसका] असम्भ्य अर्थ अप्रसिद्ध हो वह गुप्त [असम्भ्यार्थ] होता है ।

अप्रसिद्धासम्भार्यन्तर पदमप्रसिद्धासम्भ्यं तद् गुप्तम् । यथा
'सम्बाध.' इति पदम् । तद्धि सङ्कटार्थं प्रसिद्धं, न गुह्यार्थमिति ॥ १६ ॥

लाक्षणिकासम्भ्य लक्षितम् । २, १, १७ ।

तदेवासम्भार्यन्तर लाक्षणिकेनासम्भ्येनार्थेनान्वितं पद लक्षितम् ।
यथा 'जन्मभूमि.' इति । तद्धि लक्षणया गुह्यार्थं न स्वशक्त्येति ॥ १७ ॥

लोकसवीत सवृतम् । २, १, १८ ।

लोकेन सवीत लोकमवीतम् । यत् तत् सवृतम् । यथा 'सुभगा',
'भगिनी', 'उपस्थानम्', 'अभिप्रेतम्', 'कुमारी', 'दोहदम्' इति । अत्र
हि श्लोक —

[जिसका] दूसरा [अर्थात्] असम्भ्य अर्थ [हो पर] प्रसिद्ध न हो
वह अप्रसिद्धासम्भ्य पद 'गुप्त' [कहलाता] है । जैसे 'सम्बाध' यह पद ।
['वेशोऽपि गन्ध सम्बाधो गुह्यसङ्कटयोर्द्वयो'] इस कोश के अनुसार 'सम्बाध'
पद गुह्येन्द्रिय उपस्थ तथा सङ्कट दोनों का वाचक है । परन्तु इनमें से [वह
[सम्बाध पद] सङ्कट अर्थ में प्रसिद्ध है गुह्य [उपस्थेन्द्रिय] अर्थ में [प्रसिद्ध]
नहीं । [इसलिए असलील अर्थ के गुप्त अर्थात् अप्रसिद्ध होने से इस पद का
प्रयोग असलीलतापुञ्जत नहीं है ।] ॥ १६ ॥

[असम्भ्य अर्थान्तर वाला पद] असम्भ्य अर्थ के लाक्षणिक [लक्षणागम्य]
होने पर लक्षित [असम्भ्य अर्थ] होता है [और वह असलील नहीं
कहलाता है] ।

यही असम्भार्यन्तर वाला पद, यदि लाक्षणिक असम्भ्यार्थ से युक्त हो तो
लक्षित [लक्षितासम्भ्यार्थ] कहलाता है [और वह असलील नहीं होता है] । जैसे
'जन्मभूमि' यह [पद] । वह लक्षणा से गुह्य [स्त्री की योनि या उपस्थ] का
बोधक है अपनी [अभिधा] शक्ति से नहीं । [इसलिए वह असलील नहीं
है] ॥ १७ ॥

लोक [व्यवहार] से [असम्भ्यार्थ] दबा हुआ [होने पर] सवृत
[असम्भ्यार्थ कहलाता] है [और वह भी असलील नहीं होता है] ।

लोक [व्यवहार] से [सवीत] दबा हुआ 'लोक सवीत' जो पद होता
है वह सवृत [पद] है [वह असलीलता दोष युक्त नहीं होता] । जैसे 'सुभगा',
'भगिनी', [इन दोनों पदों में 'भग' शब्द स्त्री के गुह्याङ्ग अर्थात् योनि का

मयीतस्य हि लोकेन न वीपान्वेषणं क्षमम् ।

शिवलिङ्गस्य संस्थानं कस्यामभ्यत्वभावना ॥ १८ ॥

तन्त्रैविध्यं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलातङ्कदायिभेदात् । २, १, १९ ।

सम्याश्लीलस्य त्रैविध्यं भवति, व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलातङ्कदायिभेदात् । किञ्चिद् व्रीडादायि यथा 'वाक्काटवम्', 'हिरण्यरेता' इति । किञ्चिज्जुगुप्सादायि यथा 'कर्षक' इति । किञ्चिदमङ्गलातङ्कदायि यथा 'संस्थित' इति ॥ १६ ॥

वाक्काट है], 'उपस्थान' [समीपस्थ होना या स्तुति करना । इसमें 'उपस्थ' अश से पुरुष के गुह्याङ्ग अर्थात् उपस्थत्रय का बोध होता है], 'अभिप्रेतम्' [का अर्थ अभिप्राय होना है परन्तु उससे 'प्रेत' अश से मर्दा का बोध होना है], 'कुमारी', 'बोहर' [बोहर पद इच्छा का बोधक है परन्तु उससे 'हृद पुरीषोन्मर्ग' धातु की स्मृति होती है जो जुगुप्सा व्यञ्जनक है । परन्तु इन सब स्थलों में यह अश्लीलता व्यञ्जनक अर्थ लोक व्यवहार में सब गए हैं । भगिनी आदि शब्दों का बहिन आदि सुन्दर अर्था में अत्यधिक प्रयोग होता है । जिसके कारण अन्य अशब्द अर्थ सामने नहीं आते हैं । उन शब्दों के प्रयोग में अश्लीलता नहीं है] इस विषय में [किसी प्राचीन आचार्य का] श्लोक [भी] है—

[अशब्दार्थ के] लोक व्यवहार से दबे हुए [अशब्दार्थ वाले भगिनी आदि शब्दों] के बोध का अनुसन्धान उचित नहीं है । [साक्षात्] शिवलिङ्ग की स्थापना में [भी] अशब्दार्थ की भावना किम को होती है [किसी को नहीं] । क्योंकि लोक व्यवहार में शिवलिङ्ग सांकेतिक पूजा का पात्र बन गया है । ॥ १८ ॥

उम [अश्लील अर्थ] के व्रीडा [लज्जा], जुगुप्सा [घृणा] और [अनिष्ट भय को देने वाला] अमङ्गलातङ्कदायी भेद में तीन प्रकार होने हैं ।

उम अश्लील के तीन भेद होते हैं । व्रीडादायी [लज्जाजनक], जुगुप्सादायी [घृणाकारक] और अमङ्गलातङ्कदायी [अनर्थभय के देने वाला] भेद होने से । कोई [पद] लज्जाजनक होता है, जैसे 'वाक्काटवम्' और 'हिरण्यरेता' यह । ['वाक्काटवम्' का अर्थ होना है वचन की तीक्ष्णता । परन्तु इसका 'काटव' यह एव देश लिङ्ग की प्रतीति कराने वाला होने से व्रीडादायी, लज्जाजनक, होने से अश्लील है । इसी प्रकार 'हिरण्यरेता' में रेतम् अश वीर्य का बोध होने से व्रीडादायी अश्लील है ।] कोई [पद] जुगुप्सादायी [घृणा-

व्यवहितार्थप्रत्यय क्लिष्टम् । २, १, २० ।

अर्थस्य प्रतीतिरर्थप्रत्ययः । न व्यवहितो यस्माद् भवति तद् व्यवहितार्थप्रत्यय क्लिष्टम् । यथा—

दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकान्ता

व्योत्तनाजुपा जललवाम्तरलं पतन्ति ।

दक्षात्मजास्तारा । तासा दयिनो दक्षात्मजादयितश्चन्द्रः । तस्य वल्लभाश्चन्द्रकान्ता । तद्वेदिकानामिति अत्र हि व्यवधानेनार्थ-प्रत्यय ॥ २० ॥

जनक होने से अश्लील होता है] जैसे 'कपर्दक' यह [कौड़ी वाचक होने पर भी 'पद' शब्द 'पद कुत्सिते शब्दे' इस धानु पाठ के अनुसार और 'पर्वस्तु गुर्वज्ञे शब्दे' इस श्लोक के अनुसार अमान वायु का बोधक होने से जुगुप्साव्यञ्जक अश्लील है] कोई [पद] अमङ्गलातज्जुदायो [अनिष्ट अन्ध का भय दिखाने वाला होने से अमङ्गल व्यञ्जक अश्लील] होता है । जैसे 'लक्षित' यह पद । [भली प्रकार से स्थित, इस अर्थ में प्रयुक्त होता है । परन्तु उसका दूसरा अर्थ 'मृत' भी होता है, इसलिए यह अमङ्गलातज्जुदायो अश्लील है ।] ॥ १६ ॥

जिस पद के अर्थ की प्रतीति व्यवधान से हो उसको 'क्लिष्ट' कहते हैं ।

अथ की प्रतीति को अर्थ प्रत्यय कहते हैं । वह [अर्थ प्रत्यय] जिस [पद] से व्यवहित [व्यवधान से] होती है [साक्षात् नहीं] वह व्यवहित अर्थ प्रतीति वाला [पद] क्लिष्ट कहलाता है । जैसे—

[दक्षात्मजा] दक्ष की पुत्री [तारा] के [दयित] प्रिय [चन्द्रमा] की वल्लभाओ [चन्द्रकान्त मणियों] की वेदिकाओ के चादनी के साथ संयोग से चञ्चल जल कण गिर रहे हैं ।

[इस श्लोक में] दक्षात्मजा [का अर्थ] तारा है । उनका दयित [अर्थात् प्रिय हुआ] दक्षात्मजादयित अर्थात् चन्द्रमा । उसकी वल्लभा चन्द्रकान्त [मणि हुई] उस [चन्द्रकान्त मणि] की [बनी हुई] वेदिकाओ के । यहा [दक्षात्मजादयितवल्लभ पद से चन्द्रकान्त मणि रूप] अर्थ की प्रतीति व्यवधान से होती है [इसलिए इसे क्लिष्टत्व दोष का उदाहरण समझना चाहिए] ।

यह क्लिष्टत्व दोष का उदाहरण दिया है । इसके पूर्व 'नेयार्थ' का जो उदाहरण ग्रन्थकार ने दिया था वह भी कुछ इसी प्रकार का उदाहरण था । इसलिए 'नेयार्थत्व' और 'क्लिष्टत्व' का भेद दिखलाने की आवश्यकता है । वामन ने

अरूढार्थत्वात् । २, १, २१ ।

अरूढार्थत्वेऽपि यतोऽर्थप्रत्ययो भटित, न तत् क्लिष्टम् । यथा—
काञ्चीगुणम्यानमनिन्दताया ।

इति ॥ २१ ॥

अन्त्याभ्या वाक्य व्याख्यातम् । २, १, २२ ।

अश्लीलं क्लिष्टञ्चत्यन्त्ये पदे । ताभ्या वाक्य व्याख्यातम् ।
तदप्यश्लीलं क्लिष्टञ्च भवति । अश्लीलं यथा—

जिमको 'फलितार्थं नेयार्थम्' कहा है उसी को नवीन आचार्यों ने 'रुद्धिप्रयोजना-
भावादशक्तिवृत्तलक्ष्यार्थप्रकाशनं नेयार्थम्' कहा है । अर्थात् जहाँ रुद्धि अथवा
प्रयोजन रूप लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं के अभाव में लक्ष्यार्थ का प्रकाशन हो
उसे 'नेयार्थ' कहते हैं । और व्यवहितार्थ प्रतीति को 'क्लिष्टत्व' कहते हैं । अर्थात्
'क्लिष्टत्व' में लक्षणा की आवश्यकता नहीं होती है केवल अर्थ की प्रतीति में
विलम्ब होता है । जैसे 'दत्तात्मजादयित' का अर्थ तारापति चन्द्र, अथवा 'दत्ता-
त्मजादयितवत्सला' का चन्द्रकांता अर्थ लक्षणा से नहीं, अभिधा से ही हो सकता
है । उसकी प्रतीति भटिति नहीं तनिक विलम्ब से होती है । इसलिए यहाँ
'क्लिष्टत्व' दोष माना है । परन्तु 'बिहङ्गमनामभृत्' का 'रथ' यह अर्थ अभिधा
से नहीं हो सकता है । इसी प्रकार 'उलूकजिता' में भी भेदनाद अर्थ अभिधा से
सम्भव न होने से लक्षणा का ही आश्रय लेना होगा । इसलिए उसे 'नेयार्थ'
का उदाहरण कहा है ।

[क्लिष्ट दोष के स्वतः में व्यवहित अर्थ की प्रतीति] अरूढ अर्थ होने
से [विलम्ब से होती है] ।

[अरूढ अर्थात् अप्रसिद्ध अर्थ होने के कारण जहाँ अर्थ की प्रतीति
में विलम्ब होता है वहाँ क्लिष्टत्व दोष होता है । परन्तु] अरूढ [अप्रसिद्ध]
अर्थ होने पर भी जिस [शब्द] से अर्थ की प्रतीति भट से हो जाती है वह
'क्लिष्टत्व' नहीं कहलाता है । जैसे—

मुन्दो के करघनी पहिने का स्थान [अर्धा, कमर] यह । [यहाँ
'काञ्चीगुणस्थान' पद कटि देश के अर्थ में रूढ नहीं है, परन्तु उससे अर्थ की
प्रतीति तुरन्त बिना विलम्ब के हो जाती है इस लिए यहाँ क्लिष्टत्व दोष नहीं
माना जाता है ।] ॥ २१ ॥

अन्तिम दोनों [अर्थात् अश्लीलत्व तथा क्लिष्टत्व रूप पद-दोषों] से

न सा धनोन्नतिर्या म्यात् कलत्ररतिदायिनी ।

परार्थबद्धरुद्ध्याणा यत् सत्यं पेलव धनम् ॥ १ ॥

मोपानपथमुत्सृज्य वायुवेगः समुदात्तः ।

महापथेन गनवान् कीर्त्यमानगुणो जनैः ॥ २ ॥

वाक्य [वाक्यगत अश्लीलत्व तथा विलप्टत्व] की व्याख्या हो गई । [अर्थात् इस अध्याय में यद्यपि वाक्य-दोषों का निरूपण नहीं किया गया है परन्तु विलप्टत्व और अश्लीलत्व यह दोनों दोष पदार्थदोष के अतिरिक्त वाक्यदोष भी होते हैं । उनके वाक्यगत उदाहरण आगे वृत्ति ग्रन्थ में देते हैं ।]

अश्लील और विलप्टत्व यह अस्तिम दोष पद हैं । उनके द्वारा वाक्य [अर्थात् वाक्यगत अश्लीलत्व तथा विलप्टत्व] की व्याख्या हुई [समझना चाहिए ।] वह [वाक्य] भी अश्लील तथा विलप्टत्व हो सकता है ।

[वाक्यगत] अश्लील [का उदाहरण] जैमे—

उस को धन की उन्नति नहीं कहते हैं जो [किसी दूसरे के या परोपकार के काम में न आये] केवल अपनी स्त्री [अपने बीवी-बच्चों] के ही सुख के लिए हो । दूसरे के [उपकार] के लिए कमर कसे हुए लोगों का धन ही वस्तुतः सुन्दर [और यथाथं] धन है ।

यह इस श्लोक का अभिप्रेत अर्थ है । परन्तु उससे दूसरा गीटादायि अश्लील अर्थ भी निकलता है । 'साधन' का अर्थ लिङ्ग होता है । कलत्र, अर्थात् स्त्री की रतिदायिनी, मायन अर्थात् लिङ्ग की उन्नति, जो केवल अपनी स्त्री के लिए आनन्ददमक लिङ्ग ही उन्नति है वह वास्तविक 'साधनोन्नति' नहीं है अपितु परार्थ के लिए कमर कसे हुए अर्थात् अम्य वृत्तियों के साथ भी सम्भोग के लिए समर्थ पुरुषों की 'साधनोन्नति' ही यथार्थ 'साधनोन्नति' है । यह अर्थ गीटादायि अश्लील होता है । और वह एक पद में नहीं परन्तु ममस्त वाक्य से निकलता है । अतः वाक्यगत दोष है ।

[जगुप्ता व्यञ्जक वाक्यगत अश्लीलता का दूसरा उदाहरण देते हैं ।] लोगों के द्वारा जिसके वेग भयङ्कुरता आदि] गुणों का कीर्तन किया जा रहा है ऐसा वायु का प्रचण्ड वेग [आघो] सोढियों के [सञ्जीर्ण] मार्ग को छोड़कर महापथ [अर्थात् राजमार्ग] से निकल गया । [इसमें वह तीव्र, वायु का वेग अपानवायु के मार्ग को छोड़ कर महापथ अर्थात् मुख्यमार्ग से बड़ी जोर से डकार रूप से निकल गया ऐसा दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है । अतः यह वाक्यगत जगुप्ता

विलुप्त यथा—

धम्मिलस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाद्या ।

रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मनस शोभाम् ॥ २२ ॥

एतान् पदपदार्थदोषान् ज्ञात्वा कविस्त्यजेदिति तात्पर्यार्थ ॥ २२ ॥

इति श्री षष्ठितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रात्

‘दोषदर्शन’ द्वितीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्याय ।

पदपदार्थदोषविभाग ।

अपञ्जक अश्लीलता का उदाहरण होता है] ।

इसी दूसरे उदाहरण में ‘महापथेन गतवान्’ का दूसरा अर्थ ‘परलोक-मार्गेण गतवान्’ अर्थात् मर गया, यह भी हो सकता है । उस दशा में यह वाक्यगत अमङ्गलातङ्कदायी अश्लीलता का उदाहरण हो जायगा ।

इस प्रकार इन दोनों श्लोकों में अश्लीलता दोष के ग्रीवादायी, जुगुप्सा-दायी और अमङ्गलातङ्कदायी तीनों प्रकार के भेदों के वाक्यगत उदाहरण दिखा दिए हैं । अब आगे एक श्लोक वाक्यगत ‘क्लिष्टत्व’ दोष का दिखलाते हैं ।

विलुप्तत्वं [का उदाहरण] जैसे—

मृग शावक के नेत्रों के समान नेत्र धाली [उस सुन्दरी] के केशपाश [धम्मिल जूड़ा, केशपाश] के बाधने की प्रपूर्व सतुरता की शोभा को देखकर किस का मन अत्यन्त प्रसन्न नहीं होता ।

इस श्लोक का अर्थ दूरान्वय व कारण समझना कठिन हो जाता है । ‘कुरङ्गशावाद्या धम्मिलस्य अपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मनस शोभा निरीक्ष्य कस्य मानस निकाम न स्यति’ इस प्रकार इसका अन्वय होता है । परन्तु इन सब पदों के अन्वय व्युत्पत्ति होने से वाक्य के अर्थ की प्रतीति बड़ी कठिनता से होती है ।

श्री षष्ठितवरवामनविरचित ‘काव्यालङ्कारसूत्रात्’ में

द्वितीय ‘दोषदर्शन’ अधिकरण में प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

पद और पदार्थ के दोषों का विभाग समाप्त हुआ ।

—o—o—o—

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरामिद्वान्तशिरोमणिविरचिताया

काव्यालङ्कारप्रकाशा हिन्दीव्याख्याया

द्वितीये ‘दोषदर्शन’ अधिकरणे प्रथमोऽध्याय समाप्त ।

दोषदर्शननाम्नि द्वितीयाधिकरणे

द्वितीयोऽध्याय

[वाक्य-वाक्यार्थ-दोष-विभागः]

पदपदार्थदोषान् प्रतिपाद्य वाक्यदोषान् दर्शयितुमाह—

भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसन्धीनि वाक्यानि । २, २, १ ।

दुष्टानीत्यभिसम्बन्ध ॥ १ ॥

यमेव व्याचष्टे—

स्वलक्षणच्युतवृत्त भिन्नवृत्तम् । २, २, २ ।

स्वरमाल्लक्षणाच्युत वृत्तं यस्मिंस्तत् स्वलक्षणाच्युत वृत्त वाक्यं
भिन्नवृत्तम् । यथा—

अयि पश्यसि सौवमाश्रिता—

मविरलमुमनोमालभारिणीम् ।

‘दोषदर्शन’ नामक द्वितीय अधिकरण का द्वितीय अध्याय

[वाक्य तथा वाक्यार्थ दोषों का विभाग]

[द्वितीय अधिकरण के पिछले प्रथम अध्याय में] पद-दोषों तथा पदार्थ-
दोषों का प्रतिपादन करके [अब इस द्वितीय अध्याय में] वाक्य-दोषों को
बिखाने के लिए कहते हैं—

भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट और विसन्धि [तीन प्रकार के] वाक्य [दोष]
हैं । [पिछले अध्याय के चतुर्थ सूत्र से ‘वृष्ट’ पद के एक वचन का ‘वृष्टानि’
बहुवचन में वचन-विपरिणाम करके भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट और विसन्धि
तीन प्रकार के वाक्य] वृष्ट होते हैं यह सम्बन्ध [पिछले प्रकरण से]
है ॥ १ ॥

[इन तीनों प्रकार के वाक्य-दोषों को] क्रम से व्याख्या करते हैं ।

अपने लक्षण से हीन वृत्त [छन्द] को भिन्नवृत्त [दोष प्ररत] कहते
हैं । जिस [श्लोक वाक्य] में वृत्त [छन्द] अपने लक्षण से च्युत हो वह
स्वलक्षणच्युत वृत्त वाला [श्लोक] वाक्य भिन्नवृत्त होता है । जैसे—

अरे [भिन्न] सघन [अविरल] पुष्पों की माला के भार को पारण

वैतालीययुग्मपादे लघ्वक्षराणां पराणां नैरन्तर्यं निषिद्धम्, तच्च कृतमिति भिन्नवृत्तम् ॥ २ ॥

विग्मविगम यतिभ्रष्टम् । २, २, ३ ।

विरस श्रुतिकटुविरामो यस्मिन्तद् विरसविराम यतिभ्रष्टम् ॥ ३ ॥

तद्धानुनामभागभेदे स्वर्गमध्यवृत्ते प्रायेण । २, २, ४ ।

तद् यतिभ्रष्टं धानुभागभेदे नामभागभेदे च मति भवति ।
स्वरसन्ध्याऽकृते प्रायेण ।

करने वाली, महल [सौष-आमार] के ऊपर खड़ी हुई [नायिका] को देख रहे हो ।

यह श्लोक 'वैतालीय' वृत्त में लिखा गया है । 'वैतालीय' वृत्त का लक्षण 'वृत्तराजाकर' ग्रन्थ में इस प्रकार किया गया है—

पद्विपमेऽष्टौ ममे कलास्ताश्च ममे स्युता निगन्तरा ।

न ममात्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रली गुरु ॥

वैतालीय [वृत्त] के सम [अर्थात् द्वितीय तथा चतुर्थ] चरणों में निरन्तर छ लघु पक्षरों [एकमो म मात्रासो] का नियम किया हुआ है । [परन्तु उक्त उदाहरण में 'प्रविरलसुम' यह छोटे लघु मात्राएं निरन्तर प्रयुक्त करके, जो निषिद्ध हैं] बहुत ही किया गया है इसलिए [यहाँ 'वैतालीय' वृत्त अपने लक्षण से च्युत हो जाने से] 'भिन्नवृत्त' [दोष से युक्त] है । [अतएव इस को भिन्नवृत्त के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है] ॥ २ ॥

'भिन्नवृत्त' के बाद 'यतिभ्रष्ट' नामक दूसरे वाक्यदोष का निरूपण करते हैं—

विरस [अदधिकर स्वस में] विराम वाला [श्लोक वाक्य] यतिभ्रष्ट [कहलाता] है ।

विरस अर्थात् श्रुतिकटु [मुनने में घुरा खगने वाला] विगम जिस [श्लोक वाक्य] में हो वह विरस विराम [यह बहुत ही समाप्त है] वाला [श्लोक वाक्य] यतिभ्रष्ट [दोष से युक्त कहलाता] है ॥ ३ ॥

वह [यतिभ्रष्ट दोष] प्रायः स्वर्गसन्धि के [नियम के] बिना [स्वर सन्धि के नियम के विपरीत] किए हुए धातु अथवा [नाम] प्रातिपादिक भाग में टुकड़े कर देने पर होता है ।

वह यतिभ्रष्ट [दोष] प्रायः स्वरसन्धि के बिना, [स्वर सन्धि के

धातुभागभेदे मन्दाक्रान्ताया यथा—

एतासा राजति सुमनसा, दाम कण्ठावलम्बि ।

नामभागभेदे शिखरिण्याम् यथा—

कुरङ्गाक्षीणा गण्डतलपलके स्वेदविस्तरः ।

नियम के बिना] धातु-भाग अथवा प्रातिपदिक भाग [नाम] का भेद [टुकड़े] कर देने पर होता है ।

धातु-भाग के विभाग कर देने पर [यतिभ्रष्ट का उदाहरण] मन्दा-
क्रान्ता [छन्द] में जैसे—

इनके गले में पड़ी हुई फूलों की माता क्षोभित होती है ।

यह मूल श्लोक 'मन्दाक्रान्ता' छन्द में लिखा गया है । मन्दाक्रान्ता छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

मन्दाक्रान्ता, जलधिपद्मौ, र्भौ नतौ ताद् गुरु चेत् ।

अर्थात् मन्दाक्रान्ता छन्द में प्रत्येक पाद १७ अक्षर का होता है । वह १७ अक्षर भगण, मगण, नगण, तगण-त्तगण और दो गुरु इस प्रकार पूरे होते हैं । इनमें चार, छ और सात अक्षरों के बाद 'यति' होनी चाहिए । अर्थात् पहली यति चौथे अक्षर के बाद, उसके छ अक्षरों के बाद अर्थात् दसवें अक्षर के अन्त में दूसरी और उसके सात अक्षर बाद अर्थात् सत्रहवें अक्षर के बाद अन्तिम 'यति' होनी चाहिए । इस लक्षण के अनुसार पहिली 'यति' चार अक्षर के बाद अर्थात् एतासा रा, यहा परहोनी चाहिए । यह 'रा' 'राजति' पद के मूलभूत 'राज' धातु का एक अक्षर है । इसके बाद 'यति' कर देने से राज धातु के टुकड़े हो जाते हैं । इसलिए धातुभाग के भेद होने से यहा 'यतिभ्रष्ट' दोष माना गया है ।

[नाम] प्रातिपदिक भाग के भेद [भङ्ग] होने पर शिखरिणी [छन्द] में [यतिभ्रष्ट का उदाहरण] जैसे—

मृगनयनिषो के [कपोतफलक] गाल के ऊपर पसीना चह रहा है ।

यह शिखरिणी छन्द का एक पाद है । 'शिखरिणी' छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

रसैः रुद्रैश्चिह्ना, यमनगमला ग. शिखरिणी ।

अर्थात् यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु तथा गुरु इस प्रकार

मन्दाक्रान्ताया यथा—

दुर्दर्शश्चक्रशिरिफर्पिः, शान्तिणा वाहुदण्ड ।

धातु-नाम-भागपदग्रहणान् तद्भागातिरिक्तभेदे न भवति यति-
भ्रष्टत्वम् ।

यथा मन्दाक्रान्तायाम्—

शोभा पुण्यत्ययमभिनव, सुन्दरीणा प्रबोध ।

से १७ अक्षरों के बाद चला छन्द 'शित्वरिणी' होता है। इसमें रम अथात् छ और तद्र ग्यारह अक्षरों के बाद 'यति' होती है। पहला 'यति' छठे वर्ण के बाद और दूसरी 'यति' १७ वर्ण के बाद अथात् पादान्त में होती है। इस लक्षण के अनुसार कुरङ्गजीया ग', यद्वा पर छ अक्षरों के बाद पहिला 'यति' पड़ती है। परन्तु यह 'ग' गण्य अथवा 'गश्चतलपलकं' इस समस्त प्रातिपदिक का एक देश है। इसके बाद 'यति' करने से प्रातिपदिक दो ठुक्कों में बंट जाता है। अतएव नाम-भागभेद के कारण यहाँ यतिभ्रष्टत्व दोष आता है।

'मन्दाक्रान्ता' [छन्द] में [नामभागभेद से यतिभ्रष्ट का उदाहरण]
जैसे—

चक्र [सुवर्द्धनचक्र] की अग्नि से [अथवा के समान] बोध्यमान [अथवा
पोताम्बर परिवेष्टित अतएव पीत] विष्णु का भुजबण्ड है।

मन्दाक्रान्ता के पूषाक्त लक्षण के अनुसार प्रथम चार अक्षरों के बाद अर्थात् 'दुर्दर्शश्च', यद्वा पर यति होनी चाहिए। परन्तु यह च चक्र पद का एक देश है। उसके बाद यति कर देने से 'चक्र' इस प्रातिपदिक अथवा नाम-भाग में भेद हो जाता है। इसलिये यह 'यतिभ्रष्ट' दोष ग्रस्त है।

सूत्र में धातु [भाग] और नाम भाग पदों का ग्रहण करने से [यह अर्थ निकलता है कि] उन भागों से भिन्न 'प्रकृति प्रत्यय आदि' में भेद [या लक्ष्य] हो जाने पर 'यतिभ्रष्टत्व' दोष नहीं होता है।

जैसे 'मन्दाक्रान्ता' में [प्रकृति-प्रत्यय के बीच में यति होने पर भी 'यतिभ्रष्टत्व' दोष के न होने का निम्न उदाहरण]—

यह [रतिप्रमालस] सुन्दरियों का नवीन [प्रातःकालीन] जावरण [उनकी] शोभा को बढ़ा रहा है।

इस मूल मन्दाक्रान्ता के चरण में चतुर्थ्याक्षर 'शोभा पुण्य' के बाद यति पड़ती है। यद्वा 'पुण्य' का अन्तिम अक्षर 'पुण्यति' इस पद का अर्थ है। परन्तु

शिग्वरिण्या यथा—

विनिद्र श्यामान्तेष्वधरपुटसीत्कारविरुतैः ।

स्वरसन्धिकृत इति यचनात् स्वरसन्धिकृते भेदे न दोष । यथा—
किञ्चिद्वागलसमसरत्वं प्रेक्षितं सुन्दरीणाम् ॥ ४ ॥

इस यति में धातु भाग के खण्ड नहीं होते हैं अपितु प्रकृति और तिप् प्रत्यय के बीच में यति पड़ती है इसलिए यह दोषाघायक नहीं है ।

[इसी प्रकार प्रातिपदिक और प्रत्यय के बीच हुई यति का] शिग्वरिणी [सूत्र] में [निम्न उदाहरण है] जैसा—

रात्रि [श्यामा रात्रि] के अन्त में [प्रातःकाल] अधरपुट के सीत्कार के शब्द से जगा हुआ ।

‘शिग्वरिणी’ छन्द के इस चरण में, छूटे अक्षर के बाद ‘विनिद्रः श्यामान्ते’ महा पर ‘यति’ पड़ती है । परन्तु ‘श्यामान्ते’ महापद पूर्ण नहीं होता है । ‘श्यामान्तेषु’ महा पर पद पूर्ण होता है । इसलिए यह ‘यति’ पद के बीच में पड़ती है परन्तु उससे प्रातिपदिक के खण्ड नहीं होते अपितु प्रातिपदिक और सुप् प्रत्यय के बीच में ‘यति’ पड़ती है । इस प्रकार भी ‘यति’ वैरस्यापादक नहीं होती है । इसलिए यह ‘यतिप्रकृत्व’ दोष नहीं होता है ।

[सूत्र में] ‘स्वरसन्धिकृते’ स्वर-सन्धि के बिना [मूल रूप से] किये हुए कहने से स्वर-सन्धि से किए हुए [अर्थात् स्वर-सन्धि से बने हुए धातुभाग-प्रातिपदिक अथवा नामभाग के] भेद होने पर दोष नहीं होता है [यह अभिप्राय निकलता है] इस प्रकार का उदाहरण देते हैं] जैसा—

कुछ भाव भरी [अतः] अलसाई सी सुन्दरियों की तिरछी चिंतन ।

यह भी ‘मग्दाक्रान्ता’ छन्द का एक चरण है । नियमानुसार इसमें चतुर्थ अक्षर के बाद अर्थात् ‘किञ्चिद्वाग’ के बाद ‘यति’ पड़ती है । किन्तु महा पूरा पद ‘किञ्चिद्वागलस’ है । उसके बीच में ‘यति’ पड़ रही है । परन्तु महा भाव और अलस दो पदों के बीच ‘अक सवर्णे दीर्घ’ इस सूत्र से दीर्घ होकर ‘किञ्चिद्वागलस’ बनता है । इस सन्धिकृत पद में से ‘यति’ के अक्षर पर ‘किञ्चिद्-भावा’ अश एक ओर, और ‘लस’ दूसरी ओर निकल जाता है । परन्तु फिर भी इस प्रकार की यति वैरस्याघायक नहीं होती है । इसलिए स्वरसन्धिकृत अर्थात् स्वर सन्धि से बने हुए नाम अर्थात् प्रातिपदिक अथवा धातु के खण्ड होने पर भी ऐसे स्थलों में ‘यतिप्रकृत्व’ दोष नहीं होता है । यह सूत्रकार का अभिप्राय है ॥ ४ ॥

न वृत्तदोषात् पृथग्यतिदोषो वृत्तस्य यत्यात्मकत्वात् । २, २, ५ ।
वृत्तदोषान् पृथग् यतिदोषो न वक्तव्यः । वृत्तस्य यत्यात्मक-
त्वान् ॥ ५ ॥

यत्यात्मकं हि वृत्तमिति भिन्नवृत्त एव यतिभ्रष्टस्यान्तर्भावान्न पृथग्
ग्रहणं कार्यम् । अत आह—

न, लक्ष्मण पृथक्त्वात् । २, २, ६ ।

नाय दोष, लक्ष्मणो लक्षणस्य पृथक्त्वात् । अन्यार्थे लक्षण
वृत्तस्यान्यद् यते । गुरुलघुनियमात्मक वृत्तं, विरामात्मिका च
यतिरिति ॥ ६ ॥

यद्यपि तक वाक्यदोषों में 'भिन्नवृत्त' और 'यतिभ्रष्ट' दो दोष दिखाए हैं ।
महा मद् शङ्का उत्पन्नित होती है कि यह दोनों प्रकार के दोष वृत्त अर्थात् छन्द
में ही पाए जाने वाले दोष हैं । दोनों ही वृत्त अर्थात् छन्द के वैरस्यापादक
होते हैं । इसलिए 'भिन्नवृत्त' से 'यतिभ्रष्ट' दोष को पृथक् मानने की क्या
आवश्यकता है । इस प्रश्न को उठाकर उसका समाधान करने के लिए ग्रन्थकार
अगले प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं ।

वृत्त के [भी] यतिविशिष्ट [यत्यात्मक] होने से वृत्तदोष से पृथग्
यतिदोष ['यतिभ्रष्ट' दोष का मानना उचित] नहीं है ।

वृत्त दोष से पृथक् यति दोष कहना उचित नहीं है । वृत्त के यति-
विशिष्ट [या यति स्वरूप] होने से ॥ ५ ॥

वृत्त यत्यात्मक [यतिविशिष्ट ही] होता है इसलिए भिन्न वृत्त में ही
यतिभ्रष्ट [दोष] का [भी] अन्तर्भाव हो जाने से [यतिभ्रष्ट दोष का]
पृथग् ग्रहण नहीं करना चाहिए । [यह शङ्का हो सकती है] इसलिए [उसके
समाधानार्थ] कहते हैं—

['भिन्नवृत्त' और 'यतिभ्रष्ट' दोनों के] लक्षणों के भिन्न होने से यह
[दोनों दोषों को अभिन्न कहना] ठीक नहीं है ।

यह [आपका दिखाया हुआ] दोष [ठीक] नहीं है । [भिन्नवृत्तत्व तथा
यतिभ्रष्टत्व दोनों के] लक्ष्म अर्थात् लक्षण के पृथक् होने से । वृत्त का लक्षण
और है और यति का लक्षण अन्य है । [ज्ञाप्यते] गुरु लघु [रूप से वर्ण
विन्यास] का नियामक वृत्त होता है और विराम रूप [विराम को
नियामिका] यति होती है ।

विरूपपदसन्धिविसन्धि । २, २, ७ ।

पदानां सन्धिः पदसन्धिः स च स्वरसमवायरूपः प्रत्यासत्तिमात्र-
रूपो वा । न विरूपो यस्मिन्निति विग्रहः ॥ ७ ॥

पदसन्धिवैरूप्य विश्लेषोऽस्तीलत्व कष्टत्वञ्च । २, २, ८ ।

विश्लेषो विभागेन पदानां स्थितिरिति । अस्तीलत्वममभ्यस्मृति-
हेतुत्वम् । कष्टत्वं पारूप्यमात्रं । विश्लेषो यथा—

इस प्रकार दोनों के लक्षण भिन्न होने से दोनों को अभिन्न मानना उचित नहीं है । इसी कारण ग्रन्थान में विराम रूप यतिभ्रष्टत्व रहने पर भी गुरु-लघु नियम के यथावत् विद्यमान रहने पर भिन्नवृत्तत्व दोष नहीं होता । इसी प्रकार गुरु-लघु नियम का भङ्ग हो जाने से भिन्नवृत्तत्व दोष के होने पर भी विराम में वैरस्य न होने से यतिभ्रष्टत्व दोष नहीं होता । अतः ग्रन्थ-ग्रन्थिरेक के भेद से भी भिन्नवृत्तत्व और यतिभ्रष्टत्व दोष एक नहीं हो सकते हैं । उनको अलग-अलग मानना ही उचित है ॥ ६ ॥

जहाँ पदों की विरूप [अनुचित] सन्धि हो उसको 'विसन्धि' दोष कहते हैं ।

पदों की सन्धि [यह] पदसन्धि [समास का विग्रह] है । और वह [सन्धि] स्वरों का मिश्रण [समवाय] रूप अथवा [स्वरों की] प्रत्यासत्ति [समीपस्थिति मात्र दो प्रकार का] होता है । वह [स्वरसमवाय रूप अथवा स्वर प्रत्यासत्ति रूप सन्धि] जहाँ [जिस शब्द या वाक्य में] विरूप [अनुचित, वरस्यापादक] हो [वह विसन्धि कहलाता है] यह विग्रह हुआ ॥ ७ ॥

[पूर्व सूत्र में कहा हुआ] पद-सन्धि का वैरूप्य १ विश्लेष रूप, २ अस्तीलत्व रूप, और ३ कष्टत्व रूप [तीन प्रकार का] होता है ।

[सन्धि होने योग्य स्थलों पर सन्धि न करके] अलग-अलग [विभागेन] पदों की स्थिति [रचना] विश्लेष [या सन्धि विश्लेष दोष कहलाता] है । [पदों की सन्धि कर देने से जहाँ] असम्भार्य की स्मृति का हेतुत्व [उस सन्धि में हो जाय चहा सन्धि का] अस्तीलत्व [दोष होगा] है । और कष्टत्व [का अथ सन्धि से उत्पन्न पारूप्य] बढोरता है । [उनमें से] विश्लेष [का उदाहरण] जेने—

१—मेघाऽनिलेन अमुना एतस्मिन्नद्रिकानने ।

२—कमले इव लोचने इमे अनुवभ्नाति विलासपद्धति ।

३—लोलालकानुविद्धानि आननानि चकामति ।

इस पहाड़ी वन [प्रान्त] में इस मेघ की [वृष्टि सहित तोड़] बाधु ने ।

इस उदाहरण में अनिलेन + अमुना में दोष तथा अमुना + एतस्मिन् में बुद्धि नहीं की गई है इसलिए सन्धि विश्लेष रूप 'विसन्धि' दोष है ।

कमलो के समान सौन्दर्य इन नेत्रों को सुशोभित करता है ।

दूसरे उदाहरण में १ कमले इव, २ लोचने इमे, ३ इमे अनुवभ्नाति इस तीनों स्थानों पर प्राप्ति होने वाली सन्धि '१'दूरेद्व द्विवचन प्रत्यक्षम्' इत्य पाणिनि सूत्र में प्रत्यक्ष सजा हो जाने से और '२'प्लुताप्रत्यया अचि निवन्म् । इस सूत्र में प्रकृतिवद्भाव हो जाने से नहीं हा पाने है । इस प्रकार यह सन्धिविश्लेष शास्त्रादेश के अनुसार किया गया है । किन्तु भी अनेक बार झकड़ा ही इस प्रकार का विश्लेष पाना जाता है । इसलिए वह श्रोता को वैरस्यापादक प्रतीत होता है । और कवि को अक्षमता का सूचक होने से दोष ही होता है । यह सन्धि विश्लेष का 'प्रत्यक्ष सजा' निमित्तक एक प्रकार का भेद है । इस सन्धिविश्लेष का दूसरा भेद 'मन्थविच्छा निवन्धन होता है अर्थात् जहाँ कवि, सन्धि की विवक्षा नहीं है ऐसा मान कर सन्धि नहीं करता है । इस प्रकार का दूसरा उदाहरण देते हैं—

चञ्चल केजपाश से घिरे हुए मुख शोभायमान हो रहे हैं ।

यहाँ 'लोलालकानुविद्धानि' के बाद 'आननानि' पद होने के कारण '१'इको यणचि' सूत्र से घणादेश प्राप्त है । उसके अनुसार 'अनुविद्धान्याननानि' ऐमा प्रयोग होना चाहिए । परन्तु यदि ऐमा प्रयोग किया जाता है तो यह छन्द ठीक नहीं बनता है । इसलिए कवि ने यहाँ जान-बूझ कर सन्धि नहीं की है । यद्यपि सर्वत्र सन्धि करना नितान्त आश्चर्यक नहीं है अपितु सन्धि के विवक्षा के आधीन होने से, कवि, विवक्षित न होने पर सन्धि न करने के लिए स्वतन्त्र है । परन्तु ऐसे पदों का प्रयोग कवि की अशक्ति का सूचक अवश्य होता है । जहाँ सन्धि होनी चाहिए वहाँ सन्धि न करने के लिए बाधित होकर

^१ अष्टाध्यायी १, १, १११ ।

^२ अष्टाध्यायी ६, १, १२५ ।

^३ अष्टाध्यायी ६, १, ७७ ।

अश्लीलत्वं यथा —

१. विरेचकमिदं नृत्तमाचार्याभासयोजितम् ।

सन्धिविश्लेष का आश्रय लेना एक प्रकार का आपद्धर्म ही हो सकता है । उसका अवलम्बन तभी करना उचित है जब कोई अन्य मार्ग न हो । इसलिए जब कवि इस प्रकार का प्रयोग करता है तो यह निश्चित है कि उसके पास दूसरा और कोई मार्ग नहीं रह गया है । यही उसकी अशक्ति का परिचायक है । इसलिए विवेक्षाधीन सन्धिविश्लेष यदि एक भी बार प्रयोग किया जाय तो भी वह दोषाघायक होता है । और प्रगृह्यसज्ञा-निमित्तक सन्धि विश्लेष एक बार करने से दोष नहीं होता परन्तु इच्छा अनेक बार करने पर वह भी दोष हो जाता है । इसी लिए आगे इसी ग्रन्थ के 'काव्यसमयाध्याय' में 'निर' सहितैकपदवत् पादेष्वर्धान्तर्वर्जम्' यह सूत्र कहेंगे । इसके अनुसार काव्य में एक चरण के अन्तर्गत पदों में सन्धि नित्य करना चाहिए । व्याकरण के अनुसार सन्धि को विवेक्षाधीन भले ही माना जाय परन्तु कवियों का परम्परा या 'ममय' यह ही है कि जैसे एक पद के अन्तर्गत सन्धि अनिवार्य है इसी प्रकार श्लोक के एक चरण के अन्तर्गत भी नित्य सन्धि होती है इसलिए यदि विवेक्षाधीन मानकर एक बार भी सन्धिविश्लेष होता है तो वह काव्य दोष ही माना जायगा ।

सन्धिविश्लेष दोष का निरूपण करने के बाद सन्धि अश्लीलता दोष का निरूपण करते हैं । जैसाकि पहिले कहा जा चुका है १ जुगुप्सा शब्दक, २. ग्रीवा शब्दक और ३ अमङ्गलातङ्कदायि तीस प्रकार की अश्लीलता होती है । उन तीनों को दिखाने के लिए तीन उदाहरण देते हैं ।

१ [सन्धिविश्लेष में जुगुप्सादायि] भङ्गलीलारव [का उदाहरण] जैसे—
प्रयोग्य आचार्य [आचार्याभास] द्वारा योजित [होने से] यह 'नृत्त'
रेचक [नामक 'नृत्त' के भेद] से रहित [अतः विरेचक] है ।

इस उदाहरण में 'विरेचक' पद का प्रयोग किया गया है । जिसका अर्थ 'रेचक' रहित होता है । 'रेचक' शब्द नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है । नृत्यकाल में हाथ, पैर, कमर, गर्दन आदि की विशेष प्रकार की जो चेष्टाएं होती हैं उनको 'रेचक' कहते हैं । सर्ङ्गातरत्नाकर में कहा है—

रेचकानय वक्षामश्चतुषो भस्तोदिताम् ।

पदयो करयो कट्या ग्रीवापाश्च भवन्ति ते ॥

२. चक्रामे पनसप्रायै पुरी पण्डमहाद्रुमै ।

३. विना शपथदानाभ्यां पदवादसमुत्सुकम् ।

नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार 'नृत्त ताललयाश्रयम्' प्रत्येक सुन्दर 'नृत्त' में इन 'रेचकों' का होना आवश्यक है । नाट्यशास्त्र का जानने वाला कोई आचार्य 'रेचकों' से हीन 'विरचक' 'नृत्त' नहीं करवा सकता है । किन्तु यह 'नृत्त' 'विरचक' अर्थात् उक्त 'रेचकों' से हीन है इसलिए जान पड़ता है कि किसी 'आचार्याभास' अर्थात् अयोग्य किन्तु आचार्यमन्य व्यक्ति ने इसकी योजना की है । 'विरचकमिदं नृत्तमाचार्याभासयोजितम्' इस पद का यही अभिप्राय है । परन्तु इसमें 'विरचक' पद दस्तावर का और 'याम' पद मैथुन का स्मारक भी है, इसलिए यह दोनों क्रमशः 'जुगुप्सादायी' तथा 'भोडादायी' अश्लीलता के उदाहरण हो जाते हैं । 'विरचक' पद में अश्लीलता की स्थिति सन्निधोप के कारण नहीं है । 'आचार्याभास' में 'याम' अश जो मैथुन का स्मारक होने से 'भोडादायी' होता है उसमें अश्लीलता का प्रयोजक सन्धि ही है । इस लिए यह 'भोडादायी' अश्लीलता रूप सन्धि दोष का उदाहरण है । 'जुगुप्सादायी' सन्धिदोष का उदाहरण दूसरा देते हैं—

जिनमें कदहल बहुतायत से हैं ऐसे बड़े-बड़े वृक्षों के भुजों से [घिरी हुई यह] नगरी शोभित हो रही थी ।

इन उदाहरण में 'पुरी पण्डमहाद्रुमै' यह अश 'जुगुप्सा' व्यञ्जक अश्लीलता दोष से युक्त है । यहाँ यद्यपि स्वरसमुदाय रूप कोई सन्धि नहीं हुई है । परन्तु पुरी + पण्ड के समापस्थ होने से 'प्रत्यासत्ति' रूप सन्धि मात्र से 'पुरीय' शब्द बन गया है जो 'विष्टा' का स्मारक होने से यह 'जुगुप्सा-व्यञ्जक' अश्लीलता का उदाहरण है । तीसरा निम्न उदाहरण अश्लीलता के तीसरे भेद 'अमङ्गलावङ्गदायी' अश्लील का दिया गया है—

विना किसी [लोकोपकार धारि कार्य के] प्रतिज्ञा [शपथ] या [किसी प्रकार के] दान [आदि कार्य] के [किए हुए भी] पदवाद [पद प्राप्ति की योग्यता सूचन] के लिए उत्सुक को ।

इसमें 'विना' और 'शपथ' शब्दों की प्रत्यासत्ति रूप सन्धि से 'विना-शपथ' शब्द बन गया है और उससे 'विनाशपथ' अर्थात् मृत्यु मार्ग की स्मृति होती है, अतः वह 'अमङ्गलावङ्गदायी' अश्लीलता का उदाहरण है और उसका कारण विना + शपथ शब्दों की प्रत्यासत्ति रूप सन्धि है । यहाँ मुख्यतः सन्धिदोष

कष्टत्वं यथा—

मञ्जुर्दुग्मगर्भास्ते गुर्वाभोगा द्रुमा बभुः ॥ ८ ॥

एवं वाक्यदोषानभिधाय वाक्यार्थदोषान् प्रतिपादयितुमाह—

व्यर्थैकार्थसन्दिग्धाप्रयुक्तापक्रमलोकविद्या-

विरुद्धानि च । २, २, ६ ।

वाक्यानि दुष्टातीति सम्बन्धः ॥ ६ ॥

क्रमेण व्याख्यातुमाह—

व्याहतपूर्वोत्तरार्थं व्यर्थम् । २, २, १० ।

के प्रसङ्ग में अश्लीलता का निरूपण हुआ है इसलिए ऐसे उदाहरण अधिक उपयुक्त रहते जिनमें वास्तव में सन्धि होने पर अश्लीलता आई होती। वह जो उदाहरण दिए गए हैं उनमें प्रयासक्ति मात्र के कारण अश्लीलता है। इसलिए वह उतने उपयुक्त नहीं बने हैं।

[सन्धि होने पर] कष्टत्व [दु अवस्था का उदाहरण] जैसे—

मञ्जरी के उद्गम से युक्त वे बड़े बड़े वृक्ष शोभित हुए ।

इस उदाहरण में मञ्जरी + उद्गम तथा गुह + ग्रामोग पदों में यथादेश हो कर बने हुए 'मञ्जुर्दुग्म' और 'गुवाभोग' पदों में सन्धि के कारण ऊपर चढ़े हुए रेफ के संयोग से 'कष्टता' या 'दु अवस्था' आ गई है। अतएव यह 'सन्धिकष्टता' के उदाहरण हैं ॥ ८ ॥

इस प्रकार वाक्यदोषों का कथन करके अब वाक्यार्थ दोषों का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

१ व्यर्थ, २ एकार्थ, ३ सन्दिग्ध, ४ अप्रयुक्त, ५ अपक्रम, ६ लोकविरुद्ध और ७ विद्याविरुद्ध [सात प्रकार के] वाक्यार्थ दोष हैं ।

[पूर्वोक्त सात प्रकार के] वाक्य दुष्ट [अर्थ वाले] हैं यह [पिछले सूत्र के साथ] सम्बन्ध है । [इस प्रकार इस सूत्र में सात प्रकार के वाक्यार्थ दोषों का 'उद्देश' पर्याप्त नाममात्रेण कथन किया गया है । आगे उनके लक्षण करेंगे] ॥ ६ ॥

अब से [उन वाक्यार्थ दोषों को] व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

आगे पीछे के [पूर्व और उत्तर] अर्थ का जिसमें [विरोध, द्वाघात] हो वह 'व्यर्थ' [दोष] कहलाता है ।

व्याहृतौ पूर्वोत्तरावर्थौ यस्मिंस्तद् व्याहृतपूर्वोत्तरार्थं वाक्यं
व्यर्थम् । यथा—

अद्यापि स्मरति रमालसं मनो मे
मुग्धायाः स्मरचतुराणि चेष्टितानि ॥

मुग्धाया कथं स्मरचतुराणि चेष्टितानि । तानि चेत् कथं मुग्धा ।
अत्र पूर्वोत्तरयोरर्थयोर्विरोधाद् व्यर्थमिति ॥ १० ॥

उक्तार्थपदमेकार्थम् । २, २, ११ ।

उक्तार्थानि पदानि यस्मिंस्तदुक्तार्थपदमेकार्थम् । यथा—

चिन्तामोहमनङ्गमङ्गं तनुते विप्रेक्षितं सुभ्रूय ।

अनङ्गं शृङ्गारः । तस्य चिन्तामोहात्मकत्वाच्चिन्तामोहशब्दौ प्रयुक्ता-
वुक्तार्थौ भवतः । एकार्थपदत्वाद् वाक्यमेकार्थमित्युक्तम् ॥ ११ ॥

जिस [वाक्य] में [पूर्व और उत्तर] भागे-पीछे के अर्थ परस्पर
विरुद्ध [व्याहृत] हों वह परस्पर विरुद्धार्थ वाला वाक्य 'व्यर्थ' [कहलाता]
है । जैसे—

[सम्भोगकालीन] आनन्द से परिपूर्ण मेरा मन अब भी 'मुग्धा' पत्नी
की रति-श्रीडा की चतुरतापूर्ण चेष्टाओं को याद कर रहा है ।

[इसमें वधू को 'मुग्धा' और उसकी चेष्टाओं को 'स्मरचतुराणि चेष्टि-
तानि' कहा है । यह दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं । क्योंकि यदि वह 'मुग्धा' है
तो [मुग्धा तु 'रतो वामा'] 'मुग्धा' की चेष्टाएँ 'रतिचतुर' कैसे [हो सकती हैं]
और यदि [उसकी चेष्टाएँ] उस प्रकार की [रति चतुर] हैं तो वह 'मुग्धा'
कैसे [हो सकती है इस प्रकार] यहाँ भागे-पीछे की बातों [पूर्व और उत्तर
अर्थों] में विरोध होने से 'व्यर्थ' बोध है ॥ १० ॥

पुनरुक्त [उक्त अर्थ वाला] पद 'एकार्थ' [दोष कहलाता] है ।

जिस [वाक्य] में [उक्तार्थ] पुनरुक्त पद हो वह उक्तार्थ [पुनरुक्त]
पद वाला [वाक्य] 'एकार्थ' [वाक्यदोष कहलाता] है । जैसे—

उस सुन्दरी का कटाक्ष चिन्ता, मोह और काम को उत्पन्न करता है ।

[यहाँ] अनङ्ग [का अर्थ] शृङ्गार है । उसके [स्वयं ही] चिन्ता
और मोहात्मक होने से [अर्थात् चिन्ता तथा मोह के उसी काम के अन्तर्गत ही

न विशेष्यचेत् । २, २, १२ ।

न गतार्थं दुष्टं, विशेष्यचेत् प्रतिपाद्य स्यात् ॥ १२ ॥

तं विशेष्यं प्रतिपादयितुमाह—

धनुर्ज्याध्वनीं धनुश्चुतिराह्वे प्रतिपत्त्यै । १३ ।

धनुर्ज्याध्वनावित्यत्र ज्याशब्देनोक्तार्थत्वेऽपि धनुश्चुति प्रयुज्यते ।

जाने से] चिन्ता और मोह शब्द का [पृथक्] प्रयोग [उक्तार्थ] पुनरुक्त हो जाता है । [वाक्य के] पुनरुक्त पद वाला होने से [छत्रिग्याय से समस्त] वाक्य को पुनरुक्त [उक्तार्थ] कहा है ।

[इसका अभिप्राय यह है कि उक्तार्थता या पुनरुक्ति तो पदों की होती है इसको वाक्यार्थ दोष कैसे कहा है । यह प्रश्न है । इसका समाधान ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है कि पुनरुक्ति का सम्बन्ध दो या अनेक पदों से होता है अतः उसको वाक्य दोष ही समझना चाहिए । अथवा इस समाधान का दूसरा अभिप्राय यह भी हो सकता है कि जैसे बहुत से व्यक्ति एक साथ जा रहे हों उनमें एक छतरी लगाए हो और अन्य बिना छतरी के हो तो कभी-कभी उन सबके लिए जरूर उन छतरी वालों को बुला लेना इस प्रकार का प्रयोग होता है । इस को 'छत्रिग्याय' कहने हैं । इस 'छत्रिग्याय' से वाक्यान्तर्गत एक पद की पुनरुक्तता से वाक्य की पुनरुक्ति मान कर इस उक्तार्थता को वाक्यदोष कहा जा सकता है] ॥ ११ ॥

यदि [इस उक्तार्थता में कोई] विशेष [प्रयोजन] हो तो [यह 'उक्तार्थ' या 'एकार्थ'] दोष नहीं होता है ।

यदि कोई विशेष [बात पुनरुक्ति से] प्रतिपाद्य हो तो गतार्थता [उक्तार्थता या पुनरुक्ति] दोष नहीं होती है ॥ १२ ॥

[जिस विशेषता के प्रदर्शन के लिए पुनरुक्ति होने पर भी उसको दोष नहीं माना जाता है] उस विशेष का प्रतिपादन करने के लिए [अगले सूत्रों में कुछ उदाहरण] वृत्ते हैं ।

'धनुर्ज्याध्वनीं' धनुष के चाप की टड्डार [इस प्रयोग] में 'ज्या' शब्द [प्रत्यञ्चा के] जडाव की प्रतीति के लिए है ।

'धनुर्ज्याध्वनीं' इस [प्रयोग] में [ज्या अर्थात् प्रत्यञ्चा धनुष के सिवाय और किसी की होती ही नहीं इसलिए ज्या पद से ही धनुष पद के गतार्थ

आरुढेः प्रतिपत्त्यै । आरोहणस्य प्रतिपत्त्यर्थम् । न हि धनु श्रुतिमन्तरेण धनुष्यारुढा ज्या धनुर्भवेति शक्य प्रतिपत्तुम् । यथा—

धनुर्ज्याकिणचिन्हेन गोप्या विस्फुरितं तव । इति ॥ १३ ॥

कर्णावतसश्रवणकुण्डलशिर शेखरेषु कर्णादिनिर्देश
सन्निधे । २, २, १४ ।

कर्णावतसादिशब्देषु कर्णादीनामवतंसादिपदैककार्थानामपि निर्देश सन्निधे प्रतिपत्त्यर्थमिति सम्बन्ध । न हि कर्णादिशब्दनिर्देश-
मन्तरेण कर्णादिसन्निहितानामवतंसादीनां शक्या प्रतिपत्तिं कर्तुमिति ।
यथा—

१ दोलाचिलासेषु विलासिनीनां
कर्णावतसा कलयन्ति कम्पय ॥

हो जाने पर भी] धनु शब्द [का प्रयोग किया गया है ।] आरुढता के बोध के लिए [प्रयुक्त किया गया] है । 'आरुढे प्रतिपत्त्यै' का अर्थ आरुढता के बोध के लिए है । धनु पद के बिना, धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा धनुष की प्रत्यञ्चा है [अथवा उतरी हुई] यह नहीं समझा जा सकता है । [धनुर्ज्या शब्द के प्रयोग का उदाहरण] जैसे—

धनुष की प्रत्यञ्चा की छोट से चिह्नित तुम्हारा बहुत फडक रहा है ।

[यहां धनुर्ज्या पद के प्रयोग से चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा का ही ग्रहण होता है अगप्या प्रत्यञ्चा के बगधन आदि से भी चिन्ह हो सकता है] ॥ १३ ॥

[इसी प्रकार] कर्णावतस, श्रवणकुण्डल, शिर शेखर आदि [प्रयोगों] में कर्ण [श्रवण, शिर] आदि [पदों] का निर्देश सामीप्य [बोधन के कारण] से है ।

कर्णावतस आदि शब्दों में कर्णादि के अवतस, आदि पदों से गतायं हो जाने पर भी [अलग] निर्देश सन्निधि [सामीप्य] के बोध के लिए [किया जाता] है, यह [सूत्र के पदों का] सम्बन्ध हुआ । कर्णादि पदों के प्रयोग के बिना कर्ण आदि में सन्निहित [पहिने हुए] अवतस आदि का ज्ञान नहीं किया जा सकता है । [क्योंकि कान के आभूषण कर्णफूल अलग भी रखे हुए हो सकते हैं । कर्णावतस पद के प्रयोग में कानों में पहिने हुए रूप में हो उनका बोध होता है, अलग रखे हुए का नहीं] जैसे—

२. लीलाचलच्छवणकुण्डलमापतन्ति ।

३. आययुर्भृङ्गमुत्तरा शिर शोभरशालिनः ॥ १४ ॥

मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्द शुद्धे । २, २, १५ ।

मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दो हारशब्देनैव गन्तव्यं प्रयुज्यते, शुद्धे प्रतिपत्त्यर्थमिति सम्बन्धः । शुद्धानामन्यत्वनैरभिहितानां हारो मुक्ताहारः । यथा—

भूला भूलने के समय सुन्दरियों के कानों के आभूषण हिल रहे हैं ।

[इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण देते हैं] खोला से हिलते हुए भवणकुण्डल पर [अमर आदि] गिरते हैं । [अथवा खोला से हिलते कुण्डलों वाले या वाली होकर गिरते हैं या गिरती हैं] ।

यह उदाहरण भवणकुण्डल पद में कुण्डल की भवण सन्निधि कान में पहिने होने की सूचना के लिए प्रयुक्त भवण पद के प्रयोग समर्थन के लिए दिया है । परन्तु यहाँ 'लीला-चलत्' पद से ही उनका कान में पहिना होना प्रतीत हो सकता है । इसलिए यह उदाहरण अधिक सुन्दर नहीं रहा उसकी अपेक्षा निम्न उदाहरण अच्छा रहेगा—

अस्या कर्णावतसेन जित सर्वं विभूषणम् ।

तथैव शोभतेऽत्यन्तमस्याः भवणकुण्डलम् ॥

इसके पूर्व धनुष्या आदि सूत्र में ही कर्णावतसादि पदों का भी एकत्र ही निर्देश किया जा सकता था उस दशा में अलग सूत्र बनाने की आवश्यकता न होती । परन्तु प्रयोजन के भेद को दिखाने के लिए इस सूत्र और इसके अगले चार सूत्रों की रचना अलग की गई है । तीसरा उदाहरण देते हैं—

भुज्जों के गुञ्जन से युक्त [भूषित] शिर-मोर [शेलर] वाले [लोग] आए ।

[यहाँ शेलर के साथ शिर पद का प्रयोग मोर [शेलर] की शिर पर स्थिति के बोधन के लिए है] ॥ १४ ॥

मुक्ताहार [इस प्रयोग] में मुक्ता पद [का प्रयोग] शुद्धि [के बोधन के प्रयोजन] से हुआ है ।

'मुक्ताहार' इस शब्द में मुक्ता शब्द हार शब्द से ही गन्तव्यं होकर [भी अलग] प्रयुक्त होता है । [क्योंकि मुक्ता के बने हुए हार को ही हार

प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभिः ।

मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम् ॥ १५ ॥

पुष्पमालाशब्दे पुष्पपदमुत्कर्षस्य । २, २, १६ ।

पुष्पमालाशब्दे मालाशब्देनैव गतार्थं पुष्पपदं प्रयुज्यते, उत्कर्षस्य प्रतिपत्त्यर्थमिति । उत्कृष्टानां पुष्पाणां माला पुष्पमालेति । यथा—

प्रायशः पुष्पमालेव कन्या सा न लोभयेत् ।

ननु मालाशब्दोऽन्यत्रापि दृश्यते यथा रत्नमाला, शब्दमालेति । सत्यम् । स तावदुपचरितस्य प्रयोगः । निरुपपत्तो हि मालाशब्दः पुष्परचनाविशेषमेवाभिधत्त इति ॥ १६ ॥

कहा जाता है । मुक्ताग्रों को] शृङ्ख [के सूचन] के प्रयोगन से, यह [सूत्र के पदों का] सम्बन्ध है । शृङ्ख अर्थात् अन्य रत्नों से अमिश्रित [केवल मुक्ताग्रों] का हार मुक्ताहार होता है । जैसे—

प्राणेश्वर के आलिङ्गन से विलास के गौरव को प्राप्त करके शोभायमान मुक्ताहार [के सम्पर्क] से [नाविका के] दोनों स्तन हँस से रहे हैं ।

वैसे तो 'हारो मुक्तावली' इस कोश के अनुसार शुद्ध मुक्ताग्रों से बने हुए हार के लिए ही हार शब्द का प्रयोग होता है । इस रूप में शुद्धता की प्रतीति भी केवल हार शब्द के प्रयोग से ही मानी जा सकती है । उस दशा में मुक्ता पद का प्रयोग मुक्ताग्रों के उत्कर्ष गचन के लिए होता है यह मानना चाहिए । जैसे पुष्पमाला शब्द में पुष्प पद का प्रयोग पुष्पों के उत्कर्ष गचन के लिए होता है ॥ १५ ॥

'पुष्प माला' शब्द में पुष्प पद [का प्रयोग] उत्कर्ष का सूचक है ।

'पुष्पमाला' शब्द में माला पद से ही गतार्थ हुआ पुष्प पद [उक्तार्थ] प्रयुक्त होता है । [वह प्रयोग पुष्पों के] उत्कर्ष के बोधन के लिए [होता है] उत्कृष्ट पुष्पों को माला पुष्पमाला कहलाती है । जैसे—

पुष्पमाला के समान [सुन्दर] वह कन्या प्रायः किसीको नहीं लुभाती है ।

[प्रश्न] माला शब्द [पुष्पमाला में ही रूढ नहीं है बल्कि] अन्यत्र भी [प्रयुक्त होता हुआ] देखा जाता है । जैसे—रत्नमाला, शब्दमाला इत्यादि [सब केवल माला शब्द से पुष्प शब्द गतार्थ कहे हो सकता है] ।

करिकलभशब्दे करिणवदस्ताद्रूप्यस्य । २, २, १७ ।

करिकलभशब्दे करिणवद. कलभेनैव गतार्थ. प्रयुज्यते, ताद्रूप्यस्य प्रतिपत्त्यर्थमिति । करी प्रौढकुञ्जरः, तद्रूपकलभः करिकलभ इति । यथा-
त्यज करिकलम त्व प्रीतिवन्धं करिण्या. ॥ १७ ॥

विशेषणस्य च । २, २, १८ ।

विशेषणस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुक्तार्थस्य पदस्य प्रयोग । यथा—
जगाद मधुरा वाचं विशदाक्षरशालिनीम् ॥ १८ ॥

[उत्तर] ठीक है [माला शब्द अन्यत्र भी प्रयुक्त होता है परन्तु वहाँ] वह प्रयोग प्रौढाचारिक [लक्षणा से किया हुआ] है । [रत्न, शब्द आदि] विशेषणों से रहित केवल माला शब्द पुष्पों की रचनाविशेष को ही बोधित करता है ॥ १६ ॥

करिकलभ शब्द में [हाथी के बच्चे को ही कलभ कहते हैं । 'कलभो करिणावक' यह कोश इसी बात का सूचक है । इसलिए कलभ से ही करी शब्द उक्तार्थ हो जाता है । पुनः] करी शब्द [का प्रयोग] ताद्रूप्य [करो-शावक की प्रौढता एवं करिणपता] का बोधक होता है ।

'करिकलभ' शब्द में करी शब्द कलभ [शब्द] से ही गतार्थ [हो जाता है पुनः] ताद्रूप्य की प्रतीति के लिए प्रयुक्त होता है । करी [का प्रर्थ] प्रौढ हाथी है । उसके समान [बलिष्ठ] कलभ [हाथी का बच्चा] है यह बात] 'करिकलभ' [शब्द से सूचित होती] है । जैसे—

हे करिकलभ तू हविनी के प्रेम बन्धन को छोड़ दे ।

[यहाँ करिकलभ पद का प्रयोग तद्वत् हाथी की समानता को बोधन करने के लिए ही हुआ है । क्योंकि करिणी का प्रीति-बन्धन तद्वत् करी को ही हो सकता है बच्चे को नहीं ।] ॥ ७॥

और विशेषण का प्रयोग भी [उक्तार्थ होने पर विशेष्य प्रतिपत्ति के लिए ही होता है] ।

विशेषण की विशेषता का बोधन करने के लिए ही उक्तार्थ पद का प्रयोग होता है । जैसे—

विशिष्ट अक्षरों से युक्त मधुर वाणी को बोला ।

तदिदं प्रयुक्तेषु । २, २, १६ ।

तदिदमुक्तं प्रयुक्तेषु नाप्रयुक्तेषु । न हि भवति तथा श्रवण-
कुण्डलमिति तथा नितम्बकाञ्चीत्यपि । यथा वा करिकलभ इति तथा
उष्ट्रकलभ इत्यपि । अत्र श्लोक —

कर्णावतसान्निपदे कर्णादिष्वनिनिर्मिति ।

सन्निधानान्विबोधार्थं स्थितेष्वेतत् समर्थनम् ॥ १६ ॥

‘गद व्यक्ताया वाचि’ धातु होने से ‘जगाद’ के साथ ‘वाच’ का प्रयोग उक्तार्थ
हो जाता है । वह विशेषणभूत ‘मुर’ के उक्तार्थ के सूचनार्थ किया जाता है ।
उसके प्रयुक्त किए बिना विशेषणों का ठीक प्रयोग नहीं हो सकता है । इसलिए
विशेषणों की प्रतीति के लिए उक्तार्थ ‘वाच’ आदि का प्रयोग होता है ॥ १८ ॥

यह [उक्तार्थ पदों का प्रयोग का समर्थन केवल महाकवियों द्वारा]
प्रयुक्तों में [ही समझना चाहिए । उस प्रकार के नवीन प्रयोग नहीं करने
चाहिए] ।

यह [समाधान महाकवियों द्वारा] प्रयुक्त [पदों] में ही [समझना
चाहिए] । अप्रयुक्त [नवीन प्रयोगों] में नहीं । जैसे [प्राचीन महाकवियों के
काव्यों में] ‘श्रवणकुण्डल’ [पद का प्रयोग] होता है इसी प्रकार ‘नितम्बकाञ्ची’
यह भी [प्रयोग] नहीं [करना चाहिए] । अथवा ‘करिकलभ’ के समान ‘उष्ट्र-
कलभ’ यह [प्रयोग] भी नहीं होना चाहिए । [‘श्रवणकुण्डल’ और ‘करिकलभ’
शब्द प्राचीन महाकाव्यों में प्रयुक्त हैं इसलिए उनके प्रयोग का समर्थन किया
जा सकता है । परन्तु उसी आधार पर ‘नितम्बकाञ्ची’ और ‘उष्ट्रकलभ’ आदि
नवीन प्रयोग करना उचित नहीं है] ।

इस विषय में [सग्रह] श्लोक भी हैं—

कर्णावतसान्निपदे कर्णादि शब्दों का
प्रयोग [ध्वनिनिर्मिति] सन्निधान आदि के बोधन के लिए [होता] है । यह
समर्थन [केवल प्राचीन काव्यों में] विद्यमान [प्रयोगों] में समझना चाहिए ।
[नवीन प्रयोग नहीं करने चाहिए] ॥ १६ ॥

‘व्यर्थ’ और ‘उक्तार्थ’ नामक दो प्रकार के वाक्यार्थ दोषों के निरूपण के
बाद अब ‘सन्दिग्ध’ नामक तीसरे वाक्यार्थ दोष का निरूपण करते हैं—

सशयकृन् सन्दिग्धम् । २, २, २० ।

यद्वाक्य साधारणानां धर्माणां भ्रुतेर्विशिष्टानां वा भ्रुतेः संशयं करोति तत् संशयकृन् सन्दिग्धमिति । यथा—

स महात्मा भाग्यवशान्महापदमुपागतः ।

किं भाग्यवशान्महापदमुपागतः, आहोस्विदभाग्यवशान्महती-
मापन्नमिति संशयकृद् वाक्यं, प्रकरणाद्यभावे सर्तीति ॥ २० ॥

मायादिकल्पितार्थमप्रयुक्तम् । २, २, २१ ।

सशय करने वाला [वाक्य] 'सन्दिग्ध' [सन्दिग्धवाक्यायं दोष] है ।

जो वाक्य साधारण धर्मों के भ्रवण से अथवा विशेष धर्मों के भ्रवण से [अथवा अभ्रुते विशेष धर्म के अभ्रवण से] सशय को [उत्पन्न] करता है वह सशय-जनक होने से 'सन्दिग्ध' कहलाता है । जैसे—

वह महात्मा भाग्यवश से महत् पद को प्राप्त हुआ ।

अथवा—

वह महात्मा अभाग्यवश महती आपत्ति को प्राप्त हुआ ।

[यहां एक ही मूल वाक्य सन्धिविक्रंश के भेद में] प्रकरणादि के प्रभाव में, वया भाग्यवश महान् पद को प्राप्त हुआ अथवा अभाग्यवश महती आपत्ति को प्राप्त हुआ इस प्रकार का सशय जनक वाक्य है ।

प्रकरणादि के अपरिज्ञान काल में यह वानव संशयजनक है । परन्तु यदि इसका प्रकरण आदि ज्ञात हो तो संशय वा जनक न होकर अर्थ का निर्णय भी उससे हो सकता है । भर्तृहरि ने अनेक वाक्यप्रदान में प्रकरणादि के परिज्ञान को सन्दिग्ध स्थलों में अर्थ का निर्णायक प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

सयोगो विप्रयोगश्च माह्वयं विरोधिता ।

अर्थं प्रत्यक्षं निद्रा शब्दमग्नान्वस्य सन्निधि ॥

सामर्थ्यमीनितं देशं कालोऽप्यतिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्थानवच्छेदे विशंप्रसृतिहेतवः ॥ २० ॥

अप्रयुक्तत्वं रूपं चतुर्यं वाक्यायं दोषं वा निरूपणं करते हैं—

भाषा [छत] आदि से कल्पित अर्थ [जिस वाक्य का हो उस] को 'अप्रयुक्त' कहते हैं ।

भाषा आदि के द्वारा जिसका अर्थ कल्पित हो वह 'भाषादि कल्पितार्थ'

मायादिना कल्पितोऽर्थो यस्मिंस्तन्मायादिकल्पितार्थमप्रयुक्तम् ।
अत्र स्तोकमुदाहरणम् ॥ २१ ॥

क्रमहीनार्थमपक्रमम् । २, २, २२ ।

उद्देशितानामनुद्देशितानाञ्च क्रम सम्बन्धः । तेन विहीनोऽर्थो
यस्मिंस्तत् क्रमहीनार्थमपक्रमम् । यथा—

कीर्तिप्रतापौ भवत सूर्याचन्द्रमसोः समौ ।

अत्र कीर्तिश्चन्द्रमसस्तुल्या । प्रतापः सूर्यस्य तुल्यः । सूर्यस्य
पूर्वनिपातापक्रमः ।

अथवा प्रधानस्यार्थस्य निर्देशः क्रमः । तेन विहीनोऽर्थो यस्मि-
स्तदपक्रमम् । यथा—

[वाक्य] 'अप्रयुक्त' होता है । इसके उदाहरण क्रम मिलते हैं । ['विदग्धमुख
मण्डन' आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के कुछ उदाहरण पाए जाते हैं । परन्तु अधिक
कठिन होने के कारण ग्रन्थकार ने उनको यहाँ नहीं दिया है] ॥२१॥

क्रम से विहीन अर्थ वाला [वाक्य] 'अपक्रम' कहलाता है ।

आगे-पीछे कहे हुए [उद्दिष्ट और अनुद्दिष्ट] का सम्बन्ध क्रम
कहलाता है । उससे विहीन अर्थ जिस [वाक्य] में हो वह क्रमहीनार्थ 'अपक्रम'
[वाक्य] है । जैसे—

आपके कीर्ति और प्रताप सूर्य तथा चन्द्रमा के समान हैं ।

य- कीर्ति चन्द्रमा के समान और प्रताप सूर्य के समान है [यह
कवि का अभिप्राय है । इसके बोधन के लिए यदि प्रताप को पहले और कीर्ति
को बाद में रखा जाता तब तो सूर्य का पूर्व और चन्द्र को पीछे रखना बन
सकता है । परन्तु यहाँ 'सूर्याचन्द्रमसो' में सूर्य का पूर्व निपात किया गया है
और उधर सूर्य के साथ पहले स्थान पर कीर्ति और चन्द्रमा के साथ दूसरे स्थान
पर प्रताप को रखा है । इससे कीर्ति सूर्य के समान और प्रताप चन्द्रमा के समान
है, यह अर्थ बोधित होता है, जो कि 'कवि-समय' के विपरीत होने से असङ्गत
है । इसलिए उद्दिष्ट, अर्थात् पूर्वकथित कीर्ति तथा प्रताप, और अनुद्दिष्ट, अर्थात्
बाद में कहे हुए सूर्य तथा चन्द्र, [में ठीक सम्बन्ध नहीं बनता है । अतः] सूर्य
का पूर्वनिपात होने से 'अपक्रम' [दोष] है ।

अथवा प्रधान अर्थ का [पूर्व और प्रधान अर्थ का पश्चात्] निर्देश-
क्रम है । उससे विहीन अर्थ जिस [वाक्य] में हो वह [वाक्य] 'अपक्रम'
[दोषयुक्त] है । जैसे—

तुरङ्गमथ मातङ्ग प्रयच्छास्मै मदालसम् ॥ २२ ॥

देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि लोकविरुद्धानि । २, २, २३ ।

देशकालस्वभाववैरिक्तोऽर्थो येषु तानि देशकालस्वभावविरुद्धार्थानि वाक्यानि लोकविरुद्धानि । अर्थद्वारेण लोकविरुद्धत्व वाक्यानाम् । देश-
विरुद्ध यथा—

सौवीरेष्वस्ति नगरी मधुरा नाम विश्रुता ।

अक्षोटनारिकेलाद्या यस्याः पर्यन्तभूमयः ॥

कालविरुद्ध यथा—

कदम्बकुमुमस्मेरं मयौ वनमशोभत ।

इसको घोडा अथवा नवमत्त हाथी प्रवान करो ।

[महा प्रमाण अर्थ हाथी को पहले और छोटे को बाद में कहना चाहिए था । परन्तु उसके विपरीत कथन किया गया है अतएव यहाँ 'अपव्रम' दोष है] ॥ २२ ॥

[वाक्यार्थ दोषों में से छठे 'लोकविरुद्ध' दोष की व्याख्या करने के लिए अगला सूत्र है ।]

देश, काल, स्वभाव से विरुद्ध अर्थ [वाले वाक्य] 'लोकविरुद्ध' [दोष-युक्त] कहलाते हैं ।

देश, काल तथा स्वभाव से विरुद्ध अर्थ जिन [वाक्यों] में हो वह देश, काल और स्वभावविरुद्ध अर्थ वाले वाक्य 'लोकविरुद्ध' कहलाते हैं । वाक्यों का लोकविरुद्धत्व अर्थ के द्वारा होता है, [साक्षात् नहीं होता] । देशविरुद्ध [का उदाहरण] जैसा—

सौवीर देश में मधुरा [मधुरा] नाम की अस्तित्व नगरी है जिसके चारों ओर की भूमि में अक्षोट और नारिकेल [के वृक्ष] बहुतायत से पाये जाते हैं ।

यहा मधुरा नगरी का देशविन्दु नर्णन किया गया है । मधुरा नगरी सुधन प्रान्त में यमुना तट पर बसी है, सौवीर प्रान्त में नहीं और उसकी भूमि कील और बदरीफल बहुल है अक्षोट और नारिकेल बहुल नहीं ।

कालविन्दु [का उदाहरण] जैसा—

यसन्त में कदम्ब के फूलो ॥ मुसकराता हुआ वन शोभित हुआ ।

स्वभावविरुद्धं तथा—

मत्तालिमह्नुमुखरासु च मञ्जरीषु

सप्तच्छदस्य तरतीव शरन्मुखश्री ॥

सप्तच्छदस्य स्तवका भवन्ति न मञ्जर्य इति स्वभावविरुद्धम् ।

तथा—

भृङ्गेण कलिकाकोशस्तथा भृशमपीड्यत ।

यथा गोप्पदपूर हि चवर्य बहुल मधु ॥

कलिकाया सर्वभ्या मकरन्दम्यैतावद् बाहुल्यं स्वभावविरुद्धम् ॥२३॥

यह वसन्त ऋतु में कदम्ब के पुष्पों का वर्णन कालविरुद्ध है । कदम्ब वर्षा ऋतु में फूलता है, वसन्त ऋतु में नहीं । अतः वसन्त में कदम्ब-पुष्पों का वर्णन कालविरुद्ध है ।

स्वभावविरुद्ध [का उदाहरण] जंते—

मत्त भ्रमर रूप स्तुतिपाठको [नान्दीकारदघाटुकारो मञ्जरीच स्तुति-पाठक] से शब्दायमान [मूलरित] सप्तच्छन्द की मञ्जरियों में शरद् ऋतु की मूलश्री [आरम्भिक शोभा] तरती हुई सी [प्रतीत हो रही] है ।

[यहा सप्तच्छन्द की मञ्जरियों का वर्णन किया गया है । परन्तु] सप्तच्छन्द के स्तवक [गुच्छे] होते हैं मञ्जरिया नहीं । [ग्राम के वीर के समान सम्भी उण्ठी में लगने वाले फूलों की मञ्जरी कहते हैं । अन्य प्रकार के फूलों के गुच्छे स्तवक कहलाते हैं] । इसलिए यह स्वभावविरुद्ध [वर्णन] है । इसी प्रकार—

भीरे ने कली के कोश को इतना दबाया कि [उसमें से] गाय के खुर को भर देने वाला बहुत-सा मधु निकल पड़ा ।

[यहा कली के निकले हुए मधु से गोप्पद-गाय के खुर के बराबर स्थान-भर गया यह जो कहा गया है यह भी स्वभाव-विरुद्ध अर्थ है । क्योंकि सब कमियों प्रयत्न] किसी भी कली के मकरन्द की इतनी अधिकता [का वर्णन] स्वभाव के विरुद्ध है ।

परन्तु बहुत-सी लोकविरुद्ध बातें भी 'कवि-समय' में स्वीकृत मानी गई हैं । उनका वर्णन आगे करेंगे । लोकविरुद्ध होने पर भी 'कवि-समयगत' बातों का वर्णन दोष नहीं माना जाता है । अर्थात् लोकयात्रा और 'कवि-समय' के विरोध होने पर 'कवि-समय' 'लोकयात्रा' की अपेक्षा प्रबल माना जाता है ॥ २३ ॥

कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धार्थानि विद्याविरुद्धानि । २, २, २४ ।

कलाशास्त्रैश्चतुर्वर्गशास्त्रैश्च विरुद्धोऽर्थो येषु तानि कलाचतुर्वर्ग-
शास्त्रविरुद्धार्थानि वाक्यानि विद्याविरुद्धानि । वाक्यानां विरोधोऽर्थ-
द्वारक । कलाशास्त्रविरुद्धं यथा—

कालिङ्गं लिखितमिदं वयस्य पत्रं
पत्रजैरपतितकोटिकण्टकाग्रम् ॥

कालिङ्गं पतितकोटिकण्टकाग्रमिति पत्रविदामाम्नायः । तद्विरुद्ध-
त्वात् कलाशास्त्रविरुद्धम् । एवं कलान्तरेष्वपि विरोधोऽभ्यूह्यः । चतुर्वर्ग-
शास्त्रविरुद्धानि तद्ग्राहयन्ते—

कामोपभोगमाफल्यफलो राज्ञां महीजन्य ।

‘विद्याविरुद्ध’ के वर्णन के लिए अगला सूत्र कहते हैं ।

कलाशास्त्र और चतुर्वर्गशास्त्रों के विरुद्ध अर्थ शब्द [वाक्य] ‘विद्या-
विरुद्ध’ [वाक्य] कहलाते हैं ।

कलाशास्त्र और चतुर्वर्गशास्त्रों [अर्थात् धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, काम-
शास्त्र तथा मोक्षशास्त्र] से विरुद्ध अर्थ जिन [वाक्यों] में हो, वह कलाशास्त्र
तथा चतुर्वर्ग शास्त्रों से विरुद्ध अर्थ वाले वाक्य, ‘विद्याविरुद्ध’ कहलाते हैं । वाक्यों
का विरोध अर्थ द्वारा होता है [साक्षात् नहीं] । कलाशास्त्रविरुद्ध [का उदाह-
रण] जैसे—

हे मित्र, पत्रलेखनशैली के पण्डितों ने यह ‘कलिङ्ग-शैली’ का [लिखा
हुआ] यह पत्र खड़ी हुई नोक [अपतित कोटि] के ‘कण्टक’ [लोहमय लेखनी के
अग्रभाग निब, कण्टकाग्र] से लिखा है ।

[यहाँ ‘कलिङ्ग-शैली’ के पत्र-लेखन का वर्णन उम शैली के विरुद्ध रूप से
किया गया है । क्योंकि] ‘कलिङ्ग-शैली’ में [खड़ी नोक से नहीं बल्कि] गिरी
मोक की कलम से लिखा जाना है, यह पत्र [लेखनप्रकार] को जानने वालों
का सिद्धांत है । [परन्तु यहाँ] उसके विरुद्ध [अपतित अर्थात् खड़ी कलम
से लिखने का वर्णन] होने से [यह वर्णन] कलाशास्त्र के विरुद्ध है । इसी
प्रकार अन्य कलाओं के भी विरोध को समझ लेना चाहिए । ‘चतुर्वर्गशास्त्र-
विरुद्ध’ के उदाहरण दिसलाते हैं—

राजाभो का पृथिवी विजय कामोपभोग की सफलता रूप फल वाला है ।

धर्मफलोऽश्वमेधादियज्ञफलो या राज्ञां महीजय इत्यागम । तद्वि-
रोधाद् धर्मशास्त्रविरुद्धमेतद् वाक्यमिति ।

अहङ्कारेण जीयन्ते द्विपन्तः किं नयश्रिया ।

द्विपज्यस्य नयमूलत्वं स्थित दण्डनीतौ । तद्विरोधादर्थशास्त्रविरुद्ध-
मिदं वाक्यमिति ।

दशनाङ्गपवित्रितोत्तरोष्ठ ।

रतिस्वेदालसमानन स्मरामि ।

उत्तरोष्ठमन्तर्मुखं नयनान्तमिति मुक्त्वा चुम्बननम्ररदशनं स्था-
नानि इति कामशास्त्रे स्थितम् । तद्विरोधात् कामशास्त्रविरुद्धार्थं वाक्यमिति ।

[यहा पृथिवी विजय का फल कामोपभोग को बताया है यह बात धर्मशास्त्र
के विरुद्ध है क्योंकि धर्मशास्त्र में] धर्म अथवा अश्वमेधादि यज्ञ राजाओं के
पृथिवीजय का फल है इस प्रकार [के अर्थ] का [प्रतिपादक] आगम है ।
उसके विरुद्ध होने से यह वाक्य धर्मशास्त्र के विरुद्ध है ।

अर्थशास्त्र के विपरीत 'विद्याविरुद्ध' का उदाहरण देते हैं—

शत्रु अहङ्कार से ही जीते जा सकते हैं नीति से क्या प्रयोजन ।

दण्डनीति [अर्थशास्त्र] में शत्रुविजय का नीतिमूलकत्व कहा गया है ।

[यहा] उसके विरुद्ध [वर्णन] होने से यह वाक्य अर्थशास्त्र [दण्डनीति] के
विरुद्ध है ।

कामशास्त्र से विपरीत 'विद्याविरुद्ध' का उदाहरण देते हैं—

वन्तस्त्रिंशो [वन्तक्षत] से अधिक उत्तरोष्ठ [ऊपर के छोट] दासे और
रतिभ्रम के कारण घालस्य मुवत [नायिका के] मुख की याद [अब भी] आ
रही है ।

[यहा नायिका के ऊपर के छोट पर दशनाङ्गिणो—वन्तक्षत—का वर्णन
किया गया है परन्तु] ऊपर के छोट, मुख के भीतर, और घालो के किनारो
[नेत्रप्रांत] को छोड़ कर चुम्बन, नख और दशन [वन्तक्षत] के स्थान होते
हैं, ऐसा कामशास्त्र में कहा गया है । उसके विरुद्ध होने से [यह वाक्य] काम-
शास्त्र के विरुद्ध है ।

धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, और कामशास्त्र से विपरीत 'विद्याविरुद्ध' दोष
के तीन उदाहरण पहिले दे चुके हैं अब मोक्ष शास्त्र से विपरीत 'विद्याविरुद्ध'
का चौथा उदाहरण आगे देते हैं—

देवताभक्तितो मुक्तिर्न तत्त्वज्ञानसम्पदा ।

एतस्यार्थस्य मोक्षशास्त्रे स्थितत्वात् तद्विरुद्धार्थम् ।

एते वाक्यवाक्यार्थदोषास्त्यागाय ज्ञातव्याः । ये त्वन्ये शब्दार्थ-
दोषा सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने वक्ष्यन्ते, उपमादोषश्चोपमाविचार
इति ॥ २४ ॥

इति पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तो

दोषदर्शने द्वितीयाऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ।

वाक्य-वाक्यार्थ-दोषविभागः ।

समाप्तञ्चेद 'दोषदर्शन' द्वितीयमधिकरणम् ।



परमात्मा [देवता] की भक्ति से [ही] मुक्ति होती है, तत्त्वज्ञान व
सम्पत्ति से नहीं ।

['कृते ज्ञानान्न मुक्ति' अर्थात् तत्त्वज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती
है । ज्ञान से ही मुक्ति होती है ।] इस अर्थ के मोक्षशास्त्र में प्रतिपादित
[स्थित] होने से [तत्त्वज्ञान की सम्पत्ति से मुक्ति नहीं होती, यह कहना]
मोक्षशास्त्र के विरुद्ध है ।

यह वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोष परित्याग करने के लिए जानने चाहिए,
इससे भिन्न जो शब्द और अर्थ के अन्य सूक्ष्म दोष हैं उनको गुणविवेचन के
प्रकरण में कहेंगे और उपमा के दोष उपमा के विचार के अक्षर पर
कहेंगे ॥ २४ ॥

पण्डितवरवामनविरचित काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में

'दोषदर्शन' नामक द्वितीय अधिकरण में द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।

वाक्य-वाक्यार्थ-दोषों का विभाग पूर्ण हुआ ।

और यह 'दोषदर्शन' नामक द्वितीय अधिकरण भी समाप्त हुआ ।

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिताया

काव्यालङ्कारदीपिकाया हिन्दीव्याख्याया

द्वितीयाधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।

समाप्तञ्चेद 'दोषदर्शन' द्वितीयमधिकरणम् ।

अथ 'गुणविवेचन' नाम तृतीयमधिकरणम्

प्रथमोऽध्यायः ।

[गुणालङ्कारविवेकः शब्दगुणविवेकश्च]

यद्विपर्ययात्मानो दोषास्तान् गुणान् त्रिचारयितुं गुणविवेचन-
मधिकरणमारभ्यते । तत्रोक्तं प्रसादादयो गुणा यमकोपमादयन्त्यलङ्कारा
इति स्थितिः काव्यविदाम् । तेषां किं भेदनिबन्धनमित्याह—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणा । ३, १, १ ।

ये खलु शब्दार्थयोर्वर्माः काव्यशोभा कुर्वन्ति ते गुणाः । ते श्रौत-
प्रसादादयः । न यमकोपमादयः । केवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात् ।
श्रौत-प्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति ॥ १ ॥

'गुण-विवेचन' नामक तृतीय अधिकरण में प्रथम अध्याय

गुण और अलङ्कारों का भेद तथा शब्द गुणों का विवेचन ।

[पिछले अधिकरण में दोषों का विवेचन किया गया था । उस अधि-
करण के प्रारम्भ में 'गुणविपर्ययात्मानो दोषा' इस प्रकार दोष का सामान्य
संज्ञा किया था । इसलिए दोषों के निरूपण के बाद] जिन के विपर्यय स्वल्प
दोष होते हैं उन गुणों का निरूपण करने के लिए 'गुण-विवेचन' नामक [यह
तृतीय] अधिकरण प्रारम्भ करते हैं । उसमें श्रौत, प्रसाद आदि गुण और यमक
उपमादि अलङ्कार कहलाते हैं । यह काव्यतः लोगों का सिद्धांत [स्थिति-
सर्वादा] है । उन [गुण तथा अलङ्कारों] में भेद [व्यवहार] का क्या कारण
है इसको बतलाने के लिए [इस अधिकरण में सबसे पहिले गुण तथा अलङ्कारों
के भेद का निरूपण करते हुए] कहते हैं—

काव्य की शोभा को [उत्पन्न] करने वाले धर्म गुण होते हैं ।

शब्द तथा अर्थ के जो धर्म काव्य की शोभा को [उत्पन्न] करते हैं वे
'गुण' कहलाते हैं । वे श्रौत, प्रसाद आदि [गुण] हैं, यमक उपमादि नहीं । [श्रौत,
प्रसाद आदि गुणों के अभाव में] केवल उन [यमक उपमादि अलङ्कारों] के काव्य-

शोभा के जनक न होने से [केवल यमक उपमादि गुण नहीं कहलाते हैं । इसके विपरीत] श्लोक, प्रसाद आदि [गुण] तो [यमक उपमादि अलङ्कारों के बिना] केवल भी काव्य-शोभा के जनक हो सकते हैं । इसलिए [अन्वय-व्यतिरेक से श्लोक, प्रसाद आदि गुण ही काव्य के शोभोपादक होते हैं । यमक, उपमादि अलङ्कार काव्य-शोभा के जनक नहीं होते अपितु उस शोभा की वृद्धि के हेतु होते हैं । यही गुण और अलङ्कारों का मुख्य भेद है ।]—

गुण और अलङ्कार इन दोनों के भेद का विवेचन साहित्यशास्त्र का मुख्य विषय रहा है । अनेक आचार्यों ने इस विषय में अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं । उनमें प्रायः दो प्रकार के पक्ष पाए जाते हैं—एक ‘अभेदवादी’ पक्ष और दूसरा ‘भेदवादी’ पक्ष । इनमें से ‘भामह’ और उनके विवरणकार उद्भट अभेद सिद्धान्त को मानने वाले हैं । उनके मत में गुण और अलङ्कारों में कोई भेद नहीं है । उनमें भेद-व्यवहार जो किया जाता है उसे वह भेदचाल के समान अविनेकपूर्ण मानते हैं । भट्टोज्झट ने बिना है—

समवायवृत्त्या शौर्यादयः सवोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, श्लोकप्रमृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयोरपामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गृहलिकाप्रवाहेर्णवैषा भेदः ।

इसका अभिप्राय यह है कि पुरुष में रहने वाले शौर्य आदि गुण तथा उम के हारादि अलङ्कारों का भेद तो हो सकता है । क्योंकि शौर्यादि गुण आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और हारादि का शरीर के साथ सवोग सम्बन्ध होता है । इसलिए सम्बन्ध के भेद से पुरुषनिष्ठ गुण और अलङ्कारों का भेद माना जा सकता है । परन्तु काव्य में तो श्लोक प्रसाद आदि गुण और अनुप्रास उपमादि अलङ्कार दोनों ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं इसलिए उन दोनों में कोई भेद नहीं है । वह दोनों वस्तुतः एक हैं । दोनों से ही काव्य की शोभा होती है । व्यवहार में जो गुण और अलङ्कार का भेद दिखाई देता है वह ‘गृहलिकाप्रवाह’ अर्थात् ‘भेदचाल’ है । गृहलिका मेरी या भेद को कहते हैं । जैसे भेदों में से अगली भेद किसी कारण के बिना स्वेच्छापूर्वक जब जिस ओर चल देती है । अन्य भेदों भी तब उसी के पीछे चल देती है । इसी प्रकार किसी ने बिना सोचे समझे गुण और अलङ्कारों में भेदव्यवहार कर दिया तो अन्य लोग भी उनको अलग-अलग कहने लगे । वास्तव में गुण और अलङ्कार भिन्न-भिन्न नहीं, अपितु भिन्न और एक हैं, यह भामह के व्याख्याकार उद्भट का मत है ।

भेदवादियो में भी दो प्रकार के मत पाए जाते हैं । आनन्दवर्धनाचार्य तथा मम्मटाचार्य एक मत के मानने वाले हैं, और वामन दूसरे मत के पोषक हैं । आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वन्यालोक में गुण तथा अलङ्कारों के भेद का निरूपण करते हुए लिखा है—

समर्थमवसम्बन्धे येऽङ्गिन ते गुणा स्मृताः ।

अङ्गाश्रितास्त्वसङ्गारा मन्तव्या कटकादिषु ॥

अर्थात् अङ्गीभूत रस के आश्रित रहने वाले धर्मों को 'गुण' कहते हैं और अङ्गभूत शब्द तथा अर्थ में रहने वाले धर्म 'असङ्गार' कहलाते हैं । काव्य-प्रकाशकार मम्मटाचार्य भी इसी मत के समर्थक हैं ।

गुण तथा असङ्गारों का मम्मटाचार्य कृत भेद—

श्रीमम्मटाचार्य ने भी अपने काव्यप्रकाश में गुण तथा अलङ्कारों के भेद का निरूपण करने का प्रयत्न किया है । उसमें उन्होंने भट्टोज्झट के पूर्वोक्त 'मभेदवाद' का और वामनप्रदर्शित 'भेदनिरूपण' दोनों का खण्डन किया है । वह गुण और अलङ्कार दोनों का भेद मानते हैं । परन्तु वह वामन के समान गुणों का काव्य-शोभाजनकत्व और अलङ्कारों का शोभातिशयहेतुत्व मान कर दोनों का भेद नहीं करते हैं । अपितु आनन्दवर्धनाचार्य के समान गुणों को रस का अचलस्थिति धर्म अर्थात् नियत धर्म या नित्य धर्म मान कर और अलङ्कारों को उसके विपरीत शब्द तथा अर्थ का अस्थिर धर्म मान कर गुण तथा अलङ्कारों का भेद करने हैं । उन्होंने गुणों का सङ्ग्रह करते हुए लिखा है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥

अर्थात् रस के उत्कर्षाधायक और रस में अव्यभिचरित रूप से प्रवृत्त रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं । इसके विपरीत, अलङ्कार अङ्गीभूत रस के नहीं अपितु उससे भिन्न शब्द-अर्थ के धर्म हैं । और वह नियम से रस के उपकारक भी नहीं होते । इसलिए गुणों में 'अलङ्कारों' की गणना नहीं हो सकती है । अलङ्कारों का गुणों से भेद दिखाते हुए श्री मम्मटाचार्य ने स्पष्ट रूप में लिखा है—

उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हारादिवदलङ्कारान्तेजुप्राप्तोपमादयः ॥ ६७ ॥

अर्थात् जो उस विद्यमान रस को अङ्ग अर्थात् शब्द और अर्थ के द्वारा

तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा । ३, १, २ ।

तस्याः काव्यशोभायाः अतिशयस्तदतिशयः, तस्य हेतवः । तु शब्दो व्यतिरेके । अलङ्कारश्च यमकोपमादयः । अत्र श्लोकौ—

नियम से नहीं अपितु कभी-कभी उपकृत करते हैं वे हारादि के समान अलङ्कार होते हैं । हार आदि अलङ्कारों की प्रायः तीन प्रकार की स्थिति देखी जाती है ।

१ अलङ्कार्य स्त्री आदि में वास्तविक सौन्दर्य होने पर हारादि अलङ्कार उसके उत्कर्षाघायक होते हैं । २ सौन्दर्य न होने पर वह दृष्टिर्वचिभ्यः मात्र के हेतु होते हैं । इसी प्रकार काव्य में रस होने पर उपमादि अथवा अनुप्रासादि अलङ्कार उसके उत्कर्षाघायक होते हैं । अहा रस नहीं होता वहा उत्क्रिर्वचिभ्यः मात्र रूप से प्रतीत होते हैं । और रस के विद्यमान होने पर भी कभी उसके उत्कर्षाघायक नहीं भी होते हैं । जैसे अत्यन्त अनिन्द्य सौन्दर्यशालिनी युवति को धारण कराए हुए ग्रामीण अलङ्कार उसके सौन्दर्य के अभिवर्धक नहीं होते ।

इसलिए काव्यप्रकाशकार के मत में गुण तथा अलङ्कारों के भेद का मुख्य आधार यह है कि 'गुण रस के नियत धर्म हैं' और 'अलङ्कार शब्द तथा अर्थ के अनियत धर्म हैं' ।

प्रकृत 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' के निर्माता वामन भी गुण तथा अलङ्कारों का भेद मानते हैं । परन्तु उनके मत में उस भेद का आधार आनन्दव्यवसायायं तथा मम्मटाचार्य से भिन्न कुछ और ही है ।

वामन का मत यह है कि काव्यशोभा के उत्पादक धर्मों का नाम 'गुण' है और उस शोभा के अतिशय-हेतुओं को 'अलङ्कार' कहते हैं । इसी आधार से 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।' यह गुणों का सामान्य लक्षण करने के बाद अलङ्कारों का उनसे भेद दिखाने वाला लक्षण 'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा' । आगे सूत्र में करते हैं—

उस [काव्यशोभा] के अतिशय के हेतु अलङ्कार होते हैं ।

उस काव्यशोभा का अतिशय तदतिशय [का अर्थ] हुआ । उसके हेतु [अलङ्कार होते हैं] तु शब्द [गुणों से अलङ्कारों का] भेद [प्रदर्शन] में [प्रयुक्त हुआ] है । यमक और उपमा आदि [शब्द तथा अर्थ के] अलङ्कार हैं । [गुण और अलङ्कारों का जो भेद हमने प्रतिपादित किया है उसके [समर्थन के] विषय में [निम्न लिखित] दो श्लोक [भी] हैं—

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं,
 स्यन्दते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
 विहितप्रणय निरन्तराभि,
 मदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः ॥
 यदि भवन्ति वचश्च्युत गुणैर्म्यो,
 वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनाया ।
 अवि जनदयितानि दुर्भगस्य,
 नियतमलङ्कारानि मश्रयन्ते ॥

[शुद्ध अर्थात् अलङ्कारों से अभिधित गुण ओज प्रसाद आदि जिन में हो वह] शुद्धगुण वाला वह काव्य भी युवति के [अलङ्कारविहीन शुद्ध] रूप के समान [रसिक जनो को] अत्यन्त रसिकर होता है । और अत्यधिक [निरन्तराभि,] अलङ्कार रचनाओं से विभूषित रूप भी अत्यन्त आह्लाददायक होता है । [युवति में सौन्दर्य रूप गुण होने पर अलङ्कार हो या न हों दोनों अवस्थाओं में रसिकों को वह रूप रसिकर होता ही है] ।

[परन्तु] यदि स्त्री के [यौवन बन्धु जिनमें यौवन भी लावण्य को उत्पन्न न कर सकने के कारण व्यय हो ऐसे] लावण्यशून्य शरीर के समान काव्य-वाणी [वच] गुणों [ओज प्रसाद आदि] से शून्य हो तो निश्चय ही [उसके धारण किए हुए] लोकप्रिय [जनदयिताभि] ग्राम्यण भी भड़े मालूम होने लगते हैं [दुर्भगस्य मश्रयन्ते] ।

इन श्लोकों का अभिप्राय यह हुआ कि गुणों के होने पर अलङ्कारों के बिना भी काव्य की शोभा हो सकती है और गुणों के अभाव में केवल अलङ्कारों से काव्य की शोभा नहीं होती । इसलिए अन्वय नया व्यतिरेक से गुण ही काव्य-शोभा के उत्पादक है और अलङ्कार उस शोभा की वृद्धि के हेतु होते हैं ॥ २ ॥

गुण और अलङ्कारों का मूल्य भेद ग्रन्थकार ने बना दिया, परन्तु बामन के मत में गुण तथा अलङ्कारों का इसके अतिरिक्त एक भेद और है । वह यह है कि गुण काव्य के नित्य अर्थात् अपरिहार्य धर्म हैं और अलङ्कार नित्य या अपरिहार्य धर्म नहीं हैं । अर्थात् गुणों के बिना काव्य की शोभा नहीं हो सकती है । परन्तु अलङ्कारों के बिना काव्य की शोभा हो सकती है । इसी बात को ग्रन्थकार अगले सूत्र में कहते हैं ।

पूर्वे नित्या । ३, १, ३ ।

पूर्वे गुण नित्या । तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ॥ ३ ॥

एव गुणलङ्काराणां भेदं दर्शयित्वा शब्दगुणनिरूपणार्थमाह—

श्लोक-प्रसाद-श्लेष-समता-समाधि-माधुर्य-सौकुमार्य-

उदारता-अर्थव्यक्ति-कान्तयो बन्धगुणा । ३, १, ४, ।

बन्ध पदरचना, तस्य गुण बन्धगुणाः श्लोकः प्रभृतयः ॥ ४ ॥

[उन गुण तथा श्लङ्कारों में से] प्रथम [अर्थात् गुण] नित्य है ।

पूर्व [अर्थात्] गुण नित्य [काव्य में अपरिहार्य] है । उन [गुणों] के बिना [काव्य की] शोभा अनुपपन्न होने से ॥ ३ ॥

इस प्रकार गुण तथा श्लङ्कारों के भेद का निरूपण करके शब्द-गुणों के निरूपण करने के लिए [सबसे पहिले उनका 'उद्देश' अर्थात् नाममात्रेण कथन करने के लिए अगला सूत्र] कहते हैं—

१. श्लोक, २. प्रसाद, ३. श्लेष, ४. समता, ५. समाधि, ६. माधुर्य, ७. सौकुमार्य, ८. उदारता, ९. अर्थव्यक्ति, और १०. कान्ति [नामक यह १०] बन्ध [अर्थात् रचना] के गुण हैं ।

बन्ध अर्थात् पद-रचना उसके गुण बन्धगुण, श्लोक, प्रसाद आदि [१० प्रकार के बन्धगुण] होते हैं ।

यहां श्लोक, प्रसाद, आदि को 'बन्ध' का गुण कहा है । 'बन्ध' का अर्थ पद-रचना है । अर्थात् श्लोक-प्रसाद आदि पद-रचना के गुण हैं । इस 'पद-रचना' के लिए 'सङ्घटना' शब्द का प्रयोग भी, साहित्यग्रन्थों में हुआ है । ध्वन्यालोककार ने इस अर्थ में मुख्य रूप से 'सङ्घटना' शब्द का ही प्रयोग किया है । उन्होंने 'सङ्घटना' तथा 'गुणों' के सम्बन्ध का विवेचन बहुत विस्तार के साथ किया है । इनके सम्बन्ध का निरूपण करते हुए भी उन्होंने 'अभेदवादी' तथा 'भेदवादी' दो पक्ष दिखलाए हैं । 'अभेदवादी' पक्ष में उन्होंने ब्राम्हण के मत को रखा है । ब्राम्हण पद-रचना को 'बन्ध' कहते हैं । और विशेष प्रकार की पद रचना के लिए 'रीति' शब्द का प्रयोग करते हैं । प्रथम अधिकरण में 'विशिष्टपद-रचना रीति' यह रीति का लक्षण कर चुके हैं । 'पद-रचना की वह विशिष्टता क्या है इसका प्रतिपादन करते हुए अबले ही सूत्र में 'विशेषो गुणात्मा' लिख कर गुरुरूपता—गुणात्मकता को ही पद-रचना का वैशिष्ट्य या

तान् क्रमेण दर्शयितुमाह—

गाढवन्धत्वमोज । ३, १, ५ ।

वन्धस्य गाढत्वं यत् तदोजः । यथा—

‘रोति’ कहा है । इसलिए वामन के मत में पद-रचना या रीतियों को गुणात्मक माना गया है । इसका अर्थ यह हुआ कि ‘गुण’ और ‘रीति’ अलग-अलग नहीं हैं । इसीलिए आनन्दवर्धनाचार्य ने वामन के मत को ‘गुण’ तथा ‘सङ्घटना’ का ‘अभेदवादी’ मत कहा है ।

इस ‘अभेदवादी’ पक्ष के विपरीत दूसरा ‘भेदवादी’ पक्ष है जो ‘सङ्घटना’ तथा गुण दोनों को अलग-अलग भिन्न-भिन्न मानता है । इस ‘भेदवादी’ पक्ष में गुणों के ‘सङ्घटना’ के साथ सम्बन्ध के विषय में दो प्रकार के मत पाए जाते हैं । एक मत में ‘गुण’ ‘सङ्घटना’ के आश्रित रहते हैं । और दूसरे मत में ‘सङ्घटना’ गुणों के आश्रित रहती है । इन दोनों मतों की आनन्दवर्धन ने ‘सङ्घटनाश्रया गुणा’ और ‘गुणाश्रया वा सङ्घटना’ इस रूप में प्रस्तुत किया है । इनमें से ‘सङ्घटनाश्रया गुणा’ अर्थात् गुण, ‘सङ्घटना’ के आश्रित रहने हैं । यह पक्ष ‘मट्टोद्भूत’ आदि का है । उन्होंने गुणों को सङ्घटना का धर्म माना है । धर्म सदा धर्मी के आश्रित रहता है । इसलिए ‘गुण’, ‘सङ्घटना’ के आश्रित रहते हैं । अर्थात् ‘गुण’ आश्रय और ‘सङ्घटना’ आधार रूप है । इस प्रकार गुण और सङ्घटना का भेद है ।

तीसरा पक्ष ‘गुणाश्रया सङ्घटना’ है अर्थात् सङ्घटना गुणों के आश्रित रहती है । यह आनन्दवर्धनाचार्य का अभिमत पक्ष है । इस प्रकार तीन प्रकार के विकल्प ध्वन्यालोककार ने दिखलाए हैं । ध्वन्यालोककार स्वयं ‘रीति सम्प्रदाय’ के मानने वाले नहीं हैं । वह ‘रीति’ का नहीं अपितु ध्वनि को काव्य का आत्मा मानते हैं और ‘ध्वनि सम्प्रदाय’ के प्रवर्तक हैं । फिर भी उन्होंने ‘सङ्घटना’ नाम से रीतियों का निर्देश कर गुणों के साथ उनका सम्बन्ध दिखाने का प्रयत्न किया है । और तीनों का समन्वय करने का भी यत्न किया है ॥ ४ ॥

अब से उन [दसों गुणों के लक्षणादि] को दिखाने के लिए कहते हैं ।

रचना की गाढ़ता [गाढ वन्धत्व] ओज [गुण कहलाता] है ।

वन्ध [अर्थात् रचना] का जो गाढ़त्व है वह ओज [गुण कहलाता] है । [गाढत्व का अभिप्राय अवयवों अथवा अक्षरविन्यास का परस्पर सश्लिष्टत्व

विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्ति ।

* न पुनः,

विलुलितमधुधारा मञ्जरीर्लोलयन्ति ॥ ५ ॥

शैथिल्य प्रसाद । ३, १, ६ ।

बन्धस्य शैथिल्य शिथिलत्व प्रसाद ॥ ६ ॥

नन्वयमोजो विपर्ययात्मा दोषस्तत् कथं गुण इत्याह—

है । तद्युक्त अक्षरों और रेफशिरस्क वर्णों के प्रथम-द्वितीय, अथवा प्रथम-तृतीय अथवा तृतीय-चतुर्थ वर्णों के संयोग होने पर बन्ध की गाढ़ता अथवा ओज गुण माना जाता है] जैसे—

मकरन्द को कम्पित करते हुए [भौरे धात्र धादि की] मञ्जरियों को नचाने है ।

[यहाँ 'मकरन्द' और 'मञ्जरीर्नर्तयन्ति' में बन्ध की गाढ़ता होने से ओज गुण माना है] ।

परन्तु यहाँ [नीचे के उदाहरण में, ओज गुण] नहीं है—

मधुधारा को कम्पित करते हुए मञ्जरियों को हिलाते हैं ।

[यहाँ 'मकरन्द' के स्थान पर 'मधुधारा' 'मञ्जरीर्नर्तयन्ति' को जगह 'मञ्जरीर्लोलयन्ति' के देने से बन्ध की गाढ़ता समाप्त होकर शैथिल्य आजाता है । इसलिए इस परिवर्तन के कर देने पर रचना में ओज नहीं रहता है । अतः यह प्रत्युदाहरण दिया है] ॥ ५ ॥

अगले सूत्र में दूसरे गुण 'प्रसाद' का लक्षण करते हैं—

[रचना के] शैथिल्य [का नाम] प्रसाद [गुण] है ।

बन्ध [रचना] के शैथिल्य अर्थात् शिथिलत्व [का नाम] प्रसाद है ॥ ६ ॥

यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि 'प्रसाद' को गुण कैसे माना गया है क्योंकि 'बन्धप्रसादस्य रूपं' 'ओज' के अभाव का नाम बन्ध-शैथिल्य या 'प्रसाद' होता है । अर्थात् बन्धगाढ़त्व रूप ओज का विरोधी होने से 'बन्ध-शैथिल्य' रूप 'प्रसाद' को काव्य का दोष मानना चाहिए, उसकी गुण कैसे कहते हैं ? इसका उत्तर देने के लिए ग्रन्थकार अगले चार सूत्रों का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं ।

[प्रश्न] यह 'ओज' का विपर्यय रूप [शैथिल्य तो काव्य का] दोष है वह गुण कैसे हो सकता है । इस [प्रश्न] का उत्तर देने के लिए कहते हैं—

गुण सम्प्लवात् । ३, १, ७ ।

गुण. प्रसादः । ओजसा सह सम्प्लवात् ॥ ७ ॥

न शुद्ध । ३, १, ८ ।

शुद्धस्तु दोष एवेति ॥ ८ ॥

ननु विरुद्धयोरोजप्रसादयो कथं सम्प्लव इत्याह—

स त्वनुभवसिद्ध । ३, १, ९ ।

स तु सम्प्लवस्त्वनुभवसिद्ध । नद्विधा रत्नादिविशेषयत् । अत्र श्लोक —

[रचना शैवित्य रूप] 'प्रसाद' गुण है [ओज के साथ] मिश्रित होने से ।

'प्रसाद' गुण [ही] है । ओज के साथ मिश्रण [सम्प्लव] होने से । [अर्थात् जहा 'ओज' और प्रसाद' दोनों मिले जुल रहने हे वहा 'प्रसाद' गुण होता है । और जहा ओज से सर्वथा रहिन एक वम यत्न शैथिल्य होना हे वह शुद्ध शैथिल्य गुण नहीं है । यही बात अगले सूत्र में कहते हैं] ॥ ७ ॥

शुद्ध [ओज से विहीन केवल बाध-शैथिल्य रूप प्रसाद] तो गुण नहीं [अपितु दोष ही] है ।

[बन्धगाढत्व रूप ओज से सर्वथा विहीन] शुद्ध [बाध-शैथिल्य] तो दोष ही है । [उसे हम गुण नहीं कहते हैं] ॥ ८ ॥

[इस पर फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि] विरुद्ध स्वभाव वाले ओज और प्रसाद का सम्प्लव [अर्थात् मिश्रण] कैसे हो सकता है ? इस [शङ्का] का समाधान करने] के लिए कहते हैं—

वह [बन्धगाढता रूप ओज तथा बाध-शैथिल्य रूप प्रसाद का सम्प्लव अर्थात् मिश्रण] तो [सहृदय विद्वानों के] अनुभव [से] सिद्ध है ।

वह [गाढबन्ध रूप ओज तथा बाध-शैथिल्य रूप प्रसाद का] सम्प्लव [मिश्रण] तो, उसको समझ सकने वालों [सहृदय विद्वानों] को उसी प्रकार अनुभवसिद्ध है जिस प्रकार रत्नों की विशेषता [रत्नों की पहिचानने वाले कुशल] जोहरिधों की [अनुभव सिद्ध होती है ।] इस विषय में [निम्नलिखित] श्लोक भी हैं—

करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः ।

यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवोजःप्रसादयोः ॥ ६ ॥

साम्योत्कर्षौ च । ३, १, १० ।

साम्यमुत्कर्षचरचौजःप्रसादयोरेव । साम्यं यथा—

अथ ल विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि मूतवे ।

नृपतिकुर्दं दत्त्वा यूने सितातपचारणम् ॥

कचचिदोजः प्रसादादुत्कृष्टम् । यथा—

प्रजति गगनं भल्लातक्याः फलेन सहोपमाम् ।

कचचिदोजसः प्रसादस्योत्कर्षः । यथा—

कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं न चन्द्रमरीचयो

न च मलयजः सर्वाङ्गीणं न वा मणियष्टयः ॥ १० ॥

करुण रस के नादकों में [विरोधी] सुख-दुःख का सम्प्लव [मिश्रण, सह-स्थिति] जैसे [सहृदयों के] अनुभव से सिद्ध है उसी प्रकार ओज और प्रसाद का [सम्प्लव भी अनुभवसिद्ध है] ॥ ६ ॥

[ओज और प्रसाद का सम्प्लव ही नहीं उभका] साम्य और उत्कर्ष भी [उसी प्रकार अनुभवसिद्ध है] ।

ओज तथा प्रसाद का ही साम्य और उत्कर्ष भी [सहृदयों के अनुभव सिद्ध है] । साम्य [का उदाहरण] जैसे—

विषयो से विरक्त होकर वह [राजा वित्तीय] इवेत छत्र रूप राज सिंह प्रधाविधि [अर्थात् राज्याभिषेक की शास्त्रीय विधि द्वारा] अपने नवयुवक पुत्र [रघु] को देकर [स्वयं घन में चला गया । रघुवश ३, ७०] ।

कहाँ ओज प्रसाद से उत्कृष्ट होता है । जैसे—

आकाश [नीलिमा में] भल्लातकी [भिलावा] के फल के साथ सादृश्य को प्राप्त हो रहा है ।

कहाँ ओज से प्रसाद का अधिक उत्कर्ष होता है । जैसे—

न नवीन [तत्काल बनाई हुई] फूलों की शय्या, न चन्द्रमा की किरणें, न सारे शरीर में लगाया हुआ चन्दन का लेप और न मणियों के हार [वियोगी जन के लिए शान्तिप्रद होते हैं] ॥ १० ॥

मसृणत्व श्लेष । ३, १, ११ ।

मसृणत्व नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकवद्भासन्त ।
यथा—

अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा,
हिमालयो नाम नगाधिराज ।

न पुनः—

सूत्र ब्राह्मसुरस्थले । भ्रमरीबल्गुगीतय । तडिञ्जदिलमाकाशम् ।
इति । एव तु श्लेषो भवति—

ब्राह्म सूत्रसुरस्थलं । भ्रमरीमञ्जुगीतय । तडिञ्जदिलमाकाशम् ।
इति ॥ ११ ॥

भार्गाभेद समता । ३, १, १२ ।

आगे तीसरे 'श्लेष' गुण का निरूपण करते हैं—

[शब्दनिष्ठ चिकनेपन] मसृणत्व को 'श्लेष' कहते हैं ।

नितके होने पर बहुतों से यह एक पद के समान [मिले हुए से] प्रतीत
होते हैं वह 'मसृणत्व' [कहा जाता] है । जैसे—

उत्तर दिशा में देवतास्वल्प हिमालय नाम का पर्वतराज है ।

यहां 'अस्ति उत्तरस्या दिशि' आदि अनेक पद भ्रमण-भ्रमण हैं क्योंकि
उममें समास नहीं है । परन्तु पढ़ते समय वह एक पद के समान प्रतीत होते
हैं इसलिए अनेक पदों के 'एकपदवद्भासनात्मक' 'मसृणत्व' होने से यह 'श्लेष'
गुण का उदाहरण है । आगे इसका प्रत्युदाहरण देते हैं—

परन्तु [निम्न उदाहरणों में मसृणत्व या 'श्लेष'] नहीं है—

उत्तरस्थल पर धारण किया हुआ यज्ञोपवीत । भ्रमरियों के मनोहर
गात । बिजली से व्याप्त आकाश । [यह तीनों उदाहरण भ्रमण-भ्रमण वाच्य
हैं । इनमें एकपदवद्भासनात्मक मसृणत्व न रहने से यहाँ 'श्लेष' गुण नहीं है ।
परन्तु यदि इनके पाठ को थोड़ा सा परिवर्तन करके] ब्राह्म सूत्रसुरस्थले,
भ्रमरीमञ्जुगीतय, और तडिञ्जदिलमाकाशम् [कर दिया जाय तो] ऐसा
[प्रयोग करने पर] तो 'श्लेष' हो जाता है ॥ ११ ॥

आगे चतुर्थ गुण 'समता' का निरूपण करते हैं—

[काव्य में प्रारम्भ की हुई] रचना-शैली का [अन्त तक] अभेद

क्रमविधानार्थत्वाद्वा । ३, १, २० ।

पृथक्करणमिति । पाठधर्मत्वं च न सम्भवतीति 'न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः' इत्यत्र वक्ष्यामः ॥ २० ॥

इत्यादि उदाहरण में भवरोह के बिना भी प्रसाद गुण दिखा कर अनैकान्तिकत्व दोष देकर भोज से भिन्न आरोह को और प्रसाद से भिन्न भवरोह को सिद्ध कर उन आरोह भवरोह के क्रम को 'समाधि' नाम से अलग गुण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि 'यत्र यत्रोज तत्र तत्रारोह' 'जहाँ-जहाँ भोज होता है वहाँ-वहाँ आरोह होता है' इस प्रकार का नियम नहीं है परन्तु 'यत्र यत्रारोहस्तत्र तत्रोज' जहाँ-जहाँ आरोह होता है वहाँ-वहाँ भोज होता है इस प्रकार का नियम माना जा सकता है । उसका व्यभिचार न मिलने से उस नियम को अनैकान्तिक नहीं कहा जा सकता है ।

दूसरी बात आप ने यह कही थी कि भोज और प्रसाद की तीव्रावस्था में जो आरोह और भवरोह होता है उसको भोज और प्रसाद से भिन्न मान कर उसके निमित्त का नाम ही 'समाधि' नामक गुण है । यहाँ भी, अवस्था तथा अवस्थावान् का अभेद मानने पर भोज और आरोह के अभिन्न ही ठहरने से यह मार्ग भी उचित नहीं है । जब भोज और प्रसाद के निमित्त को 'समाधि' गुण नहीं कहते हैं, तब उनसे अभिन्न आरोह तथा भवरोह के निमित्त को अलग 'समाधि' गुण मानने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती है । इस प्रकार यहाँ दो तरह की शङ्काएँ की जा सकती हैं ।

इन दोनों शङ्काओं को ध्यान में रख कर ग्रन्थकार 'समाधि' गुण के मानने का दूसरा प्रयोजन 'क्रमविधान' को बतलाते हैं ।

अथवा [आरोह और भवरोह में], क्रम के विधान के लिए [समाधि को पृथक् गुण माना है । यहाँ आरोह और भवरोह के परस्पर क्रम से तात्पर्य नहीं है अपितु आरोह स्थल में क्रम से आरोह और भवरोह स्थल में क्रम से भवरोह करना 'समाधि' गुण कहताता है यह सूत्रकार का आशय है ।]

[आरोह स्थल में एक साथ नहीं अपितु क्रम से आरोह और भवरोह स्थल में एक साथ नहीं अपितु क्रम से भवरोह को 'समाधि' गुण कहते हैं । इस प्रकार क्रम के बोधन के लिए समाधि गुण को] पृथक् किया गया है ।

[इस पर शका यह होती है कि यह क्रम तो पाठ का धर्म हो सकता है अर्थात् बोलने में जो उतार चढ़ाव होता है वह तो काव्य का गुण नहीं हो

पृथक्पदत्व माधुर्यम् । ३, १, २१ ।

बन्धस्य पृथक्पदत्वं यत् तन्माधुर्यम् । पृथक् पदानि यस्य सः
पृथक्पद, तस्य भावः पृथक्पदत्वम् । समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरं चैतत् ।
पूर्वोक्तमुदाहरणम् । विपर्ययस्तु यथा—

चलितशयरसेनादत्तगोशृङ्गचण्ड—

ध्वनिचक्रितवराहव्याकुला विन्ध्यापादा ॥ २१ ॥

सकृता है । उसे आप काव्य-गुणों में क्यों गिना रहे हैं । इसका खण्डन करने के लिए दक्षिणकार कहते हैं कि उस धारोह या अवरोह को] पाठ का धर्म नहीं कहा जा सकता है यह बात [हम इस अध्याय के अन्तिम सूत्र] 'न पाठधर्माः सर्वप्रादुष्टे' इस सूत्र में कहेंगे ।

यहां समाधि गुण को प्रसंग सिद्ध करने का बहुत प्रयास ग्रन्थकार ने किया है परन्तु वह पूर्णतया सफल नहीं हुआ है । इसी लिए अन्य लोग इसको प्रसंग गुण नहीं मानते हैं ॥ २० ॥

'माधुर्य' रूप धतुर्य गुण के निरूपण के लिए शब्धकार भगवा मूत्र लिखते हैं—

[रचना के] पदों की पृथक्ता [अर्थात् समासरहित पदों के प्रयोग] को माधुर्य [गुण] कहते हैं ।

बन्ध [अर्थात् रचना] का जो पृथक्पदत्व है वह माधुर्य कहलाता है । जिसके पद पृथक् [अलग-अलग श्रममस्त] हैं वह [बन्ध] पृथक्पद [बन्ध] हुआ और उसका भाव पृथक्पदत्व [कहलाता] है । यह समास की घोषता का निषेध करने वाला है । [इस माधुर्य गुण का] पूर्वोक्त ['अस्त्युत्तरस्यादिति वेदतात्मा' आदि इत्यादि ही] उदाहरण है । [उसका विपर्यय] प्रत्युदाहरण जैसे [निम्न लिखित वाक्य]—

चलती हुई शयरसेना के बजाए हुए तुरही [गोशृङ्ग नामक वाद्य] की भयंकर ध्वनि से अधिक घराहों से व्याप्त [व्याकुल] विन्ध्याचल की तन-हटो है ।

यहां 'चलित' से लेकर 'व्याकुला' तक एक लम्बा ममस्त पद विशेषण रूप में दिया हुआ है । इसलिए यहां पृथक्पदत्व रूप 'माधुर्य' गुण नहीं है । इसलि यह प्रत्युदाहरण हुआ ॥ २१ ॥

अजरठत्व सौकुमार्यम् । ३, १, २२ ।

बन्धस्याजरठत्वमपारुध्य यत् तत् सौकुमार्यम् । पूर्वोक्तमुदाहरणम् । विपर्ययस्तु यथा—

निदानं निद्रैत प्रियजनसदृक्त्वव्यवसितिः ।

सुधासेकप्लोपी फलमपि विरुद्धं मम हृदि ॥ २२ ॥

विकटत्वमुदारता । ३, १, २३ ।

बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता । यस्मिन् सति नृत्यन्सीष पदा-

सप्तमं गुण 'सौकुमार्य' का निरूपण करने के लिए अगला सूत्र लिखते हैं—

[बन्ध की] अजरठता सौकुमार्य [कहलाती] है ।

बन्ध [रचना शैली] का अजरठत्व [अर्थात्] अपारुध्य [अजरठता का अभाव] जो है वह 'सौकुमार्य' [गुण कहलाता] है । [इसका भी] पूर्वोक्त ['अस्त्युत्तरस्या दिशि देवताग्ना' आदि श्लोक ही] उदाहरण है । [उसका विपर्यय] प्रत्युदाहरण तो जैसे [निम्न श्लोक है]—

[वियोगावस्था में] प्रिय जन [प्रियतमा या प्रियतम-आदि के मुख, नेत्र, केश आदि] के सावृष्य की [चन्द्रमा, कमल, मयूरविच्छ आदि में] स्थिति हो निश्चित [मिश्रित असन्दिग्ध] रूप से [उसकी स्मृति और वियोग के उद्दीपन का निदानम्] कारण है । और [उसकी स्मृति से] सुधा सिञ्चन [तथा वियोग से हृदय का प्लोय अर्थात्] और बाह रूप विरुद्ध [दो प्रकार के] फल भी मेरे हृदय में उत्पन्न होते हैं । [अर्थात् चन्द्रमा कमल आदि को देख कर सावृष्यवश प्रियतमा के मुख आदि की स्मृति हो जाती है उससे हृदय में आनन्द का सञ्चार होता है । परन्तु उसके साथ ही उसका वियोग हृदय को और अधिक जसाने लगता है] ।

इस पद्य की रचना में 'सौकुमार्य' मही अपितु 'पारुष्य' है । अतएव यह 'सौकुमार्य' गुण का उदाहरण नहीं अपितु प्रत्युदाहरण है ॥ २२ ॥

आठवें 'उदारता' नामक गुण का लक्षण अगले सूत्र में करते हैं—

[रचना शैली की] 'विकटता', 'उदारता' [कहलाती] है ।

रचनाशैली [बन्ध] की जो 'विकटता' है वह 'उदारता' [कहलाती]

नीति जनस्य वर्णभाषना भवति तद्विकटत्वम् । लीलायमानत्वमित्यर्थः ।
यथा—

म्वचरणचिनिचिष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीना
भदिति रणितमासीत् तत्र चित्रं कलञ्च ॥

न पुनः—

चरणकमललग्नैर्नूपुरैर्नर्तकीना
भदिति रणितमासीन्मञ्जु चित्रञ्च तत्र ॥ २३ ॥

अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्ति । ३, १, २४ ।

है । जिसके होने पर [रचना के] पद नाच से रहे हं इस प्रकार की वर्णों के विषय में [भोला] लोगों की भावना होती है वह 'विकटत्व' [कहुलाता] है । [अर्थात् वर्णों का मृत्प के समान] लीलायमानत्व [ही विकटत्व अथवा उदारता है] यह अर्थ हुआ । [उसका उदाहरण] जैसे—

वहाँ नर्तकियों के अपने पैरों में पहिने हुए नूपुरों का विचित्र और सुन्दर शब्द होने लगा ।

इस श्लोक के पढ़ते समय उसके पद नाचते हुए से प्रतीत होते हैं । नाचने में जैसे जैसे उतार-चढ़ाव की विशेष प्रकार की गति होती है इसी प्रकार यहाँ भदिति रणितमासीत् तत्र चित्रं कलञ्च' आदि पदों को पढ़ते समय विशेष प्रकार की गति प्रतीत होती है । इस लिए यह 'विकटत्व' अथवा 'उदारता' का उदाहरण है ।

[परन्तु यदि इस श्लोक के पदों में परिवर्तन नीचे लिखे प्रकार से कर दिया जाय तो] फिर [वह गुण] नहीं रहेगा । [जैसे]—

नर्तकियों के चरण कमलों में पहिने हुए [लग्न] नूपुरों ने वहाँ विचित्र और सुन्दर शब्द किया ।

श्लोक के इन दोनों चरणों के ऊपर दिए हुए दोनों पाठों को पढ़ते समय उनके उच्चारण में स्पष्ट रूप से अन्तर प्रतीत होता है । उमसे ही पदों के 'विकटत्व' अथवा 'उदारता' गुण का स्वरूप निर्णय हो जाता है ॥ २३ ॥

अबल सूत्र में 'अर्थव्यक्ति' रूप नवम गुण का निरूपण करते हैं—

अर्थ की [स्पष्ट और तुरन्त] प्रतीति का हेतुभूत [शब्द गुण] अर्थव्यक्ति [नाम से जाना जाता] है ।

यत्र भटित्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं स गुणोऽर्थव्यक्तिरिति । पूर्वोक्तमुदाहरणम् । प्रत्युदाहरणन्तु भूयः सुलभश्च ॥ २४ ॥

अौज्ज्वल्य कान्ति । ३, १, २५ ।

यन्धस्यौज्ज्वल्यत्वं नाम यदसौ कान्तिरिति । यदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते । यथा—

कुरङ्गीनेत्रालीस्तवफितवनालीपरिसरः ।

जहाँ [जिन शब्दों में] तुरन्त [और बिस्पष्ट रूप से] अर्थ की प्रतीति कराने की [हेतुत्व] क्षमता होती है वह 'अर्थव्यक्ति' [नामक] गुण होता है । [इस अर्थव्यक्ति गुण का भी] पूर्वोक्त ['अस्त्युत्तरस्या' विति देवतात्मा' इत्यादि श्लोक ही] उदाहरण है । [उसके विपरीत] प्रत्युदाहरण बहुत [हो सकते हैं] और सुलभ है । [इसलिए हम यहाँ उसका प्रत्युदाहरण अपने वृत्तिग्रन्थ में नहीं दे रहे हैं] ।

वास्तव में इस 'अर्थव्यक्ति' गुण के अभाव में १. असाधुत्व, २ अप्रती-
तत्व ३ अनर्थकत्व, ४ अन्यायत्व, ५ नैवार्यत्व, ६ यतिभ्रष्टत्व, ७ विलुप्तत्व,
८ सन्दिग्धत्व और ९ अप्रयुक्तत्व आदि दोष हो जाते हैं । उन दोषों के निरूपण में जो उदाहरण दिए हैं वह सब इस 'अर्थव्यक्ति' के प्रत्युदाहरण ही सकते हैं । इस लिए उसके प्रत्युदाहरणों को अलग दिखलाने की आवश्यकता नहीं है । यह मान कर वृत्तिकार ने अलग प्रत्युदाहरण नहीं दिखाया है ॥२४॥

'कान्ति' नामक दशम गुण का लक्षण अगले सूत्र में करते हैं ।

[रचना शैली की] उज्ज्वलता [मयीनता का नाम] कान्ति [गुण] है ।

वक्थ की जो उज्ज्वलता [मयीनता] है वह ही कान्ति [नामक गुण] है । जिस [कान्ति] के अभाव में [यह श्लोक या काव्य] पुरानी मकल [छाया] है यह कहा जाता है । [इस कान्ति नामक गुण का उदाहरण] जैसे—

मृगियों के नेत्रों को पक्षि से वनश्रेणी का फिनारा [पुष्पों के] गुच्छों से युक्त सा [प्रतीत हो रहा] है ।

यहाँ 'कुरङ्गीनेत्राली' से 'वनालीपरिसर' अर्थात् वन प्रान्त की, हरिणियों के नेत्रों-से फूलों के गुच्छों से भरा सा 'स्तवकित' सा कह कर जो वर्णन

विपर्ययस्तु भूयान् सुलभश्च ।

श्लोकाश्चात्र भवन्ति—

पदन्यामस्य गाढत्वं यदन्त्योजः कवीश्वराः ।

अनेनाधिष्ठिता प्रायः शब्दाः श्रोत्ररसायनम् ॥ १ ॥

श्लेषत्वमोजसा मिश्र प्रसादश्च प्रचक्षते ।

अनेन न विना सत्यं स्वदत्ते काव्यपद्धति ॥ २ ॥

यत्रैकपद्वद्भावं पदानां भूयसामपि ।

अनालक्षितसन्धीना स श्लेष परमो गुणः ॥ ३ ॥

प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः ।

दुर्वन्धो दुर्विभावश्च समतेति गुणो मतः ॥ ४ ॥

किया है, वह कवि की अपनी मई कल्पना या मई मूक है । यही उसका 'प्रोज्ज्वल्य' गुण है । जहाँ कवि की कल्पना में कोई नूतनता नहीं रहती वहाँ लोकपिटाई से प्रतीति होती है और कोई चारता नहीं रहती ।

[इस प्रोज्ज्वल्य के विपर्यय रूप] प्रत्युदाहरण बहुत और सुलभ है ।

[अतः उसको दिखलाने की आवश्यकता यहाँ नहीं है ।]

[इस प्रकार ग्रन्थकार ने सूत्र और वृत्ति द्वारा इस प्रकार के शब्द गुणों का प्रतिपादन कर दिया । अब उन्हीं इस गुणों को श्लोकों द्वारा दिखलाने के लिए कुछ सप्रहं श्लोक स्वयं लिखते हैं] इस [अर्थात् शब्द गुणों के स्वरूप निरूपण] के विषय में [निम्नलिखित ११] श्लोक भी हैं । [इन ११ श्लोकों में क्रमशः उन्हीं इस 'शब्द गुणों' का निरूपण किया गया है । जो इस प्रकार हैं]—

१. पद रचना की गाढता को कवीश्वर लोग 'प्रोज' [नामक गुण] कहते हैं । इस [प्रोज गुण] से युक्त पद प्रायः [स्फूर्ति पैदा करने वाले] कानों के लिए रसायन के समान [स्फूर्तिदायक] होते हैं ।

२. प्रोज से मिश्रित [रचना के] शैल्य को 'प्रसाद' [गुण नाम से] कहते हैं । इस [प्रसाद गुण] के बिना वस्तुतः काव्य रचना का आनन्द ही नहीं आता है ।

३. जहाँ सन्धि के दिखाई न देने पर भी बहुत से पदों में एकपद के समान प्रतीति हो वह 'श्लेष' [नामक] परम गुण है ।

४ [श्लोक के] प्रत्येक पद में और प्रत्येक श्लोक में एक से मार्ग

आरोहन्त्यवरोहन्ति क्रमेण यतयो हि यत् ।
 समाधिर्नाम स गुणस्तेन पूता सरस्वती ॥ ५ ॥
 बन्धे पृथक्पदत्वं च माधुर्यमुदितं धुधैः ।
 अनेन हि पदन्यासाः कामं धारामधुच्युताः ॥ ६ ॥
 यथा हि छिद्यते रेखा चतुरं चित्रपण्डितैः ।
 तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुणगुम्फिता ॥ ७ ॥
 बन्धस्याजरठत्वञ्च सौकुमार्यमुदाहृतम् ।
 एतेन वर्जिता वाचो रुचत्वान्न श्रुतिक्षुमाः ॥ ८ ॥
 विकटस्थञ्च बन्धस्य कथयन्ति ह्युदारताम् ।
 वैचित्र्यं न प्रपद्यन्ते यथा शून्माः पवत्रमाः ॥ ९ ॥

का ग्रहण समता नामक गुण [माना जाता है] । उसका ज्ञान तथा उसकी पहिचान बड़ी कठिन है ।

५. जहाँ [इलोंकों के पारों की] धतियाँ कम से जड़ती और उतरती हैं वह 'समाधि' नामक गुण होता है और उससे [कवि की] वाणी पवित्र होती है ।

६. रचना में पृथक् पदत्व [समासरहित पदों के प्रयोग] को विद्वान् लोग 'माधुर्य' [नामक गुण] कहते हैं । इस [माधुर्य] के होने से पद रचना मधुपारा की अरपन्त वृष्टि करने वाली होती है ।

७. जैसे चित्र [निर्माण विद्या] के पण्डित [चित्र के सौन्दर्यापादक समस्त आवश्यक गुणों से युक्त] रेखा को चतुरतापूर्वक खींचते हैं, इसी प्रकार बुद्धिमान् [कवि अपनी काव्य-] वाणी को समस्त [श्रेष्ठ प्रसाद आदि वस्तु] गुणों से गुम्फित करते हैं ।

८. रचना की कोमलता [अजरठता अप्राप्य] को 'सौकुमार्य' [गुण] कहा जाता है । इस [सौकुमार्य गुण] से रहित वाणी दृष्ट होने से [सहृदयों के] सुनने के योग्य नहीं होती है ।

९. बन्ध [रचना शैली] की 'विकटता' [पदों की नृमत्प्रामयता] को 'उदारता' [नामक गुण] कहते हैं । जिस [उदारता] के बिना पदों की रचना [विविधता] सौन्दर्य को प्राप्त नहीं कर पाती है ।

पदचादिव गतिर्वाच पुरस्तादिव वस्तुनः ।
 यत्रार्थव्यक्तिहेतुत्वात् सोऽर्थव्यक्तिः स्मृतो गुणः ॥ १० ॥
 श्रीञ्ज्वल्य कान्तिरित्याहुर्गुण गुणविशारदाः ।
 पुराणचित्रस्थानीय तेन वन्ध्यं कवेर्वचः ॥ ११ ॥ २५ ॥

‘नासन्त सदेद्यत्वात् । ३, १, २६ ।

न सल्लेखेते गुणा असन्तः । संवेद्यत्वात् ॥ २६ ॥

१०. जहाँ पदों की गति मानो पीछे हो और अर्थ की अभिव्यक्ति मानो पहिले हो जाय उसको अर्थ की सुरस्त और विस्पष्ट अभिव्यक्ति का हेतु होने से ‘अर्थव्यक्ति’ [नामक गुण] कहते हैं ।

११. गुणों को जानने वाले विद्वान् [पदों के] श्रीञ्ज्वल्य को ‘कान्ति’ [नामक गुण] कहते हैं । उस [कान्ति गुण] से रहित कवि की वाणी पुराने चित्र के समान [अनाकर्षक] होती है ॥ २५ ॥

इस प्रकार शब्द गुणों के स्वरूप, लक्षण आदि का प्रतिपादन करके अब शब्द गुणों की प्रामाणिकता का निरूपण करते हैं । यदि कोई यह शङ्का करे कि यह दस गुणों की आपने स्वयं यो ही कल्पना कर ली है वस्तुतः उनका कोई प्रतिरूप नहीं है तो उसका समाधान करने के लिए अलग सूत्र लिखा है ।

[यह दसो गुण] असत् नहीं है । सहृदयों के संवेद्य होने से ।

यह [दसो गुण] असत् नहीं है सदृश्यों द्वारा अनुभूत होने से

यहाँ मूल सूत्र में ‘सदेद्यत्वात्’ पाठ है और वृत्ति में ‘सवेद्यत्वात्’ पाठ पाया जाता है । परन्तु दोनों जगह एक-सा ही पाठ होना अधिक भ्रष्टा है । इस लिए हमने दोनों जगह ‘सदेद्यत्वात्’ यही पाठ रखा है । उसका अर्थ ‘सहृदय-सवेद्यत्वात्’ होता है ॥ २६ ॥

इस पर शङ्का की जा सकती है कि प्रतीति होने मात्र से गुणों की सत्ता मानना अनिवार्य नहीं हो जाता है । हो सकता है कि शक्ति में रजत-प्रतीति के समान उनकी प्रतीति भ्रान्त ही हो । इसका उत्तर करने के लिए अगला सूत्र लिखते हैं ।

गुणों के जानने वालों सहृदयों के द्वारा संवेद्य होने पर भी [वह गुण] भ्रम मूलक है । [ऐसी शङ्का हो तो] इसके [निवारण] के लिए कहते

तद्विदां संवेद्यत्वेऽपि भ्रान्ताः स्युरित्याह—

न भ्रान्ता निष्कम्पत्वात् । ३, १, २७ ।

न गुणा भ्रान्ताः । एतद्विपद्यायाः प्रवृत्तेर्निष्कम्पत्वात् ॥२७॥

[गुणों की अनुभूति] भ्रान्त नहीं है, अबाधित [निष्कम्प] होने से ।

[गुणों की अनुभूति] भ्रान्त नहीं है । इस [गुण] विषयक अनुभूति के अबाधित [निष्कम्प] होने से ।

भ्रम उस प्रतीति को कहते हैं जिसका बाध होता है । जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति अथवा बुद्धि में रजत की प्रतीति होती है वह भ्रम है, क्योंकि भली प्रकार देखने पर उसका बाध भी हो जाता है । 'रज्जुरिय नाय सर्प' अथवा 'बुद्धिरिय नेद रजतम्' । 'यह रस्सी है साप नहीं' या 'वह सोप है चादी नहीं' इस प्रकार की उत्तरकालिक प्रतीति से पूर्व प्रतीति का बाध हो जाता है । इस लिए उस पूर्व प्रतीति को मिथ्या अथवा भ्रान्त प्रतीति कहा जाता है । परन्तु जिस प्रतीति का बाध नहीं होता उसको मिथ्या प्रतीति नहीं कहा जा सकता है । यहाँ धामन में बाध की जगह कम्प शब्द का प्रयोग किया है । इस लिए निष्कम्प का अर्थ अबाधित है । जो निष्कम्प अर्थात् अबाधित प्रतीति है उसको भ्रम नहीं कहा जा सकता है । गुणों की प्रतीति का बाध नहीं होता है अतएव अबाधित अथवा निष्कम्प प्रतीति होने के कारण वह भ्रान्त प्रतीति नहीं हो सकती है ॥२७॥

इस पर यह शङ्का हो सकती है कि यह सब गुण जो आपने दिखला वह तो पाठ के धर्म है । अर्थात् श्लोक आदि को पढ़ते समय जो आरोह-प्रवरोह आदि होता है उसको ही आप 'श्लोक', 'प्रसाद' आदि नाम से कह रहे हैं । इसलिए आपके अभिमत 'श्लोक', 'प्रसाद' आदि की अधिक से अधिक पाठ का धर्म माना जा सकता है । काव्य गुण की दृष्टि से उनका कोई मुख्य या महत्त्व नहीं है । इन शङ्का का उत्तर करने के लिए अन्यकार ने अगले सूत्र की रचना की है । उत्तर का प्राशय यह है कि यह आरोहावरोह मूलक 'श्लोक', 'प्रसाद' आदि गुण केवल पाठ के धर्म नहीं अपितु वे ब्रह्म के अर्थात् काव्य रचना के गुण हैं । यदि केवल पाठ के धर्म होते तो जहाँ चाहे वहाँ सर्वत्र यथेष्ट आरोह या प्रवरोह कर देने से ही अव्यवस्थित रूप से श्लोक और प्रसाद का भान होने लगता । परन्तु ऐसा नहीं है । जहाँ वस्तुतः रचना में श्लोक नहीं है वहाँ पाठ में आरोह कर देने से भी श्लोक की प्रतीति नहीं हो सकती है । इसी प्रकार जहाँ

न पाठधर्मा सर्वत्रादृष्टे । ३, १, २८ ।

नैते गुणाः पाठधर्मा, सर्वत्रादृष्टेः । यदि पाठधर्मा, स्युस्तर्हि विशेषानपेक्षाः सन्तः सर्वत्र दृश्येरन् । न च सर्वत्र दृश्यन्ते । विशेषा-
पेक्षया, विशेषाणां गुणत्वाद् गुणाम्युपगम एवेति ॥२८॥

इति षण्णितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रद्विती

‘गुणविवेचने’ तृतीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ।

गुणालङ्कारविवेक शब्दगुणविवेकश्च ।

—०—

रचना में धीधित्य नहीं है वहाँ केवल पाठ अथवा उच्चारण में धीधित्य ले भाने से प्रसाद गुण नहीं हो जाता है । इस लिए इन भोज, प्रसाद आदि को पाठ-धर्म न मान कर काव्य के गुण के रूप में उनकी स्वतन्त्र सत्ता मानना अनिवार्य है । यही बात अगले सूत्र में कहते हैं ।

[भोज प्रसाद आदि गुण केवल] पाठ के धर्म नहीं हैं । [रचनागत भोज प्रसाद आदि के अभाव में] सर्वत्र [केवल पाठ मात्र से] न पाए जायेंगे ।

यह गुण [केवल] पाठ के धर्म नहीं हैं । सर्वत्र दिखाई न देने से । यदि यह [केवल] पाठ के धर्म होते तो बिना किसी विशेषता के सर्वत्र दिखाई देते । परन्तु सर्वत्र दिखाई नहीं देते हैं । किसी विशेषता की अपेक्षा से [उन भोज-प्रसाद आदि की प्रतीति होती है ऐसा मानने पर तो] विशेष के [ही] गुण रूप होने से गुणों को स्वीकार करना ही होना होगा । ८ [इस लिए गुणों का मानना आवश्यक है यह अभ्यकार का अभिप्राय हुआ] ॥२८॥

श्री षण्णितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में

‘गुणविवेचने’ नामक तृतीय अधिकरण में

प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

गुण और अलङ्कारों का भेद तथा गुणों का विवेचन
समाप्त हुआ ।

—०—

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिताया

‘काव्यालङ्कारदीपिकाया’ हिन्दी व्याख्याया

तृतीयाधिकरणे प्रथमोऽध्याय समाप्त ।

तृतीयाधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

[अर्थगुणविवेचनम्]

सम्प्रत्यर्थगुणविवेचनार्थमाह—

त एवार्थगुणा । ३, २, १ ।

त एवौजःप्रभृतयोऽर्थगुणा ॥ १ ॥

शब्दार्थगुणानां वाच्यवाचकद्वारेण भेद दर्शयति—

अर्थस्य प्रौढिरोज । ३, २, २ ।

तृतीयाधिकरण का द्वितीय अध्याय

[अर्थ गुणों का विवेचन]

इस तृतीय अधिकरण के प्रथम अध्याय में दस प्रकार के शब्द-गुणों का निरूपण किया गया था । अब इस अध्याय में 'अर्थगुणों' का निरूपण प्रारम्भ करते हैं । इन अर्थगुणों के नाम और सख्या वही हैं जो पिछले शब्दगुणों के थे । हा, लक्षणों में कुछ भेद हैं । इसलिए इस अध्याय का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

अब अर्थगुणों के विवेचन के लिए कहते हैं—

यह [ओज, प्रसाद आदि दस] ही अर्थ गुण हैं ।

[शब्दगुणों के रूप में जिनका निरूपण किया जा चुका है] यह ओज इत्यादि ही अर्थगुण [भी] हैं ॥ १ ॥

शब्द और अर्थगुणों का वाच्य-वाचक के द्वारा भेद दिसलतते हैं । [अर्थात् शब्द और अर्थगुणों के नाम एक समान होने पर भी उनमें भेद यह है कि शब्दगुणों के स्थूल में प्रौढि आदि, 'वाचक' अर्थात् शब्द के धर्म होते हैं और अर्थ गुणों में प्रौढित्व आदि शब्द के नहीं अपितु अर्थ के धर्म होते हैं ।]—

अर्थ की प्रौढि 'ओज' [नामक अर्थगुण] है ।

अर्थ की प्रौढि अर्थात् प्रौढत्व [अर्थगत गुण] 'ओज' है । [यह अर्थ की

अर्थस्याभिधेयस्य प्रौढिः प्रौढत्वमोत्र ।

पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदामिधा ।

प्रौढिव्योससमासौ च साभिप्रायत्वमेव च ॥

पदार्थे वाक्यवचनं यथा—

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रैरिव द्यौः ।

अत्र चन्द्रपदवाच्येऽर्थे 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रे' इति वाक्यं प्रयुक्तम् । पदसमूहश्च वाक्यमभिप्रेतम् । अनया दिशाऽन्यदपि द्रष्टव्यम् । तद्यथा—

प्रौढि पाच प्रकार की होती है । वह पाचों प्रकार के अर्थप्रौढि के भेद निम्न इसी लोक में इस प्रकार दिलाए है]—

१ [जिस अर्थ का प्रतिपादन केवल एक ही शब्द से किया जा सकता है उस] पद [से प्रतिपाद्य] अर्थ [के बोधन] में वाक्य की रचना, २ वाक्य के [प्रतिपाद्य] अर्थ [के बोधन] में [संक्षेप करके केवल एक] पद का कथन करना, ३ [इन दो प्रकारों के अतिरिक्त अन्य प्रकार से अर्थ का] विस्तार, ४. [अथवा उक्त प्रकारों से भिन्न प्रकार से पदार्थ का] संक्षेप [समाप्त] करना, और ५ [अर्थ का विशेष रूप से] साभिप्रायत्व [यह पाच प्रकार की अर्थगत] 'प्रौढि' होती है ।

[यहां इन पाचों प्रकारों के उदाहरण देते हैं ।] पद के अर्थ [बोधन] में [लम्बे] वाक्य का कथन करना [यह जो प्रौढि का पहला भेद है उसका उदाहरण] जैसे—

अग्नि [ऋषि] के नेत्र से उत्पन्न ज्योति [अर्थात् चन्द्रमा] के समान ।

यहां 'अग्नि' पद से वाक्य [चन्द्रमा रूप] अर्थ [के बोधन] में 'नयन-समुत्थ ज्योतिरत्रे' [इतना लम्बा] वाक्य प्रयुक्त किया है ।

[यहां यह शङ्का हो सकती है कि 'तिङ्सुबन्तषयो वाक्य त्रिधा वा कारकान्विता' इस लक्षण के अनुसार तिङन्त तथा सुबन्त पदों का समुदाय अथवा कारक से युक्त किया को वाक्य कहते हैं । परन्तु 'नयनसमुत्थ ज्योतिरत्रे' इस पद समुदाय में कोई त्रिधा नहीं है इस लिए इस को वाक्य नहीं कह सकते हैं । इस शङ्का को मन में रख कर धन्यवार कहते हैं कि यहां वाक्य का यह लक्षण अभिप्रेत नहीं है अपितु सामान्य रूप से] और [केवल] पद समूह [ही यहां] वाक्य [शब्द से] अभिप्रेत है । इस प्रकार [पदों के अर्थ में प्रयुक्त वाक्य] के अर्थ [उदाहरण] भी समझ लेने चाहिए । जैसे कि—

पुर. पाण्डुच्छायं तदनु कपिलिम्ना कृतपदं
ततः पाकोत्सेकादरुणगुणसंसर्गितवपुः ।
शनैः शोपारम्भे स्थपुटनिजविष्कम्भविषमं,
वने वीतामोदं वदरमरसत्वं कलयति ॥

न चैवमतिप्रसङ्गः, काव्यशोभाकरत्वस्य गुणसामान्यलक्षणस्याव-
स्थितत्वात् ।

[घेर का फल निकलते समय] सबसे पहिले [सफेद] पाण्डु छाया,
वाला, उसके बाद पीलिमा से व्याप्त, उसके बाद पकने पर लातिमा युक्त
स्वरूप वाला, उसके बाद सुखरे लगने पर [स्थपुटी निम्नोन्नत, विष्कम्भ-
प्राभोग.] नीचे ऊंचे स्वरूप वाला और धन्त में वन में ही गन्धहीन और रस-
बिहीन हो जाता है ।

इसमें 'कपिल' इस पद के अर्थ बोधन करने के लिए 'कपिलिम्ना कृत-
पद' और 'परण' इस पद के स्थान पर 'परणगुणसंसर्गितवपु' यह पद समुदाय
प्रयुक्त किया गया है । यह सब पद के अर्थ में वाक्यप्रयोग रूप प्रथम प्रकार की
प्रौढि के उदाहरण है ।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि इस प्रकार पद मात्र से बोध्य
अर्थ के लिए वाक्य के प्रयोग को आप अर्थमत 'प्रौढि' मान कर 'प्रोज' गुण के
अन्तर्गत मानते हैं तो अभी दोष निरूपण के प्रसङ्ग में 'व्यवहितार्थ क्लिष्टम्'
'क्लिष्टत्व' दोष का लक्षण करके 'दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकासु' यह जो उसका
उदाहरण दिया है यह कैसे सङ्गत होया । वही भी 'चन्द्र' इस पद से बोध्य अर्थ
के लिए 'दक्षात्मजादयितवल्लभ' रूप पदसमूह का प्रयोग किया गया है । उस
दोषस्थल में इस प्रौढि गुण के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जावेगी । इस शङ्का
के निवारण के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

१ और इस प्रकार ['दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकासु' इत्यादि उदाहरणों में
प्रौढि रूप इस अर्थगुण के लक्षण की] अतिव्याप्ति नहीं समझनी चाहिए ।
[यहा अर्थात् 'अथ नयनसमूहं ज्योतिरत्रैरिवद्यौ' इत्यादि उदाहरण में] काव्य-
शोभाजनकत्व रूप गुण के सामान्य लक्षण के विद्यमान होने से ।

और 'दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकासु' इत्यादि उदाहरणों में अर्थ-
प्रतीति के व्यवहित होने से नृण के सामान्य लक्षण से हीन और दोष लक्षण

वाक्यार्थे पदामिधानं यथा 'दिव्येयं न भवति किन्तु मानुषी' इति वक्तव्ये 'निमिषति' इत्यादेति ।

अस्य वाक्यार्थस्य व्यामसमाप्तिः ।

के विद्यमान होने से उसमें गुण का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है । इन दोनों उदाहरणों में का परस्पर भेद सहृदय अथवा गुणदोष के विवेचन की विशेष क्षमता रखने वालों को ही प्रतीत हो सकता है सामान्य व्यक्ति को उन दोनों की स्थिति एक जैसी ही जान पड़ती है ।

वाक्य के अर्थ में पद के कथन [का उदाहरण] जैसे—

'यह दिव्य अप्सरा नहीं है किन्तु मानुषी [स्त्री] है' [इतने लम्बे वाक्य द्वारा] यह कहने के स्थान पर [केवल] 'निमिषति' [पलक मारती है] यह कहता है ।

देवलोक वासी देवता तथा अप्सराएँ पलक नहीं मारते हैं और इस भूलोक के वासी मनुष्य स्त्री आदि पलक मारने वाले हैं । इस प्रकार का भेद कवि जनो में प्रसिद्ध है । इसलिए केवल 'निमिषति' कह देने से ही यह अर्थ निकल आता है कि यह दिव्य अप्सरा आदि नहीं अपितु मानुषी है । यह वाक्यार्थ के स्थान पर पद के प्रयोग रूप द्वितीय प्रौढि भेद का उदाहरण है ।

इस [ही प्रकार एक] वाक्य से प्रतिपादित अर्थ का व्यास और समास [अर्थात् अधिक विस्तार अथवा संक्षेप कर देना भी प्रौढि रूप अर्थगुण] होते हैं ।

उनमें से व्यास रूप अर्थगत प्रौढि के तृतीय भेद का उदाहरण, निम्न-लिखित श्लोक में दिया गया है ।

इस श्लोक में सुख और दुःख के नाना प्रकार के सम्बन्ध का बयान किया गया है । वह नाना सम्बन्ध मुख्यतया चार प्रकार के हो सकते हैं जिनकी आगे दिखलाते हैं । उनमें से पहिला भेद यह है कि सुख और दुःख दोनों में से एक का भाव और दूसरे का अभाव हो । इस प्रकार 'न भवति' और 'भवति' का सम्बन्ध सुख और दुःख के साथ पर्याय से जोड़ने पर १ 'सुख का भाव' और 'दुःख का अभाव' २ 'सुख का अभाव' तथा 'दुःख का भाव' यह दो भेद 'भवति' 'न भवति' से बनते हैं । उसके बाद तीसरा भेद वह होगा जिसमें सुख और दुःख दोनों का अस्तित्व हो उसको कवि ने श्लोक के तृतीय चरण में दिखलाया है । और चौथा भेद वह बनेगा जिसमें सुख और दुःख दोनों का ही अस्तित्व न हो । इसको कवि ने

रतिचिगलितबन्धे केशपाशो मुकेश्या ।

इत्यत्र मुकेश्या इत्यस्य च सामिप्रायत्वं व्याख्यातम् ॥ २ ॥

अर्थवैमल्यं प्रसाद । ३, २, ३ ।

अर्थस्य वैमल्यं प्रयोजकमात्रपरिग्रह प्रसाद । यथा—

सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भशालिनी ।

विपर्ययस्तु—

लपाम्ना हम्नो मे विमलमणिः काञ्चीपदमिदम् ।

काञ्चीपदमित्यनेनैव नितम्बस्य लङ्घितत्वात् विशेषणस्याप्रयोजक-
त्वमिति ॥ ३ ॥

इस [पूर्वोक्त उदाहरण] से—

‘मुकेशो के रतिकाल में खुले हुए केशपाश में’

इत्यादि [उदाहरण] में ‘मुकेश्या’ इस [पद] के ‘सामिप्रायत्वं’ को
ध्यात्वा समझ लेनी चाहिए ॥ २ ॥

दूसरे अर्थगुण ‘प्रसाद’ का लक्षण अगले सूत्र में करते हैं—

अर्थ का नैर्मल्य [अर्थात् स्पष्टता] ‘प्रसाद’ [गुण कहलाता] है ।

अर्थ का नैर्मल्य विवक्षित अर्थ के समर्पक [प्रयोजक] पद का प्रयोग
‘प्रसाद’ [नामक अर्थगुण] है । जैसे—

रूप और नवयौवन के आरम्भ से युक्त यह सवर्णा कन्या है । [यह
अपने ही सज्जिव आदि वर्ण की होने से समान वर्ण वाली अथवा सुन्दर लाल
अर्थ का बोधक ‘सवर्णा’ पद कन्या की उपादेयता अर्थात् निवाहयोग्यता का
सूचक है] ।

इसका विपर्यय [अभाव होने पर ‘अपुष्टार्थत्व’ और ‘अनर्थकत्व’ दोष
ही जाते हैं । उनमें से ‘अपुष्टार्थत्व’ का उदाहरण देते हैं] जैसे—

मेरा हाथ विमल मणियों की तगड़ी के इस स्थान को स्पर्श करे ।

इसमें ‘काञ्ची पद’ इस [कथन] से ही नितम्ब का लक्षण से बोध हो
जाने से [काञ्ची के साथ दिए हुए विमलमणि] विशेषण अप्रयोजक [अवि-
वक्षित अतएव अपुष्टार्थ] है । [अतः इस प्रत्युदाहरण में ‘प्रसाद’ गुण नहीं
है] ॥ ३ ॥

तृतीय अर्थगुण स्नेह का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं—

घटना श्लेष । ३, २, ४ ।

क्रमकौटिल्यानुवृणत्वोपपत्तियोगो घटना । स श्लेषः । यथा—

दृष्ट्वैकाम्यनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-

देकस्या नयने निर्मात्य विहितक्रीडानुबन्धच्छल ।

ईपद्वक्त्रितकन्धर मपुलकः प्रेमोल्लसन्मानमा-

मन्तर्हामलसत्कपोलफलका भूर्नोऽपरा चुम्बति ॥

शूद्रकादिरचितेषु प्रयन्धेष्वस्य भूयान् प्रपञ्चो दृश्यते ॥ ४ ॥

['क्रम', 'कौटिल्य', 'अनुवृणत्व' और 'उपपत्ति' के योग को 'घटना' कहते हैं ।] यह घटना 'श्लेष' [कहलाती] है ।

क्रम, कौटिल्य, अनुवृणत्व और उपपत्ति का योग [ही यहा] घटना [कहलाती] है । यह [विशेष प्रकार से झिलट होने से] 'श्लेष' है । जैसे—

दोनों [अपनी] प्रियतमाओं [इन दोनों में से एक नायक की स्वकीया नायिका है और दूसरी साथी है जिसके प्रति नायक का प्रवृत्त अनुराग है । अन्यथा यदि दोनों सपरती हो तो उनकी एकामन्यस्थिति सुमङ्गत नहीं होगी ।] को एक [ही] आसन पर इकट्ठी [बैठी] देखकर 'धूर्त' [नायक चुपके से] पीछे से आकर आदर से एक [अपनी स्वकीया पत्नी] को [दोनों] आँखें बन्द कर [आलमिचीनी के] खेल का बहाना करता हुआ तनिक सी [अधिक नहीं अधिक गर्वन भुक्ताने से तो सन्देह हो जाता] बर्बन भोड़कर प्रेम से आनन्दित बन वाली और [अन्तर्हस] मुस्कराहट से मुशोभित कपोल वाली [प्रवृत्त अनुरागा] दूसरी [प्रियतमा] को चुम्बन करता है ।

इसमें 'क्रम' शब्द का अर्थ अनेक क्रियाओं की परम्परा है । जैसे यहा 'दृष्ट्वा, पश्चादुपेत्य, नयने पिधाय, विहितक्रीडानुबन्धच्छल, वक्त्रितकन्धर, चुम्बति' आदि क्रियाओं की परम्परा पाई जाती है । इसी को 'क्रम' कहते हैं । और इस सबके भीतर अनुस्यूत विदग्ध-वेष्टित को 'कौटिल्य' कहते हैं । अप्रमिद्ध पराग के विरह अर्थात् प्रमिद्ध वरुण शैली को 'अनुवृणत्व' कहते हैं । और युक्तिविन्यास का नाम 'उपपत्ति' है । इन सबका योग जिसमें हो उस रचना में अर्थगुण 'श्लेष' होता है । इस उदाहरण रूप श्लोक में दर्शनादि क्रियाओं का क्रम, उभयसमर्थनरूप 'कौटिल्य', लोकसव्यवहार रूप 'अनुवृणत्व', और 'एकवासनसंस्थिते, पश्चादुपेत्य, नयने पिधाय, वक्त्रितकन्धर' इत्यादि उपपादक युक्ति रूप 'उपपत्ति' का योग होने से यह 'श्लेष' रूप अर्थगुण का उदाहरण होता है ।

अवैपम्य समता । ३, २, ५ ।

अवैपम्यं प्रक्रमामेद. समता । कचित् क्रमोऽपि भिद्यते । यथा—

च्युतसुमनस. कुन्दा पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमाः

मलयमरुत. सर्पन्तीमे वियुक्तधृतिच्छिदः ।

अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो

न च जरठतामालम्बन्ते क्लमोदयदायिनीम् ॥

ऋतुसन्धिप्रतिपादनपरे द्वितीये पादे क्रमभेदो, मलयमरुता-
मसाधारणत्वान् । एवं द्वितीयः पाद. पाठतन्त्र्य.—

शूद्रक आदि रचित [मृच्छकटिक आदि] प्रबन्धों [नाटकों अथवा काव्यों] में इस [प्रकार के श्लेष] का बहुत विस्तार पाया जाता है ॥ ४ ॥

चतुर्थं अर्थगुण 'समता' का अगले सूत्र में निरूपण करते हैं—

अवैपम्य [अर्थात् १ प्रक्रम के स भेद और २. सुगमरथ का नाम] 'समता' है ।

अवैपम्य अर्थात् प्रक्रम का अभेद 'समता' [नामक अर्थगुण] है ।

इस 'प्रक्रामाभेद' रूप 'समता' को समझने के पहिले उसके विरोधी 'प्रक्रम-भेद' को समझना आवश्यक है । इसलिए पहिले 'प्रक्रामाभेद' रूप 'समता' का उदाहरण देने के बजाय उसके विरोधी 'प्रक्रम-भेद' का उदाहरण अथवा 'समता' के प्रत्युदाहरण की अवतारणा करने हुए दृष्टिकार लिखते हैं ।

कहीं क्रम का भेद भी होता है । जैसे [निम्न श्लोक में 'प्रक्रम-भेद' पाया जाता है ।]—

[इस श्लोक में कवि शिशिर और वसन्त की 'ऋतुसन्धि' का वर्णन कर रहा है । शिशिर ऋतु में खिलने वाले] कुन्द [शिशिर के समाप्तप्राय होने से] फूलों से रहित हो गए हैं, और [वसन्त में खिलने वाले] वृक्षों में [ऋतु-सन्धि के कारण अभी] फूल निकल नहीं रहे हैं । [अभी उनका खिलना प्रारम्भ नहीं हुआ है] विधोगिणों के धर्म को नाश करने वाला मलय पवन चल रहा है । और सूर्य की किरणें सदी के वेग को नष्ट करने लगी हैं । परन्तु पसीना लाने वाली तीव्रता को [अभी] प्राप्त नहीं हुई है ।

ऋतु सन्धि [शिशिर और वसन्त की सन्धि] का प्रतिपादन करने वाले इस [श्लोक] में द्वितीय पाद में [वर्णित] मलय पवन के [वसन्त ऋतु का] विशेष [धर्म] होने से [उसका स्पष्ट वर्णन ऋतु सन्धि के विपरीत होने से]

मनसि च गिर बध्नन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः । इति ॥ ५ ॥

सुगमत्व वाञ्छ्वपम्यमिति । ३, २, ६ ।

सुखेन गम्यते ज्ञायत इत्यर्थः । यथा—

‘अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा’ इत्यादि ।

यथा वा—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटलावण्या ।

मध्ये तपोधनानां किमलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ।

प्रत्युदाहरण सुलभम् ॥ ६ ॥

अन्वय-भेद [रूप बोध] हैं । [अतएव यहा ‘प्रज्ञाभेद’ रूप ‘समता’ अर्थगुण के न होने से यह ‘समता’ गुण का प्रत्युदाहरण है । इसको ‘समता’ गुण का उदाहरण बनाने के लिए] द्वितीय चरण को इस प्रकार पढ़ना चाहिए—

यह कोकिल मन में झोलना चाहते हैं परन्तु [ऋतु सगि के कारण] अभी बाहर व्यक्त रूप से बोल नहीं रहे हैं ॥ ५ ॥

इस ‘समता’ गुण के लक्षण में जो ‘अवपम्य’ पद का प्रयोग किया है उसकी दूसरी प्रकार की व्याख्या अगले सूत्र में करने है ।

अथवा सुगमता [को] अवपम्य [कहते] हैं ।

[जो] सरलता से समझ में आ जावे [वह सुगम या अवपम्य कहलाता है] यह अभिप्राय है । जैसे—

‘अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा’ इत्यादि ।

अथवा जैसे—

[वृक्ष के सूखे हुए] पीले पत्तों के बीच [नवीन कोमल] किसलय के समान [इन रुले-सूखे] तपस्विनियों के बीच घू घट जाती [अतएव] जिसका सौन्दर्य स्पष्ट दिखाई नहीं देता ऐसी यह [शकुन्तला] कौन है ?

प्रत्युदाहरण [अर्थात् सुगमता रूप ‘समता’ के प्रत्युदाहरण रूप कठिन दुर्ज्ञेय श्लोक] सुलभ है । [पाठक उन्हें स्वयं समझ सकते हैं । इसलिए यहा नहीं दिखलाए हैं] ।

कालिदास के ‘अभिज्ञानशाकुन्तलम्’ नाटक के पञ्चम अङ्क में कण्व की आशा से जब ‘धारगरव’ और ‘धारद्वन’ शकुन्तला को लेकर राजा दुष्यन्त के यहा राजसभा में उपस्थित होते हैं । उस समय अवगुण्ठनवती अर्थात् घू घट काड़े हुए शकुन्तला को उन तपस्विनियों के साथ देखकर राजा दुष्यन्त की यह उक्ति

अर्थदृष्टिः समाधिः । ३, २, ७ ।

अर्थस्य दर्शनं दृष्टिः । ममाधिष्ठाणत्वात् समाधिः । अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यतीत्युक्तं पुरस्तात् ॥ ७ ॥

अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा । ३, २, ८ ।

यस्यार्थस्य दर्शनं समाधिः सोऽर्थो द्विविधः । अयोनिरन्यच्छाया-
योनिर्धेति । अयोनिरकारणः । अवधानमात्रकारण इत्यर्थः । अन्यस्य
काव्यस्य छायाऽन्यच्छाया तद्योनिर्वा । तथा—

सुगमता से समझ में आजाने के कारण 'समाधि' गुण का मन्दार उदाहरण है ।

समझ में आऊँ आ जावे फसाहत इसको कहते हैं ।

अगर हो सुमने बातों पर बसागुत इसको कहते हैं ॥ ६ ॥

पञ्चम अर्थगुण 'समाधि' का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं—

अर्थं [विषयक] दृष्टि [विशेष] 'समाधि' [अर्थगुण] है ।

अर्थ का दर्शन दृष्टि [शब्द से अभिप्रेत] है [उसके] समाधिमूलक
[समाधि कारण यस्य अर्थात् समाधि अथवा अवधान जितका कारण है] इस प्रकार
का बहुव्रीहि समास] होने से [कार्य कारण का अभेद मान कर समाधि अथवा
अवधानमूलक अर्थदृष्टि को] 'समाधि' [कह दिया] है । एकाग्र [समाहित
अवहित] चित्त ही अर्थों को [भली प्रकार] देख सकता है [इसलिए अर्थदृष्टि
अवधान अथवा समाधिमूलक है इससे कार्य-कारण का अभेद मान कर उसी
को 'समाधि' कह दिया है] यह बात पहले कह चुके हैं ॥ ७ ॥

[जिस अर्थ का दर्शन 'समाधि' कहलाता है वह] अर्थ 'अयोनि' अथवा
'अन्यच्छायायोनि' [भेद से] दो प्रकार का होता है ।

जिस अर्थ का दर्शन [ज्ञान] 'समाधि' [नामक अर्थगुण कहा जाना]
है वह अर्थ दो प्रकार का होता है । [एक] अयोनि ओर [दूसरा] 'अन्य-
च्छायायोनि' । 'अयोनि' अर्थात् अकारण अर्थात् अवधानमात्रनिमित्तक [अर्थात्
कवि किसी दूसरे कवि के वर्णन से स्फूर्ति पा कर नहीं, अपितु स्वयं जिस अर्थ
का वर्णन करता है वह 'अयोनि' कहलाता है । उसके विपरीत] दूसरे [कवि]
के काव्य की छाया अन्यच्छाया [पद में अभिप्रेत] है । वह [दूसरे के काव्य की
छाया] जिस का योनि [कारण] है वह 'अन्यच्छायायोनि' [दूसरा भेद] है ।

आश्वपेदि मम शीधुभाजनाद् यावदप्रदर्शनैर्न दृश्यते ।
चन्द्र मदशनमण्डलाङ्कितं ख न यास्यसि हि रोहिणीभयात् ॥

मा भैः शशाङ्क मम शीधुनि नास्ति राहु
खे रोहिणी वसति कातर किं विभेषि ।
प्रायो विदग्धवनितानवसङ्गमेषु
पुंसां मन प्रचलतीति किमत्र चित्रम् ॥
पूर्वस्य श्लोकस्यावोऽयोनि ।
द्वितीयस्य च द्वायायोनिरिति ॥ ८ ॥

जैसे [आगे दिए हुए दो उदाहरणों में से पहिला श्लोक कवि की नूतन कल्पना होने से पहले अपात् अयोनि भेद का उदाहरण है और उसके आधार पर लिखा गया दूसरा श्लोक 'अन्यच्छायायोनि' भेद का उदाहरण है] ।

[शीधुभाजन मदिरा पात्र में प्रतिबिम्बित] हे चन्द्र ! मेरे इस मदिरा पात्र [को छोड़ कर यहाँ] से जल्दी भाग जाओ । जब तक [प्रिया का या प्रिय का मुख समझ कर] मैं तुम्हें अपने बान्तों से काट न लूँ [उसके पहले ही यहाँ से निकल जाओ तो अच्छा है । नहीं तो फिर] मेरे बातों के बिहों से अङ्कित होकर [अपनी प्रिया] रोहिणी [को यह दन्तवत् युक्त मुद्र कैसे दिखाओगे उस] के भय से [दुबारा यहाँ से लौट कर] आकाश को भी न जा सकोगे ।

यह कवि की अपनी अनूठी कल्पना है । इसको 'अयोनि' अर्थ कहने है । इसकी छाया को लेकर दूसरे कवि ने जो दूसरा श्लोक इसी अभिप्राय का लिखा है वह 'अन्यच्छाया' के आधार लिखा जाने से 'अन्यच्छायायोनि' अर्थ का उदाहरण है । जैसे—

[मदिरापात्र में प्रतिबिम्बित] हे चन्द्र ! अब डरो मत मेरी इस मदिरा [पात्र] में राहु नहीं बैठा है, और रोहिणी आकाश में रहती है [वह भी मेरे मदिरा पात्र में स्थित तुमको देख नहीं सकती है] अरे कायर फिर क्यों डरता है । [अथवा] विदग्ध [रतिकेलि-चतुर प्रौढा] वनितायो के साथ [रतिकालीन] नव सङ्गमों के अवसर पर पुरुषों का मन चञ्चल [नयभीत] हो जाता है [इसलिए तुम्हारे] इस [डरने] में क्या आश्चर्य की बात है ।

[इन दोनों श्लोकों में से] पहले श्लोक का अर्थ [कवि की स्वयं अनूठी

अर्थो व्यक्त सूक्ष्मश्च । ३, २, ६ ।

यस्यार्थस्य वर्णनं समाधिरिति स द्विधा, व्यक्तः सूक्ष्मश्च । व्यक्त-
स्फुट, उदाहृत एव ॥ ६ ॥

सूक्ष्मं व्याख्यातुमाह—

सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च । ३, २, १० ।

सूक्ष्मो द्विधा भवति भाव्यो वासनीयश्च । शीघ्रनिरूपणागम्यो
भाव्यः । एकाग्रताप्रकर्षागम्यो वासनीय इति । भाव्यो यथा—

अन्योन्यसवलितमासलदन्तकान्ति

सौत्वासमाविरलमं वलितार्धतारम् ।

लीलागृहे प्रतिकल किलकिञ्चित्तेषु

व्यावर्तमाननयनं मिथुन चकास्ति ॥

कल्पना होने से] 'अयोनि' है और दूसरे का [श्लोक में उस पूर्व श्लोक की छाया
का साधव होने से] 'छायायोनि' [अर्थ] है ॥ ८ ॥

अर्थ [प्रकारान्तर से] दो प्रकार का [और] होता है । एक व्यक्त
[स्पष्ट, सर्वजनसंवेद्य] और [दूसरा] सूक्ष्म [सहवर्णमात्रसंवेद्य] ।

जिस अर्थ का दर्शन 'समाधि' [रूप अर्थरूप कहताता] है वह व्यक्त
[स्पष्ट] और सूक्ष्म दो प्रकार का होता है । व्यक्त स्पष्ट [अर्थ] है । उसका
उदाहरण [पूर्वोक्त 'आश्वमेहि' तथा 'मा मे अशाङ्क' आदि दोनो श्लोक] दे ही
चुके हैं ॥ ६ ॥

[दूसरे प्रकार के] सूक्ष्म [अर्थ] की व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

सूक्ष्म [अर्थ] 'भाव्य' और 'वासनीय' [दो प्रकार का] होता है ।

सूक्ष्म [अर्थ] दो प्रकार का होता है [एक] 'भाव्य' और [दूसरा]
'वासनीय' । सरसरी दृष्टि [शीघ्र निरूपण] से [ही] समझ में आजानेवाला
'भाव्य' [होता] है । और अत्यन्त ध्यान देने [एकाग्रता के प्रकर्ष] से सम-
झने योग्य [अर्थ] 'वासनीय' [होता] है । 'भाव्य' [का उदाहरण] जैसे—

[रतिकाल में अपने लीलागृह में नायक-नायिका का जोड़ा] एक दूसरे से
मिश्रित हो रही है सुन्दर दन्तकान्ति जिसकी, [इससे परस्पर सम्मिलित सहलाप और
अधरपान आदि सूचित होते हैं] सौत्वास [इससे हृष्य श्रोतुमय] तथा [आविर-
ल स] आलस्ययुक्त [इससे रतिभ्रम अङ्गदोर्बल्य सूचित होते हैं] एव [रति-
जोड़ा की] प्रत्येक कला पर [आनन्द] अर्थमुद्रित, और [नायिका के]

वासनीयो यथा—

अवहित्वलितजघनं विवर्तिताभिमुखकुचतट स्थित्वा ।

अवलोकितोऽहमनया दक्षिणकरकलितद्वारलतम् ॥ १० ॥

उक्तिर्वैचित्र्य माधुर्यम् । ३, २, ११ ।

उक्तेर्वैचित्र्य यत्तन्माधुर्यमिति । यथा—

किलकिञ्चित्तो [कोपाग्रहर्षभोग्यादे सङ्कृतः किलकिञ्चित्तम्] के प्रवसर पर [व्यावर्तमान] एक दूसरे की ओर घूमते हुए नेत्र वाला [नायक नायिका का] जोड़ा गोभित होता है ।

इस में नायक नायिका का मिश्रण 'प्रातम्वन विभाव', लीलागृह 'उद्दीपनविभाव', प्रधरपान, भङ्ग भङ्ग, स्मित, कम्प, नयनव्यावर्तन, ध्रु भेदादि 'अनुभाव', उत्ससित, उन्मीसित, हर्ष, प्रीत्युष्यादि, और 'किलकिञ्चित्त' से प्राप्त क्रोध, शोक, भय, गर्वादि 'सञ्चारीभाव' है । इन 'विभाव', 'अनुभाव' और 'सञ्चारीभाव' के संयोग से 'रति' रूप 'व्याघोभाव' 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया से रसिक जनो के चर्चण का विषय बनकर रस पदवी को प्राप्त होता है । यह भावको की अवधान रूप भावना का विषय होने से 'भाव्य' प्रय का उदाहरण है ।

दासमीय [अर्थ का उदाहरण] जैसे—

आकार-गोपनपूर्वक ['अवहित्वा आकारगुप्ति अपनी दोनों'] जह्वाग्रो को मिलाकर, कुचतटो को सामने की ओर करके और दाहिने हाथ से हार-लता को पकड़ कर उस [नायिका] ने मुझ को देखा ।

इस श्लोक में तुम्हारा सम्भोग दुर्लभ है, मेरा मन तुम्हीं में लगा हुआ है, मेरे दुरन्त सन्ताप की दान्ति मे केवल यह हारलता ही दक्षिण का अवलम्बन कर रही है इत्यादि रूप नायिका का स्वाभिप्राय प्रकाशन विशेष ध्यान देने से सहृदयी को अनुभव होता है इसलिए यह 'वासनीय' मृदुम अथ का उदाहरण दिया है ॥ १० ॥

छठे प्रयत्नग 'माधुर्य' का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं ।

उक्ति-वैचित्र्य माधुर्य [कहलाता] है ।

उक्ति का जो वैचित्र्य है वह 'माधुर्य' [नामक अर्थगुण] है । जैसे—

अमृत [बड़ा] सरस [सुस्वादु] है इसमें कोई सन्देह नहीं । सहृद भो और तरह का [अस्वादु] नहीं है [किन्तु मधुर और सुस्वादु ही है] । प्राम का

रसवदमृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम् ।
मकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविग्जनो
वदतु यदिहान्यत् रवाद् दुःस्यात् प्रियादशनच्छदात् ॥ ११ ॥

अपारुष्य सौकुमार्यम् । ३, २, १२ ।

परुषेऽर्थे अपारुष्य सौकुमार्यमिति । यथा 'मृतं' 'यश शेषम्'
इत्याहुः । 'एकाकिनं' 'देवताद्वितीयम्' इति । 'गच्छ' इति 'साध्य'
इति च ॥ १२ ॥

सुन्दर रस से भरा हुआ फल और भी मधुर [सुस्वादु] होता है [इसमें भी कोई सन्देह नहीं है] । परन्तु अन्य सब रसों को जानने वाला बिद्वान् थोड़ी बेर के लिए पक्षपात छोड़ [मध्यस्थ हो] कर ऐसी कोई वस्तु बतावे तो सही, जो प्रिया ■ अधर [पान] से अधिक स्वादु हो ।

यहाँ प्रिया का अधरपान समस्त उपमानों से अधिक आनन्ददायक है यह बात कवि कहना चाहता है परन्तु उसके कथन के लिए उसने जो मार्ग प्रबलम्बन किया है वह उक्ति के वैचित्र्य का स्रोतक है इसी को 'माधुर्य' नामक अर्थगुण करते हैं । इस 'माधुर्य' का विरोधी एक ही रूप से अर्थ को प्राप्ति रूप होने से 'एकार्य', अथवा 'पुनरुक्त' दोष होगा । अथवा एकार्य शब्दों के पुनः पुनः अवलोकन के कष्टजनक होने से 'कष्टत्व' भी हो सकता है ॥ ११ ॥

सातवे अर्थगुण 'सौकुमार्य' का अगले सूत्र में निरूपण करते हैं—

कठोरता का अभाव [कठोर अर्थ के कथन में भी कठोरता न माने देना]
'सौकुमार्य' [अर्थगुण] है ।

परम अर्थ [के निरूपण] में पारुष्य न माने देना 'सौकुमार्य' [नामक अर्थगुण कहलाता] है । जैसे 'मर गया' [इस अप्रिय परम अर्थ] को 'यश शेष' [जिसकी कीर्ति ही शेष रह गई है, शरीर शेष नहीं रहा] इस प्रकार [सुकुमारता से] कहते हैं । [अथवा] 'एकाकी' को 'देवताद्वितीय' [परमात्मा जिसका सहायक है] यह [कहते हैं] । [अथवा] 'जाग्रो' [इस विदासूचक परम अर्थ को, अपने काम को] 'सिद्ध करो' इस प्रकार [सुकुमार रूप से] कहते हैं । [यही 'सौकुमार्य' नामक अर्थगुण है] ॥ १२ ॥

अग्राम्यत्वमुदारता । ३, २, १३ ।

ग्राम्यत्वप्रसङ्गे अप्राम्यत्वमुदारता । यथा—

त्वमेवसौन्दर्या स च रुचिरताया परिचित
कलाना सीमान परमिह युवामेव मजथ ।

अयि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा
अतः शेषं चेत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ॥

विपर्ययस्तु—

स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदह किमपैति ते ।

इति निगद्य शनैरनुमेखल मम कर स्वकरेण हरोष सा ॥ १३ ॥

ग्राम्यता के अभाव का नाम 'उदारता' [अर्थगुण] है ।

ग्राम्यता के प्रसङ्ग में अप्राम्यत्व को 'उदारता' कहते हैं । जैसे—

महाकवि भवभूति के मालतीमाधव नाटक में मालती के प्रति कामन्दकी की यह उक्ति 'उदारता' का उदाहरण है । माधव तुमको चाहता है, तुम भी उसको प्यार करो और उसके साथ विवाह कर लो, इस ग्राम्य अर्थ को कवि ने बड़े सुन्दर अप्राम्य उग से वर्णन किया है इसलिए वह 'उदारता' रूप अर्थगुण का उदाहरण होता है ।

[हे मालति] तुम ऐसी अपूर्व सुन्दरी हो और वह [माधव भी] सौन्दर्य के लिए [जगत् में] प्रतिष्ठ है । तुम्हींदोनों कलाओं की सीमा को प्राप्त हो रहे हो [तुम दोनों से अधिक और कोई कलाविशारद नहीं है] । सौभाग्य से तुम दोनों का जोड़ा अत्यन्त [एक दूसरे के] अनुरूप [और सुन्दर] है । [ऐसा सुन्दर जोड़ा मिलने के बाद] जो कुछ [विवाह आदि कर्म] शेष रह गया है वह भी यदि सम्पन्न हो जाय तो [सप्तमुख] गुणित्व की विजय माननी होगी ।

[इस उदारता गुण के] विपर्यय [का उदाहरण] तो [निम्न श्लोक है]—

जब तक यह पास के [जागने वाले] लोग [अपना काम समाप्त करके] मोचें तब तक [इनके दिसलाने के लिए] मुझे सो हो जाने दो तो तुम्हारा क्या बिगड़े [यह लोग देख लेंगे इसलिए जरा इन लोगों को सो जाने दो फिर नि शङ्क होकर जो चाहे सो करना] धीरे से [मेरे कान में] ऐसा कह कर [उसकी] मेखला की ओर [बढ़ते हुए] मेरे हाथ को उसने अपने हाथ से रोक दिया ।

वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः । ३, २, १४ ।

वस्तुना भावानां स्वभावस्य स्फुटत्वं यदसावर्थव्यक्तिः । यथा—

पृष्ठेषु शङ्खशकलच्छविषु च्छदानां
राज्ञीभिरङ्कितमलक्तकलोहिनीभिः ।
गोरोचनाहरितबभ्रुबहिःपलारा
मामोदते कुमुदमम्भसि पल्वलस्य ॥

यथा ग—

इस श्लोक में कोई कामी अपने मित्र से रात्रि की रहस्य-वार्ता की चर्चा कर रहा है । उसके वर्णन करने की शैली एक दम ग्राम्यतायुक्त है । अतएव इसको 'उदारता' रूप धर्मगुण के प्रत्युदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है ॥ १३ ॥

नवम धर्मगुण 'अर्थव्यक्ति' का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं ।

वस्तु के स्वभाव की स्पष्टता 'अर्थव्यक्ति' [कहलाती] है ।

वस्तुओं अर्थात् [वष्य] पदार्थों के स्वभाव की जो स्पष्टता है वह 'अर्थव्यक्ति' [नामक धर्म गुण] है । जैसे—

समस्त विशेषताओं का वर्णन कर देने से धर्म की जो करतला-मलकवत् स्पष्ट प्रतीति होने लगती है, उसको 'अर्थव्यक्ति' कहते हैं जैसे अगले श्लोक में प्रातः सूर्योदय के समय तालाब में खिलते हुए कमलों का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है कि—

शश के टुकड़े के समान [शुभ्र] कान्ति वाली [बलो] पल्लवियों के पिछले भाग में [सूर्य की लाल-लाल किरणों के पड़ने के कारण, अलङ्कृत] सहावर ■ समान लाल रेखाओं से अङ्कित गोरोचना के समान हरित और बाहर की ओर भूरे पत्रों से युक्त कुमुद तालाब के जल में सुगन्ध फैला रहा है ।

इसमें कुमुदों के विकास का ऐसा सुन्दर और स्पष्ट वर्णन कवि ने किया है इसलिए वह 'अर्थव्यक्ति' नामक धर्मगुण का उदाहरण है । इसी का दूसरा उदाहरण और देते हैं ।

अथवा जैसे—

प्रथममलसैः पर्यस्ताग्रैः स्थित पृथुकेसरै
विरलविरलैरन्तःपत्रैर्मनाद् मिलितं ततः ।
तदनु चलनामात्र किञ्चिद् व्यधायि वहिर्दलै
मुकुलनविधौ वृद्धाञ्जाना बभूव कदर्थना ॥ १४ ॥

दीप्तरसत्वं कान्तिः । ३, २, १५ ।

दीप्ता रसा शृङ्गारादयो यस्य स दीप्तरसः । तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः । यथा—

प्रेयान् सायमपाकृतः सरापथं पादानतः कान्तया
द्वित्राख्येष पदानि वासभवनान् यावन्न यात्युन्मता ।
तावन् प्रत्युत पाणिसम्पुटगलन्तीवीनितम्य धृतो
धाविरवैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥

जो कमल के फूल कई दिन तक खिल कर पुराने पड़ चुके हैं उनका मुरझाना एक कदर्थनामात्र है उस कदर्थना का स्फुट वर्णन कवि हम प्रकार करता है—

पहिले [सूर्योदय के समय अस्त] शक्ति हीन बड़ी-बड़ी [कमलों की] केसरों की अग्रभाग नीचे झुक गया, उसके बाद अत्यन्त विरली-विरली पलुडियाँ [एक दूसरे से] मिलीं । उसके बाद [फूल की] बाहरी पलुडियाँ केवल तनिक सी झुककर रह गयीं [पूरी बन्द नहीं हो सकीं इस प्रकार] बन्द होने की प्रक्रिया में पुराने कमलों की [बड़ी] कदर्थना हुई ॥ १४ ॥

अपंगुरां भे श्रान्तिम दशन गुण कान्ति' का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं—

[रचना का] दीप्तरसत्वं 'कान्ति' [नामक अर्थगुण कहलाता] है ।

जिस [रचना] के शृङ्गार आदि रस दीप्त हो वह दीप्तरस है ।
उसका भाव दीप्तरसत्वं 'कान्ति' [नामक अर्थगुण] है । जैसे—

सायङ्काल के समय दापयपूर्वक [तुमको छोड़कर और कहीं नहीं जाऊँगा इस प्रकार की दापय खाते हुए और] परों पड़े प्रिय को [मानिनी] कान्ता ने दुत्कार दिया । जब तक स्निग्ध मन वह वासभवन से दो तीन कदम भी नहीं गया था कि उसके बदले [नायिका ने स्वयं] खुले जाते हुए अपन नारे का पकड़े हुए दौड़कर नमस्कार कर स्वयं ही उसको पकड़ लिया । अहो प्रेम की विचित्र महिमा है ।

‘आलङ्कारिकं’ नाम चतुर्थमधिकरणम्

प्रथमोऽध्यायः

[शब्दालङ्कारविचारः]

गुणनिर्घर्त्या काव्यशोभा । तस्याश्चातिशयहेतवोऽलङ्कारः ।
तन्निरूपणार्थमालङ्कारिकमधिकरणमारभ्यते । तत्र शब्दालङ्कारौ द्वौ
यमकानुप्रासौ क्रमेण दर्शयितुमाह—
पदमनेकार्थमक्षरं वाऽऽवृत्तं स्थाननियमे यमकम् । ४, १, १ ।

चतुर्थ अधिकरण का प्रथम अध्याय

[शब्दालङ्कारों का विचार]

तृतीय अधिकरण के प्रारम्भ में ‘गुण’ तथा ‘अलङ्कार’ का भेद निरूपण करते हुए वामन ने लिखा था कि ‘काव्य शोभाया कर्तारो घर्मा गुणा’ ‘तदतिशयहेतवस्तत्तलङ्कारा’ अर्थात् काव्य शोभा के उत्पादक घर्मों को ‘गुण’ और उस काव्य शोभा की वृद्धि के हेतुस्त घर्मों को ‘अलङ्कार’ कहते हैं । उस तृतीय अधिकरण के साथ इस चतुर्थ अधिकरण की सङ्गति जोड़ते हुए यहाँ अन्यकार उसका स्मरण दिला कर इस अलङ्कार निरूपणपरक चतुर्थ अधिकरण का प्रारम्भ करते हैं । इस अधिकरण में तीन अध्याय रखे हैं । प्रथम अध्याय में ‘शब्दालङ्कारो’ का द्वितीय अध्याय में केवल ‘उपमा’ का, और तृतीय अध्याय में शेष प्रमातिङ्कारों का वर्णन किया गया है ।

काव्य की शोभा गुणों से उत्पन्न होती है और अलङ्कार उसकी वृद्धि के हेतु होते हैं । [यह हम तृतीय अधिकरण के प्रारम्भ में कह चुके हैं । इसलिए काव्य शोभा के उत्पादक ‘गुणों’ के निरूपण के बाद अब उस शोभा के बढ़ाने वाले, अतिशयहेतु] उन [अलङ्कारों] के निरूपण के लिए [यह चतुर्थ] आलङ्कारिक अधिकरण प्रारम्भ करते हैं । [उसमें भी इस प्रथमाध्याय में केवल शब्दालङ्कारों का निरूपण करना है ।] उनमें से [शब्दालङ्कार मुख्य रूप से दो हैं ।] यमक और अनुप्रास रूप दोनों शब्दालङ्कारों को अब से दिखलाने के लिए [पहिले यमक को] कहते हैं—

स्थान नियम के साथ अनेकार्थक पद अथवा, अक्षर को आवृत्ति को ‘यमक’ कहते हैं ।

सूत्र में दिया हुआ अनेकार्थ विशेषण केवल पद का है अक्षर का नहीं । क्योंकि पद ही अनेकार्थ हो सकता है । यमक पद का अर्थ 'यम्पते गुण्यते आवर्त्यते पदमक्षर वेति यम' । बहुत ग्रहण से कर्म में 'य' प्रत्यय करके 'यम' पाद बना है । उससे स्वार्थ में 'क' प्रत्यय करके 'यम एव यमकम्' इस प्रकार यमक पद की व्युत्पत्ति होती है । जिससे भिन्नार्थक एक अथवा अनेक पदों की आवृत्ति का 'यमक' कहते हैं । इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि एक अथवा अनेक पूरे पदों की आवृत्ति होती है तो उन दोनों का अर्थ अबद्वय भिन्न होना चाहिए । समानार्थ पदों की आवृत्ति इस यमकालङ्कार का विषय नहीं है । जहाँ पूर्ण पद की आवृत्ति न होकर उसके किसी एक देश की आवृत्ति हो उसको अक्षर की आवृत्ति कहा जायगा । यह एरुदेन भूत अक्षर सार्वक न होने से अनर्थक है इसलिए सूत्र का अनेकार्थ विशेषण इस अक्षर आवृत्ति के साथ सङ्गत नहीं होता है । केवल पदों के साथ अन्वित होना है ।

भामह ने अपने काव्यालङ्कार में यमक का तक्षण इस प्रकार किया है—

१ तुल्यधृतिना भिन्नानामभिधेयं परस्परम् ।

वर्गानां य पुनर्वाचो यमकं तन्निघद्यते ॥

अर्थात् सुनने में समान प्रतीत होने वाले और अर्थ से भिन्न वर्णों की पुनरवृत्ति या आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं ।

इस लक्षण में पदों की आवृत्ति का उल्लेख नहीं किया है । परन्तु 'भिन्नानामभिधेयं परस्परम्' से पद की प्रतीति हो जाती है । क्योंकि केवल वर्ण सार्वक नहीं होते । पद ही सार्वक होने हैं । इस प्रकार वर्णों की आवृत्ति में, आवृत्त वर्णों की चार प्रकार की स्थिति हो सकती है—
१ जहाँ दोनों सार्वक हो । इस दशा में दोनों पद होने और उनको सामानार्थक नहीं अपितु भिन्नार्थक ही होना चाहिए । २ दमरी दशा में दोनों अनर्थक होंगे । यह पदा की नहीं अपितु केवल वर्णों की आवृत्ति कहनावेगी । ३ तीसरे रूप में प्रथम अग्र सार्वक और उत्तर भाग अनर्थक हो सकता है । इसमें पहिला सार्वक भाग पद होगा और दूसरा अनर्थक भाग पदान अथवा वर्ण रूप होगा । ४ चौथी स्थिति में पूर्वभाग अनर्थक और उत्तर भाग सार्वक हो सकता है । इसमें सार्वक उत्तर भाग पद और अनर्थक पूर्वभाग पदान रूप वर्ण

पदमनेकार्थं भिन्नार्थमेकमनेकं वा, तद्वदक्षरमायुक्तं स्थाननियमे सति यमकम् । स्वायुक्त्या सजातीयेन वा कात्स्न्यैकदेशाभ्यामनेकपादव्याप्तिः स्थाननियम इति ।

अथवा अक्षर कहलावेगा । इस प्रकार पदों अथवा वर्णों की आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं । परन्तु जहाँ पदों की आवृत्ति हो वहाँ उन दोनों की भिन्नार्थकता अपरिहार्य है । इसलिए साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने यमक का लक्षण करते हुए लिखा है—

१ सत्यर्थे पृथगर्थयोः स्वरव्यञ्जनसहते ।

नमेण तेनेवावृत्तियमकं विनिगद्यते ॥

'यमक' के लक्षण में प्राचीन भामह तथा नवीन विश्वनाथ आदि दोनों के लक्षणों में अक्षर अन्वयकार वाचन के लक्षण में यह विशेषता है कि इन्होंने अपने लक्ष्य में स्थान-नियम का विशेष रूप से उल्लेख किया है । और उन स्थानों का विस्तारपूर्वक विवेचन भी किया है । अन्य भामह आदि आचार्यों ने इस स्थान नियम को स्वयं समझ लेने योग्य मान कर न उसका उल्लेख अपने लक्षण में ही किया है और न उसका अधिक विस्तार ही किया है ।

अनेकार्थं अर्थात् भिन्न अर्थ वाला एक पद अथवा अनेक पद, और उसी के समान [एक अथवा अनेक] अक्षर स्थान नियम के होमें पर आवृत्त होने से 'यमक' [यमक शब्दालङ्कार कहलाते] हैं । [यमक के प्रयोजक पद की] अपनी वृत्ति [उपस्थिति] से अथवा [दो भिन्न-भिन्न पदों के अर्थों से मिलकर एक पद जैसा प्रतीति होने वाले] सजातीय के साथ सम्पूर्ण रूप से अथवा एक देश से अनेक पादों में व्याप्ति को स्थान नियम [कहा जाता] है । [इसका अभिप्राय यह हुआ कि आवृत्त पदों की स्थिति एक पाद में न होकर मूलपद, अनेक पादों में होनी चाहिए । यह भी वाचन का विशेष सिद्धान्त है । परन्तु यदि एकपादस्थ आवृत्ति को यमक न माना जाय तो]—

२ अथ समावृत्ते कुसुमैर्नवं—ममिव मेवितुमेकनराधिपम् ।

ममकुम्भेरजलेश्वरवाञ्छया ममधुर मधुरञ्चितविजयम् ॥

यानि त्वेकपादभागवृत्तीनि यमकानि दृश्यन्ते तेषु श्लोकान्तरस्थ-
सस्थानयमकापेक्षयैव स्थाननियम इति ॥ १ ॥

स्थानकथनार्थमाह—

पाद पादस्यैकस्यानेकस्य चादिमध्यान्तभागा स्थानानि ।

४, १, २ ।

पाद , एकस्य च पादस्यादिमध्यान्तभागा., अनेकस्य च पादस्य
त एव, स्थानानि । पादयमकं यथा—

अमञ्जनयचो यस्य कलिरामधुगर्हितम् ।

तस्य न स्याद् विपत्तरो कलिरामधु गर्हितम् ॥ १ ॥

इत्यादि अथवा 'द्रुमवतीभवतीर्यं वनस्पतीम्' इत्यादि उदाहरणों में
यमक का यह लक्षण नहीं जावेगा क्योंकि वह अनेक पादों में नहीं किन्तु एक
ही पाद में है । इसलिए इस प्रकार के उदाहरणों में लक्षण की मङ्गति करने
और अव्याप्ति हटाने के लिए पूर्णवार कहते हैं—

और जो [कहीं-कहीं] एक [हो] पाद के भाग में स्थित यमक
दिखाई देते हैं उनमें अन्य श्लोकों में समुचित स्थान पर [अर्थात् भिन्न-भिन्न
पादों में] स्थित यमकों की अपेक्षा से [उनके समाप्तीय होने से योनी वृत्ति
लक्षणा के द्वारा] स्थाननियम [अनेकपाद व्याप्ति भ्रमभी जा सकती] है ॥ १ ॥

[यमक में पर आदि की आभूति कहा करनी चाहिए उसके उचित]
स्थानों के कथन [करने] के लिए [अगला सूत्र] कहते हैं—

[एक सम्पूर्ण] पाद, और एक अथवा अनेक पाद के आदि, मध्य, अन्त
भाग [यमक में आभूति के उचित] स्थान हैं ।

पाद, और एक पाद के आदि, मध्य, अन्त भाग तथा अनेक पादों के वे
ही [आदि मध्य, अन्त, भाग यमक के उचित] स्थान हैं ।

[समस्त] पाद [की आवृत्ति रूप] यमक [का उदाहरण] जेंगे—
अमञ्जन [दुष्ट पुरुष] के कति [युष अथवा पाप] की इच्छाओं
को पूर्ण करने वाले [कामधुक] वचन जिसके लिए [अर्हित] पूज्य [मान्य]
हैं उसके लिए विधवृक्ष की वल्किाओं का मधु भी गर्हित [निन्दित स्वाज्य]
नहीं होगा ॥ १ ॥

एरुपादस्यादिमध्यान्तयमकानि—

हन्त हन्तररातीना धीर धीरचिता तव ।

कामं कामन्दकीनीतिरस्या रस्या त्रिवानिशम् ॥ २ ॥

इस उदाहरण में 'कलिकामधुर्गहितम्' इस पूरे पाद की भावृति है और उसका अर्थ भिन्न-भिन्न है । एक जगह 'कलि-कामधुक्' और 'गहितम्' पक्कटेद होता है । और दूसरी जगह 'कलिकामधु गहितम्' पक्कटेद होता है । भिन्नार्थक अनेक पदों की भावृति होने से यमक है । और वह भावृति श्लोक के एक सम्पूर्ण पाद की है इसलिए यह 'पादयमक' का उदाहरण है ।

इसमें द्वितीय पाद, चतुर्थ चरण के स्थान पर भावृत्त हुआ है । वह तृतीय पाद के स्थान पर भी भावृत्त हो सकता है । इसी प्रकार प्रथम पाद की २, ३, ४ पाद के स्थान पर तीन प्रकार की भावृत्ति, और तृतीय पाद की चतुर्थ पाद के स्थान पर की एक प्रकार की भावृत्ति कुल छ, और एक भेद इस प्रकार का जिस में प्रथम चरण ही चारों चरणों के रूप में भावृत्त हो इन सब को मिला कर 'पाद यमक' के नात भेद हो सकते हैं । दो प्रकार की पाद की भावृत्ति यह भी हो सकती है कि प्रथम पाद द्वितीय स्थान पर और तृतीयपाद चतुर्थ स्थान पर भावृत्त हो । अथवा प्रथम पाद चतुर्थ के स्थान पर और द्वितीय पाद तृतीय के स्थान पर भावृत्त हो । इन दो को और जोड़ देने से भी प्रकार के 'पाद यमक' हो सकते हैं । उनमें से दिग्भाज प्रदर्शन के लिए 'पाद यमक' का केवल एक उदाहरण यहाँ दिया गया है ।

एक [ही] पाद के आदि, मध्य और अन्त में स्थित [पदों की भावृत्ति रण] यमक [के तीन उदाहरण] जैसे—

हे शत्रुओ के नाश करने वाले [हन्त अरातीना=हन्तररातीना] वीर मुहारी [छो अचिता=धीरचिता] बुद्धि [बड़ी अचिता] अच्छी है । कामन्दकी [नामक] नीति शास्त्र इस [मुहारी बुद्धि] के लिए रात दिन [सदैव] यथेष्ट [रस्या] आस्वादन करने योग्य है ॥ २ ॥

इस उदाहरण में चारों पादों के आदि में हन्त हन्त, २ धीर, धीरचिता, ३ काम कामन्दकी, ४ रस्या [नीतिरस्या] रस्या की भावृत्ति पाई जाती है । इसलिए यह 'पादादि यमक' का उदाहरण है । पाद के मध्य भाग में आए हुए यमक का अगला उदाहरण देते हैं—

वमुपरासु परासुमिवोष्मती-ध्वविकल विकलङ्कुशशिप्रभम् ।

प्रियतम यतमन्तुमनीश्वर रसिकतासिकतास्विव तासु का ॥ ३ ॥

सुदृशो रसरेचकित चकितं भवतीक्षितमस्ति मित स्तिमितम् ।

अपि हासलवस्तवकस्तव क-स्तुलयेन्ननु कामधुरा मधुराम् ॥ ४ ॥

पादयोरादिमध्यान्तयमकानि यथा—

[यतमन्तु = यत उपरत मन्तुरपराधो यस्य त] निरपराध, निष्कलङ्क शशी के समान सुन्दर, अविकलाङ्ग किन्तु ऐश्वर्यरहित [मनीश्वर निर्धन] प्रियतम [पुरुष] को मृतक [परागता असव प्राणा यस्य त परासु] के समान छोड़ देने वाली, [अतएव] बालू के समान [स्नेहहीन], यत की लोभी [वमुपरासु]। उन [वेश्याओं] में क्या रसिकता हो सकती है ॥ ३ ॥

इस श्लोक में चारो चरणों में पादों के मध्य भाग में [वसु] परासु परासु [मिव], २ [ध्व] विकल विकल [कशकिप्रभम्], ३ [मि] यतम यतम [तुमनीश्वर], ४ [र] सिकता-सिकता [स्विव] पदों की आवृत्ति की गई है। अतएव यह 'पादमध्यवर्ती-यमक' का उदाहरण है। 'पादान्तवर्ती-यमक' का प्रगल्भा उदाहरण देने हैं—

[भवति अर्थात् त्वयि] तुम्हारे प्रति [उत] सुन्दरी [सुदृश] का [रसेम अनुरागविशेषेण रेचकित पूर्ण रसरेचकित] अनुराग पूर्ण, चकित, ['चकित भयसम्भ्रम' कोई घोर डेरा न ले इस प्रकार के भय सम्भ्रम से पूर्ण] चुपचाप [स्तिमित निर्भूतम्] और तनिक सा [मित क्षीणम्] कटाक्ष [भी] है। और पृथ्वी के समान [हास्यलवस्तवक] मन्द मुस्कान भी है। इसलिए तुम्हारी [प्रानन्दमयी] मधुर कामधुरा को कौन [उठा] हटा सकता है। [कोई नहीं] हटा सकता। अथवा कोई उसकी बराबरी नहीं कर सकता है ॥ ४ ॥

इस श्लोक के चारो चरणों के अन्त में १ [रे] चकित चकित, २ [य] स्ति मित स्तिमित, ३ [हासनव] मन्वक स्तव क, और ४ [का] मधुराम् मधुराम् पदों की आवृत्ति होने से यह 'पादान्तवर्ती-यमक' का उदाहरण हुआ।

३ दो पादों के आदि, मध्य और अन्त [में स्थित] यमक [के तीन] उदाहरण प्रागे देंगे। उनमें से सबसे पहिले दो पादों के आदि में स्थित यमक का उदाहरण देते हैं] जैसे—

एकान्तरपादान्त्यमकम् यथा—

उद्वेजयति भूतानि यस्य राज्ञः कुशासनम् ।

सिंहासनवियुक्तस्य तस्य क्षिप्रं कुशासनम् ॥ ८ ॥

एवमेकान्तरपादादिमध्यमकान्युद्धानि ।

इस श्लोक के प्रथम द्वितीय चरणों के अन्त में ' [कृत्तपदम्] त्वद्वीक्षितेन, और [स्मरत] त्वद्वीक्षितेन' पदों की तथा तृतीय चतुर्थ चरण के अन्त में 'चिन्तादाहो' पदों की प्रावृत्ति होने से दो पादों के अन्त में स्थित समक का उदाहरण है ।

एक पाद के अन्तर से पादान्त में स्थित समक [का उदाहरण] जैसे—

जिस राजा का बुरा शासन [प्रजा] जनों को दुःखदायक होता है ।
सिंहासन वियुक्त होकर [सिंहासन को छोड़ कर] उसको क्षीप्र ही कुशो पर
बैठना [वन-वन मारा-मारा फिरना] होता है ॥ ८ ॥

इस श्लोक में 'एकान्तरित-पादान्त-यमक' है । क्योंकि द्वितीय और चतुर्थ चरण के अन्त में 'कुशासनम्' पद की प्रावृत्ति है । इस सूत्र के उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में भी १ तीस और चतुर्थ चरण में प्रावृत्ति दिखलाई दी । परन्तु वह मध्यम पद की प्रावृत्ति थी और यहाँ केवल पादान्त की प्रावृत्ति है यह उन दोनों का भेद है ।

इसी प्रकार 'एकान्तरित-पादादि यमक' का निम्न उदाहरण हो सकता है ।

करोति नानाश्रो राधाणा तन्नीनादनविभ्रमम् ।

करोति मेध्य कामे च श्रवणोत्पन्नादनम् ॥

इसमें प्रथम और तृतीय चरण के आरम्भ में 'करोति' और 'करोति' पद होने से यह 'एकान्तरित-पादादि-यमक' का उदाहरण है । 'एकान्तरित-पादमध्य-यमक' का निम्न उदाहरण हो सकता है—

यान्ति यस्यान्तिके सर्वेऽप्यन्तकान्तमुपाधय ।

न शान्तचित्तवृत्तान्त गोरीकान्तमुपास्महे ॥

इस श्लोक के द्वितीय और चतुर्थ चरण के मध्य में 'कान्त' पद की प्रावृत्ति होने से यह 'एकान्तरित-पादमध्यायमक' का उदाहरण है ।

इस प्रकार 'एकान्तरित पाद' के आदि और मध्य यमकों [के उदाहरणों] को [स्वयं] समझ लेना चाहिए ।

समस्तपादान्वयमकं यथा—

नतोन्नतभ्रू गतिवद्धलास्या विलोक्य तन्वीं शशिपेगलास्याम् ।

भनः क्रिमुत्तान्यसि चञ्चलास्या कृती स्मराज्ञा यदि पुष्कला स्याम् ॥६॥

एवं समस्तपादादिमध्यमकानि व्याख्यातव्यानि । अन्ये च जातिसङ्करभेदाः मुधियोत्प्रेक्ष्याः ।

समस्त [चारों] पादों के अन्त में यमक [का उदाहरण] जैसे—

हे चञ्चल मन ! मत और उन्नत भौंहों की गति से लास्य [नृत्य] युक्त, शशिन के समान सुन्दर भ्रूण वाली, इस तन्वी को देख कर क्यों उत्तेजित हो रहा हूँ । यदि इस [तन्वी] में कायदेव को आज्ञा पुष्कल भाषा में आज्ञादे [काम का पूर्ण वेग से प्रभाव हो जावे] तो [इसके साथ सम्मोग आदि का अवसर प्राप्त हो सके] में कृतार्थ हो जाऊँ ॥६॥

इस श्लोक के चारों चरणों में 'लास्या' पद आता है इसलिए यह 'समस्त पादान्वयमक' है ।

इसी प्रकार समस्त पादों के आदि और मध्य [में स्थित] यमकों की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिए । और भी [इन नंदों के] सङ्कर से उत्पन्न भेद बुद्धिमान् [पाठक] स्वयं समझ लें ।

समस्त पादों के आदि में होने वाले यमक के लिए निम्नलिखित उदाहरण दिया जा सकता है—

सारशाऽलकृताकारा सारगामोदनिर्मरा ।

सारभातवृत्तप्रान्ता सा रसाद्या सरोजिनी ॥

इसमें चारों पादों के आदि में 'सारशा' की आवृत्ति होने से यह 'समस्त-पादादियमक' का उदाहरण है । 'समस्तपादमध्ययमक' के लिए निम्न उदाहरण दिया जा सकता है—

स्थिरायते यनेन्द्रियो न भूयते यतेर्भवान् ।

प्रमायगे यतेऽप्यभूत् सुखाय ते यनेऽनवम् ॥

इस श्लोक के चारों पादों के मध्य में 'तेयने' की आवृत्ति की गई है । इसलिए यह 'समस्तपादमध्ययमक' का उदाहरण हो सकता है । अन्य सङ्कर जातिभेद के लिए निम्न उदाहरण दिया जा सकता है—

सनाकवतिष्ठ नितम्बरचिरः चिर मृजितदन्तदंष्ट्रतममम् ।

मता फणवतोऽवनो रमरा, परास्तवसपा मषाजिवसति ॥

अक्षरयमकन्त्येकाक्षरमनेकाक्षरञ्च । एकाक्षरं यथा—

नानाकारेण कान्ताभ्रूराधितमनोमुवा ।

विविक्तेन विलामेन ततच्च हृदयं नृणाम् ॥ १० ॥

एवं स्थानान्तरयोगेऽपि द्रष्टव्य ।

सजातीयनैरन्तर्यादस्य प्रकर्षो भवति । न चायं हरिप्रबोधे दृश्यते । यथा—

इस प्रकार पादयमको का निरूपण कर चुकने के बाद अब आगे अक्षर-यमको का निरूपण करते हैं ।

अक्षर यमक एकाक्षर और अनेकाक्षर [भेद से दो प्रकार का] होता है । [उनमें से] एकाक्षर [यमक का उदाहरण] जैसे—

काम की आराधना करने वाली कान्ता की भीहो में नाना प्रकार के सुन्दर विलास से [अपने देखने वाले प्रिय] लोको के हृदय की चोर दिया ॥ १० ॥

इस श्लोक के प्रथम चरण के आदि में 'नाना' पद के रूप में 'नकार' की प्रावृत्ति, द्वितीय चरण के आदि में उसी प्रकार 'राराधित' में 'रकार' की प्रावृत्ति, तृतीय चरण के आदि में 'विविक्तेन' पद में 'वि' की प्रावृत्ति और अन्तिम चतुर्थ चरण के आदि में 'ततश्च' पद में 'तकार' की प्रावृत्ति होने से यह 'एकाक्षर यमक' का उदाहरण है । वैसे तो यह अनुप्रास का उदाहरण होता, परन्तु हम प्रावृत्ति में स्थान का नियम है, चारों पाठों के आदि में निगमित रूप से यह वर्ण की प्रावृत्ति हुई है इसलिए यह 'एकाक्षर यमक' का ही उदाहरण है, अनुप्रास का नहीं ।

इसी प्रकार स्थानान्तर [अर्थात् पाद के मध्य अथवा अन्त] के योग में भी [यह 'एकाक्षर यमक' हो सकता है उसे] समझ लेना चाहिए ।

स्थानान्तरयोग का उदाहरण निम्न प्रकार दिया जा सकता है—

सन्नाम् राजन्सुराहतं मुखं महीसुराणां वसुराजितं स्तुता ।

न भामुरा यान्ति सुरान् ते गुणा प्रजासु रागात्मसु राशिता गता ॥

सजातीय [एक वर्ग के अथवा 'तुल्यास्यप्रयत्न स्ववर्णम्' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार सवर्णतत्त्व वर्णों] के निरन्तर स्थित होने पर इस ['एकाक्षर यमक' या 'अनुप्रास'] का [अधिक] प्रकट होता है । इस प्रकार का [सजातीय नैरन्तर्ययुक्त] यमक हरिप्रबोध [नामक काव्य] में देखा जाता है । जैसे—

विविधधववना नागगर्द्वन्द्वनाना
वि-विततगगनाऽनाममल्लज्जनाऽना ।
रुरशललना नावबन्धुन्धुनाना
मम हि हिततनाऽनानन-स्व-स्वनाऽना ॥ ११ ॥

अनया च वर्णयमकमालया पदयमकमाला व्याख्याता ॥ २ ॥

[हरि-प्रबोध के इस श्लोक में हरि विष्णु, हलधर बलराम से समुद्र के समीप की भूमि का वर्णन कर रहे हैं । समुद्र के किनारे की भूमि कैसी है कि]
नाना प्रकार के अर्जुन ['यद्यो वृक्षे नरे पद्मावर्जुने च द्रुमास्तरे'] के वन जिते हैं,
[विविधानि धवानामर्जुनाना वनानि यस्या सा विविधधववना । नागा
कुञ्जरा सर्पा वा तान् गृह्णन्ति अभिलषन्तीति नागगर्द्वाना । तयाक्षिया ऋद्धा
समुद्धा ये नानाविधा वयः पक्षिणः तंवितत व्याप्त गगन यस्या सा नागगर्द्वन्द्वनाना-
वि-विततगगना ।] हाथियो [पर बैठने] अथवा [खाने के लिए] सर्पों के
अभिलाषी जो [मयूर आदि] नाना प्रकार के पक्षी उनसे व्याप्त हैं आकाश
जिसका, और [अनाममल्लज्जना = न विद्यते नामो नमन यस्मिन् कर्मणि तस्य
मल्लज्जतो जना यस्या सा अनाममल्लज्जना] जिसमें बिना भुके लोग महा सकुने
हैं, और, [अना = न विद्यते नरो यस्या सा अना अथवा अनिति प्राणिति स्फुरतीति
अना] जिसमें कोई मनुष्य नहीं है [अर्थात् निर्जन] अथवा [अनिति प्राणिति
स्फुरतीति अना] सजीव सी [रुद्रशशललना = रुट्णा मृगाणा दाशाना च ललन
विलासो यस्या सा रुद्रशशललना] मृगों और शशकों के विलास से युक्त,
[और नावबन्धुन्धुनाना नौ = नावयो अबन्धु शत्रु धुनाना] इन दोनों [कृष्ण
और बलराम] के शत्रुओं का नाश करने वाली [हि = यत, हिततना = आवयोहित
तनोतीति हिततना] क्योंकि अथवा निश्चय से [हमारे] हित को करने वाली,
[और अनानन स्व स्वनाऽना = न विद्यते आनन यस्यातो अनानन, स्व आत्मोपः
स्वन एव अन प्राणन यस्या सा अनानन-स्व-स्वनाऽना] मुख रहित [मुख से
उच्चारण न किया जाने वाली] जो अपनी [पृथिवी के भीतर, की] आवाज,
वही जिसका जीवन है [ऐसी समुद्र के समीप की पृथिवी है] ॥ ११ ॥

इस श्लोक में सब जगह सजातीय अक्षरों का नैरन्तर्य पाया जाता है
इसलिए यह 'एकाक्षर यमक' के प्रकर्ष का उदाहरण है ।

इस वर्ण यमक की माला से [उसी के समान सम्भावित] पदयमक-
माला की भी व्याख्या हो गई ॥ २ ॥

भङ्गादुत्कर्ष । ४, १, ३ ।

उत्कृष्टं खलु यमक भङ्गाद् भवति ॥ ३ ॥

शृङ्खला परिवर्तकञ्चूर्णमिति भङ्गमार्ग । ४, १, ४ ।

एते खलु शृङ्खलादया यमकभङ्गाना प्रकारा भवन्ति ॥ ४ ॥

वर्णविच्छेदचलन शृङ्खला । ४, १, ५ ।

वर्णानां विच्छेदो वर्णविच्छेदः । तस्य चलनं यत् सा शृङ्खला । यथा 'कलिकामधु' शब्दे 'काम' शब्दविच्छेदे 'मधु' शब्दविच्छेदे च तस्य चलनम् । लि-म-वर्णयोर्विच्छेदात् ॥ ५ ॥

यमक की ही कुछ अन्य विक्षेपतामा का सूचित करने के लिए अगले सूत्र में कहते हैं—

भङ्ग से [यमक का अधिक] उत्कर्ष होता है ।

[पदों में] भङ्ग [विच्छेद कर देने] से निश्चय ही यमक [अधिक] उत्कृष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥

उम भङ्ग के भङ्गा को दिसलाने के लिए अगला सूत्र लिखते हैं ।

१ शृङ्खला, २ परिवर्तक और ३ चूर्ण-[यह तीन] भङ्ग के प्रकार हैं ।

यह शृङ्खला आदि [तीन] यमक के भङ्ग के प्रकार होते हैं ॥ ४ ॥

उनकी उम में व्याख्या कहते हैं—

वर्णों के विच्छेद का [अमश्रु आगे] सरकना 'शृङ्खला' [कहलाता] है ।

वर्णों का विच्छेद वर्णविच्छेद [पद का अर्थ] है । उम [वर्णविच्छेद] का चलना [आगे सरकना] जो है वही 'शृङ्खला' [नामक भङ्ग का एक प्रकार] है । जैसे [पिछले पृष्ठ पर उद्धृत 'कलिकामपुगहितम्' वाले उदाहरण में] 'कलिकामधु' शब्द में [पहिले कलि कामधु यह पदविच्छेद करने पर कलि पद से] काम शब्द को अलग करने पर ['लि' पर वर्ण-विच्छेद होता है । फिर 'कलिका मधु' ऐसा पदविच्छेद करने पर वह विच्छेद 'मि' से सरक कर 'का' पर आ जाता है । इसलिए] और मधु शब्द के विच्छेद करने पर उस [वर्ण विच्छेद का लि से का की ओर] चलन होता है । [क्योंकि 'कलिकामधु' में बीच के 'का' का एक ओर] 'लि' और [दूसरी ओर] 'म' से विच्छेद होने से [यह वर्ण विच्छेद के चलन को एक 'शृङ्खला' बन जाती है । इसलिए]

अत्र शुक्तिपदे कीति पिष्टाक्षरं, तस्य भेदे शुक्तिपदं लुप्यते
ककार-तिकारयोरन्यत्र मन्त्रमात् । दूरसमुन्मुक्तशुक्, अचलकुलं, तिमीना
कान्त. समुद्र. ।

अत्र श्लोका —

अथ एवधर्णविन्यासचलनं शृङ्खलाऽमला ।

अनन्त रसु भङ्गेन यमकानां विचित्रता ॥ १३ ॥

यदन्यसङ्गमुत्सृज्य नेपथ्यमिव नर्तक ।

शब्दस्वरूपमारोहेत् न ज्ञेयः परिवर्तकः ॥ १४ ॥

धारण करता है । और जो [समुद्र पर्वतों के पङ्क्त काटने वाले इन्द्र के भय से
[चल] 'कापते' हुए, ['अचल' अर्थात् समुद्र के भीतर छिप कर बंटे हुए
धारणागत-मैनाक] पर्वत की ['अवति'] रक्षा करता है ॥ १२ ॥

यहाँ [द्वितीय चरण के] शुक्ति पद में 'क्ति' यह सयुक्ताक्षर है । इस
को विभजन कर देने पर शुक्ति पद का लोप हो जाता है । ककार [का शुक्,
उन्मुक्तशुक् पद में] और तिका ['ति' अक्षर] का [तिमीना पद में] अन्यत्र
['शुक्' तथा 'तिमीना' पदों में] सम्म हो जाने से [शुक्ति पद रहता ही नहीं है ।
उसका लोप हो जाता है । 'धूर्ण' हो जाता है । इसलिए यह 'धूर्ण' नामक यमक
भेद का उदाहरण होता है । इसके पदों का अन्यय इस प्रकार होता है] 'दूर-
समुन्मुक्तशुक्' श्लोक को दूर छोड़ देने वाला और 'तिमीना कान्त' मछलियों का
प्रिय समुद्र अचल कुल [मैनाकादि पर्वत समूह] को ['अवति' रक्षा करता है]

इस [यमक-भङ्ग के तीनों प्रकारों] के विषय में [निम्नलिखित संग्रह]
श्लोक [भी] है—

प्रखण्ड [पूर्ण] वर्णों के विन्यास का [पदच्छेद के अवसर पर इधर-
उधर] सरक जाना [शृङ्खला जैसी रचना का जनक हो जाने से] शब्द 'शृङ्खला'
[कहलाता] है । इस [शृङ्खला रूप] भङ्ग से यमकों की विचित्रता [प्रतीत
होने लगती] है ॥ १३ ॥

जैसे [नाटक में] नट [अन्य रामादि के] वेश को छोड़ कर अपने
स्वरूप को प्राप्त होता है इस प्रकार जो वर्ण [वरुण्यापादक] अन्य [वर्ण] के
सङ्ग को छोड़ कर [अपने अमली] शब्द स्वरूप को प्राप्त हो जाये उस [यमक
भेद] को 'परिवर्तक' [नामक दूसरा भङ्गभेद] समझना चाहिए ॥ १४ ॥

पिण्डाक्षरस्य भेदेन पूर्वापरपदाश्रयात् ।
 वर्णयोः पदलोपो य स भङ्गरचूर्णसंज्ञक ॥ १५ ॥
 अप्राप्तचूर्णभङ्गानि यथास्थानस्थितान्यपि ।
 अलकानीव नात्यर्थं यमकानि चकामति ॥ १६ ॥
 विभक्तिपरिणामेन यत्र भङ्गः क्वचिद् भवेत् ।
 न तदिच्छन्ति यमकं यमकोत्कर्षकोविदा ॥ १७ ॥
 आरूढं भूयसा यत्तु पदं यमकभूमिकाम् ।
 दुष्येच्चेन्न पुनस्तस्य युक्तानुप्रासरूपना ॥ १८ ॥

सयुक्ताक्षर को तोड़ने से दोनो सयुक्त वर्णों के [क्रमशः] पूर्व और उत्तर पदों में मिस जाने से जो [सयुक्ताक्षर जन्म] पद का सोप हो जाता है उस भङ्ग को 'चूर्ण' नामक भङ्ग समझना चाहिए ॥ १५ ॥

जैसे 'चूर्ण-भङ्ग' [केशपाश की रचना विशेष] से रहित होने पर अपने उचित स्थान पर रहने पर भी केश शोभित नहीं होते इसी प्रकार 'चूर्ण-भङ्ग' [नामक यमक भेद] के बिना उचित स्थान पर स्थित होने पर भी यमक अधिक शोभाजनक नहीं होते हैं ॥ १६ ॥

जहाँ कहीं विभक्तियों के विपरिणाम से भङ्ग बनता हो यमक के उत्कर्ष को जानने वाले [विद्वान्] उस को [उत्कृष्ट] यमक नहीं मानते हैं ॥ १७ ॥

जो पद बहुत दूर तक यमकत्वता को प्राप्त होकर भी दूषित हो जाय [यमक न बन सके] उसको फिर अनुप्रास का उदाहरण मानना भी उचित नहीं है ॥ १८ ॥

इसका उदाहरण दण्डी ने इस प्रकार दिया ?—

कालकालगलकालकालमयकालकाल
 कालकालधनकालकालनवनकालकाल ।
 कालकालसितकालका सलनिकालकाल-
 कालना, लगतु कालकाल कालकालकाल ॥

इस उदाहरण में कालकाल की श्रुत्यविक आवृत्ति हो जाने से रसा-
 म्वाद में मरलता के स्थान पर व्यवधान उपस्थित हो जाता है । इसलिए
 'आरूढ भूयसा यत्तु पदं यमकभूमिकाम्' जो पद अति मात्रा में यमक भूमिका में
 पहुँच जाय अर्थात् यमक प्रयोजक पद की अतिमात्रा में आवृत्ति हो जाय और

विभक्ततीना विभक्तत्वं संख्यायाः कारकस्य च ।

आवृत्तिः सुप्तिङन्तानां मिथश्च यमकाद्भुतम् ॥ १६ ॥

इसलिए वह आवृत्ति दोषयुक्त हो जाय 'दुष्येच्चेत्' तो फिर उस को अनुप्रास का भी उदाहरण नहीं मानना चाहिए। 'न पुनस्तस्य युक्तानुप्रासकल्पना'। यदि उससे काव्य की शोभा की वृद्धि होती हो तो वह यमक ही हो सकता है। परन्तु जब वह यमकसदृश होने पर भी प्रतिमात्रा में प्रयुक्त होने से दोषाघायक हो गया है, तब वह अनुप्रास रूप अलङ्कार भी नहीं हो सकता है, यह ग्रन्थ-कार का अभिप्राय है।

सुबन्त अथवा तिङन्त [पदों की] की असंग-संग अथवा मिलकर भी [ऐसी] आवृत्ति जिसमें विभक्तियों, सर्या [वचन] और कारकों का भेद हो उसको 'यमकाद्भुत' [अथवा 'अद्भुत यमक' अलङ्कार] कहते हैं ॥ १६ ॥

इनके क्रम से उदाहरण इस प्रकार हो सकते हैं—

विश्वप्रमात्रा भवता जगन्ति,

व्याप्तानि मात्राणि न मुञ्चति स्वाम् ।

विदग्ध के प्रमाता आपड़े सारे जगत् व्याप्त हैं। उसका कोई भी अंश आप से रहित नहीं है। इस उदाहरण में 'विश्वप्रमात्रा' और 'मात्राणि' इन दोनों में 'मात्रा' इस अंग की आवृत्ति होने से यह 'यमकाद्भुत' का उदाहरण होता है।

दूसरी प्रकार—

एता सन्नाभयो बाला यासा सन्नाभय प्रिय ।

इस उदाहरण में 'सन्नाभय' इस पद की आवृत्ति है। परन्तु पहली जगह 'एता सन्नाभयो बाला' में 'सन्नाभय' पद बहुवचनान्त 'एता बाला' का विशेषण है। और दूसरी जगह 'सन्नाभय' पद, एकवचनान्त 'प्रिय' का विशेषण है। दोनों पदों में प्रथमा विभक्ति ही होने से यह विभक्ति भेद का नहीं अपितु सर्याभेद रहते हुए पद की आवृत्ति का उदाहरण है। 'सन्नाभय बाला' में 'सन्नाभय' का अर्थ सुन्दर नाभि वाली बालाएँ हैं।

इसी प्रकार—

यतस्तत प्राप्तगुण प्रभावे,

यतस्ततश्चेतमि भासतेऽयम् ।

शेष मरूपोऽनुप्रास । १, १, ८ ।

पदमेकार्थमनेकार्थं च स्यात्तानियतं तद्विधमक्षरं च शेषः । सप्तो-
ऽन्येन प्रयुक्तेन तुल्यरूपोऽनुप्रासः ।

इस उदाहरण में 'यतस्तत' पद की भावृत्ति है । यह पद सार्वविभक्तिक 'तसि' प्रत्यय करके बना है । इसमें पहली जगह पञ्चम्यर्थ में और दूसरी जगह सप्तम्यर्थ में 'तसि' प्रत्यय हुआ है । इसलिए यह 'कारक भेद' का उदाहरण है साक्षात् विभक्ति का प्रयोग न होकर 'तस्मिन्' प्रत्यय के द्वारा प्रयोग होने से विभक्ति-भेद का उदाहरण नहीं है । इसी प्रकार—

सरति सरति कान्तस्ते नलामो ललाम ।

यह सुबन्त और तिङन्त पदों की मिश्र भावृत्ति का उदाहरण है । इसमें 'सरति सरति' तथा 'ललामो ललाम' पदों की भावृत्ति है । इसमें 'सरति सरति' पदों में से एक 'सरति' पद शतृप्रत्ययान्त 'सरत्' शब्द का सप्तम्यन्त या सति सप्तमी का रूप है और दूसरा तिङन्त का लट् लकार का रूप होने से सुबन्त और तिङन्त की मिश्र भावृत्ति का उदाहरण है । इसी प्रकार 'ललामो ललाम' में एक 'ललाम' पद प्रथमा का एकवचन और दूसरा लट् लकार के उत्तम पुरुष का बहुवचन होने से यह भी सुबन्त तथा तिङन्त पदों की मिश्र भावृत्ति का उदाहरण है ।

इन उदाहरणों में यदि केवल विभक्तिविपरिणाममान मानें तो ऊपर दिये हुए श्लोक के अनुसार यमकत्व की हानि माननी होगी । परन्तु केवल विभक्तिविपरिणाम न मान कर प्रकृति का भी भेद मानते हैं तो यमकाद्भुत अलङ्कार होता है । यह यमकत्वहानि और यमकाद्भुत का भेद समझना चाहिये ॥ ७ ॥

इस प्रकार यमक का निरूपण कर चुकने के बाद दूसरे शब्दालङ्कार का निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

[यमक से भिन्न] अन्य सादृश्य को 'अनुप्रास' कहते हैं ।

यमक में स्थान नियत होता है । और भावृत्त पदों में भिन्नार्थकता अनिवार्य होती है । इसलिए यम अनुप्रास से तात्पर्य अनियत स्थान तथा एकार्थ अथवा अनेकार्थ पदों की भावृत्ति से है । इसी को वृत्तिकार कहते हैं ।

एकाक्षर और अनेकार्थक [दोनों प्रकार के] और अनियत स्थान वाले पद तथा उसी प्रकार के अनियत स्थान वाले अक्षर शेष [पद से अभि-

ननु च 'शेषोऽनुप्रासः' इत्येतावदेव सूत्रं कस्मान्न कृतम् ।
आवृत्तिशेषोऽनुप्रास इत्येव हि व्याख्यास्यते ।

सत्यम् । मिदृत्येवा वृत्तिशेषे किं त्वव्याप्तिप्रसङ्गः । विशेषार्थं च
मरूप-प्रमाणम् । कात्स्न्येनैवावृत्तिः कात्स्न्यैरुद्देशाभ्यां तु मारुत्यमिति ॥८॥

प्रेत] हे । [इस प्रकार जो शेष] सरूप [अर्थात्] अन्य प्रयुक्त [हुए, पद]
के तुल्य रूप [पद को] अनुप्रास [कहा जाता] है । [अर्थात्, एकार्थ अथवा
अनेकार्थ स्थानान्वित पद के अन्य प्रयुक्त हुए पद के साथ सादृश्य अथवा आवृत्ति
को 'अनुप्रास' कहते हैं । यह 'अनुप्रास' का लक्षण हुआ] ।

[प्रश्न] 'शेषोऽनुप्रास' इतना ही सूत्र क्यों नहीं बनाया । [यमक से
भिन्न] शेष [अन्य प्रकार] की आवृत्ति को 'अनुप्रास' कहते हैं । यह इस प्रकार
की उस सूत्र की व्याख्या हो जावेगी ।

[उत्तर] आपका कथन ठीक है । आवृत्ति शेष अनुप्रास होता है [यह
लक्षण] यन ही सकता है । किन्तु [उतना लक्षण रखने से] अव्याप्ति की सम्भा-
वना हो सकती है । [इसलिए] विशेष [रूप से अव्याप्ति शेष रहित अनुप्रास
का लक्षण करने] के लिए [सूत्र में] 'सरूप' पद का ग्रहण किया है । [इस 'सरूप'
पद के ग्रहण करने से भेद यह हो जाता है कि यमक में अभिप्रेत आवृत्ति स्वर-
व्यञ्जन सघात की] सम्पूर्ण रूप से 'आवृत्ति' होती है और [अनुप्रास में स्वरव्यञ्जन
सघात रूप] सम्पूर्ण अथवा एकदेश [दोनों प्रकार] से सादृश्य हो सकता है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि यमक में पूर्ण रूप से स्वरव्यञ्जन-
सङ्घात की आवृत्ति आवश्यक है । परन्तु अनुप्रास में स्वरभेद होने पर भी
केवल व्यञ्जन की भी आवृत्ति हो सकती है । यही यमक और अनुप्रास का
भेद है । इसी लिए श्री दिव्यनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में इन दोनों के
लक्षण इस प्रकार किए हैं —

१ सत्यर्थे पृथगर्थयोः स्वरव्यञ्जनसङ्घने ।

प्रमेग तेनैवावृत्तियमकं विनिश्चयते ॥

अर्थात् सार्वक होने पर भिन्नार्थक स्वरव्यञ्जनसङ्घात की उसी यम
से आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं । इसके विपरीत—

२ अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ।

स्वर का भेद होने पर शब्द का साम्यमात्र अनुप्रास कहलाता है ॥ ८ ॥

अनुल्वणो वर्णानुप्रास श्रेयान् । ४, १, ६ ।
 वर्णानामनुप्रासः स ग्वल्वनुल्वणोऽलीन श्रेयान् । यथा—
 क्वचिन्ममृणमामल क्वचिदतीव तारास्पदं
 प्रसन्नमुभग मुहु स्वरतरङ्गलीलाङ्कितम् ।
 इदं हि तव वल्लभीरणिर्नानर्गमैर्गुम्फितं
 मनो मदयतीव मे किमपि साधु सङ्गीतकम् ॥ २० ॥

उल्वणस्तु न श्रेयान् । यथा—

वल्लीवद्धोर्ध्वजूटोद्भटमटति रटत्कोटिकोटदण्डदण्डम् ॥ २१ ॥
 इति ॥ ६ ॥

हलन्ता [अनुल्वण, अनुप] वर्णों का अनुप्रास [अधिक] अच्छा होता है ।

वर्णों का अनुप्रास वर्णानुप्रास [यन्त्रो तत्पुण्य समास से कहलाना] है । यह अनुल्वण अर्थात् [लीन] हल्का [होने पर] अच्छा होता है । जैसे [निम्न उदाहरण में]—

कहीं स्निग्ध और गम्भीर, कहीं अत्यन्त उच्च फिर [कहीं] स्पष्ट और सुन्दर स्वरतरङ्गों [के उतार-चढ़ाव] की सीला से युक्त, दीणा की निकलती हुई ध्वनि से मिला हुआ, वह तुम्हारा सुन्दर सङ्गीत मेरे मन को मस्त [अत्यन्त आल्लाबित] सा करता है ॥ २० ॥

इस श्लोक के प्रथम चरण में 'ममृणमामलम्' दूसरे चरण में 'स्वरतरङ्गलीलाङ्कितम्', तृतीय चरण में 'निर्गमैर्गुम्फितम्' तथा चतुर्थ चरण में 'मनो मदयतीव मे', तथा 'साधु सङ्गीतकम्' इन पदा में अनुल्वण अनुप्रास पाया जाता है इसलिए वह उत्तम अनुप्रास का उदाहरण है ।

अथ [वर्णानुप्रास] तो अच्छा नहीं होता । जैसे [निम्नाङ्कित उदाहरण में]—

जिस [अनुप] के [दोनों] किनारे [प्रत्यङ्गा के आघात से] शब्दापमान है इस प्रकार चाप-दण्ड को लिये हुए और सत्ता से जटाघों को ऊपर बाधे हुए भदकर रूप से खूब रहा है ॥ २१ ॥

इस उदाहरण में सारे पद में अथ वर्णानुप्रास पाया जाता है । यह काव्य का शोभाघायक न होने से अधिक अच्छा नहीं समझा जाता है । अन्य लोगो ने अनुल्वण अनुप्रास का निम्न उदाहरण दिया है ।

अपसारय घनसार कुछ हार दूर एव कि कमलं ।

असमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिश बाला ॥ ६ ॥

पादानुप्रास. पादयमकवत् । ४, १, १० ॥

ये पादयमकस्य भेदास्ते पादानुप्रासस्येत्यर्थः । तेषामुदाहरणानि यथा—

कविराजमविज्ञाय कुतः कव्यक्रियाऽऽदरः ।

कविराजं च विज्ञाय कुतः काव्यक्रिया-दरः ॥ २२ ॥

पाद यमक के समान पादानुप्रास [भी होता] है ।

जो पाद यमक के [अनेक] भेद [पहले ४, १, २ में किए] हैं वे पादानुप्रास के [भी भेद हो सकते] हैं यह तात्पर्य है । उनके [कुछ] उदाहरण [नीचे देते हैं] अंतः—

[गुरु के रूप में किसी कविराज] ध्येष्ठ कवि को जाने बिना [सारकवियों की अपासना किए बिना] काव्य निर्माण में आदर कैसे प्राप्त हो सकता है । और [किसी-किसी] कविराज [सारकवि] को [गुरु रूप में] प्राप्त करके काव्य निर्माण में दर अर्थात् भय कहा रह सकता है । [दरप्रासों भीतिभी साध्वस्त भयम्] ॥ २२ ॥

इस उदाहरण में समस्त पादों के शब्दों की आवृत्ति है । नवीन प्राचायों ने इस प्रकार के अनुप्रास को 'साटानुप्रास' कहा है । 'साटानुप्रास' का लक्षण कहते हुए साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ ने लिखा है—

१ शब्दार्थयो पौनरुक्त्य भेदे तात्पर्यमाश्रित ।

साटानुप्रास इत्युक्ताऽनुप्रास पञ्चवा ततः ॥

अर्थात् जहाँ तात्पर्य मात्र के भेद से शब्द तथा अर्थ दोनों की पुनरवृत्ति हो उसको 'साटानुप्रास' कहते हैं । यह अनुप्रास एक-पदगत भी हो सकता है और अनेक-पदगत भी । एक-पदगत साटानुप्रास का उदाहरण—

स्मेरराजीवनयने नयने किं निमीलिते ।

पश्य निजितकन्दर्पे कन्दर्पवशग प्रियम् ॥

अथवा 'नयने तस्यैव नयने च' इत्यादि उदाहरण दिए गए हैं । इन दोनों उदाहरणों में 'नयने' पद की आवृत्ति है परन्तु उसके तात्पर्य में दोनों

आखण्डयन्ति मुहुरामलकीफलानि

वालानि बालकपिलोचनपिङ्गलानि ॥ २३ ॥

जगह भेद है । इसलिए यह 'लाटानुप्रास' का उदाहरण है । अनेक पद विषयक लाटानुप्रास का उदाहरण निम्न श्लोक दिया गया है—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।

यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥

जिसकी दयिता पास नहीं है उसके लिए चन्द्रमा भी दावानि के समान सन्ताप दायक है और जिसकी प्रिया उसके पास है उसके लिए दावानि भी चन्द्रमा के समान शीतल और आनन्द दायक है । ठीक इसी प्रकार का प्रकृत उदाहरण बामन ने दिया है ।

कविराजमविज्ञाय कुत काव्यक्रियादर ।

कविराज च विज्ञाय कुत काव्यक्रियादर ॥

छोटे बन्दर [बालकपि] के नेत्रों के तन्तान [कुछ लाल और नीले रङ्ग के] पिङ्गल वर्ण छोटे-छोटे भावलों के कलों को [तोते आदि] बार-बार काट रहे हैं ॥ २३ ॥

इस उदाहरण में 'फलानि', 'वालानि' और 'पिङ्गलानि' इन तीनों स्थलों पर 'लानि' इन अक्षरों की आवृत्ति होने से यह दूसरा अनुप्रास का भेद होता है । नवीन आचार्य इस प्रकार के अनुप्रास को वृत्त्यनुप्रास नाम से कहते हैं । विश्वनाथ ने वृत्त्यनुप्रास का लक्षण करते हुए लिखा है—

अनेकस्यैकधा साम्यममकृद् वाप्यनेकधा ।

एकस्य सकृदप्येव वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥

अर्थात् अनेक व्यञ्जनो की एक ही प्रकार से अर्थात् केवल स्वरूप से, क्रम से नहीं, अथवा अनेक व्यञ्जनो की अनेक बार उसी स्वरूप, और उसी क्रम से आवृत्ति, अथवा एक ही वर्ण की एक ही बार आवृत्ति होने पर 'वृत्त्यनुप्रास' कहलाता है । जैसे—

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूतानुरा

नी इत्कोकिलकाकसीकलकलं एषीणं कर्णं ज्वरा ।

नीयन्ते पथिकं कथञ्चुपमपि ध्यानावधानक्षण—

प्राप्तप्राणसमा समागमस्तोत्नामेरमो वासरा ॥

गुणवाहुल्यस्योत्तकर्पाकर्षकल्पनाभ्याम् । तद्यथा—

उद्गर्भहृत्तरुणीरमणोपमर्द-भुम्नोन्नतिस्तननिवेशनिभं हिमांशोः ।

बिम्ब कठोरविस्फाण्डकृदारगौरैर्विष्णोः । पद प्रथममप्रकरैर्व्यनक्ति ॥ १ ॥

[उत्तर] गुण बाहुल्य से उक्त उत्कर्ष और अपकर्ष की कल्पना से [उपमान उपमेय भाव का निर्णय होगा । जिसमें गुणबाहुल्य मूलक उत्कर्ष है वही उपमान और जिसमें गुणबाहुल्य की अपेक्षा से अपकर्ष है वही उपमेय कहलावेगा ।] जैसे—

व्यक्तगर्भा हूण तरुणी के [रमण] पति के द्वारा किए गए [उपमर्द] गाढ प्रालिङ्गन से [भुम्नोन्नति] दबा [विस्फा] हुआ जो [उस तरुणी का] स्तन, उसके सन्निवेश के समान [अधिक फैला हुआ गोल और बीच में कुछ-बण] चन्द्रमा का बिम्ब, पके हुए बिल काण्ड [भसींटे या गुणानन्द] के समान पीत और शुभ्र उदयकालीन [मय] किरणों से आकाश [विष्णो पद] को प्रकाशित कर रहा है ॥ ११ ॥

इस उदाहरण में चन्द्रबिम्ब की उपमा 'उद्गर्भहृत्तरुणी' के 'रमणोपमर्दभुम्नोन्नतिस्तन' से की गई है । चन्द्रबिम्ब उपमेय है और 'हूण तरुणी' का 'स्तन' उपमान है । इस प्रकार का उपमान-उपमेयभाव लोक में कही प्रसिद्ध नहीं है । केवल कवि की कल्पना से कल्पित हुआ है । इसलिए यह 'कल्पिता' उपमा है, जीविकी नहीं । उदय होता हुआ चन्द्रमा लाल होता है । हूण देशवासी अर्थात् पठान लोगों का वर्ण प्रत्यधिक लाल होता है । इसलिए किसी अन्य तरुणी के बजाय कवि ने विशेषकर 'हूण-तरुणी' का ग्रहण किया है । उदय होते हुए चन्द्रमा का बिम्ब लाल होने के साथ बड़ा भी अधिक होता है । और साधारण तरुणी की अपेक्षा 'व्यक्तगर्भा तरुणी' का स्तन अधिक बड़ा होता है इसलिए कवि ने केवल 'हूण तरुणी' के बजाय 'उद्गर्भ हूण-तरुणी' का ग्रहण किया है । स्तन का आकार अश्वारक पक्षी के समान कहा जाता है परन्तु उदय होते हुए चन्द्रमा का बिम्ब घाली के समान चपटा होता है । अतएव उस चन्द्रमा का उपमान बनने के लिए स्तन को चपटा गोल करने की आवश्यकता है । इसलिए कवि ने उसे पति के गाढालिङ्गन 'रमणोपमर्द' से 'मुम्नोन्नति' अर्थात् दबा कर घाली के समान गोल किया है । चन्द्रमा के बीच में काला बिन्दु होता है । स्तन के गाढालिङ्गन में दब जाने पर उसके बीच में भी कुछ काला भाग चन्द्र-बलङ्क के समान दिखाई देने लगता है । इस प्रकार उदय कालीन चन्द्रमा का उक्त प्रकार के स्तन के साथ सादृश्य दिखाकर अपनी कल्पना के बल से उस

मद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्थापि नारङ्गकम् ॥ २॥

अभिनवकुशसूर्चिम्पवि कर्णे शिरीषम् । इति ॥ ३ ॥

स्तन को चन्द्रमा का उपमान बनाया है । अतएव यह कल्पिता उपमा का उदाहरण हुआ । इसी प्रकार का कल्पिता उपमा का दूसरा उदाहरण कालिदास के रघुवंश से देते हैं ।

तुरन्त मू डे गए मत्त हूण की ठोड़ी के समान नारङ्गी [का फल]
है ॥ २ ॥

इसमें नारङ्गी की उपमा 'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुक' से दी गई है । नारङ्गी का रङ्ग गहरा लाल होता है । हूण देश के रहने वाले पठानों का रङ्ग भी लाल होता है । परन्तु वह अपने स्वाभाविक रूप में कदाचित् नारङ्गी के रङ्ग की बराबरी न कर सके इसलिए कवि ने उसके साथ 'मत्त' पद विशेषण रूप से घोर जोड़ा है । 'मदमत्त' की अवस्था में चेहरे पर सासिमा अधिक आ जाती है । इसलिए 'मत्त हूण' के 'चिबुक' को 'उपमान' बनाया है । उसमें भी दाढ़ी बनवाने के तुरन्त बाद और भी अधिक लालिमा हो जाती है । इसलिए और विशेष कर इसलिए कि मुण्डन के बाद जो रोमरूप दिखाई देने लगते हैं, उनमें उस 'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुक' का नारङ्गी के साथ साम्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है । इसलिए कवि ने उसी के साथ नारङ्ग फल की उपमा दी है । इसमें 'नारङ्गकम्' उपमेय है और 'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुक' उपमान है । यह उपमा भी लोकप्रसिद्धि के आधार पर नहीं अपितु केवल कविकल्पना के आधार पर स्थित है । इसलिए यह भी 'कल्पिता' उपमा का ही उदाहरण है । इसी प्रकार का 'कल्पिता' उपमा का तीसरा उदाहरण देते हैं ।

नई कुशमूची से स्पर्धा करने वाला [कुशमूची के समान] शिरीष
[का पुष्प] कान में [धारण किया हुआ] है ॥ ३ ॥

इस में शिरीष पुष्प की उपमा कुशमूचि से दी है । शिरीष के पुष्प में कुश के अप्रभाग के समान पतली-पतली मूचिया (सुइयाँ) सी लटकती रहती है । इसलिए कवि ने उसके साथ शिरीष पुष्प की उपमा दी है । 'शिरीष पुष्प' 'उपमेय' है और 'कुशमूची' 'उपमान' है । यह उपमा भी लोकप्रसिद्ध न होने से कविकल्पना के ऊपर आधारित और कल्पिता उपमा है । अतः इसे भी कल्पिता उपमा के उदाहरणों में रखा गया है । आगे इस प्रकार की कल्पिता उपमा का चौथा उदाहरण और देते हैं ।

इदानीं पञ्चाणां जरठदलविश्लेषचतुर-
स्तिभीनाभावद्वम्फुरितशुकचञ्चूपुटनिभम् ।

ततः स्त्रीणां हन्त क्षममधरकान्ति तुलयितुं

समन्तान्नियोति स्फुटमुभगरागं किमलयम् ॥ ४ ॥ २ ॥

तद्द्वैविध्यं पदवाक्यार्थवृत्तिभेदात् । ४, २, ३ ।

इस समय [समस्त ऋतु में] पुराने पत्तो के गिर जाने से [जरठ-
दलाना जीर्णपर्णाना विश्लेषेण चतुरा मनोसा, स्तिभयोऽङ्कुरा येषां
तेषाम् ।] सुन्दर लगने वाले [नवीन] अङ्कुरों से युक्त [स्तिभिश्च स्तिभिः
शुद्धोऽप्यङ्कुर एव च' इति हलाप्य] वरगदों [प्लक्ष] के, वग्व किन्तु
फट जाती हुई [तनिक सी खली हुई] मो तोते की चौंच के समान स्पष्ट और
सुन्दर राग वाले [किमलय] गए कोमल पत्ते चारों ओर निकल रहे हैं । जिससे
[वह] स्त्रियों के अधर कान्ति की बराबरी करने में समर्थ होते हैं ॥४॥

इसमें स्त्रियों की अधर कान्ति उपमेय हैं और वरगद के नवीन किमलय
उपमान हैं । वेस तो सामान्यतः अधर की उपमा किमलय राग से दी ही जाती
है । 'अधर किमलयराग कोमलविटपानुकारिणी बाहू' आदि उदाहरणों में कालि-
दाम आदि महाकवियों ने किमलय से अधर की उपमा दी है । इसलिए यह लौकिक
उपमा का ही उदाहरण होना चाहिए था । परन्तु इसमें सीधी तरह से उपमा
न देकर कवि ने अनेक बिजेपण जोड़ कर अपनी कल्पना का भी परिचय दिया
है । इसलिए वामन ने इसको 'कल्पिता उपमा' का उदाहरण माना है । इन चारों
ओर इसी प्रकार के अन्य सब उदाहरणों में कवि की कल्पना का प्राधान्य होने
से कविकल्पित अंश में ही गुरुओं का उत्कर्ष भी माना जाता है । भट्टेश्वर गुरुओं
के उत्कर्ष के कारण कविकल्पित 'दूणतच्छीस्तन' 'मत्तद्वृणचिदुक', आदि अंश
उपमान और दूसरे अंश उपमेय माने जाते हैं । इस प्रकार गुरुवाहुल्य के
उत्कर्ष और अपकर्ष से उपमान उपमेय भाव की कल्पना कल्पिता उपमा में की जा
सकती है । यह जो वामन ने कहा था उसकी पुष्टि इन चारों उदाहरणों द्वारा की
गई है ॥ २ ॥

इस प्रकार उपमा के लौकिकी और कल्पिता यह दो प्रकार के भेद इन
दो सूत्रों में दिलाए हैं । दूसरे प्रकार से उपमा के 'पदार्थवृत्ति' उपमा और
'वाक्यार्थवृत्ति' उपमा इस प्रकार के दो भेद ग्रन्थकार और दिखाते हैं ।

वह [उपमा] 'पदार्थवृत्ति' और 'वाक्यार्थवृत्ति' होने से दो प्रकार की
होती है ।

तस्या उपमाया द्वैविध्यं, पदवाक्यार्थवृत्तिभेदात् । एका पदार्थ-
वृत्ति, अन्या वाक्यार्थवृत्तिरिति । पदार्थवृत्तिर्यथा—

हरिततनुषु वज्र त्वग्विमुक्तामु यामा
कनककणमवर्मा मान्मथो रोमभेद ॥ ५ ॥

वाक्यार्थवृत्तिर्यथा—

पाण्ड्योऽयमभार्षितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।

आभाति बालातपरक्तमानुः सनिर्भरोद्गार इवार्द्रराज ॥ ६ ॥ ३ ॥

उस उपमा के दो प्रकार होते हैं । पद [पदार्थ] और वाक्य के अर्थ
में रहने के भेद से [अपर्याप्त] एक पदार्थ में रहने वाली [पदार्थवृत्ति] और दूसरी
वाक्यार्थ में रहने वाली [वाक्यार्थवृत्ति] होती है । [उनमें से] पदार्थवृत्ति
[उपमा का उदाहरण] जैसे [निम्न लिखित श्लोक में है]—

जिनका मटौली लाल से रहित हरित देहों पर स्वर्णकण के समान सम्यक्
सम्बन्धी रोमाञ्च [रोमभेद दिखाई देता] है ॥५॥

वाक्यार्थ वृत्ति [उपमा का उदाहरण] जैसे—

कंधे पर लम्बा हार धारण किए और लाल चम्बन का अङ्गुराग लगाए
यह पाण्ड्य [देश का राजा] प्राप्त कालीन [लाल-लाल] बालातप से रक्त
शिखर वाले और भरने के प्रवाह से युक्त पर्वतराज के समान सुशोभित हो
रहा है ।

इस उदाहरण में पाण्ड्य देश के राजा की उपमा कालिदास ने अद्रिराज
से दी है । परन्तु वह केवल पाण्ड्य और अद्रिराज का ही उपमेय उपमान भाव
नहीं है, अपितु पाण्ड्य के साथ 'अभार्षितलम्बहार' और 'हरिचन्दनेन क्लृप्ता-
ङ्गराग' यह दो विशेषण जुड़े हुए हैं । इसलिए उसके साम्य को पूर्ण करने के
लिए अद्रिराज रूप उपमान में भी 'बालातपरक्तमानु' और 'सनिर्भरोद्गार'
यह दो विशेषण जोड़े गए हैं । अन्यथा उन दोनों का उपमानोपमेय भाव अपूर्ण
ही रहता । इस प्रकार अनेक पदों में व्याप्त-अनेक पदों में पूर्ण-होने के कारण
'वाक्यार्थवृत्ति' उपमा कहलाती है । इसके विपरीत प्रथम उदाहरण में उपमा का
सम्बन्ध इतना व्यापक नहीं है । वह केवल 'कनककणमवर्मा रोमभेद' में समाप्त
हो गई है । इसलिए वह वाक्यार्थवृत्ति नहीं अपितु 'पदार्थवृत्ति' उपमा का
उदाहरण है । यद्यपि उपमा में उपमान, उपमेय, सादृश्य और उपमा वाचक
इवादि पदों की स्थिति आवश्यक होने से उसका सम्बन्ध अनेक पदों से होता

और उसमें से प्रत्येक के 'तद्धितगत', 'समासगत' और 'वाक्यगत' यह तीन भेद हो जाने से पूर्णोपमा के ६ भेद हो जाते हैं । 'श्रौती' तथा 'आर्थी' उपमा के भेद और उसके कारण का प्रदर्शन करने के लिए विश्वनाथ ने लिखा है—

यथा, इव, वा आदय शब्दा उपमानानन्तरप्रयुक्त्वतुल्यादिपदसाधारणा अपि भूतिभात्रेणोपमानोपमेयगतमादृश्यतक्षणसम्बन्ध बोधयन्तीति तत्सङ्गावे श्रोत्युपमा । एव 'तत्र तस्येव' इत्यनेन इवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने ।

तुल्यादयस्तु 'कमलस्य तुल्यं मुखम्' इत्यादौ उपमेय एव, 'कमलं मुखस्य तुल्यम्' इत्यादौ उपमान एव, 'कमलं मुखं च तुल्यम्' इत्यादौ उभयत्रापि विश्वाम्यन्तीति अर्थानुसन्धानादेव साम्यं प्रतिपादयन्तीति तत्सङ्गावे आर्थी । एव च 'तेन तुल्यं' [क्रिया चेद् वति] इत्यादिना तुल्यार्थे विहितस्य वतेरुपादाने ।

इसका भावार्थ यह हुआ कि यथा, इव, वा, यह उपमावाचक शब्द उपमान के अनन्तर प्रयुक्त होते हैं जैसे 'चन्द्रमिव मुखम्' आदि स्थलों पर इवादि वाचक शब्दों का प्रयोग सदा उपमान के बाद होता है और उनके सुनने मात्र से साधर्म्य की प्रतीति हो जाती है । इसलिए इन शब्दों के प्रयोग करने पर 'श्रौती' उपमा माननी चाहिए । तुल्यादि शब्दों का प्रयोग नियत रूप से उपमान के साथ ही नहीं होता है अपितु ध्यानभेद से उपमान, उपमेय, दोनों के साथ हो सकता है । जैसे 'कमलेन तुल्यं मुखम्' में तुल्य पद का प्रयोग 'उपमान' रूप कमल के बाद हुआ है । परन्तु इसी को बदल कर 'कमलं मुखस्य तुल्यम्' ऐसा प्रयोग भी किया जा सकता है उस दशा में तुल्य शब्द का सम्बन्ध 'उपमेय' रूप मुख के साथ होगा है । और तीसरे प्रकार से 'कमलं मुखं च तुल्यं' इस प्रकार का प्रयोग करने पर तुल्य का दोनों के साथ सम्बन्ध होता है । अतएव तुल्यादि शब्दों का प्रयोग होने पर ऋटिति सादृश्य की प्रतीति न होकर अर्थानुसन्धान से सादृश्य की प्रतीति होती है । इसलिए इनके प्रयोग में 'आर्थी' उपमा होनी है ।

उपमान और उपमेय के सादृश्य के बोधन का एक और प्रकार भी है जिसमें 'वति' प्रत्यय करके 'चन्द्रवन्मुखम्' इस रूप में सादृश्य का बोध कराया जाता है । इस 'वति' प्रत्यय का विधान पाणिनि मुनि ने अपने व्याकरण में दो जगह किया है । एक तो 'तत्र तस्येव' इस सूत्र में और दूसरा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वति' इस सूत्र में । इनमें से 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से जहाँ 'वति' प्रत्यय होता है वह 'इव' के अर्थ में होता है । और 'इव' के प्रयोग में होने वाली

उपमा 'थीती' उपमा कहनावेगी । इसके विपरीत 'तेन तुल्यं त्रिया चेद् वति' इस सूत्र से होने वाला 'वति' प्रत्यय 'तुल्यार्थ' में होता है । इस तुल्य पद के प्रयोग होने पर जेमे 'आर्थी' उपमा कही जाती है इसी प्रकार 'तुल्यार्थ' में किए 'वति' प्रत्यय के योग में भी 'आर्थी' उपमा ही कही जाती है ।

इस प्रकार पूर्णोपमा के पहिले थीती तथा आर्थी दो भेद करके फिर उन दोनों के तद्वित, समास तथा वाक्यगत तीन भेद करने से 'पूर्णोपमा' के छ भेद हो जाते हैं । इन छहो भेदों के उदाहरण दो श्लोकों में दिए हैं । थीती उपमा के तीनों भेदों के उदाहरण इस श्लोक में दिए हैं—

सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य, कुम्भाखिव स्तनी पीनी ।

हृदय मदयति वदनं तथ शरदिन्दुर्यथा बाले ॥

इस उदाहरण में 'मम्भोरुहस्य इव इति मम्भोरुहवन्' यथा 'तत्र सम्भेव' सूत्र से 'वति' प्रत्यय किया गया है इसलिए यह 'तद्वितरत थीती' उपमा का उदाहरण है । 'कुम्भी इव' यथा 'समासगत थीती' उपमा का उदाहरण है । 'इवेन सह समामो विभक्त्यलोपश्च' इस आत्मिक के अनुसार यथा समान होने पर भी निमित्त का लोप नहीं हुआ है । 'शरदिन्दु' यथा 'वाक्यगत थीती' उपमा का उदाहरण है । इन तीनों उदाहरणों में उपमान, उपमेय आदि चारो धर्म विद्यमान होने से यह सब 'पूर्णोपमाए' है । 'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य' इस उदाहरण में 'मुख' उपमेय, 'मम्भोरुह' उपमान, 'सौरभ' साधारण धर्म तथा 'वति प्रत्यय' उपमावाचक है । इसलिए यह पूर्णोपमा है । 'कुम्भी इव स्तनी पीनी' इस उदाहरण में 'स्तन' उपमेय, 'कुम्भी' उपमान 'पीनी' साधारण धर्म और 'इव' उपमा वाचक शब्द है । इन चारो के विद्यमान होने से यह भी पूर्णोपमा है । 'हृदय मदयति वदनं तथ शरदिन्दुर्यथा बाले' इस उदाहरण में 'वदन' उपमेय, 'शरदिन्दु' उपमान 'मदयति' साधारण धर्म और 'यथा' उपमावाचक शब्द है । इन चारों के विद्यमान होने से यह भी पूर्णोपमा का उदाहरण है । इस प्रकार तद्वितगत, समासगत और वाक्यगत तीनों प्रकार की थीती पूर्णोपमा के उदाहरण इस श्लोक में आये हैं ।

आर्थी पूर्णोपमा के तीनों भेदों के उदाहरण निम्न श्लोक में मिल सकते हैं ।

मधुर सुधावदधर वन्तवनूत्योऽतिपेखव पाणि ।

चकितमृगलोचनाम्या सदृशी चपले च लोचन तस्या ॥

इस उदाहरण में 'मधुर मुधावदधर.' यह 'तद्धितगत धार्थी' पूर्णोपमा का उदाहरण है। 'मुषया तु य' इस विग्रह में 'तेन तुल्य क्रिया चेद् वति' इस सूत्र से तृतीयान्त मुधा पद से 'वति' प्रत्यय होकर 'मुधावन्' प्रयोग बनता है। इसलिए यह 'तद्धितगत धार्थी' उपमा का उदाहरण है। यहाँ 'मधुर' उपमेय, 'मुधा' उपमान, 'मधुरत्व' साधारणधर्म और 'वति' उपमावाचक प्रत्यय है। इन चारों के विद्यमान होने से यह पूर्णोपमा है। 'पल्लवतुल्योऽतिपेनव पाणि'। इस अंश में 'पाणि' उपमेय, 'पल्लव' उपमान, 'पेनव' साधारणधर्म; और 'तुल्य' उपमावाचक पद है। इन चारों के विद्यमान होने से पूर्णोपमा हुई। यहाँ 'तुल्यार्थेतुलोपमाभ्या तृतीयान्यतरभ्याम्' इस सूत्र से विकल्प से पंजी विभक्ति होकर 'पंजी' इस सूत्र से समास होकर 'पल्लवस्य तुल्य पल्लवतुल्य' यह पद बनता है। इसलिए यह 'समासगत धार्थी' पूर्णोपमा का उदाहरण है। और 'वक्तिमृगलोचनाभ्या सदृशी चपले च लोचने तस्या', इस अंश में 'लोचन' उपमेय, 'वक्तिमृगलोचन' उपमान, 'चपलत्व' साधारण धर्म और 'सदृशी' उपमावाचक शब्द है। इन चारों के उपस्थित होने से यह 'वाक्यगत धार्थी' पूर्णोपमा का उदाहरण है।

इस प्रकार नवीन धाधार्यों ने पूर्णोपमा के १ वाक्यगत श्रोत्री, २ वाक्यगत धार्थी, ३ समासगत श्रोत्री, ४ समासगत धार्थी, ५ तद्धितगत श्रोत्री, तथा ६ तद्धितगत धार्थी इस प्रकार ६ भेद किए हैं। परन्तु वामन इस विस्तार में नहीं गए हैं। उन्होंने केवल सामान्य रूप से पूर्णोपमा का निर्देशमात्र किया है।

इसी प्रकार वामन ने लुप्तोपमा का भी केवल निर्देशमात्र किया है। उसका विस्तार नहीं दिखलाया है। परन्तु विश्वनाथ आदि ने उसका विस्तार दिखलाने का प्रयत्न किया है। ऊपर जो पूर्णोपमा के छ भेद किए हैं उनमें से 'तद्धितगत श्रोत्री' को छोड़कर शेष पाँच भेद 'धर्मलुप्ता' के भी हो सकते हैं। यह विश्वनाथ ने प्रतिपादन किया है—

पूर्णवद् धर्मलोपे सा विना श्रोत्री तु तद्धिते ।

धर्मलुप्ता के उन पाँचों भेदों के उदाहरण निम्न श्लोक में मिल सकते हैं—

मृत्तमिन्दुर्यथा, पाणि पल्लवेन सम प्रिये ।

वाच सुधा इव, प्रोष्ठस्ते बिम्बतुल्यो, मनोऽभवत् ।

१ 'मुखमिन्दुर्यथा' में 'मुख' उपमेय, 'इन्दु' उपमान, 'यथा' उपमावाचक शब्द यह तीन तो हैं परन्तु साधारण धर्म का प्रदर्शक कोई शब्द नहीं है इसलिए यह 'वाक्यगत श्रौती धर्मलुप्ता' उपमा का उदाहरण है । २ 'पाणि पल्लवेन सम' इस में 'पाणि' उपमेय, 'पल्लव' उपमान, 'सम' उपमावाचक शब्द है परन्तु साधारण धर्म का बोधक कोई शब्द नहीं है । इसलिए यह 'धर्मलुप्ता' का उदाहरण हुआ । और यहाँ उपमावाचक शब्द 'सम' है इसलिए यह 'आर्थी धर्मलुप्ता' उपमा का उदाहरण हुआ । ३ 'वाच मुधा इव' इस भाग में 'वाच' उपमेय, 'मुधा' उपमान, 'इव' उपमावाचक शब्द है धर्मबोधक कोई शब्द नहीं है । 'इवेन भित्-समासो विभक्त्यभोषश्च' इस वाक्य के अनुसार 'इव' शब्द के साथ समास होने से यह 'समासगत धर्मलुप्ता श्रौती' का उदाहरण हुआ । 'योष्मते विम्बतु य' में 'योष्मते' उपमेय, 'विम्ब' उपमान, 'तु य' उपमावाचक शब्द है परन्तु साधारण धर्म का बोधक शब्द नहीं है और उपमावाचक 'तु य' शब्द है । इसलिए यह 'आर्थी धर्मलुप्ता' का उदाहरण हुआ । 'मनोऽमवत्' इस भाग में 'मन' उपमेय, 'अमवत्' उपमान, 'वत्' उपमावाचक है परन्तु साधारण धर्म का बोधक कोई शब्द नहीं है । और 'वत्ति' प्रत्यय 'तेन तु य क्रिया चेत् वत्ति' इति सूत्र से हुआ है इसलिए यह 'श्रुतिगत आर्थी धर्मलुप्ता' का उदाहरण है ।

धर्मलुप्ता के पाच भेद तो यह हुए । उनके अतिरिक्त पाच भेद और भी होते हैं ।

साधारणधर्मविहिते द्विविधे च वयचि वयति ।

जमकप्रौल्लभिलि च स्यादेव पञ्चषा पुन ॥

'इन पाचों प्रकार की' धर्मलुप्ता के उदाहरण निम्नाङ्कित एक ही श्लोक में दिलाए गए हैं,

अग्न पुरीयमि रलंपु, मनीयमि त्व

पौर अन, तव मदा रमलंपते श्री ।

दृष्ट प्रियाभिरमृतवृत्तिदर्शमिन्द्र-

इसलिए यह 'साधारण वचच् मूलक धर्मलुप्ता' का उदाहरण है । इसी प्रकार 'सुतमिव आचरसि' इस विग्रह ~ द्वितीयान्त सुत से 'उपमानादाचारे' इस सूत्र से 'वचच्' प्रत्यय होकर 'सुतोयसि' प्रयोग बनता है । यहाँ भी 'पीर जन' उपमेय, 'सुत' उपमान, 'इव' उपमावाचक का तो उपादान है परन्तु 'प्रेमपात्रत्व' रूप 'साधारण धर्म' का उपादान न होने से यह 'कर्मविहित वचच्गत धर्मलुप्ता' का उदाहरण है । 'तव सदा रमणीयते श्री' इस भाग में 'रमणी इवाचरसि' इस विग्रह में 'कतु' क्यङ् सलोपश्च' इस सूत्र से 'क्यङ्' प्रत्यय होकर 'रमणीयते' पद बनता है । इसमें 'श्री' उपमेय, 'रमणी' उपमान, 'इव' उपमावाचक शब्द यह तीनों तो हैं परन्तु 'अनन्यभावेन सुखसाधनत्व' रूप 'साधारण धर्म' का दशक कोई शब्द न होने से यह 'क्यङ् प्रत्ययगत धर्मलुप्ता' का तीसरा उदाहरण हुआ । अगले चरण में 'अमृतद्युतिरिव दृष्ट' इस विग्रह में 'अमृतद्युति' पद उपपद रहते दृश् धातु से 'उपमाने कर्मणि च' इस सूत्र से 'एमुल्' प्रत्यय होकर 'कपादिपु यपाविध्यनुप्रयोग' सूत्र में उमी दृश् धातु का अनुप्रयोग होकर 'अमृतद्युतिरिव दृष्ट' इति अमृतद्युतिदशं दृष्ट' यह प्रयोग बनता है । इसलिए यह 'राजा' उपमेय, 'अमृतद्युति' चन्द्रमा उपमान, 'इव' उपमावाचक यह तीनों तो हैं परन्तु 'आह्लादकत्व' रूप 'साधारण धर्म' नहीं पाया जाता है । इसलिए यह 'कर्म एमुल्लग्न धर्मलुप्ता' का उदाहरण है । इसी प्रकार अगले 'इन्द्र इव सचरसि' इस विग्रह में उपमानभूत इन्द्रउपपद होने पर मम् पूर्वक 'चर' धातु से कर्ता में एमुल् होकर ओर ध्रुववन् अनुप्रयोग होकर 'इन्द्रसञ्चार सञ्चरसि' प्रयोग बनता है । इसमें भी 'राजा' उपमेय, 'इन्द्र' उपमान, 'इव' उपमावाचक शब्द यह तीनों तो हैं परन्तु 'परमेश्वर्ययुक्तत्व' रूप 'साधारण धर्म' के न होने से यह 'कर्ता में एमुन्प्रत्ययमूलक धर्मलुप्ता' उपमा का उदाहरण हुआ ।

इस प्रकार धर्मलुप्ता के कुल दस भेद और पूर्ण के ६ भेद कुल १६ भेद महा तक हुए । इनके अतिरिक्त लप्ता के ११ भेद और होने हैं । जिनका विवरण इस प्रकार है —

१ अष्टाध्यायी ३, १, ११० ।

२ अष्टाध्यायी ३, १०, ११ ।

३ अष्टाध्यायी ३, ४, ४५ ।

४ अष्टाध्यायी ३, ८, ४६ ।

स्तुतिनिन्दातत्त्वाख्यानेषु । ४, २, ७ ।

स्तुतौ निन्दाया तत्त्वाख्याने चास्याः प्रयोगः । स्तुतिनिन्दयोर्ग्रथा—

स्निग्धं भवत्यमृतकल्पमहो कलत्र
हालाहल विषमिवापगुण तदेव ॥

उपमानानुपादाने द्विधा वाक्यसमासयो ।	उपमान लुप्ता २
प्रोपम्यवाचिनो लोपे समामे विवपि च द्विधा ॥	वाचकलुप्ता २
द्विधा वाक्ये समासे च लोपे धर्मोपमानयो ।	धर्मोपमानलुप्ता २
विवप् समासगता द्विधा धर्मोवादिबिलोपने ॥	धर्मोवाचकलुप्ता २
उपमेयस्य लोपे तस्यादेका प्रत्यये वयपि ।	उपमेयलुप्ता १
धर्मोपमेयलोपेऽप्यो	धर्मोपमेयलुप्ता १
त्रिलोपे च समासगा ।	विनोपलुप्ता १

धर्मलुप्ता पूर्वपरिगणित

११

१०

लुप्तोपमा के कुल भेद २१

पूर्णोपमा के कुल ६ भेद

लुप्तोपमा के कुल २१ भेद

उपमा के कुल २७ भेद

लेनोपमाया भेदा स्फु मन्त्रविद्यतिसंस्था ॥

इस प्रकार वामन ने उपमा के पूर्णा और लुप्ता केवल यह दो मौलिक भेद दिखाए थे । परन्तु उनके उत्तरार्द्धी नवीन आचार्यों ने उनका बिम्बार कर २७ भेदों का प्रतिपादन किया है ॥ ६ ॥

इस प्रकार उपमा के भेदों का निरूपण करके ग्रन्थकार आगे उपमा के प्रयोजन का प्रतिपादन करने के लिए अगला सूत्र लिखते हैं ।

प्रशंसा, निन्दा तथा पर्यायंता [के प्रदर्शन करने] में [उपमा का प्रयोग होता है] ।

१ स्तुति, २ निन्दा, और तत्त्व का कथन करने में इस [उपमा] का प्रयोग [होता] है । [उनमें से] स्तुति तथा निन्दा में [उपमा के प्रयोग का उदाहरण] जैसे—

स्नेहयुक्त पत्नी श्रमृत के समान होती है । परन्तु [स्नेह आदि] गुणों से रहित वही [पत्नी] हालाहल विष के समान हो जाती है ।

तत्त्वाख्याने यथा—

तां रोहिणीं विजानीहि ज्योतिषामत्र मण्डले ।

यस्तन्वि तारकन्यासः शकटाकारमाश्रितः ॥ ७ ॥

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में पत्नी की उपमा अमृत से दी गई है । वह उसकी प्रसादा की द्योतक है । और उत्तरार्द्ध में उसकी उपमा हालाहल विष से दी गई है । यही उसकी निन्दा का द्योतक है । अतएव इस एक ही श्लोक में स्तुति और निन्दा रूप उपमा के दोनों प्रकार के प्रयोजनों का उदाहरण मिल जाता है । तीसरे भेद तत्त्वाख्यान का उदाहरण आगे देते हैं —

तत्त्वारणान [यथार्थता के कथन] में [उपमा के प्रयोग का उदाहरण] जैसे—

हे तमि, इस ज्योतिर्मण्डल में जो तारों की रचना [शकट] गाड़ी का प्रकार को धारण किए हुए हैं उसी को रोहिणी समझो ।

यहां तारकन्यास की उपमा शकटाकार से दी है । परन्तु यह तावृक्ष उसकी स्तुति अथवा निन्दा के लिए नहीं अपितु केवल रोहिणी के यथार्थ स्वरूप के प्रदर्शन अथवा 'तत्त्वारणान' के लिए ही किया गया है । अतएव यह तत्त्वारणानपरक उपमा का उदाहरण है ॥ ७ ॥

इस प्रकार उपमा के भेदों और उपमा के प्रयोजनों का प्रतिपादन करने के बाद, उपमा में सम्भावित दोषों का निरूपण करने के लिए अगले प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं । वामन ने उपमा के दोषों को यहाँ उपमा के प्रकरण में दियेलाया है । परन्तु उनके उत्तरवर्ती नवीन आचार्या ने इन दोषों को सामान्य दोषों के अन्तर्गत ही माना है । उनका अलग निरूपण नहीं किया है । बिश्वनाथ ने लिखा है—

१ एवम् पृथगलङ्कारदोषाणां नैव सम्भवः ।

परन्तु वामन उपमालङ्कार के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए जैसे अन्य अलङ्कारों से अलग एक अध्याय में उसी का निरूपण करते हैं । इसी प्रकार उन्होंने उपमा के दोषों का भी अलग निरूपण किया है; अन्य दोषों के साथ नहीं । आगे अन्यकार उन्हीं उपमा-दोषों का निरूपण करते हैं ।

हीनत्वाधिकत्वलिङ्गवचनभेदासादृश्या—

सम्भवास्तद्दोषाः । ४, २, ८ ।

तस्या उपमाया दोषा भवन्ति । हीनत्वम्, अधिकत्वम्, लिङ्गभेदो, वचनभेदो, असादृश्यम्, असम्भव इति ॥ ८ ॥

तान् क्रमेण व्याख्यातुमाह—

जातिप्रमाणधर्मन्यूनतोपमानस्य हीनत्वम् । ८, २, ६ ।

जात्या प्रमाणेन धर्मेण चोपमानस्य न्यूनता या तद्धीनत्वमिति ।

जातिन्यूनस्वरूप हीनत्व यथा—

चाण्डालैरिय युष्माभि माहमं परम कृतम् ।

प्रमाणन्यूनत्वरूप हीनत्व यथा—

१ हीनत्व, २ अधिकत्व, ३ लिङ्गभेद, ४ वचनभेद, ५ असादृश्य और ६ असम्भव [यह छ] उत्त [उपमा] के दोष हैं ।

उत्त उपमा के [छ प्रकार के] दोष होते हैं— १ हीनत्व, २ अधिकत्व, ३ लिङ्गभेद, ४ वचनभेद, ५ [उपमान और उपमेय का] असादृश्य तथा ६ असम्भव यह [छ प्रकार के दोष होते हैं] ॥ ८ ॥

उनकी क्रम से व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

उपमान की जाति, परिमाण और धर्म की न्यूनता हीनत्व' [कहलाती] हैं ।

जाति से, परिमाण से या धर्म से जो उपमान की न्यूनता है उसको 'हीनत्व' [दोष] कहते हैं । जातिन्यूनत्व रूप हीनत्व [का उदाहरण] जैसे— तुम [संतको] ने चाण्डालों के समान बड़ा साहस किया ।

इसमें यु'मत्पदवाच्य 'वीर पुण्य' उपमेय, और 'चाण्डाल' उपमान है । 'चाण्डाल' जाति की दृष्टि से हीन व्यक्तित्व है । उसके साथ वीरो की उपमा देने से उनकी स्तुति नहीं होगी अपितु अपमान होना है । इसलिए उपमान-भूत 'चाण्डाल' में जातिगत न्यूनता होने के कारण यह 'जातिगत हीनत्व' का उदाहरण हुआ ।

परिमाणन्यूनत्व रूप हीनत्व [का उदाहरण] जैसे—

वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरय चकास्ति ।

उपमेयादुपमानस्य धर्मतो न्यूनत्व यत् तद्धर्मन्यूनत्वम् । तद्रूप
हीनत्व यथा—

स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपट वहन् ।

व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवाशुमान् ।

अत्र मौञ्जी प्रतिवस्तु तडित्त्वास्त्युपमाने, इति हीनत्वम् । न च

यह सूर्य अग्नि की चिनगारी के समान चमक रहा है ।

इस उदाहरण में 'सूर्य' की उपमा 'अग्नि की चिनगारी' से दी गई है ।
अग्नि की चिनगारी उपमान है, और सूर्य उपमेय है । उपमानभूत चिनगारी
परिमाण में उपमेय रूप सूर्य की अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ है । इसलिए उपमान में
परिमाणगत न्यूनता होने से यह 'हीनत्व' दोष का उदाहरण है ।

उपमेय से उपमान का जो धर्मगत न्यूनत्व है वह धर्मन्यूनत्व [रूप
उपमा दोष] है । उस [धर्मन्यूनत्व] रूप हीनत्व [का उदाहरण] जैसे—

कृष्णमृग के चर्म को धारण किए हुए और [मौञ्जी] सूत्र की बनी
हुई भेसला से युक्त वह [नारद] मुनि नीले मेघ से घिरे हुए [अश्लिष्ट]
सूर्य के समान सुशोभित हुए ।

इस में 'मुनि' उपमेय और 'अशुमान् अर्थात् सूर्य' उपमान हैं । मुनि सूर्य
के समान शोभित हुए मुख्य वाच्यार्थ हैं । परन्तु उपमेय और उपमान दोनों में
कुछ विशेषण जुड़े हुए हैं । उपमेय रूप मुनि मौञ्जी से युक्त और कृष्णमृग के
चर्म को धारण किए हुए हैं । और उपमानभूत सूर्य 'नीलजीमूतभागाश्लिष्ट'
है । इस प्रकार उपमेय में दो धर्म विशेषण रूप से जुड़े हुए हैं और
उपमान में केवल एक धर्म विशेषण रूप से जुड़ा है । मुनि के कृष्णाजिन
पट के समान उपमानभूत सूर्य में 'नीलजीमूत' का योग तो है परन्तु मुनि तो
कृष्णाजिन पट के साथ मौञ्जी को भी धारण किए हुए है । इसी प्रकार नील-
जीमूत के साथ तडित् का सम्बन्ध भी वर्णन कर दिया जाता तो उपमान और
उपमेय दोनों में धर्मों की समानता हो जाती । परन्तु तडित् का वर्णन यहाँ
नहीं है अतएव उपमान में उपमेय की अपेक्षा धर्मगत न्यूनता होने से यह 'हीनत्व'
का उदाहरण है । यही बात वृत्तिकार आगे कहते हैं ।

यहाँ मौञ्जी के सदृश कोई प्रतिवस्तु उपमान [भूत सूर्य] में नहीं
[वर्णित] है इसलिए [उपमेय की अपेक्षा उपमान में न्यूनता होने का कारण]

कृष्णाजिनपटमात्रस्योपमेयत्व युक्तम्, मौञ्ज्या अर्थत्वप्रसङ्गात् । ननु नीलजीमूतग्रहणेनैव तद्विप्रतिपाद्यते । तन्न । व्यभिचारात् ॥ ६ ॥

अव्यभिचारे तु भवन्ती प्रतिपत्ति केन वार्यते तदाह—

धर्मयोरेकनिर्देशेऽन्यस्य सवित् साहचर्यात् । ४, २, १० ।

धर्मयोरेकस्यापि धर्मस्य निर्देशेऽन्यस्य धर्मस्य सवित् प्रतिपत्तिर्भवति । कुत । साहचर्यात् । सहचरित्वेन प्रसिद्धयोरवश्यमेकस्य निर्देशेऽन्यस्य प्रतिपत्तिर्भवति । तद्यथा—

‘हीनत्व’ [दोष] है । [इस हीनत्व दोष को बचाने के लिए यदि यह कहा जाय कि] कृष्णाजिन पटमात्र [युक्त भुनि] उपमेय है । [तो] यह [कहना] उचित नहीं है । ‘मौञ्ज्या’ [लाञ्छित] इस [विशेषण] के व्यर्थ हो जाने से । [केवल कृष्णाजिनपटयुक्त भुनि ही उपमेय नहीं है अपितु उनके साथ ‘मौञ्ज्या लाञ्छित’ यह विशेषण भी जुड़ा हुआ है । उसका प्रतिरूप उपमान में कुछ नहीं है इसलिये यह धर्म-न्यूनतामूलक ‘हीनत्व’ दोष है ही] ।

[इस हीनत्व दोष के परिहार के लिए दूसरा माग निकालने के लिए पूर्वपक्षी फिर प्रश्न करता है कि] ‘नीलजीमूत’ के ग्रहण से ही [उसकी सहचारिणी] ‘तद्वित्’ का प्रतिपादन हो जाता है [इसलिये उपमान में धर्मन्यूनत्व नहीं रहता ।] वह [आपका कथन भी] ठीक नहीं है । [तद्वित् से रहित नील मेघ भी दिखाई देते हैं । इसलिये तद्वित् तथा नीलमेघ का] व्यभिचार होने से [इस प्रकार से भी धर्मन्यूनता का परिहार नहीं हो सकता है अतएव प्रहा तो धर्मन्यूनतामूलक हीनत्व दोष है ही] ॥ २ ॥

[किन्तु इसके अपवाद स्वरूप अविनाभूत धर्मों में] व्यभिचार न होने पर तो [केवल एक के ग्रहण से दूसरे की अशाब्द] होती हुई प्रतीति का कौन निषेध कर सकता है [अर्थात् कोई निषेध नहीं कर सकता है । और हम भी निषेध नहीं करते हैं] यह [बात अगले सूत्र में] कहते हैं ।

[अविनाभूत अर्थात् धर्म और वृद्धि के समान नित्यसम्बद्ध] दो धर्मों में से एक का भी निर्देश होने पर दूसरे [अनिर्दिष्ट धर्म] को [अशाब्द] प्रतीति साहचर्य का कारण होता है ।

[अविनाभूत या नित्यसम्बद्ध] दो धर्मों में से [किसी] एक धर्म के निर्देश होने पर भी [‘एकसम्बन्धितानमपरसम्बन्धितस्मारकम्’ इस नियम के

सूर्याशुसम्मीलितलोचनेषु दीनेषु पद्मानिलनिर्मदेषु ।

साध्यः स्वर्गेहेष्विव भर्तृहीनाः केका विनेशुः शिखिना मुखेषु ॥

अत्र बहुत्वमुपमेयधर्माणामुपमानात् ।

न, विंशष्टानामेव मुखानामुपमेयत्वात् । तादृशेष्वेव केकाविना-
शस्य सम्भवात् ॥ १० ॥

इसी प्रकार वर्षा ऋतु के बीत जाने पर मोरो की केका ध्वनि उनके मुखों में ही
लीन हो गई । इसी बात को कवि कहता है—

[शरद् ऋतु में] सूर्य की फिरणो [के प्रसङ्ग होने] से मुझी हुई
आलों वाले और कमलों [को स्पर्श करके घाने वाली शरत्काल] की वायु से
मद रहित [अतएव] दीन मयूरो के मुखों में [उनकी] केका [ध्वनि] इस
प्रकार लुप्त [णश्च अदर्शने] हो गई जैसे भर्तृविहीना पतिव्रता स्त्रिया अपने
घरो में ही लीन हो जाती है [बाहर नहीं निकलती] । इसी प्रकार मोरों की
केका ध्वनि उनके मुखों में ही लीन हो गई बाहर नहीं निकल रही है] ।

[शब्द] इस ['साध्यः स्वर्गेहेष्विव भर्तृहीना'] में उपमान की
अपेक्षा उपमेय के धर्मों का बहुवचन [१. 'सूर्याशुसम्मीलितलोचनेषु',
२ 'पद्मानिलनिर्मदेषु' और ३ 'दीनेषु' इन तीन विशेषण युक्त होने से] है ।
[अर्थात् उपमान में धर्मन्यूनता होने से इसको भी 'हीनत्व' दोष ग्रस्त मानना
चाहिए] ।

[उत्तर—ग्रन्थकार इस प्रश्न का उत्तर देते हैं] यह कहना ठीक नहीं है ।
[यहाँ तीनों विशेषणों से विशिष्ट मुखों का ही उपमेयत्व है । उसी प्रकार के
['सूर्याशुसम्मीलितलोचनेषु' आदि तीनों विशेषणों से युक्त] मुखों में केका
ध्वनि का विनाश सम्भव होने से [यह दोष नहीं है] ।

ग्रन्थकार का यह समाधान असङ्गत सा प्रतीत होता है । प्रश्नकर्त्ता ने भी
यही कहा था कि यहाँ उपमेय अनेक धर्मों से विशिष्ट हैं परन्तु उपमान उन धर्मों
में विशिष्ट नहीं है इसलिए उपमान में धर्मन्यूनता होने के कारण यहाँ दोष
मानना चाहिए । समाधान करते समय यह दिखलाना चाहिए था कि उपमान भी
उन धर्मों में युक्त है इसलिए कोई दोष नहीं है । अर्थात् उपमेय के जो तीन
विशेषण दिये गए हैं उनको उपमान पक्ष में भी लगाने का श्रयास किया जाता
तब तो इसका समाधान हो सकता है । परन्तु ग्रन्थकार उस मार्ग का
अवलम्बन न करके कुछ और ही बात कह रहे हैं । यह तो 'घामान

तेनाधिकत्वं व्याख्यातम् । ४, २, ११ ।

तेन हीनत्वेनाधिकत्वं व्याख्यातम् । जातिप्रमाणधर्माधिक्यमधिकत्वमिति । जात्याधिक्यरूपमधिकत्वं यथा—

विशन्तु विष्टय शीघ्रं रुद्रा इव महौजस ।
प्रमाणाधिक्यरूप यथा—

पातालमिव नाभिस्ते स्तनौ क्षितिबरोपमौ ।
घेष्णीदण्डं पुनरथ कालिन्दीपातसन्निभ ॥

पृष्ठ कोविदारानाचष्टे' के समान बात हुई । इसलिये यह उत्तर ठीक नहीं है ॥ १० ॥

उपमागत हीनत्व दोष की व्याख्या कर चुकने के बाद अन्वकार दूसरे उपमादोष 'अधिकत्व' का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं—

इस [हीनत्व दोष की व्याख्या] से अधिकत्व [दोष] की व्याख्या [भी] हो गई [समझना चाहिए] ।

उस हीनत्व [की व्याख्या] से अधिकत्व की व्याख्या हो गई । [अर्थात् जैसे हीनत्व तीन प्रकार का होता है इसी प्रकार] जाति, प्रमाण और धर्म के [उपमेय की अपेक्षा उपमान में] अधिक होने पर अधिकत्व [दोष] होता है । जात्याधिक्य रूप अधिकत्व [का उदाहरण] जैसे—

एव [शिव] के समान महापराक्रमी कहार ['विष्टि कारी कर्मकरे' इति वैजयन्ती] शीघ्र भीतर घा जावें ।

यहाँ 'कहार' उपमेय है 'रुद्र' उपमान है । 'महौजसत्वं' साधारण धर्म तथा 'इव' उपमा वाचक शब्द है । इन चारों के विद्यमान होने से यह पूर्णोपमा है । इसमें 'उपमानभूत रुद्र' में 'उपमेयभूत कहार' की अपेक्षा जातिगत आधिक्य होने से 'अधिकत्व' दोष है । यो तो उपमान में उपमेय की अपेक्षा आधिक्य होता ही है परन्तु वह मर्यादा से अधिक नहीं होना चाहिए । शिव से कहार की उपमा देने में मर्यादा का अतिक्रमण कर दिया गया है । इसलिये दोष है ।

प्रमाणाधिक्य रूप [अधिकत्व दोष का उदाहरण] जैसे—

तुम्हारी नाभि पाताल के समान [गहरी], स्तन पहाड़ के समान

धर्माधिक्यरूप यथा—

सरश्मि चञ्चलं चक्रं द्रवद् देवो व्यराजत ।

सवाडवाग्नि सावर्तं स्रोतसामिव नायकः ॥

सवाडवाग्निरित्यस्योपमेयेऽभावाद् धर्माधिक्यमिति ।

[अत्रे] और यह बेणी दण्ड [केशपाश] यमुना की धारा के समान [काले] हैं ।

[इन तीनों उपमाओं में उपमान में परिमाणगत आधिक्य है । पाताल से नाभि की, और पर्वत से स्तन की उपमा देना अत्यन्त असङ्गत है । इसलिए उपमान में स्यादा को अतिक्षण करने वाला परिमाणगत आधिक्य होने के कारण 'अधिकत्व' रूप उपमा-दोष है] ।

धर्माधिक्य रूप [अधिकत्व दोष का उदाहरण] जैसे—

रश्मियों से युक्त चञ्चल चक्र को धारण किए बिण्णु, वडवानल और [भावर्त] मकर से युक्त [नक्षोर्पति] समुद्र के समान सुशोभित हुए ।

इसमें 'बिण्णु' उपमेय और 'समुद्र' उपमान है । बिण्णु चक्र को धारण किए हैं, और समुद्र भावर्त युक्त हैं । चक्र के दो विशेषण 'सरश्मि' और 'चञ्चल' उपमेय पक्ष में हैं । पर उपमान पक्ष में केवल 'सवाडवाग्नि' एक विशेषण है वह भी अश्रवणीय 'भावर्त' का नहीं अपितु स्वयं उपमानभूत समुद्र का । इसलिए वास्तव में यहाँ उपमानगत धर्म की न्यूनता प्रतीत होती है । परन्तु ग्रन्थकार ने इसे उपमानगत धर्माधिक्य का उदाहरण दिया है । उसकी सङ्गति इस प्रकार लगती है कि उपमेय पक्ष में 'सरश्मि' तथा 'चञ्चल' यह दोनों विशेषण केवल चक्र के हैं । मुख्य उपमेयभूत देव का केवल एक विशेषण है । परन्तु उपमान पक्ष में मुख्य उपमानभूत समुद्र के दो विशेषण हैं । इनमें से उपमान के भावर्त के स्थान पर उपमेय पक्ष में चक्र है । परन्तु उपमान के दूसरे विशेषण 'सवाडवाग्नि' के स्थान पर उपमेय पक्ष में कोई धर्म दिखाई नहीं देता । इसलिए यह उपमानगत धर्माधिक्य का उदाहरण हो सकता है । इसी बात को वृत्तिकार स्पष्ट करते हैं ।

सवाडवाग्नि इस [उपमानगत धर्म के समकक्ष किसी धर्म] के उपमेय [देव पक्ष] में न होने से [उपमान.में] धर्म का आधिक्य है । [अतएव यहाँ 'अधिकत्व' रूप उपमा दोष विद्यमान है] ।

अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्तं पृथगुपादानम् ।
अत एवास्माकं मते यद् दोषा इति ॥ ११ ॥

इस प्रकार ग्रन्थकार ने 'हीनत्व' और 'अधिकत्व' दोष की यह व्याख्या की है कि उपमान की जाति, प्रमाण और धर्मगत न्यूनता होने पर 'हीनत्व' तथा अधिकता होने पर 'अधिकत्व' दोष होता है । अर्थात् 'हीनत्व' तथा 'अधिकत्व' दोनों जगह उपमान में ही धर्म आदि की न्यूनता या अधिकता गिनी गई है । उपमेय-गत हीनता या अधिकता का विचार नहीं किया गया है । इससे किसी के मन में यह शङ्का हो सकती है कि उपमेयगत हीनत्व और अधिकत्व के आधार पर ही दो दोष और भी मानने चाहिए । इस प्रकार उपमा दोषों की संख्या ६ के स्थान पर घाट हो जानी चाहिए । इस शङ्का का समाधान ग्रन्थकार अगली पंक्ति में यह करते हैं कि उपमान की अधिकता तभी होगी जब उपमेय में हीनता हो । इसी प्रकार उपमान में हीनता तभी होगी जब उपमेय में आधिपत्य हो । इसलिए उपमानगत हीनता और अधिकता में ही उपमेयगत हीनता और अधि-कता का अन्तर्भाव हो जाने से इसके प्रतिपादन के लिए अलग दोष दितलाने की आवश्यकता नहीं है और उपमा के छ दोष गानना ही उचित है । आठ दोष मानने की आवश्यकता नहीं है । इसी बात की वृत्ति में कहते हैं ।

इन दोनों दोषों के विषय [अर्थात् उपमेयगत हीनत्व तथा उपमेयगत अधिकत्व] नामक दोष का इन्हीं [उपमानगत हीनत्व तथा अधिकत्व] में अन्तर्भाव हो जाने से अलग ग्रहण [प्रतिपादन] करने की आवश्यकता नहीं है । इसलिए हमारे मत में [ऊपर गिनाए हुए] ॥ [ही उपमा के] दोष हैं [अधिक नहीं] ।

इस प्रकार वामन ने हीनत्व और अधिकत्व नाम से जो उपमा के दोष प्रतिपादन किए हैं उनको वामन के उत्तरवर्ती आचार्य विश्वनाथ आदि पालय मानने की आवश्यकता नहीं समझने है । विश्वनाथ ने इन दोनों दोषों का अन्तर्भाव 'अनुचितार्थता' दोष में कर लिया है । इसलिए न केवल इन दोनों का अपितु अमादृश्य तथा अमम्भव दोषों का भी अनुचितार्थत्व दोष में अन्तर्भाव करते हुए वह लिखते हैं—

“उपमायामसादृश्यामम्बयो, जानिप्रमाणगतन्यूनत्वधिकत्वयो,
अर्थान्तरत्वात्ते उत्प्रेक्षितार्थसमर्थने चानुचितार्थत्वम् ।” ॥ ११ ॥

उपमानोपमेययोर्लिङ्गव्यत्यासो लिङ्गभेद । ४, २, १२ ।

उपमानस्योपमेयस्य च लिङ्गयोर्व्यत्यासो विपर्ययो लिङ्गभेदः ।

यथा—

सेन्यानि नद्य इव जग्मुरनर्गलानि ॥ १२ ॥

एत पुनस्तु सकयो प्रायेण । ४, २, १३ ।

इस प्रकार हीनत्व तथा अधिक्त्व इन दो प्रकार के उपमा-दोषों का निरूपण करने के बाद ग्रन्थकार लिङ्गभेद रूप तृतीय उपमा-दोष का प्रतिपादन अगले सूत्र में करते हैं ।

उपमान और उपमेय के लिङ्ग का परिवर्तन लिङ्गभेद [दोष] है ।

उपमान और उपमेय के लिङ्ग का परिवर्तन बदल जाना लिङ्गभेद [उपमा-दोष कहलाता] है । जैसे—

सेनार्ण नदिभ्यो के समान अबाधित रूप से चलने लगीं ।

इस उदाहरण में 'सेन्यानि' उपमेय है और 'नद्य' उपमान है । 'अनर्गल गमन' उनका साधारण धर्म है और 'इव' उपमावाचक शब्द है । इन चारों के होने में यह पूर्णोपमा का उदाहरण है परन्तु इसमें उपमेय रूप 'सेन्यानि' पद नपुंसकलिङ्ग का और उपमानभूत 'नद्य' पद स्त्रीलिङ्ग का है । इस लिङ्गभेद हो जाने के कारण यहाँ 'लिङ्गभेद' नामक उपमा-दोष हो जाता है ॥ १२ ॥

इस प्रकार लिङ्गभेद दोष का साधारण निरूपण किया । परन्तु कहीं-कहीं इसका अपवाद भी पाया जाता है अर्थात् इस प्रकार का लिङ्गभेद होने पर भी दोष नहीं माना जाता है । इस प्रकार के अपवादों को अगले दो सूत्रों में दिखलाते हैं ।

पुंलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग का [लिङ्ग विपर्यय] प्रायः इष्ट होता है । [अर्थात् उपमान और उपमेय में से एक पुंलिङ्ग हो और दूसरा नपुंसक लिङ्ग हो इस प्रकार का लिङ्गभेद प्रायः इष्ट होता है अर्थात् दोष नहीं माना जाता है ।]

पुनर्नपुंसकयोः रूपमानोपमेययोर्लिङ्गभेदः प्रायेण बाहुल्येनेष्टः । यथा 'चन्द्रमिव मुखं पश्यति' इति । 'इन्दुरिव मुखं भाति', परम्प्रायन्तु नेच्छन्ति ॥ १३ ॥

लौकिक्या समासाभिहितायामुपमाप्रपञ्चे । ४, २, १४ ।

लौकिक्यामुपमाया समासमिहितायामुपमायामुपमाप्रपञ्चे चेष्टो लिङ्गभेदः प्रायेणेति । लौकिक्या यथा 'छायेव स तस्या', 'पुरुष इव स्त्री' इति ।

पुंलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग उपमान और उपमेय का लिङ्गभेद बहुधा इष्ट होता [दोष नहीं माना जाता] है । जैसे 'चन्द्रमिव मुखं पश्यति' 'चन्द्रमा के समान मुख को देखता है' । यहाँ [उपमानभूत 'चन्द्र' शब्द पुलिङ्ग है और उपमेयभूत मुख शब्द नपुंसक लिङ्ग है] ऐसा लिङ्गभेद होने पर भी कविगणों में इस प्रकार का बहुल प्रयोग होने के कारण उसको दोष नहीं माना जाता । उस प्रकार का प्रयोग कवियों को इष्ट है परन्तु उसी के आधार पर ['इन्दुरिव मुखम्' इस प्रकार के प्रयोग को प्रायः [कवि गण] पसन्द नहीं करते हैं । [इसमें भी 'इन्दु' शब्द पुलिङ्ग और 'मुखम्' शब्द नपुंसक लिङ्ग है । परन्तु इस प्रयोग को कविगण नहीं पसन्द करते हैं । इसलिये इसमें लिङ्गभेद दोष होगा । इसी के बोधन के लिए अववाद सूत्र में 'प्रायेण' वद का ग्रहण किया है] ॥ १३ ॥

इसी प्रकार लिङ्गभेद दोष के और भी अववाद अवलोकन सूत्र में दिखाते हैं ।

१ लौकिकी [उपमा] में, २ समासाभिहित [उपमा] में और ३ उपमा के [प्रतिवस्तूपमा आदि अन्य] भेदों में [भी लिङ्गभेद इष्ट है । दोष नहीं होता है] ।

लौकिकी उपमा में, समासाभिहित उपमा में और उपमा के [प्रतिवस्तूपमा आदि] भेदों में लिङ्गभेद प्रायः इष्ट होता है । [दोष नहीं होता] । जैसे लौकिकी [उपमा] में 'स तस्या' छाया इव' वह [पुरुष] उस [स्त्री] की छाया के समान है । [इसमें उपमेय 'स' पुलिङ्ग और उपमानभूत 'छाया' स्त्रीलिङ्ग है । परन्तु यह लिङ्गभेद दोष नहीं माना जाता । [अथवा इसी का दूसरा उदाहरण जैसे यह] स्त्री पुरुष के समान है । [यहाँ उपमेय 'स्त्री' स्त्री-

समासाभिहितायां यथा—‘भुजलता नीलोत्पलसदृशी’ इति ।
उपमाप्रपञ्चे यथा—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥

एयमन्यदपि प्रयोगजात द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

लिङ्ग में और उपमान पुरुष पुलिङ्ग में है । परन्तु यहाँ भी लिङ्गभेद को दोष नहीं माना जाता है । इसका कारण यह है कि लोक में इस प्रकार के प्रयोग के प्रचुर मात्रा में पाए जाने से इस प्रकार के प्रयोग को इष्ट ही मानना पड़ता है] ।

समासाभिहित [उपमा] में [लिङ्गभेद की अदोषता का उदाहरण] जैसे—‘भुजलता नीलोत्पलसदृशी’ [इस उदाहरण में उपमेय ‘भुजलता’ स्त्री-लिङ्ग है और उपमानभूत ‘नीलोत्पल’ नपुंसकलिङ्ग है । परन्तु ‘नीलोत्पलसदृशी’ इस समास में आ जाने से नीलोत्पल का नपुंसकत्व दब जाता है इसलिए वह दोष बाधक नहीं रहता है] ।

उपमा के [प्रतिवस्तूपमा आदि] भेदों में लिङ्गभेद की अदोषता का उदाहरण] जैसे—

महलो में भी कुलंभ यह शरीर यदि आश्रमवासी [इस शकुन्तला रूप] जन का हो सकता है [यदि एक तपस्विनी वनवासिनी को भी रानियों से बड कर इस प्रकार का अलौकिक देह-सौन्दर्य प्राप्त हो सकता है] तो [निश्चय ही] वन की [जंगली] लताओं से उद्यान की लताएँ तिरस्कृत हो गई ।

कालिदास के शकुन्तला नाटक में शकुन्तला को देखकर यह राजा दुष्यन्त की उक्ति है । इसमें ‘प्रतिवस्तूपमा’ अलङ्कार है । ‘प्रतिवस्तूपमा’ का लक्षण विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है —

‘प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोगंभ्यसाम्ययो ।

एकोऽपि धर्म सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥

इस प्रकार [प्रतिवस्तूपमा के उदाहरणभूत] अन्य प्रयोग भी समझ लेने चाहिएँ ॥ १४ ॥

इस प्रकार लिङ्गभेद और उसके अपवाद स्थलों को दिखाने के बाद ग्रन्थकार चतुर्थ उपमादोष ‘वचनभेद’ की व्याख्या अगले सूत्र में करते हैं ।

तेन वचनभेदा व्याख्यातः । ४, २, १५ ।

तेन लिङ्गभेदेन वचनभेदो व्याख्यातः । यथा—

पास्यामि लोचने तस्या पुष्पं मधुलिङ्गे यथा ॥ १५ ॥

अप्रतीतगुणसादृश्यमसादृश्यम् । ४, २, १६ ।

अप्रतीतेरेव गुणैर्यत् सादृश्यं तदप्रतीतगुणसादृश्यम् । यथा—

ग्रन्थामि काव्यशशिना विततार्थरश्मिम् ।

काव्यस्य शशिना सह यत् सादृश्यं तदप्रतीतेरेव गुणैरिति ।

उस [लिङ्गभेद रूप दोष के निरूपण] से वचनभेद [रूप उपमा-दोष] को व्याख्या [भी] हो गई ।

उस लिङ्गभेद से वचनभेद को व्याख्या [भी] हो गई [अर्थात् उपमान और उपमेय में यदि वचन का भेद हो तो वही वचनभेद नामक उपमा-दोष होता है] । जैसे—

भीरो के समान उस [नायिका] के नेत्रों का [पान] चुम्बन करना ।

यहाँ 'पास्यामि' पद से उपमेय में एकवचन सूचित होता है परन्तु उपमानभूत 'मधुलिङ्ग' पद बहुवचनान्त है । इसलिए उपमेय में एकवचन तथा उपमान में बहुवचन होने से यहाँ वचनभेद नामक उपमान्दोष होता है ॥ १५ ॥

अगले सूत्र में 'असादृश्य' रूप पञ्चम उपमादोष का निरूपण करने है—

[लोके में] प्रतीत न होने वाले गुणों से सादृश्य [दिखलाना] असादृश्य [रूप उपमा-दोष] है ।

प्रतीत न होने वाले गुणों से ही जो सादृश्य दिखलाया जावे वह अप्रतीत-गुणसादृश्य [पद का अर्थ हुआ और] असादृश्य [नामक उपमादोष कहलाना] है । जैसे—

कैली हुई अर्थ रूप रश्मियों से युक्त काव्य [रूप] चन्द्रमा को चित्रित करता [बनाता—निर्माण करता] ॥

[इस उदाहरण में] काव्य का चन्द्रमा के साथ जो सादृश्य [दिखलाया गया] है वह अनुभव में न आने वाले [अप्रतीतेरेव] गुणों से ही [दिखलाया गया] है इसलिए [यहाँ असादृश्य रूप उपमा दोष है]

ननु चार्थानां रश्मितुल्यत्वे सति काव्यस्य शशितुल्यत्व भविष्यति ।

नैवम् । काव्यस्य शशितुल्यत्वे सिद्धेऽर्थानां रश्मितुल्यत्वं सिद्धयति । न ह्यर्थानां रस्मीनां च कश्चित् सादृश्यहेतुः प्रतीतो गुणोऽस्ति । तदेवमितरेतराश्रयदोषो दुरुत्तर इति ॥ १६ ॥

असादृश्यहता ह्युपमा तन्निष्ठाश्च कवयः । ४, २, १७ ।

असादृश्येन इता असादृश्यहता उपमा । तन्निष्ठा, उपमानिष्ठाश्च कवयः इति ॥ १७ ॥

[प्रश्न] अर्थ में रश्मितुल्यता मान लेने पर [उस प्रतीत सादृश्य के आधार पर] काव्य में शशितुल्यता हो जावेगी [अतः दोष नहीं रहेगा] ।

[उत्तर] आपका यह कहना ठीक नहीं है [क्योंकि अर्थ में रश्मितुल्यता—रश्मि-सादृश्य भी तो अप्रतीत है । उस अर्थ के रश्मि के साथ सादृश्य का उपादान करने के लिए आप यह कहोगे कि] काव्य की शशितुल्यता सिद्ध हो जाने पर अर्थों की रश्मितुल्यता सिद्ध हो जावेगी [इस प्रकार तो अन्व्योन्याश्रय दोष होगा । काव्य में शशितुल्यता होने पर अर्थों की रश्मितुल्यता होगी और अर्थों की रश्मितुल्यता सिद्ध होने पर काव्य की शशितुल्यता होगी । यह अन्व्योन्याश्रय दोष हो जावेगा । क्योंकि] अर्थों और रश्मियों के सादृश्य का कोई हेतु रूप गुण प्रतीत नहीं होता है । इसलिए [जिस शैली से आप काव्य का शशि के साथ सादृश्य का उपादान करना चाहते हैं उसमें] अन्व्योन्याश्रय दोष का समाधान नहीं हो सकता है । [अतएव इस उदाहरण में असादृश्य रूप उपमा दोष है ।] ॥ १६ ॥

उपमा अलङ्कार का जीवन ही सादृश्य पर अवलम्बित है । सादृश्य ही उपमा का सार है । इसलिए यदि उपमा में भी सादृश्य का यथोचित निर्वाह न किया जाय तो सादृश्यविहीन उपमा ही कहा रहती है । इस प्रकार असादृश्य-मूलक उपमा भी नहीं बनती और उसका अवलम्बन करने वाले कवि की भी गौरव नष्ट होता है । इस बात को अन्धकार भगवत् सूत्र में दिखलाते हैं —

सादृश्य के अभाव में उपमा नष्ट हो जाती है और उस [सादृश्य-विहीन उपमा] में लगे हुए [उस प्रकार की सादृश्यविहीन उपमा का प्रयोग

उपमानाधिक्यात् तदपोह इत्येके । ४, २, १८ ।

उपमानाधिक्यात् तस्याऽसादृश्यस्याऽपोह इत्येके मन्यन्ते । यथा—
कपूर् रहारहरहाससित यशस्ते ।

करने वाले] कवि भी मारे जाते हैं [यश और प्रतिष्ठा से वञ्चित रहते हैं] ॥ १७ ॥

इस प्रकार के असादृश्य दोष के निवारण के लिए कुछ लोग यह कहते हैं कि जहाँ एक उपमान से सादृश्य प्रतीत नहीं होता है वहाँ यदि अनेक उपमान रख दिए जायें तो वह प्रतीत न होने वाला सादृश्य स्फुट रूप से प्रतीत होने लगता है और वह असादृश्य दोष नहीं रहता । जैसे—यश की उपमा कोई कपूर् से दे तो शायद काव्य और शशि के सादृश्य के समान कपूर् और यश का सादृश्य भी प्रतीत न हो । परन्तु उसी सादृश्य के स्पष्टीकरण के लिए यदि केवल कपूर् के बजाय उसी प्रकार के अनेक उपमान एक साथ जोड़ कर 'कपूर् रहारहरहाससित यशस्ते' कहा जाय तो अनेक उपमानों से उनका श्रुतता रूप सादृश्य स्पष्ट हो जायगा ।

परन्तु सिद्धान्त पक्ष में आचार्य वामन इस बात से सहमत नहीं हैं । उनके मन में जहाँ एक उपमान से सादृश्य स्पष्ट नहीं होता है तो उस प्रकार के अनेक उपमानों से भी उसकी पुष्टि नहीं हो सकती है । 'कपूर् रहारहरहामसित यशस्ते' । इस उदाहरण में 'यश' का 'कपूर्' आदि के साथ सादृश्य तो 'सित' पद से स्वयं उपात्त है । वह अनेक उपमानों के कारण प्रतीत नहीं होता है अपितु शब्दों प्रतिपादित होने से ही प्रतीत होता है । इसलिए उपमानों के आधिपत्य से असादृश्य दोष का अपोह या परिमार्जन हो जाता है यह कहना ठीक नहीं है ।

इसी विषय का प्रतिपादन करने के लिए ग्रन्थकार ने अगले दो सूत्र लिखे हैं । पहिले सूत्र में पूर्वपक्ष दिखाया है और दूसरे सूत्र में उसका उत्तर दिया है ।

उपमानो [की सख्या] के आधिक्य से उस [अप्रतीत-सादृश्यमूलक असादृश्य रूप उपमादोष] का परिमार्जन [अपोह-द्वीकरीकरण] हो जाता है यह कुछ लोग कहते हैं ।

उपमान के [सख्याकृत] आधिक्य से उस असादृश्य [रूप उपमादोष] का [अपोह] परिमार्जन [द्वीकरीकरण] हो जाता है ऐसा कुछ विद्वान् मानते

कपूरदिभिरुपमानैर्बहुभिः सादृश्यं यशसः सुस्थापितं भवति ।
तेषां शुक्लगुणातिरेकात् ॥ १८ ॥

नापुष्टार्थत्वात् । ४, २, १६ ।

उपमानाधिक्यात् तदपोह इति यदुक्तं तन्न । अपुष्टार्थत्वात् । एक-
स्मिन्नुपमाने प्रयुक्ते उपमानान्तरप्रयोगो न कञ्चिदर्थविशेषं पुण्णाति । तेन
'बलसिन्धु' सिन्धुरिव क्षुभितः'
इति प्रत्युक्तम् ।

हं । जंता—तुम्हारा यज्ञ कपूर, [मुक्ता] हार, और शिवहास के समान
शुभ है ।

[इस उदाहरण में] कपूर आदि अनेक उपमानों से यज्ञ का [उनके
साथ श्रुतातिशय रूप] सादृश्य भली प्रकार स्थापित होता है । उन [कपूर,
मुक्ताहार और हरहास-शिवहास] में युक्त गुण का बाहुल्य होने से [यज्ञ में
भी उसी प्रकार का श्रुतातिशय है यह बात प्रतीत होती है । इस प्रकार
उपमान के आधिक्य से असादृश्य का अपोह हो जाता है यह पूर्वपक्ष का
अभिप्राय हुआ] ॥ १८ ॥

इस पूर्वपक्ष का उत्तर अगले सूत्र में करते हैं ।

[आपका कहना] ठीक नहीं है । [उपमानों की सख्या में आधिक्य
कर देने पर भी] अर्थ की पुष्टि [सम्भव] न होने से ।

उपमान [की सख्या में] का आधिक्य होने से उस [अप्रतीत गुण-
भूलक असादृश्य रूप उपमा-दोष] का परिमार्जन [अपोह, दूरीकरण] हो
जाता है यह जो [पूर्वपक्षी ने] कहा है, वह ठीक नहीं है । [उपमानों की
सख्यावृद्धि से] अर्थ की पुष्टि न होने से । एक उपमान के प्रयुक्त होने पर
[यदि सादृश्य स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता है तो उसी प्रकार के] अन्य
उपमानों का प्रयोग भी किसी अर्थविशेष का पोषक नहीं होता । [उन उपमानों
की उस सख्यावृद्धि से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है] इसलिए—

'सैन्यसागर, सागर के समान क्षुब्ध हो गया ।'

यह [उदाहरण भी] खण्डित हो गया ।

इसका अभिप्राय यह है कि इस उदाहरण में बल अर्थात् सैन्य की उपमा
सिन्धु अर्थात् सागर से दी गई है । अर्थात् 'बल' उपमेय है और 'सिन्धु' उपमान
है । परन्तु सिन्धु रूप उपमान का दो बार प्रयोग किया गया है । इसलिए इसमें

ननु सिन्धुशब्दस्य द्वि. प्रयोगान् पौनरुक्त्यम् ।

न । अर्थविशेषात् । बलं सिन्धुरिव वैपुल्याद् बलसिन्धुः । सिन्धुरिव क्षुभित. इति लोभमाह्वयान् । तस्मादर्थभेदान्न पौनरुक्त्यम् । अर्थपुष्टिस्तु नास्ति । सिन्धुरिव क्षुभित इत्यनेनैव वैपुल्यं प्रतिपत्स्यते । उक्तं हि "धर्मयोरेकनिर्देशोऽन्यस्य सवित् साहचर्यान्" ॥ १६ ॥

उपमान का सख्यागत प्राधिगम्य द्वारा इति-ए यहाँ असादृश्य रूप उपमा दोष नहीं होता है । अर्थात् यहाँ असादृश्य के अपोह या निवारण के लिए ही सिन्धु रूप उपमान का दो बार प्रयोग किया गया है । यह पूर्व पक्ष का प्राशय्य दृष्टा । उत्तर पक्ष का कहना यह है कि यहाँ सिन्धु शब्द के दुवारा प्रयोग से अर्थ की कोई पुष्टि नहीं होती है इसलिए सिन्धु शब्द का दुवारा प्रयोग व्यर्थ और दोष-ग्रस्त ही है ।

इस पर शङ्का यह होती है कि अगला यदि सिन्धु शब्द के प्रयोग में दोष है तो वह पुनरक्ति दोष हो सकता है । असादृश्य दोष नहीं हो सकता है । इसका भी सिद्धान्त पक्ष की ओर से खण्डन किया जा रहा है । उसका अन्तिम-प्राय यह है कि यहाँ सिन्धु शब्द का दो बार प्रयोग होने पर भी पुनरक्ति दोष नहीं होता है क्योंकि उन दोनों के अर्थ में भेद है । पहली बार के प्रयोग से 'बलं सिन्धुरिव बलसिन्धुः' इस से बल की विपुलता सूचित होती है । और 'सिन्धुरिव क्षुभित' इस अर्थ में लोभ बाह्व्य सूचित होता है इसलिए अर्थभेद होने से पुनरक्ति दोष तो नहीं है । किन्तु अपुष्टायता दोष अथवा तन्मूलक असादृश्य दोष ही कहा जा सकता है ।

[प्रश्न] 'सिन्धु' शब्द या ['बलसिन्धु सिन्धुरिव क्षुभित' इस उदाहरण में] दो बार प्रयोग होने से [इस श्लोक के अर्थ में] पुनरक्ति दोष हो सकता है ।

[उत्तर] नहीं [यहाँ पुनरक्ति दोष] अर्थभेद के कारण नहीं हो सकता है । 'बलं सिन्धुरिव' [इस विग्रह में] विपुलता [के सूचित] होने से 'बलसिन्धु' [बल अर्थान् संघ की विशालता को बोधित करता है] और 'सिन्धुरिव क्षुभित' में [यह दूसरी बार सिन्धु शब्द का प्रयोग] लोभरूपता [का सूचक होने] से । [उन दोनों में अर्थभेद है] सलिए अर्थभेद होने से [सिन्धु रूप उपमान का दो बार प्रयोग होने पर भी] पुनरक्ति नहीं है । किन्तु [उस

प्रतिवस्तुनः समासोक्तेर्भेदं दर्शयितुमाह ।

अनुक्ता समासोक्ति । ४, ३, ३ ।

उपमेयरथानुनी समानवस्तुन्याम समासोक्ति । संक्षेपवचनात्
समासोक्तिरित्याख्या । यथा—

रक्षाद्या ध्वस्ताध्वग्लानेः करीरस्य मरौ स्थितिः ।

धिङ् मेरौ कल्पवृक्षाणामन्युत्पन्नार्थिना श्रियः ॥ ३ ॥

करने पर जो उसके समान उपमानभूत प्रतिवस्तु का वर्णन है । इसलिए यह प्रतिवस्तु उपमा अलङ्कार है । साहित्य दर्पणकार ने प्रतिवस्तूपमा का सक्षण इस प्रकार किया है ।—

‘ प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाग्ययोग्यमाम्पयो ।

एकोऽपि धर्मं मामान्यो धनं निर्दिश्यते पृथक् ॥ २ ॥

प्रतिवस्तु [उपमा] से समासोक्ति का भेद दिखलाने के लिए [समा-
सोक्ति का सक्षण] कहते हैं—

[उपमेय के] न कहे जाने पर [जो समानवस्तु का ग्यास करना है
वह] समासोक्ति [कहलाती] है ।

उपमेय [भूत वाक्यार्थ] के न कथन होने पर समान वस्तु [उपमान]
का ग्यास [वर्णन] करना समासोक्ति [नामक अर्थालङ्कार कहलाता] है ।
[समासेन] सक्षेप से [उक्ति] कथन करने से समासोक्ति यह [अन्वर्थ]
नाम है । [इस समासोक्ति का उदाहरण] जैसे—

मद्भूमि में पथिकों की श्रान्ति [यकावट] को दूर करने वाले करील
की स्थिति [भी] इत्यादी है परन्तु ग्यासकों की इच्छा का अनुभव [और
पूति] न करने वाले कल्पवृक्षों की सुमेरु पर्वत पर स्थिति को धिक्कार है ।

यहाँ करील की मरम्यल में स्थिति की प्रशंसा, और कल्पवृक्षों की
सुमेरु पर्वत पर स्थिति की निन्दा करने से उनके उपमेयभूत बिना कहे भी
परोपकारप्रवण निर्धन की प्रशंसा और परोपकारविमुख धनिकों की निन्दा सक्षेप
से वही गई है । इसलिए यह समासोक्ति अलङ्कार है । यहाँ परोपकारप्रवण
निर्धन व्यक्ति उपमेय हैं परन्तु उसके कहे बिना उसके उपमानभूत मरम्यल में
स्थित करील का ज्ञान किया गया है । इसी लिए यहाँ समासोक्ति अलङ्कार

है। नवीन विश्वनाथ आदि आचार्यों ने इस समासोक्ति अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार से किया है—

१समासोक्ति समर्थत्र कायलिङ्गविशेषणं ।

व्यवहारसमारोप प्रकृतेऽन्यस्य वस्तुन ॥

अर्थात् तुल्य कार्य, लिङ्ग अथवा विशेषणों से प्रकृत उपमेय में अन्य उपमान के व्यवहार का समारोप जहाँ किया जाय उसको समासोक्ति अलङ्कार कहते हैं। उनके मतानुसार यह समासोक्ति का उदाहरण नहीं होगा। क्योंकि इस में अन्य के व्यवहार समारोप का वर्णन नहीं है।

साहित्यदर्पण में कार्य के अनुसार समासोक्ति का निम्न उदाहरण दिया गया है—

व्याधूय यद्वसनम्बुजलोचनाया बक्षोजयो कनककुम्भविलासभाजो ।

प्रातिङ्गसि प्रसभमङ्गमणोपमम्या धन्यम्बमेव मलयचलगन्धवाह ॥

यहाँ गन्धवाह अर्थात् वायु में कायसाम्य से हठकामुक के व्यवहार का समारोप दिखलाया गया है अतः समासोक्ति अलङ्कार है।

लिङ्ग साम्य में समासोक्ति का उदाहरण जैसे—

प्रसमाप्तजिगीषाय स्त्रीचिन्ता का मनस्विन ।

ग्रनानम्य जगत् सर्वे नो सन्ध्या भजते रवि ॥

यहाँ पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग मात्र से रवि में नायक और सन्ध्या में नायिका के व्यवहार का समारोप होने से समासोक्ति अलङ्कार माना है।

विशेषण साम्य में समासोक्ति का उदाहरण यह दिया गया है—

विकसितमुखी रागासङ्गाद् गलत्तिमिरावृति

दिनकरकरम्पूष्पामैन्द्री निरीक्ष्य विश पुर ।

जरठलवली-पाण्डुच्छाया धुचा परिदुर्वल

श्रयति हरिम् हन्त प्राचेतसी तुहिनद्युति ॥

यहाँ विशेषणों के द्रिष्ट साम्य से चन्द्रमा में नायक-व्यवहार, पूर्वदिशा में नायिका-व्यवहार, सूर्य में प्रतिनायक और पश्चिम दिशा में प्रतिनायिका व्यवहार का समारोप होने से समासोक्ति अलङ्कार है।

इस प्रकार वाग्न के और नवीन आचार्यों के समासोक्ति के लक्षण और उदाहरण में पर्याप्त भेद पाया जाता है। वाग्न ने लक्षण करते समय मुख्यतः

ममासोक्तेरप्रस्तुतप्रशमाया भेदं दर्शयितुमाह—

किञ्चिदुक्तावप्रस्तुतप्रशसा । ४, ३, ४ ।

उपमेयस्य किञ्चिन्लिङ्गमात्रेणोक्तौ समानवस्तुन्यासे अप्रस्तुत-
प्रशसा । यथा—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि काचनेयं
यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥

प्रतिवस्तूपमा और समानोक्ति का भेद दिखलाने का ध्यान रखते हुए प्रतिवस्तूपमा में 'उपमेयस्योक्तौ' और समानोक्ति में 'उपमेयस्य अनुक्तौ' जोड़कर यह लक्षण किया है । इस प्रकार अगला अप्रस्तुतप्रशसा का वामन का लक्षण भी इसी से मिलता-जुलता है । उपमेय की सबया अनुक्ति में समान वस्तु का न्यास समानोक्ति, और किञ्चिदुक्ति में अप्रस्तुतप्रशसा, तथा पूर्णतः उक्ति में प्रति-
वस्तूपमा अलङ्कार होते हैं ।

समानोक्ति से अप्रस्तुतप्रशसा का भेद दिखलाने के लिए [अप्रस्तुत-
प्रशसा का लक्षण] कहते हैं—

[उपमेय की लिङ्गमात्रेण एक वेश की] किञ्चिदुक्ति में अप्रस्तुत-
प्रशसा [नामक अलङ्कार] होता है ।

उपमेय का थोड़ा सा लिङ्गमात्र से कथन करने पर समान वस्तु का न्यास होने पर अप्रस्तुतप्रशसा होती है । जैसे—

[नदी के किनारे स्नानार्थ आई हुई किसी तरुणी को देखकर किसी रसिक-
जन की यह उक्ति है । इसमें युवति को स्वयं नदी रूप में वर्णन किया गया
है ।] यहाँ [नदी तट पर] यह नयी कौन-सी लावण्य की नदी दिखाई दे रही है
जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैरते हैं, जिसमें हाथी की गण्डस्थली
[नायिका का नितम्ब] उभर रही है और जहाँ कुछ और ही प्रकार के [जघा
रूप] कदली काण्ड और [बाह्य रूप] मृणालदण्ड हैं ।

यहाँ लावण्य पद से एकदेश से उपमेयभूत मुख, नेत्र आदि का कथन
कर अप्रस्तुत उत्पलादि पदार्थों की प्रशसा की गई है ।

अप्रस्तुतस्यार्थस्य प्रशसनमप्रस्तुतप्रशसा ॥४॥

अपह्नुतिरपि ततो भिन्नेति दर्शयितुमाह—

अप्रस्तुत अर्थ की प्रशसा करना अप्रस्तुतप्रशसा [शब्द का अर्थ] है ।

विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों ने इस अप्रस्तुतप्रशसा का विवेचन बहुत विस्तार से किया है । उन्होंने इसके पाँच भेद माने हैं—

१ नवचिद् विद्योप सामान्यात् सामान्य वा विशेषतः ।

कार्याग्निमित्त कार्यं च हेतोरथ समात् समम् ॥ ५८ ॥

अप्रस्तुतात् प्रस्तुत चेद् गम्यते पञ्चधा ततः ।

अप्रस्तुतप्रशसा स्यात् ।

॥ ५९ ॥

अर्थात् १ सामान्य से विशेष की, २ विशेष से सामान्य की प्रतीति, ३ कार्य से कारण की और ४ कारण से कार्य की प्रतीति और ५ अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति होने पर पाँच प्रकार की अप्रस्तुतप्रशसा होती है ।

पदाह्न बहुस्याय मूर्धानिमघिरोहति ।

स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वर रज ॥

इसमें हमारी [पाँडवों की] अपेक्षा तुल भी अच्छी है [जो पंर से दबन पर उठ कर सिर पर जा बंठती है] यह विशेष बात कहनी चाहिए यो परन्तु उसका काम सामान्य नियम को कह कर निकाला गया है । अतएव यहाँ अप्रस्तुतप्रशसा का प्रथम भेद हुआ ।

अगिद्य यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।

विषमप्यमृत क्वचिद् भवेदमृत वा विषमीश्वरेच्छया ॥

यहाँ ईश्वर की इच्छा से कही अहितकारी भी हितकारी और कही हितकारी भी अहितकारी हो जाता है इस सामान्य कथन के अवसर पर अमृत का विष और विष का अमृत होना रूप विशेष कहा गया है इसलिए यहाँ दूसरे प्रकार की अप्रस्तुतप्रशसा हुई ।

इसी प्रकार अन्य भेदों के भी उदाहरण दिये गए हैं ॥ ४ ॥

अपह्नुति भी उस [प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार] से भिन्न है इसको दिखलाने के लिए [अगने सूत्र में अपह्नुति अलङ्कार का लक्षण] कहते हैं—

समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुति । ४, ३, ५ ।

समेन तुल्येन वस्तुना वाक्यार्थेनाऽन्यस्य वाक्यार्थस्यापलापो निन्द्यो यस्तराधारोपस्थाय असावपह्नुतिः । यथा—

न केतकीना विलसन्ति सूचय प्रवासिनो हन्त हस्त्यय विधि ।
तडिल्लतेय न चकास्ति चञ्चला पुर, स्मरज्योतिरिदं विवर्तते ॥

वाक्यार्थयोस्तात्पर्यात् ताद्रूप्यमिति न रूपकम् ॥ ५ ॥

तुल्य वस्तु [उपमान] से अन्य [उपमेय] का अपलाप [निषेध] करना अपह्नुति [अलङ्कार कहलाता] है ।

तम अर्थात् तुल्य वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ [भूत उपमान] से अन्य वाक्यार्थ [रूप उपमेय] का अपलाप अर्थात् निषेध निह्नुव, [अतत् तदिभन्न मे] जो तत्त्व के आरोपण के लिए किया जाय वह अपह्नुति [अलङ्कार] होता है । जैसे—

यह केतकी की सूचियाँ नहीं बिखाई दे रही हैं अपितु प्रवासियों [वियोगियों] पर बंध हँस रहा है । और यह चञ्चला विद्युल्लता नहीं शोभित हो रही है अपितु सामने काम की ज्योति [विवर्त रूप में] बिखाई दे रही है ।

इसमें 'केतकी-सूचियों का विलास' और 'तडिल्लता का विलास' यह दोनों उपमेय हैं उन पर उपमानभूत 'विधिहास' और 'स्मर-ज्योति' का आरोप कर उन दोनों वयार्थ वस्तुओं का अपलाप किया गया है । और 'केतकी-सूचियों' पर 'विधिहास' का तथा 'तडिल्लता' पर 'स्मर-ज्योति' का आरोप किया गया है । इसलिए यह भाग्यद्वया उत्पन्न होती है कि इसी प्रकार अन्य में अन्य का आरोप रूपक में भी किया जाता है तो अपह्नुति और रूपक में क्या भेद है । इस शङ्का के समाधान के लिए वृत्तिकार कहते हैं कि रूपक में तो पदार्थों का शब्द ताद्रूप्य होना है परन्तु अपह्नुति में शब्द ताद्रूप्य नहीं अपितु वाक्यार्थों के तात्पर्य से अर्थात् ताद्रूप्य का आशय कराया जाता है । यही इन दोनों का भेद है ।

[यहाँ प्रकृत उदाहरण में] वाक्यार्थों के तात्पर्य हैं ताद्रूप्य होता है इसलिए रूपक नहीं है । [रूपक के लिए पदार्थों का शब्द ताद्रूप्य अपेक्षित होता है इसलिए यहाँ रूपक नहीं है अपितु अपह्नुति ही है] ।

रूपकं कीदृशमित्याह—

उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम् । ४, ३, ६ ।

उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वस्याभेदस्यारोपणमारोपो रूपकम् ।
उपमानोपमेययोरुभयोरपि ग्रहणं लौकिक्याः कल्पितायाश्चोपमायाः
प्रकृतित्वमत्र विज्ञायेतेति । यथा—

विश्वनाथ ने अपह्लाति का सक्षण इस प्रकार किया है—

१ प्रकृत प्रतिविध्याग्वम्यापन म्यादपह्लाति ।

कही अपह्लाच या प्रकृत का निषेध पहिले होता है और अग्व की स्थापना
अथवा आरोप पीछे होता है और कही अग्व का आरोप पहिले हो जाता है और
प्रकृत का निषेध पीछे होता है । इन दोनों प्रकारों के उदाहरण इस प्रकार
दिए हैं—

नेद नभोमण्डलमन्वुराशिर्नेताश्च तारा नवफेनभङ्गा ।

नाय शशी कुण्डलिन फणोन्द्रो नासौ कलङ्कु शयिनो मुरारिः ॥

एतद्विभाति चरमाचलचूलचुम्बि-

हिण्डीरपिण्डरुपि शीतमरीचिबिम्बम् ।

उज्ज्वालितस्य रजनी मदनानलस्य

भूम दधत् प्रकटलाञ्छनकैलवेन ॥ ५ ॥

अपह्लाति के प्रसङ्ग में रूपक की चर्चा आगई है । अन्तिम पंक्ति में रूपक
से अपह्लाति का भेद दितलाया है इसलिए स्वाभाविक रूप से रूपक के विषय में
जिज्ञासा उत्पन्न होती है । इसलिए अगले सूत्र में रूपक का सक्षण करते हैं—

रूपक कंसा होता है, यह कहने हैं—

उपमान के साथ उपमेय के गुण का साम्य होने से [उपमेय में उपमान
के] अभेद [तत्त्व] का आरोप रूपक [अलङ्कार कहलाता] है ।

उपमान के साथ उपमेय के गुणों का सादृश्य होने से [उपमेय में
उपमान के] तत्त्व अर्थात् अभेद का आरोपण अर्थात् आरोप रूपक [अलङ्कार
कहलाता] है । लौकिक और कल्पित [दोनों प्रकार की] उपमाओं का [यहाँ]
रूपक में [प्रकृतित्व] कारणत्व है इस बात के सूचित करने के लिए [इस सूत्र

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
 असावगम्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः ।
 अयं कण्ठे बाहु शिशिरममृणो मौक्तिकसरः
 किमस्या न प्रेयो यदि परममहास्तु विरहः ॥

मुखचन्द्रादीनान्तूपमासमासान्न चन्द्रादीनारूपकत्वं युक्तमिति ॥ ६ ॥

में] उपमान और उपमेय दोनों का ग्रहण किया गया है । [रूपक का उदाहरण]
 जैसे—

[महाकवि भवभूति के उत्तररामचरित का यह श्लोक है । रामचन्द्र सीता के विषय में कह रहे हैं] यह [सीता] घर में लक्ष्मी और नेत्रों में अमृत की झलका है । इस का यह [शीतल] स्पर्श शरीर में प्रचुर चन्दन रस [का लेप] और [इस सीता का] यह शीतल एवं चिकना बाहु गले में मोतियों का हार है । इसकी कौतुकी चीख प्रिय नहीं है [सब कुछ ही प्रिय है ।] यदि कुछ असह्य [या अप्रिय] है तो केवल विरह असह्य है ।

इसमें 'इयं' इस सर्वनाम से सीता का निर्देश कर उसमें 'लक्ष्मीत्व' और 'अमृतवर्तिर' का, इसके स्पर्श में 'चन्दनरसत्वं' का, और बाहु में 'मुक्ताहारत्वं [मौक्तिकसरत्वं]' का आरोप किया गया है इसलिए यह रूपक का उदाहरण है ।

इस प्रकार उपमान और उपमेय के व्याप्त [मलग-मलग] होने पर रूपक का यह उदाहरण दिया । परन्तु कहीं-कहीं समास में रूपक होता है और कहीं समास में रूपक नहीं होता है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए युक्तिकार ने अगली पंक्ति लिखी है ।

'मुखचन्द्र' इत्यादि [उदाहरणों] में तो ['उपमित रथाद्यादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र से] उपमा समास होने से [मुख आदि पर] चन्द्र आदि का [आरोप रूप] रूपकत्व [मानना] उचित नहीं है । [इसलिए 'मुखचन्द्र' आदि प्रयोगों में रूपक नहीं अपितु उपमा अलङ्कार मानना उचित है] ।

इस का अभिप्राय यह है कि वामन 'मुखचन्द्र' पद में उपमा अलङ्कार ही मानते हैं । परन्तु अन्य नवीन आचार्यों ने साधक या बाधक प्रमाणों के होने पर ऐसे स्थलों पर उपमा अथवा रूपक दोनों में से यथायोग्य अलङ्कार मानने

रूपकान्धलेपस्य भेदं दर्शयितुमाह—

स धर्मेण तन्त्रप्रयोगे श्लेष । ४, ३, ७ ।

का निर्णय किया है । उपमा मानने में 'मुख चन्द्र इव' इस विग्रह में 'उपमित व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र से समास होकर 'मुखचन्द्र' पद बनता है । और रूपक मानने के अवसर पर 'मुखमेव चन्द्र' इस विग्रह में 'मयूरव्यस-कादयश्च' इस सूत्र से समास होकर 'मुखचन्द्र' यह प्रयोग बनता है । इसलिए 'मुखचन्द्र' में समास-भेद से उपमा और रूपक दोनों अलङ्कार हो सकते हैं । तब कहा रूपक माना जाय और कहा उपमा मानी जाय इसका निर्णय ग्रन्थ साधक अथवा बाधक प्रमाणों के आधार पर ही हो सकता है ।

जैसे यदि 'मुखचन्द्र चुम्बति' इस प्रकार का प्रयोग हो तो चुम्बन चन्द्रमा का नहीं अपितु मुख का ही सम्भव है इसलिए 'मुखचन्द्र एव' इस प्रकार समास न करके 'मुखचन्द्र इव' इस प्रकार का उपमित समास करना ही उचित होगा । इसलिए 'चुम्बन' रूप उपमा के साधक और रूपक के बाधक प्रमाण के होने से 'मुखचन्द्र चुम्बति' इसमें उपमासङ्कार ही मानना उचित है ।

इसके विपरीत यदि 'मुखचन्द्र प्रकाशते' इस प्रकार का प्रयोग हो तो प्रकाश रूप धर्म मुख्यतः चन्द्रमा में ही बन-सकता है मुख में नहीं, इसलिए ऐसे स्थल पर 'मुखचन्द्र एव' इस प्रकार का 'मयूरव्यसकादयश्च' सूत्र से समास करके रूपकालङ्कार मानना ही उचित है । क्योंकि वहाँ प्रकाश रूप धर्म रूपक का साधक और उपमा का बाधक है । जहाँ साधक अथवा बाधक प्रमाण नहीं होना है वहाँ किसी एक पक्ष में निर्णय करने का हेतु विद्यमान न होने से इन दोनों का मन्देह-मूलक सङ्कर अलङ्कार माना जाता है । जैसे 'मुखचन्द्र पश्यामि' यहाँ देखना धर्म मुख में भी रह सकता है और चन्द्र में भी । उसके आधार पर किसी एक पक्ष में निर्णय नहीं किया जा सकता है । अतएव नवीन आचार्यों ने ऐसे स्थल में मन्देहसङ्कर अलङ्कार माना है । इस प्रकार आपन ने 'मुखचन्द्र' में उपमा-समास मान कर केवल उपमा का निर्णय किया है परन्तु नवीन आचार्यों के मत ने साधक-बाधक प्रमाणों के आधार पर वही उपमा, कही रूपक और कही उपमा-रूपकमूलक मन्देह-सङ्कर अलङ्कार का निरूपण किया है ॥ ६ ॥

रूपक से श्लेष का भेद प्रदर्शित करने के लिए [अथत्वे सूत्र में] श्लेष का पक्षण] कहते हैं—

तन्त्र [अनेकीपकारकात् सङ्कटुन्वारेण तन्त्रम्] से प्रयोग होने पर

उपमानोपमेयस्य धर्मेषु गुणक्रियाशब्दरूपेषु स तत्त्वारोपः ।
तन्त्रप्रयोगे तन्त्रैख्योच्चारणे मति श्लेषः । यथा—

आकृष्टामलमण्डलाप्ररुचय सन्नद्धवक्षु स्थलाः
सोष्माणो ज्ञाणिता विपक्षहृदयप्रोन्माथिनः कर्कशाः ।
उद्बृत्ता गुरवश्च यम्य शमिनः श्यामायमानानना
योधा वारवधूस्तनाश्च न ददुः क्षोभ स वोऽव्याज्जिन ॥ ७ ॥

[उपमान और उपमेय के] धर्मों में वह [तत्त्वारोप] श्लेष [कहलाता] है ।

उपमान और उपमेय के गुण, क्रिया और शब्द रूप धर्मों में वह तत्त्वारोप तन्त्र से प्रयोग, तन्त्र से उच्चारण [एक बार उच्चारण से अनेक अर्थ के बोध एव अनेकोपकारकारित्व को तन्त्र कहते हैं] होने पर इनेष [अलङ्कार कहलाता] है । जैसे—

जिस जितैन्द्रिय [महावीर] 'जिन' में वारवधुषो [वेश्याओं] के स्तनों ने अथवा [प्रतिपक्षी] योद्धाओं ने किसी प्रकार का [कामविकार अथवा भय रूप] क्षोभ उत्पन्न नहीं किया वह 'जिन' [महावीर भगवान्] तुम्हारी रक्षा करें । [यह मुख्य वाक्यार्थ है । श्लोक के शेष सारे पद विशेषण रूप हैं और वह सब विशेषण श्लेष से 'वारवधूस्तना' तथा 'योधा' दोनों पक्षों में लगते हैं । एक बार उच्चारण किए हुए उन विशेषणों से अनेक अर्थों का बोधन ही तन्त्र कहलाता है । दोनों पक्षों में वे विशेषण इस प्रकार लगेंगे] आकृष्ट अर्थात् म्वात्र से निकाले हुए मण्डल अर्थान् लङ्ग के अग्रभाग में जिनकी दक्षि है ऐसे वीर योधा और 'आकृष्टा' अर्थात् स्वीकृता धारिता धारण की हुई है मण्डल [स्तन-मण्डल] के अग्र-भाग पर कान्ति जिन्होंने ऐसे [वारवधुषों के स्तन], सन्नद्ध अर्थात् कवचपुत्र है वक्ष स्थल जिनका ऐसे योधा, और सन्नद्ध अर्थात् विशाल है [आश्रयभूत] वक्ष स्थल जिनका [ऐसे स्तन], ऊष्मा अर्थात् दर्प से युक्त योधा, और 'सोष्माण' अर्थात् गर्मी से युक्त स्तन, ज्ञाणिता अर्थात् दास्त्र-जन्म वर्गों से युक्त वीर, और नक्षक्षत रूप अणो से युक्त स्तन, विपक्ष अर्थात् शत्रु के हृदय अर्थात् वक्ष स्थल का उन्मथन करने वाले वीर, और विपक्ष अर्थात् सपत्निप्रो के अथवा अपने सन्वद्ध पुरखों के मन को मथन करने वाले वारवधुषो के स्तन, और कर्कश कठोर योधा तथा स्तन, उद्बृत्त अर्थात् का अतिव्रमण करने वाले उद्धत [वीर] तथा गोल और ऊँचे उठे हुए [स्तन] गुरु अर्थात् महान् [वीर] और स्थूल [स्तन] ने जिन महावीर भगवान् में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं किया वह [महावीर जिन] तुम्हारी रक्षा करें] ।

साहित्यदर्पणकार ने इस पर बहुत विस्तार से विचार किया है । उन्होंने पहिले श्लेष के आठ भेद किए हैं—

‘दिनष्टं पदैरनेकार्थमिधाने श्लेष इष्यते ।

वर्ण-प्रत्यय-लिङ्गानां प्रकृत्यो पदयोरपि ॥ ११ ॥

श्लेषाद् विभक्तिवचनानां भाषाणामष्टधा च म ॥

इस प्रकार १ वर्ण श्लेष, २ प्रत्यय श्लेष, ३ प्रकृति श्लेष, ४ लिङ्ग-श्लेष, ५ पद श्लेष, ६ विभक्ति श्लेष, ७ वचन श्लेष, ८ भाषा श्लेष इस प्रकार आठ भेद करने के बाद फिर मभङ्ग, अभङ्ग तथा समङ्गमभङ्ग श्लेष रूप में तीन भेद और किए हैं ।

पुनस्त्रिधा समङ्गोऽयामङ्गस्तदुभयात्मक ।

इतका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित् काय पुराम्भीकृत ,

यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो षङ्गा च योज्यारयत् ।

यस्याहु शशिमण्डिनेहर इति स्तुत्यञ्च नामामरा ,

पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरत्वा भवंदो माधव ॥

इस श्लोक में शिव और विष्णु दोनों की स्तुति की गई है । ‘सर्वदो-माधव’ इस पद का यदि ‘सर्वदो उमाधव’ ऐसा पदच्छेद करने है तो सर्वदो उमापति, पावतीपति, शिव तुम्हारी रक्षा करें यह अर्थ होता है । और यदि ‘सर्वदो माधव’ ऐसा पदच्छेद करें तो सब कुछ देने वाले माधव अर्थात् विष्णु तुम्हारी रक्षा करें ऐसा अर्थ होता है । इस प्रकार ‘भवंदो माधव’ इस पद में समङ्ग तथा अभङ्ग दोनों प्रकार का उभयान्वयक श्लेष माना जाता है । इसी प्रकार ‘येन ध्वस्तमनोभवेन’ का पदच्छेद भी दोनों पक्षों में असंग-मलग होता है । शिव पक्ष में ‘ध्वस्त विनाशित मनोभव नाम येन’ इस प्रकार का समास होकर ‘ध्वस्त-मनोभवेन’ यह एक पद बनता है । परन्तु विष्णुपक्ष में ‘येन अभवेन अजन्मना अन शकट शकटासुर ध्वस्त’ जिस अजन्मा ने शकट अर्थात् शकटासुर का नाश का किया इस प्रकार का पदच्छेद होता है । इसलिए यहाँ भी समङ्गश्लेष है । परन्तु ‘अन्धकक्षयकर’ इस पद का पदच्छेद दोनों जगह समान रहता है । अर्थ में भेद हो जाता है । शिवपक्ष में ‘अन्धक’ का अर्थ अन्धकासुर होता है । अन्धकासुर के मारने वाले शिव तुम्हारी रक्षा करें ।

‘उन्मिल कमल सरसीनां कैरवञ्च निमिल मुहूर्तात् ।’
अत्र नेत्रधर्माबुन्मीलननिमोलने सादृश्याद् विकाससङ्कीर्णो लक्ष्यतः ।

‘इह च निरन्तरनवमुकुलपुलकिता हरति माधवी हृदयम् ।
मदयति च कैसराणां परिणतमधुगन्धिं निःश्वसितम् ॥’

अत्र निःश्वसितमिति परिमलनिर्गम लक्षयति ।

‘मंस्थानेन स्फुरतु मुमग्ं स्यार्चिणा चुम्बतु याम् ।’

‘आलस्यमालिङ्गति गात्रमस्या ।’

इत्यादि वचनों के अनुसार] लक्षणा के अनेक कारण होते हैं । उन [अनेक कारणों] में सादृश्य [नामक कारण] से [की गई] लक्षणा [ही] ‘वक्षोवित’ [नामक अलङ्कार] है । जैसे—

[प्रातःकाल के समय सूर्योदय होते ही] तमिः देर में तालाबों के कमल खिल गए और क्षण भर में कैरव बन्द हो गए ।

यहां नेत्र के धर्म उन्मीलन तथा निमिलन सादृश्य से [कमलों के] विकास तथा सङ्कोचन की लक्षणा से बोधित करते हैं । [अतएव सादृश्यमूलक लक्षणा होने से ‘वक्षोवित’ अलङ्कार है । इसी का दूसरा उदाहरण वेते हैं]

यहां [उद्यान में] ऊपर से नीचे तक [निरन्तर] नवीन कलियों से [लदी हुई] पुलकित माधवी [लता वंशों के] हृदय को हरण कर रही है और कैसर [वृक्षविशेष] का पके मधु की गन्ध से युक्त निःश्वसित मत्त सा कर देता है ।

यहां [इस उदाहरण में] निःश्वसित [मुख्य रूप से प्राणी का धर्म है परन्तु वह सादृश्यनिमित्तक लक्षणा से] सुगन्ध के निकलने को लक्षित करता है । [इसी प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण हो सकते हैं जिनमें सादृश्य से लक्षणा का आश्रय लिया जाता है । उनमें से पांच उदाहरण आगे देते हैं] ।

अपने सस्यान [आकार कनेवर] से सुन्दर रूप से प्रकाशित हो और अपनी फान्ति में आकाश का चुम्बन करे । [इसमें ‘चुम्बन’ पद सादृश्य लक्षणा से स्पर्श को लक्षित करता है] ।

आलस्य उसके शरीर का आलिङ्गन कर रहा है । [इसमें आलस्य का शरीर को आलिङ्गन करना लक्षणा से शरीर में आलस्य की व्याप्ति को सूचित करता है] ।

‘परिस्लानच्छायामनुवदति दृष्टि’ कमलिनीम् ।’

‘प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकपाय ।’

‘ऊरुद्वन्द्व तरुणकदलाकाण्डसम्रह्यचारि ।’

इत्येवमादिषु लक्षणाथो निरूप्यत इति । लक्षणायाश्च भट्टित्यर्थ-
प्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यमाचक्षत इति ।

असादृश्यनियन्वना तु लक्षणा न वक्रांति । यथा—

‘जरठकमलरुन्दच्छेदगौरैर्मयूखै ।’

अत्र ‘छेद.’ सामीप्याद् द्रव्य लक्षयति । तस्यैव गौरव्योप-
पत्तेः ॥ ८ ॥

[बुझित नायिका की] दृष्टि मुरझाई हुई कमलिनी के समान है ।
[यहा ‘अनुवदति’ पद सादृश्य लक्षणा से कमलिनी के साथ समानता का
सूचक है] ।

प्रातःकाल के समय में खिले हुए कमलो के सुगन्ध के साथ मैत्रीके कारण
कपाय [वायु चल रही है] इसमें ‘मैत्री’ पद सादृश्य लक्षणा से ससर्ग की लक्षित
करता है] ।

[नायिका की] दोनों जगह तरुण कदली काण्ड की सहाय्यायिनी है ।
[यहा ‘सम्रह्यचारि’ पद लक्षणा से सादृश्य की लक्षित करता है] ।

इत्यादि [उदाहरणों] में [धर्म की प्रतीति के लिए] लक्षणा से अर्थ
का कथन किया जाता है । लक्षणा के होने पर तुरन्त अर्थ की प्रतीति की क्षमता
घा जाती है यही लक्षणा का रहस्य [लक्षणा अथवा वक्रोक्ति अलङ्कार
मानने वाले] कहते हैं ।

असादृश्य [सादृश्य से भिन्न] निमित्तक लक्षणा ‘वक्रोक्ति’ नहीं
कहलाती । जैसे—

पुरातन [पके हुए] कमल जी जड [भसीण्डे, मृणातदण्ड] के टुकड़े के
समान [गौर] सफेद किरणों से ।

यहा ‘छेद’ [पद] सामीप्य [अर्थात् धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध] से
[खण्डरूप] द्रव्य को लक्षित करता है । उस [खण्ड रूप द्रव्य] में ही गौरत्व
सम्भव होने से [इसका अभिप्राय यह है कि ‘छेद’ शब्द मुख्य रूप से छेदन-
क्रिया का उपपन्न है । परन्तु यहा वह छेदन-क्रिया का आचारभूत या कर्मभूत

जो टुकड़ा रूप द्रव्य है उसको सामीप्य धर्मान् धर्मधर्मभावनिमित्तक लक्षणा रूप सम्बन्ध से लक्षित करता है । यहा सादृश्य-मूलक लक्षणा न होने से वक्रोक्ति अलङ्कार नहीं है] ।

साहित्यदर्पणकार आदि ने वक्रोक्ति का लक्षण बिलकुल अन्य ही प्रकार से किया है । साहित्यदर्पण में लिखा है—

अन्यस्याग्यार्थक वाक्यमन्यया योजयेद्यदि ।

अन्य इत्येवम् काव्या वा मा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥

अर्थात् वक्रता के द्वारा अन्य अर्थ में प्रयुक्त किए गए शब्दों का 'श्लेष' अथवा 'काकु' अर्थात् भिन्न प्रकार के बोलने के लहजे [भिन्नकण्ठध्वनिधरि काकुरित्यभिधीयते ।] के द्वारा अन्य अर्थ कल्पना कर लेना 'वक्रोक्ति' अलङ्कार कहलाता है । जैसे—

के यूय, स्थल एव सम्प्रति वय, प्रद्वनो विशेषाध्वय,

कि ब्रूते विहृग स वा फलिपतिर्यत्रास्ति सुप्तो हरिः ।

वामा यूयमहो विडम्बरसिक कीदृक् स्मरो वर्तते;

येनाम्नाम् विवेकशून्यमनम पुस्वेव योषिद्वधम् ॥

इसमें प्रश्नकर्ता यह पूछना है कि 'के यूय', आप कौन हैं ? अर्थात् उसने परिचय के लिए स्वरूपविषयक प्रश्न किया है । परन्तु उत्तर देने वाला 'के' इस शब्द को जल वाचक 'क' शब्द का रूप मान कर 'के यूय' का अर्थ 'तुम जल में हो' यह अर्थ ले लेता है, और उसी के अनुसार उत्तर देता है कि नहीं हम तो जल में नहीं, 'स्थल एव सम्प्रति वयम्' इस समय तो हम स्थल पर ही हैं । इस पर पहिला प्रश्नकर्ता फिर कहता है कि 'प्रद्वनो विशेषाध्वय' हमारा प्रश्न आपके विशेष स्वरूप के विषय में आपके स्वरूप की जिज्ञासापरक है । उत्तर देने वाला फिर उस 'विशेष' शब्द का वक्रता के अर्थ से भिन्न 'वि' पक्षो अर्थात् 'गड' अथवा 'शेष', 'शेषनाग' अर्थ ले लेता है और पूछता है कि इनमें से किस के विषय में प्रश्न कर रहे हैं ।

इस प्रकार किसी वक्रता के अन्वार्थक शब्दों का उसके अग्रिभाष से भिन्न अर्थ का ग्रहण कर लेना 'वक्रोक्ति' कहलाता है । यह वक्रोक्ति कही 'श्लेष' के कारण होती है और कही 'काकु' अर्थात् बोलने के लहजे से भी हो सकती है । इस प्रकार नवीन आचार्यों का 'वक्रोक्ति' अलङ्कार का लक्षण वामन के 'वक्रोक्ति' लक्षण से बिलकुल भिन्न है ।

'वक्रोक्तिजीवितम्' के रचयिता 'राजानक कुन्तक' ने 'वक्रोक्ति' पद का

रूपकवक्रोक्तिभ्यामुत्प्रेक्षाया भेद दर्शयितुमाह—

अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा । ४, ३, ६ ।

अतद्रूपस्यातत्त्वभावस्य, अन्यथाऽतत्त्वभावतया, अध्यवसान-
मध्यवसायः । न पुनरध्यारोपो लक्षणा वा । अतिशयार्थमिति भ्रान्ति-
ज्ञाननिवृत्त्यर्थम् ।

प्रयोग इन दोनों से बिलकुल भिन्न अर्थ में किया है : उनके मत से 'वक्रोक्ति
काव्यजीवितम्'—वक्रोक्ति ही काव्य का जीवितस्वरूप प्राणस्वरूप है । उनके
यहां काव्य के समस्कृतिकारक तत्व को ही वक्रोक्ति कहते हैं । इस प्रकार
वक्रोक्ति शब्द के अनेक अर्थ साहित्यशास्त्र में पाए जाते हैं । उनमें से प्रकृत
ग्रन्थकार 'ज्ञान' सादृश्यनिमित्तक सशय को ही वक्रोक्ति कहते हैं ॥ ८ ॥

रूपक और वक्रोक्ति से उत्प्रेक्षा [अतद्भूत] का भेद बिलाने के लिए
[अपने सूत्र में उत्प्रेक्षा का लक्षण] कहते हैं—

जो वस्तु जैसी नहीं है उसका अतिशय [छोतम] के लिए अभ्यया
[अपने वास्तविक स्वरूप से भिन्न रूप में] सम्भावना करना उत्प्रेक्षा [अतद्भूत
कहाता] है ।

अतद्रूप अर्थात् [जो वस्तु] वैसी [कल्पित छप सदृश] नहीं है उसको
उसके [अपने वास्तविक] स्वरूप से भिन्न [कल्पित अथवा सम्भावित] रूप में
अध्यवसान अर्थात् अध्यवसाय [सम्भावना 'उत्कटककोटिक सशय सम्भावना' जिस
में एक कोटि उत्कट अधिक सम्भावित हो ऐसे सशय को सम्भावना कहते हैं ।]
न कि [रूपक के समान] अध्यारोप, अथवा [वक्रोक्ति के समान] लक्षणा [उत्प्रेक्षा
अतद्भूत कहाता है] अतिशयार्थ यह [यह] भ्रान्ति ज्ञान की निवृत्ति के लिए
[सूत्र में रखा गया] है ।

किसी वस्तु का अतद्रूप में अर्थात् जैसी वह नहीं है उस रूप में अध्य-
वसान निश्चय करना तो सामान्यतः 'अम' कहाता है जैसे अतद्रूप अरजतरूप
शुक्ति में रजत की प्रतीति 'अम' कहाता है । 'उत्प्रेक्षा' में भी अतद्रूप में अध्य-
वसान किया जाता है इसलिए वट भी 'अम' रूप हुई । यह बढ़ा हो सकती है ।
इसकी निवृत्ति के लिए सूत्रकार ने 'अतिशयार्थ' पद का प्रयोग किया है । अर्थात्
जहां वस्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ भी किसी प्रकार के अतिशय-
छोतम के लिए अतद्रूप में उसकी 'सम्भावना' 'उत्कटककोटिक सशय' करता है

सादृश्यादियमुत्प्रेक्षेति । एना चेवादिशब्दा द्योतयन्ति । यथा—

उसकी 'उत्प्रेक्षा' कहते हैं । भ्रम स्थल में वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होकर उसकी अन्यथा प्रतीति होती है । सादृश्यलक्षणा, गौणी, भ्रमवा सादृश्य के कारण अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग निश्चयात्मक रूप से होता है, सम्भावना रूप में नहीं । इसलि वह भी उत्प्रेक्षा से भिन्न है । भ्रम-स्थल में रस्सी को देखकर उसमें सर्प की प्रतीति होती है और वह निश्चयात्मक प्रतीति होती है । 'मिहो माणवक' इत्यादि गौण व्यवहारों के स्थलों में भी माणवक अर्थात् बच्चे के लिए 'मिह' शब्द का प्रयोग निश्चयात्मक रूप में ही होता है । भ्रम और गौण दोनों व्यवहारों में अन्य के लिए अन्य शब्द का निश्चयात्मक रूप से प्रयोग होता है । परन्तु उन दोनों में भ्रन्तर यह है कि भ्रम स्थल में यथार्थ और अयथार्थ का भेद ज्ञान नहीं होता है । अज्ञानपूर्वक अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु गौण व्यवहार में दोनों का भेद ज्ञात होते हुए भी गुण-सादृश्य से प्रतिशयद्योतन के लिए ज्ञानपूर्वक अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता है । यह भ्रम और गौण व्यवहार का भेद हुआ । इसका विवेचन करने हुए श्री शङ्कराचार्य ने अपने 'ब्रह्मसूत्र' के 'तारीरिक' भाष्य में लिखा है—

“यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेद यथा कैमरादिमानाकृतिविशेषोऽवयवव्यतिरेकाभ्या मिहशब्दप्रत्ययभाद् मुख्योऽन्य प्रसिद्ध तद्वद्वान्य, पुष्प, प्रायिकं, श्रीर्यक्षीर्यदिभि मिहगुणं सम्पन्न सिद्ध, नश्य पुष्पे मिहस्यप्रप्रययो गौणी भवतो नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य । तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययो आन्निनिमित्तावेव भवनो न गौणी ।”

गौणी तथा उत्प्रेक्षा दोनों में प्रतिशय के द्योतन के लिए अतत्स्वरूप वस्तु में उसके अपने यथार्थ स्वरूप से भिन्न रूप का व्यवहार किया जाता है । परन्तु उन दोनों में भेद यह है कि गौण व्यवहार में होने वाला प्रयोग निश्चयात्मक रूप का होता है । और उत्प्रेक्षा में निश्चयात्मक नहीं अपितु उत्पट्टक-कोटि रूप सम्भावना मात्र अभिप्रेत होती है ।

यह उत्प्रेक्षा [प्रकृत उपमेय की परात्मना अर्थात् उपमानात्मना सम्भावना] सादृश्य के कारण होती है इसलिए [सादृश्य के द्योतक] इवादि शब्द [उपमा के समान] इस [उत्प्रेक्षा] को [भी] द्योतित करते हैं । जैसे—

वामन से प्राचीन भामह, और नवीन विश्वनाथ ने 'उत्प्रेक्षा' प्रसङ्गार के लक्षण इस प्रकार किए हैं—

स वः पायादिन्दुर्नयविसलताकोटिकुटिलः
भरारेयो मूर्ध्नि ज्वलनकपिशे भाति निहित ।
स्यवन्धन्दाक्रिन्वा प्रतिदिवसमिक्तेन पयसा
कपालेनोन्मुक्त स्फटिकधवलेनाङ्कुर इव ॥ ६ ॥

उत्प्रेक्ष्यातिशयोक्तिरिति केचित्, नन्वसार्थमाह—

सम्भाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनाऽतिशयोक्ति । ४, ३, १० ।
सम्भाव्यस्य धर्मस्य तदुत्कर्षस्य च कल्पनाऽतिशयोक्ति । यथा—
उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहायाकाशगङ्गापयमपतेताम् ।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमम्य वज्र ॥ १० ॥

नवीन [विसलता] मृणाल दण्ड के अग्रभाग के समान टेढ़ा [वक्र],
कामवेध के शत्रु [शिव] के, [तृतीय नेत्र की] अग्नि से पीत वण हुए मस्तक
पर स्थित, [शिव के मस्तक से] चहती हुई गङ्गा के जल से प्रतिदिन सौंधे
जाते हुए, कपाल से निगले हुए [स्फटिकवत् धवल] सङ्गमर के समान
सफेद अङ्कुर के समान चन्द्रमा तुम्हारे रत्ना करे ।

भामह ने उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार किया है—

*प्रतिविक्षितनामान्या किञ्चिच्चोपमया सह ।

अनद्गुणत्रिषायोमादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥

विश्वनाथ ने उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार किया है—

*भवेत् सम्भावनीत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ॥

इवादि शब्द जैसे उपमा के वाचक होने हे इसी प्रकार उत्प्रेक्षा के भी
छोतक होते हैं । जैसा कि दण्डी ने कहा है—

मन्ये शङ्खे ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादय ।

उत्प्रेक्षावाचका शब्दा इवशब्दोऽपि तादृश ॥६॥

कुछ लोग कहते हैं कि उत्प्रेक्षा ही [का नाम] अतिशयोक्ति है । उन
के खण्डन के लिए [अगले सूत्र में अतिशयोक्ति का लक्षण] कहते हैं—

सम्भाव्य धर्म और उसके उत्कर्ष की कल्पना अतिशयोक्ति है ।

सम्भाव्य धर्म की और उसके उत्कर्ष की कल्पना अतिशयोक्ति [कहलाती]
है । जैसे—

यदि [नीले] आकाश में अलग अलग आकाश गङ्गा के जल की

यथा वा—

मलयजरासविलिप्ततरतनुनवहारलताविभूषिताः ।

सिततदन्तपत्रकृन्वक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ।

शशभृति विततधाम्नि घवलयति धरामविभाव्यता गताः

प्रियवसति प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः ॥१०॥

[दो] धाराए गिरें तो, मुक्ता-माला धारण किए हुए तमाल के समान नील वर्ण उसके वक्ष स्थल की उपमा उस [आकाश गङ्गा की दोनों ओर गिरती हुई दो धाराओं से युक्त नील आकाश] से भी जा सकती है ।

यहाँ सम्भाव्य धर्म के रूप में दोनों ओर आकाश गङ्गा की धाराओं से युक्त आकाश की कल्पना की गई है और उसमें मुक्तामाला धारण किए हुए वक्ष स्थल का सम्भाव्य उत्कर्ष दिखचाया गया है । यर्थात् केवल उसी से उस वक्ष स्थल की उपमा हो सकती है अन्य किसी से नहीं । इस प्रकार के प्रतिपाद का वर्णन करने से इसको प्रतिशयोक्ति कहा जाता है । इस उदाहरण में सम्भाव्य धर्म की कल्पना की गई थी । परन्तु उसका दूसरा उदाहरण इस प्रकार का हो सकता है जिसमें सम्भाव्य धर्म की नहीं अपितु केवल उसके उत्कर्ष की कल्पना की जाय । इस प्रकार का उदाहरण प्रागे देते हैं—

अथवा जैसे—

[मलयज] चन्दन के रस से शरीर का लेपन किये हुई [होने से शुभ वर्ण], नवीन मुक्ता-हार से विभूषित, अत्यन्त स्वच्छ हाथी दात के दन्तपत्रों [आभूषण विशेष] से मुख को अलंकृत किये हुई और सुन्दर सफेद वस्त्र धारण किये हुई अभिसारिकाएँ चन्द्रमा के, सिली हुई [शुभ्र] ज्योत्स्ना से पृथिवी को शुभ्र कर देने पर [उस शुभ्र चादनी रात में अपने शुभ्र वेष के कारण] में दिखाई देती हुई अतएव निर्भय होकर अपने प्रिय के घर को जाती हैं ।

यहाँ चन्दनरस, हार-लता आदि से युक्त शुभ्र वेष में चादनी से उसका उत्कर्ष कल्पित किया जाता है, जिसके कारण चादनी रात में अभिसारिकाओं की अलग प्रतीति नहीं होती है ।

साहित्यदर्पणकार ने प्रतिशयोक्ति के पांच भेद किये हैं । उसके लक्षण और भेदों का निरूपण साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है—

१ तिदत्त्वेऽप्यवसायस्यातिशयोक्तिनिगद्यते ।

‘विषयनिगरेणोभेदप्रतिपत्तिविषयिणोऽध्यवसाय ।’ उपमेय का निगरण अर्थात् अनुपादान अथवा तिरस्कार करके विषयी उपमान के साथ उसका अभेद प्रतिपादन करना ‘अध्यवसाय’ कहलाता है । उसके सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है । उसके पाँच भेद इस प्रकार किये हैं—

‘भेदेऽप्यभेद सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययो ।

पौर्वापर्यात्पि कार्यहेत्वो सा पञ्चधा तत ॥

अर्थात् [वास्तविक] १ भेद में अभेद का और २ अभेद में भेद का, इनो प्रकार ३ असम्बन्ध में सम्बन्ध का और ४ सम्बन्ध में असम्बन्ध का वर्णन तथा ५ कार्य-कारण के क्रम में परिवर्तन अर्थात् कारण में पूर्व कार्य का वर्णन यह पाँच प्रकार की अतिशयोक्ति होती हैं ।

भेद में अभेद वर्णन का उदाहरण—

कथमुपरि कलागिन् कलापो, वित्तसि तरप तलेऽष्टमीन्दुखण्डम् ।

कुवलययुगलं ततो विलोल तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात् ॥

इसमें किसी सुन्दरी के मुख का वर्णन करते हुए उपमेय भूत केशपाश, मस्तक, नेत्र, नासिका, और ओष्ठ का ग्रहण न करके उपमानों के साथ भेद होने पर भी अभेद दिलाते हुए केशपाश को ही ‘कलापिन् कलाप’, मस्तक को ‘अष्टमीन्दुखण्ड’, नेत्रों को ‘कुवलययुगल’, नासिका को ‘तिल पुष्प’ और अघर को ‘प्रवाल’ कह कर भेद में अभेद दिलाते हुए अतिशयोक्ति की है ।

इसी प्रकार अभेद में भेद का उदाहरण—

अन्यदेवाङ्गतावण्यमन्वा सौरभसम्पद ।

तस्या पद्मलाशाक्या सरसत्वमलौकिकम् ॥

आदि दिये हैं । वामन का ‘उभी यदि व्योम्नि’ वाला उदाहरण ‘असम्बन्धे सम्बन्ध-रूपा’ अतिशयोक्ति का उदाहरण कहा जा सकता है ।

भामह ने अतिशयोक्ति को बहुत महत्व दिया है । उन्होंने लिखा है—

‘निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोधरम् ।

मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलद्वारतया यथा ॥ ८१ ॥

स्वपुष्पञ्छविहारिण्या चन्द्रभाषा तिरोहिता ।

अन्वमीयन्त भृङ्गालिनाचा सप्तच्छदद्रुमा ॥ ८२ ॥

यथा भ्रान्तिज्ञानस्वरूपोत्प्रेक्षा तथा संशयज्ञानस्वरूपः सन्देहोऽपीति दर्शयितुमाह—

उपमानोपमेयसंशयः सन्देहः । ४, ३, ११ ।

उपमानोपमेययोरतिशयार्थं यं क्रियते संशयः स सन्देहः । यथा—

इदं कर्णोत्पलं चक्षुरिदं वेति विलासिनि ।

न निर्वाचनोति हृदयं किन्तु दोलायते मनः ॥ ११ ॥

‘अथ यदि त्वत् शिथिला क्युता स्यात् फणिनामिव ।

तदा दुबलाशुकाति र्युरङ्गेष्वम्भसि योषिताम् ॥ ८३ ॥

इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः ।

सर्वेयातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् ता यथागमम् ॥ ८४ ॥

सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यत्नोऽस्या कविना कार्यं कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ ८५ ॥ १० ॥

प्रतिशयोक्ति के बाद सन्देह अलङ्कार का निरूपण करते हैं—

जैसे [अतद्गुणाध्यवसानरूपा होने से] उत्प्रेक्षा भ्रान्तिज्ञानस्वरूपा होती है इसी प्रकार [एक धर्मी में विरुद्ध नानाधर्मावमर्श होने से] संशयज्ञान स्वरूप सन्देह [अलङ्कार] भी होता है । इस बात को दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में सन्देह अलङ्कार का लक्षण] कहते हैं—

[उपमेय रूप एक धर्मी में] उपमान और उपमेय [उभय कोटि] का संशय सन्देह [अलङ्कार कहलाता] है ।

प्रतिशय [चमत्कृति] के आधान के लिए [उपमेय में] उपमान और उपमेय [दोनों का परामर्श] भी संशय किया जाता है यह सन्देह [अलङ्कार कहलाता] है । जैसे—

है सुन्दरि, यह [तुम्हारे] कान का नील कमल है अथवा [कान तक फैली हुई] आलस है [मेरा] मन यह निश्चय नहीं कर पा रहा है किन्तु द्विविधा में पड़ा हुआ है ।

यहां चक्षु उपमेय है, और कर्णोत्पल उपमान है । चक्षु रूप एक धर्मी में चक्षु और उत्पल रूप दो विरुद्ध धर्मा का परामर्श होने से यहां सन्देहालङ्कार कहा जाता है ।

भामह ने सन्देहालङ्कार का निरूपण इस प्रकार किया है ।

‘उपमानेन तत्त्वञ्च भेदञ्च वदत गुण ।

ससन्देहं वचं स्तुत्यं ससन्देहं विदुर्वृथा ॥

मन्देहाद्विरोधोऽपि प्राप्तावसर इत्याह—

विरुद्धाभासत्वं विरोध । ४, ३, १२ ।

अर्थस्य विरुद्धस्येवाभासत्वं विरुद्धाभासत्वं विरोधः । यथा—

पीतं पानमिदं त्वयाद्य द्रवितं मत्तं ममेदं मनः

पत्राली तत्र कुट्टं मेन रचिता रक्षा वयं मानिनि ।

किमयं सती न ग दिवा विराजते, कुसुमाग्र्यो न धनुरस्य कीलुमम् ।

इति विस्मयाद् विमृशतोऽपि मे मतिस्त्वयि योक्षिते न लभतेऽर्थनिश्चयम् ॥

साहित्यदर्पणकार ने सजय के तीन भेद किये हैं १ एक दृढ सजय अर्थात् अन्त तक सजय ही बना रहे । २ दूसरा निश्चयगर्भं अर्थात् जिसके बीच-बीच में निश्चय होता जाय और ३ तीसरा निश्चयान्त अर्थात् जिसके अन्त में निश्चय हो । वामन का पूर्वोक्त उदाहरण दृढ सजय का उदाहरण कहा जा सकता है क्योंकि उसमें अन्त तक निश्चय की स्थिति नहीं आई है । भामह का पूर्वोक्त उदाहरण निश्चयगर्भं सजय का उदाहरण कहा जा सकता है क्योंकि उसके बीच-बीच में निश्चय होता जाता है । इन दो के अतिरिक्त तीसरा निश्चयान्त भेद भी होता है । साहित्यदर्पण में इनका निरूपण करते हुए लिखा है—

‘सन्देहः प्रकृतेऽवश्यं सजयः प्रतिभोत्पिप्तः ।

दृढो निश्चयगर्भाऽती निश्चयान्त इति त्रिधा ॥१॥

शाय दर्शन में ‘एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धानाधर्माविवर्गो सजयः’ इस प्रकार का सजय का उदाहरण किया गया है । सन्देहालङ्कार में भी एक धर्मी में अनेक विरुद्ध धर्मों की प्रतीति होने से मशय होता है । इसलिए सजय के साथ ही विरोध का समर्थ होने से सजय के बाद विरोधालङ्कार का निरूपण करते हैं—

सन्देह [विरुद्धानाधर्माविवर्गत्वं होने] से विरोध का भी अवसर प्राप्त होता है इसलिए [अगले सूत्र में ‘विरोधालङ्कार’ का लक्षण] कहते हैं—

विरुद्ध [न होते हुए विरुद्ध] के समान प्रतीति को विरोध [अलङ्कार] कहते हैं ।

[विरुद्ध न होते हुए भी] विरुद्ध अर्थ या प्रतीति होना विरुद्धाभासत्वं या विरोध [अलङ्कार] है । जैसे—

हे प्रिये आज तुमने मदिरा का पान किया है और मेरा मन [तुमको देख

त्वं तुद्वन्तनभारमन्यरगतिगत्रिषु मे वेपथुः,
त्वन्मध्ये तनुता ममाधृतिरहो मारम्य चित्रा गतिः ॥

यथा या—

मा बाला वयमप्रगल्भमनसः सा स्त्री वयं कातराः,
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुग धत्ते सखेदा वयम् ।
साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयं
दोषैरन्यजनाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्रुतम् ॥ १० ॥

कर] मत्त हो रहा हूँ । हे मृगनरिणि, कुटुम्ब से तुम्हारे [मुखादि के ऊपर]
पत्राली [अलङ्कार विशेष] बनाई गई हैं परन्तु [उसको देखकर] हम
रक्त [अनुरागयुक्त] हो रहे हैं । ऊँचे स्तनों के भार से तुम मन्यर गति वाली
हो परन्तु [उसको देखकर मात्सर्य भाव रूप] कम्प मेरे शरीर में हो रहा है ।
तुम्हारी कमर पतली है [लेकिन उमको देखकर] मेरा धर्म व्युत्त हुआ जा रहा
है । प्रहो कामदेव की सीसा यन्त्री विचित्र है ।

अथवा जैते—

वह बाला है लेकिन अप्रगल्भता [जो उस बाला में होनी चाहिए थी वह]
हम में हो रही है । वह स्त्री है [परन्तु उसको देख कर] कातरता हमको हो
रही है । वह ऊँचे और मोटे स्तनों की धारण करती है और हम खेदयुक्त हो रहे हैं ।
वह भारी नितम्बों से युक्त है परन्तु [उसके बदले] हम [उसको छोड़ कर]
जाने में असमर्थ हो रहे हैं । अन्य [नायिका रूप] जन के दोषों से हम असमर्थ
हो रहे हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है ।

वामन के ये विरोधालङ्कार के उदाहरण यादि नवीन आचार्यों के
उदाहरणों में विलकुल भिन्न हैं । साहित्यदर्पण में इनको विरोध के बजाय
'असङ्गति' अलङ्कार का उदाहरण माना है । वामन ने असङ्गति नाम का अलङ्कार
अलग नहीं माना है । परन्तु नवीन आचार्यों ने 'असङ्गति' को विरोध से भिन्न
एक स्वतन्त्र अलङ्कार मान कर उसका लक्षण इस प्रकार किया है—

‘कार्यकारणयोर्भिन्नदेशनायामसङ्गतिः ।

अर्थात् कार्य और कारण की भिन्नदेशना में 'असङ्गति' अलङ्कार होता
है । वामन ने विरोध अलङ्कार के जो दो उदाहरण दिए हैं उन दोनों में कार्य-
कारण की भिन्नदेशना ही दिखलाई पड़े है । इसलिए नवीन मत में वह 'विरोध'
के नहीं अपितु 'असङ्गति' अलङ्कार के उदाहरण है ।

विरोधाद् विभावनाया भेद दर्शयितुमाह—

नवीन आचार्यों ने विरोध का लक्षण भी वाचन की अपेक्षा भिन्न रूप से किया है और दस भेद करते हुए लिखा है—

‘जातिश्चतुर्भिर्जात्यान्वैगुण्यो गुणादिभिस्त्रिभिः ।

त्रिया त्रियाद्रव्याभ्या यद् द्वय द्रव्येण वा मिय ।

विरुद्धमेव भावेल विरोधोऽसौ दशाकृतिः ॥

जाति, गुण, क्रिया, तथा द्रव्य इन चारों का बोध शब्दों से होने के कारण महामाध्यकार ने ‘चतुष्टयी’ व शब्दान्तर प्रवृत्ति जातिशब्दा, गुणशब्दा, क्रियाशब्दा, यद्द्रव्याशब्दाश्चतुर्था’ लिख कर चार प्रकार के शब्दों का विभाग किया है। इनका परस्पर विरोध आभासित होने पर विरोध या विरोधाभास अलङ्कार होता है। इन में जाति आदि चारों का, चारों के साथ विरोध हो सकता है इसलिए जाति गत विरोध के चार भेद हुए। इसी प्रकार गुणों का भी जाति आदि चारों के साथ विरोध हो सकता है। परन्तु जाति के साथ जो गुण का विरोध है उसकी गणना जाति सम्बन्धी विरोध के भेदों में हो चुकी है अतएव गुणगत विरोधों की गणना करने समय बुझाया उसको जोड़ना उचित नहीं है। इसलिए गुणगत विरोध के तीन भेद माने जाते हैं। इसी प्रकार क्रियागत विरोध के दो भेद और द्रव्यगत विरोध का केवल एक भेद होता है। इस प्रकार सब मिलाकर विरोध के ४ + ३ + २ + १ = १० भेद होते हैं। इनके उदाहरण निम्न प्रकार के दिये गए हैं—

‘तव विरहे मलयमरुद् दावानल शशिन्वीर्षि सोऽमाणः ।

हृदयमलित्तमपि भिन्ने मलिनीपलमपि निदाघरविरम्या ॥

सगत भुसलामङ्गान् बहूतरमृहकर्मघटनया नृपते ।

द्विजपरीना कठिना सति भवति करा मरोजमुकुमारा ॥

अजस्य गृह्णतो जन्म निरोहस्य हतद्विष ।

स्वपतो जागरुकस्य याचाय्यं वेद कस्तव ॥१२॥

विरोधात् अलङ्कार के निरूपण के बाद विभावना अलङ्कार का निरूपण करते हैं—

विरोध [अलङ्कार] से विभावना [अलङ्कार] का भेद दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में विभावना अलङ्कार का लक्षण] कहते हैं—

क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिविभावना । ४, ३, १३ ।

क्रियाया प्रतिषेधे तस्या एव क्रियाया फलस्य प्रसिद्धस्य व्यक्ति-
विभावना । यथा—

अप्यसज्जनसाक्षत्ये न वसत्येव वैकृतम् ।

अक्षालितविशुद्धेषु हृदयेषु मनीषिणाम् ॥ १३ ॥

[कारण रूप] क्रिया का निषेध होने पर [उत्पत्ते] प्रसिद्ध फल की उत्पत्ति [का वर्णन] विभावना [अलङ्कार कहलाता] है ।

[कारण रूप] क्रिया का निषेध होने पर उस ही क्रिया के प्रसिद्ध फल की अभिव्यक्ति [का वर्णन] विभावना [अलङ्कार कहलाता] है । जैसे—

असज्जनो की सङ्गति होने पर भी बर्द्धमान् पुरुषों के बिना घोड़े ही निर्मल हृदयों में विकार नहीं होता [रहता] है ।

भामह के विभावना के लक्षण तथा उदाहरण भी लगभग इसी प्रकार के हैं—

१ क्रियाया प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना ।

जेषा विभावनवासो समाधौ सुलभं सति ॥

अपीतमत्ता शिलिगो दिशोऽन्तर्कण्डिताकुसा ।

नीपोऽविलिप्तसुरभिरभ्र टकलुप जनम् ॥

साहित्यदर्पणकार ने विभावना के उक्तनिमित्त और अनुवतनिमित्त दो प्रकार के भेद करते हुए विभावना का लक्षण इस प्रकार किया है—

२ विभावना तु विना हेतु कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।

उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता ॥

भामह ने जो इस विभावना अलङ्कार का उदाहरण दिया है उसमें 'अक्षालितविशुद्धेषु' बिना घोए हुए भी स्वच्छ हृदयों में इस अश में तो विभावना स्पष्ट है । परन्तु 'असज्जनो की सङ्गति होने पर भी बर्द्धति नहीं होती ।' इस अश में या तो 'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्ति' कारण रहने पर कार्य की उत्पत्ति न होने से विशेषोक्ति अलङ्कार माना जायगा या फिर उसे भी

१ भामह काव्यालङ्कार २, ७७-७८ ।

२ साहित्यदर्पण १०, ६६ ।

विरुद्धप्रसङ्गेनानन्वय दर्शयितुमाह—

एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वय । ४, ३, १४ ।

एकमेवार्थस्योपमेयत्वमुपमानत्वं चाऽनन्वय । यथा—

गगन गगनाभ्युपसागरः सागरोपमा ।

रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥ १५ ॥

क्रमेणोपमेयोपमा । ४, ३, १५ ।

यदि विभावना का ही उदाहरण मानना है तो उसकी सङ्गति इस प्रकार से लगानी होगी कि हृदय में विकार नहीं होना है यह कार्य है । इसका कारण असज्जनो की सङ्गति का न होना है । उस कारण का अभाव असज्जन-सङ्गति का होना है । इस प्रकार यहाँ कारणभूत असज्जन-सङ्गति के अभाव का निमित्त अर्थात् असज्जन सङ्गति का भाव होने पर भी, उसके अभाव में विकार का अभाव रूप कार्य हो रहा है इसलिए यहाँ विभावना अलङ्कार माना जा सकता है । इस व्याख्या से एक बात यह सामने आती है कि साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाश के काव्य सञ्चय का खण्डन करते हुए 'य बीमारहर' इत्यादि उदाहरण में विभावना और विशेषोक्ति की अस्फुटता-वृद्धि का जो खण्डन किया है वह उचित नहीं है ॥ १३ ॥

विषय [और उक्तो एकत्र विभावना] के प्रसङ्ग से अत्रापि [अलङ्कार] को दिखाने के लिए [अगले सूत्र में अनन्वय अलङ्कार का लक्षण] कहते हैं—

एक के [ही] उपमान और उपमेय [दोनों] होने पर 'अनन्वय' होता है ।

एक ही पदार्थ के उपमेयत्व और उपमानत्व [के वर्णन] को अनन्वय [अलङ्कार कहते] हैं । जैसे [निम्न श्लोक में]—

आकाश आकाश के समान और सागर सागर के समान हैं । [उनकी कोई दूसरी उपमा नहीं हो सकती है । इसी प्रकार] राम और रावण का युद्ध राम और रावण के [युद्ध] के समान [ही] है । [इसमें अन्य किसी के सदृश नहीं है यह असादृश्य प्रतिपादित होता है] ॥ १४ ॥

[आगे] कम से उपमेयोपमा का वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

कम से [एक ही अर्थ का उपमेयत्व और उपमानत्व वर्णित होने पर] 'उपमेयोपमा' [अलङ्कार होता] है ।

एकस्यैवार्थस्योपमेयत्वमुपमानत्वं च क्रमेणोपमेयोपमा । यथा—
रमिव जल जलमिव स्व हंस इव शशी शशोव हंसोऽयम् ।

कुमुदाकारास्तारा चाराकाराणि कुमुदानि ॥ १५ ॥

इयमेव परिवृत्तिरित्येके तन्निरासार्थमाह—

समविमदृशाभ्या परिवर्तन परिवृत्तिः । ४, ३, १६ ।

समेन विसदृशेन वार्थेन अर्थस्य परिवर्तन परिवृत्तिः । यथा—

आदाय कणिकिसलयमियमस्मै चरणमरुणमर्पयति ।

उभयो सदृशविनिमयादन्योन्यमवञ्चित मन्ये ।

एक ही अर्थ का उपमेयत्व और उपमानत्व क्रम से [वर्णित] होने पर उपमेयोपमा अलङ्कार होता है । जैसे—

जल आकाश के समान [स्वच्छ] हैं और आकाश जल के समान [निर्मल] हैं । चन्द्रमा हंस के समान [शुभ्र] हैं और हंस चन्द्रमा के समान [घवल] हैं । ताराएँ कुमुदों के समान और कुमुद ताराओं के [आकार] समान हैं ।

अनन्वय में भी एक ही अर्थ का उपमान और उपमेय भाव होता है और उपमेयोपमा में भी । परन्तु उन दोनों का अन्तर यह है कि अनन्वय में 'गगन गगनाकार' आदि उदाहरणों में एक ही पदार्थ का एक ही साथ उपमान तथा उपमेय भाव होता है । परन्तु उपमेयोपमा में दोनों का उपमान उपमेय भाव एक साथ नहीं अपितु क्रम से होता है । 'रमिव जल' में 'जल' उपमेय और 'व' उपमान है पर दुबारा 'जलमिव स्व' में 'जल' उपमान हो जाता है और 'आकाश' उपमेय हो जाता है ॥ १५ ॥

कुछ लोग इस [उपमेयोपमा] को ही परिवृत्ति [भाषा से भी] कहते हैं । उनके लक्षण के लिए [अगले सूत्र में परिवृत्ति अलङ्कार का लक्षण] कहते हैं—

समान अथवा असमान [वस्तुओं] से परिवर्तन को परिवृत्ति [अलङ्कार] कहते हैं ।

समान अर्थ से अथवा असमान अर्थ से [अन्य] अर्थ के परिवर्तन को परिवृत्ति [अलङ्कार] कहते हैं । जैसे—

यह [नायिका] जान के [अरुण] किसलय को लेकर उसको अरुण चरण अर्पण करती है । [किसलय तथा चरण के] दोनों के सम विनिमय से [उन दोनों में से किसी में] एक दूसरे को ठगा नहीं ऐसा जान पड़ता है ।

यथा वा—

‘विहाय माहारमहार्यनिश्चया विलोलदृष्टिः प्रविलुप्तचन्दना ।

वचन्ध वालारुणवभ्रु वल्ग्वज पयोधरोस्तेष्विशीर्षमहति ॥ १६ ॥

अथवा जैसे—

उस दृढ़ निश्चय वाली और चन्दन [आदि शृङ्गार या लेपन ग्रन्थ] से रहित चपलनयनी [पार्वती] ने [शिष्य प्राप्ति की तपस्या के लिए] भोजन छोड़ कर [निराहार व्रत करके] प्रातःकालीन सूर्य के समान चरण त्रण और हस्तनी की उठान के कारण [वक्ष स्थल पर] जिसकी सन्धि खुली जा रही है इस प्रकार के वल्कल [वस्त्र] की धारण किया ।

इन दोनों उदाहरणों में से पहले उदाहरण में सम से विनिमय और दूसरे में विसदृश से विनिमय दिखसाया गया है । पहले श्लोक में चरण, किसलय के समान है इसलिए उन दोनों का साम्य होने से समविनिमय का उदाहरण है । नायिका ने क्यों किसलय लेकर उसको चरण धारण किया किस प्रकार किया इसके उपपादन के लिए कामशास्त्र के ‘प्रसारितक’ नामक करण विशेष का निर्देश टीकाकार ने किया है । वात्स्यायन ‘काम भूत’ में—

नायकस्यासे एको द्वितीय प्रसारित इति प्रसारितकम् ।

यह ‘प्रसारितक’ का लक्षण किया है । ‘रति-रहस्य’ में इसी व्याख्या इस प्रकार की है—

प्रियस्य वक्षोऽतल शिरोधरा नयेत सस्य चरण विनिम्बिनी ।

प्रसारयेद् वा परमायत पुनर्विपर्यय म्यादिति हि प्रसारितम् ॥

कामशास्त्र के इस ‘प्रसारित’ नामक करण के द्वारा चरण और वक्ष किसलय का विनिमय हो सकता है ।

दूसरे श्लोक में भोजन का पन्थ्याण कर उसके बदले में वल्कल की धारण किया यह जो विनिमय दिखलाया गया है । उसमें वल्कल तथा भोजन में कोई साम्य नहीं है । इसलिए वह विसदृश विनिमय का उदाहरण है ।

भामह ने इस परिवृत्ति प्रलङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है—

‘विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुन ।

अर्थान्तरव्यासवती परिवृत्तिरसी यथा ॥

१ कुमारसम्भव ५, ८ में ‘विहाय’ के स्थान पर ‘विमुच्य’ पाठ है ।

२ भामह काव्यालङ्कार ३, ३६ ।

उपमेयोपमाया क्रमो भिन्न इति दर्शयितुमाह—

उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्ध क्रम । ४, ३, १७ ।

१ प्रदाय वित्तमयिभ्य स यशोधनमदित ।

सता विश्वजनीनानामिदमस्तलित व्रतम् ॥ ४० ॥

अर्थात् भामह के अनुसार परिवृत्ति अलङ्कार के साथ 'अर्थान्तरन्यास' भी अवश्य रहना चाहिए । इसी बात को बोधन करने के लिए उन्होंने परिवृत्ति के लक्षण में स्पष्ट रूप से 'अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्ति' यह लिख दिया है । और उसका उदाहरण भी उसी प्रकार का दिया है । परन्तु बामन तथा उत्तरवर्ती आचार्यों ने परिवृत्ति के साथ 'अर्थान्तरन्यास' का होना आवश्यक नहीं माना है । साहित्यदर्पणकार ने परिवृत्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

२ परिवृत्तिविनिमय समन्यूनाधिकैर्भवेत् ।

अर्थात् परिवृत्ति या विनिमय सम, न्यून और अधिक तीनों के साथ हो सकता है । बामन ने जिस 'विमदृश' इस एक भेद के अन्तर्गत न्यून और अधिक दोनों का समग्र कर लिया था, साहित्यदर्पणकार ने न केवल उसको न्यून और अधिक करके दो भागों में विभक्त कर दिया है । अपितु उस 'विमदृश' की जिसमें न्यून और आधिक्य को नहीं अपितु केवल भेद की ही प्रधानता थी न्यूनाधिकपरक व्याख्या करके कुछ नूतनता भी प्रदर्शित की है । तीनों प्रकार की परिवृत्ति के उदाहरण इस प्रकार दिए हैं—

दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदय मम ।

मया तु हवय इत्था गृहीतो भवनम्बर ॥

इसके प्रथम चरण में सम से और द्वितीय चरण में न्यून से विनिमय दिखलाया है ।

सम्य न प्रनयसो जटायुष स्वर्गिण किमिव सोच्यतेऽधुना ।

येन जर्जरकलेवरव्ययात् श्रोतमिन्दुकिरणोज्ज्वल यश ॥

इसमें अधिक से विनिमय किया गया है ।

[पूर्व कहे हुए] उपमेयोपमा [अलङ्कार] से 'क्रम' [यथासंख्य अलङ्कार] भिन्न है इस बात को दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में 'क्रम' जिसे अन्य लोग 'यथासंख्य' नाम से कहते हैं, का लक्षण] कहते हैं—

उपमान और उपमेयों का क्रम से सम्बन्ध [प्रदर्शित करना] 'क्रम' [नामक अलङ्कार होता] है ।

उपमेयानामुपमानानां चोद्देशिनामनुद्देशिना च क्रमसम्बन्ध-
क्रमः । यथा—

तस्या प्रयन्धलीलाभिरालापस्मितदृष्टिभिः ।

जीयन्ते बल्लकीकुन्दकुमुमेन्द्रीवरस्तज्ज ॥ १७ ॥

पूर्व कहे हुए [उद्देशिना] उपमेय और [अनुद्देशिना] बाद में कहे गए [उपमानो] का जो क्रम से सम्बन्ध [करना] है वह 'क्रम' [नामक अलङ्कार] है । जैसे—

उसके आलाप, स्मित और दृष्टि रूप निरन्तर चलने वाली लीलाओं से, शीणा [बल्लकी], कुन्दकुसुम और नोतकमनों की मालाओं को जीत लिया गया है ।

यहां प्रथम चरण में आलाप, स्मित और दृष्टि रूप तीन उपमेय कहे गए हैं । उसराष्ट्र में 'बल्लकी', 'कुन्दकुसुम' और 'इन्द्रीवरस्तज्ज' तीन उपमान कहे गए हैं । इन उपमेय और उपमानों में प्रथम उपमेय आलाप का प्रथम उपमान बल्लकी के साथ, द्वितीय उपमेय स्मित का द्वितीय उपमान कुन्दकुसुम के साथ और तृतीय उपमेय दृष्टि का तृतीय उपमान इन्द्रीवरस्तज्ज के साथ सम्बन्ध होने से यहां 'क्रम' नामक अलङ्कार कहलाता है ।

वामन ने इसको 'क्रम' नाम से कहा है । उनके पूर्ववर्ती भामह आदि और उत्तरवर्ती विश्वनाथ, मम्मट आदि ने उसको 'यथासम्बन्ध' नाम से व्यवहृत किया है । भामह के भी पूर्ववर्ती कोई 'मेधावी' नामक आचार्य उत्प्रेक्षा के लिए 'सत्त्वान' नाम का व्यवहार करते थे । परन्तु भामह उनका स्पष्टन करके 'सत्त्वान' अथवा 'यथासम्बन्ध' को उत्प्रेक्षा से भिन्न अलङ्कार बतलाते हुए लिखते हैं—

* यथासम्बन्धमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वयं विदुः ।

सत्त्वानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहित्वा ववचित् ॥ ८८ ॥

भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसमर्पणम् ।

क्रमसो योजुनिर्देशो यथासम्बन्धः तदुच्यते ॥ ८९ ॥

परोक्षं भूज्जमातृ ह पुस्कोक्ति कलापिनः ।

वक्त्रकान्तीक्षणगतिवाणीबालेस्त्वया जिता ॥ ९० ॥

साहित्यदर्पण में 'यथासम्बन्ध' के लक्षण, उदाहरण इस प्रकार दिए हैं—

* यथासम्बन्धमनुद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत् ।

क्रममन्वयप्रमद्वेन दीपक दर्शयितुमाह—

उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम् । ४, ३, १८ ।

उपमानवाक्योपमेयवाक्येषु चैका क्रिया अनुपपन्नतः सम्बध्यमाना दीपकम् ॥ १८ ॥

तत्त्रयविध्य, आदिमध्यान्तवाक्यवृत्तिभेदात् ।

४, ३, १९ ।

तत्र त्रिविध भवति । आदिमध्यान्तेषु वाक्येषु वृत्तिभेदान् । यथा—

उन्मीलन्ति नखलुंनोहि, वहति क्षोभाञ्जलेनावृणु,
श्रीहाकाननमाविशन्ति वनयवदारुं समुत्त्रासय ।
इत्थं वञ्जुलदक्षिणानिलवृद्धवष्टेषु साकेतिक
आहारा सुभग त्वदीयविरहे तस्या सखीना मिथ ॥

वामन 'मामह' और 'विश्वनाथ' के इन वक्षण और उदाहरणों में घोड़ा या तारतम्य प्रतीत होता है ॥ १७ ॥

'अम' से सम्बध्य होने के प्रमद्व में [उससे सम्बद्ध] दीपक [अलङ्कार] को दिखलाने के लिए [दीपकालङ्कार का लक्षण] कहने हैं—

उपमान और उपमेय वाक्यों में एक क्रिया [या सम्बध्य दिखलाना], 'दीपक' [नामक अलङ्कार होता] है ।

उपमान वाक्यों और उपमेय वाक्यों में प्रसङ्ग [प्रसङ्गात्मसम्बन्धोऽनुपपन्न] से सम्बद्ध की गई एक क्रिया [दरवाजे की देहली पर रखा हुआ दीपक जैसे दरवाजे ■ भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश करता है इस प्रकार एक क्रिया-पद उपमान वाक्य और उपमेय-वाक्य दोनों में सम्बद्ध होता है तब देहली-दीपक-ग्याय से] 'दीपक' [नामक अलङ्कार] होता है । ॥ १८ ॥

वह [दीपकालङ्कार] तीन प्रकार का होता है । आदि मध्य और अन्त वाक्यों में रहने के भेद से ।

वह [दीपकालङ्कार] तीन प्रकार का होता है । आदि मध्य और अन्त के वाक्यों में स्थित होने के भेद से [अर्थात् उपमान और उपमेय वाक्यों में सम्बद्ध होने वाली जो एक क्रिया है वह कहीं आदि के वाक्य में, कहीं मध्य के वाक्य में और कहीं अन्त के वाक्य में रहती है । इसलिए दीपक के तीन भेद होते हैं । उन तीनों के समान उदाहरण देते हैं] । जैसे [आदि दीपक का उदाहरण]—

भूप्यन्ते प्रमदवनानि बालपुष्पैः, कामिन्यो मधुमदमामलैर्विलासैः ।
 ह्याण. श्रुतिगदितैः क्रियाकलापैः, राजानो विदलितवैरिभिः प्रतापैः ॥
 बाष्प पथिकरान्ताना जलं जलमुचा मुहु ।
 विगलत्यधुना दण्डयात्रोगोगे महीभुजाम् ॥

फोडोरान [प्रमद वन] बाल-पुष्पो [नवीन पुष्पो] से, कामिनिया मदिरा के मद से प्रचुरता को प्राप्त हुए हाव-भावों से, ब्राह्मण लोग वेदविहित [यज्ञादि के] क्रिया कलापों से और राजा लोग शत्रुओं को नष्ट [विदलित] कर देने वाले प्रतापों से मुशोभित होते हैं ।

इस में 'प्रमदवनानि', 'कामिन्य', 'ब्राह्मण' और 'राजान' इन चारों में परस्पर उपादानोपमेय भाव है और उन मरके पाप मायाय धर्म के रूप में 'भूप्यन्ते' इस क्रिया का सम्बन्ध होता है । इसलिए यह दीपक का उदाहरण है । और यह चारो वाक्यों में सम्बद्ध होने वाली एक क्रिया यहा आदि वाक्य में पाई जाती है इसलिए यह 'आदि दीपक' का उदाहरण हुआ । मगला उदाहरण 'मध्य दीपक' का देते हैं—

राजाओं की [दण्डयात्रा] विजय यात्रा की तैयारी [उद्योग] के समय [शरद् ऋतु] में पथिकों[भागते हुए शत्रुओं] की स्त्रियों के आसू, [मृदु विगलति] बार-बार गिरते हैं । और मेघों का जल बार-बार नष्ट हो जाता है—[रुक जाता है] ।

विजय यात्रा वर्षा ऋतु के बाद, शरद् ऋतु में प्रारम्भ होती थी । वर्षाकाल में मेघों से जल वरसता है और वियोगियों की स्त्रिया की आँखों से आसू टपका करते हैं । परन्तु उसकी समाप्ति हो जाने पर मेघों से जल और वियोगियों की आँखों से आसूओं का वरसना बन्द हो गया है । यह कवि का अभिप्राय है । इसलिए 'विगलति' का अर्थ यहा प्रवाहित होना नहो प्रपितु नष्ट होना करना चाहिए । [गलन बाष्पत्रलयो स्पन्दन दण्डयात्रोद्योग नाग] प्रयवा बादलों से जल का गिरना बन्द हो जाता है परन्तु जिसको दण्ड देन के लिए यात्रा हो रही है डर के मारे भागते हुए उन शत्रुओं की स्त्रिया की आँखों से आसू बहना जारी हो जाता है । यह अर्थ भी हो सकता है उस दशा में 'विगलति' का अर्थ एक जगह नष्ट होना और दूसरी जगह गिरना या जारी होना होना ।

इस उदाहरण में दोनों वाक्यों में सम्बद्ध होने वाली 'विगलति' क्रिया

अन्युच्चपदाध्यामः पतनायेत्यर्थशालिनां शंसन् ।

आपाण्डु पतति पत्रं तरोरिदं बन्धनग्रन्थेः ॥

पततीति क्रिया, तस्याः स्व पतनम् । तदर्थो 'अन्युच्चपदाध्यासः पतनाय' इति शंसनम् । तस्य स्यापनं 'अर्थशालिनां शंसन्' इति ॥ २८ ॥

अर्थशालियो [घनवानो] का, अर्थात् उच्चपद पर पहुँचना [अन्त में उनके] पतन के लिए ही होना है, यह बात बतलाता हुआ वृक्ष का यह पोला पत्ता [वृक्ष की टाली में अपने जुड़े होने के स्थान] बन्धनग्रन्थि से [टूट कर] गिर रहा है । [यहाँ] पतति यह क्रिया है । इसका स्व [स्वरूप, अर्थात्] पतन है । उसका प्रयोजन 'अन्युच्च उच्च पद की प्राप्ति पतन के लिए होती है' यह जनलाना है । उसका स्यापन [यहाँ] 'अर्थशालिनां शंसन्' इस [पद] से बिल्ललाया गया है ।

भामह ने निदर्शना का वर्णन इस प्रकार किया है—

^१नियमैव विनिष्टम्य तदर्थस्योपदर्शनात् ।

ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववृत्तिभिर्विना ॥

अथ मन्दगुतिभ्रंस्तत्त्वान्मन् प्रति विधासति ।

उदय पतनायेति श्रीमतो बोधयन्त्ररान् ॥

साहित्यदर्पणकार ने 'निदर्शना' का लक्षण इस प्रकार किया है—

^२मम्मथन् वम्नुसम्बन्धोऽमम्प्रवन्नपि कुवन्ति ।

यत्र विद्मानुविम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ॥

अर्थात् इस लक्षण में 'विद्मानुविम्बत्वं भाव' के ऊपर विशेष बल दिया गया है । इसमें उदाहरण में निम्न श्लोक को भी दिया गया है—

^३वद सूर्यप्रमथो वद वद चान्पदियया मति ।

तितीर्षु दुस्तर मोहानुद्वेपेनास्मि सागरम् ॥

इस प्रकार के उदाहरणों में वामन का निदर्शना का लक्षण नहीं पहुँच सकेगा । उसमें पतन जैसी क्रिया के द्वारा उसके प्रयोजन की सूचना आदि नहीं हो रही है । अतएव मम्मट, निदर्शनाय आदि नवीन आचार्यों का 'निदर्शना' का लक्षण वामन के लक्षण से भिन्न और अधिक व्यापक है ॥ २० ॥

^१ पूर्व संस्करण में 'तपोरिदं' पाठ था ।

^२ भामह काव्यालङ्कार ३, ३३-३४ ।

^३ साहित्यदर्पण १०, ५१ ।

^४ रघुवश १, ३ ।

इदञ्च नार्थान्तरन्यासः । स ह्यन्यथाभूतः । तमाह—

उक्तसिद्ध्यै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः ।

४, ३, २१ ।

उक्तसिद्ध्यै उक्तस्यार्थस्य सिद्ध्यर्थं वस्तुनो वाक्यार्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः । वस्तुग्रहणादर्थस्य हेतुर्न्यसनाच्चार्थान्तरन्यासः । यथा—
इह नातिदूरगोचरमस्ति सरः कमलसौगन्ध्यात् । इति

अर्थान्तरस्येवेति वचन, यत्र हेतुव्याप्तिगूढत्वात् कथञ्चिन् प्रतीयते तत्र यथा स्यात् । यद्यत् कृतक तत्तदनित्यमित्येवप्रायेषु या भूदिति ।

उदाहरणम्—

प्रियेण समर्थ्य विपक्षसन्निधानुपाहिता वक्षसि पीवरस्तनी ।

स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविला, वसन्ति हि प्रेम्णि गुण्या न वस्तुनि ॥ २१ ॥

यह [निदर्शना, अथवा उमका जो ऊपर उदाहरण दिया है वह] अर्थान्तर न्यास [असङ्गार] नहीं है । [क्योंकि] वह तो [निदर्शना से भिन्न] अन्य प्रकार का होता है । उस [अर्थान्तरन्यास के लक्षण] को कहते हैं—

[उक्त] कथित [अर्थ] की सिद्धि [समर्थन] के लिए दूसरे [वाक्यार्थ रूप] अर्थ को प्रस्तुत करना अर्थान्तरन्यास [असङ्गार कहलाता] है ।

उक्त [अर्थ] की सिद्धि अर्थात् कथित अर्थ की सिद्धि [समर्थन] के लिए वस्तु अर्थात् दूसरे वाक्यार्थ का उपन्यास करना अर्थान्तरन्यास [असङ्गार कहलाता] है । वस्तु ग्रहण से [तात्पर्य यह है कि जिम प्रकार अनुमान वाक्य में] अर्थ [या प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए हेतु दिया जाना है उस प्रकार] के हेतु को उपस्थित करना 'अर्थान्तरन्यास' नहीं [कहलाता] है । जैसे—

'यहाँ से तालाब बहुत दूर नहीं है, कमलो को सुगन्ध [यहा] होने से ।' [यहा पहिली बात को निष्ठ करने के लिए 'कमलसौगन्ध्यात्' यह हेतु दिया गया है । परन्तु यहा अर्थान्तरन्यास असङ्गार नहीं है]

अर्थान्तर का ही कथन [यह जो सूत्र में] कहा गया है [वह इसलिए कहा गया है कि] जहा व्याप्ति के गूढ होने से हेतुत्व की प्रतीति कथञ्चित् [कठिनाई से] हो [अनुमान के हेतु के समान स्पष्ट रूप न हो] वहा ही [यह अर्थान्तरन्यास असङ्गार] हो । [और] जो-जो कृतक [बनाया हुआ, जन्म] है वह-वह अनित्य है इस प्रकार के उदाहरणों में [अर्थान्तरन्यास असङ्गार] न हो ।

[अर्थान्तरन्यास असङ्गार का] उदाहरण—

सपत्नियो [विपक्ष] के सामने [स्वयं] गूथकर वक्ष स्वतः पर पहिनाई हुई माला को जल [में स्नान करने] से खराब हो जाने पर भी किसी [सुन्दरी विशेष] ने फेंका नहीं । गुण तो प्रेम में रहते हैं वस्तु में नहीं ।

यहां जल में खराब हुई माला को भी क्यों नहीं फेंका इस बात का उपपादन करने के लिए 'वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि' यह बात कही गई है । इस कथन में पृथक् कथन का औचित्य भिन्न हो जाता है । परन्तु वह 'अनिरय शब्द कृतकत्वात् घटवत्' इत्यादि अनुमान वाक्य के गगान नहीं अपितु कुछ विरक्षण सुन्दरता के साथ मिट्ट होना है ।

भामह ने अर्थान्तरन्यास का लक्षण इस प्रकार किया है—

१ उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदिनादृते ।
 ज्ञेय मोऽर्थान्तरन्यास पूर्वार्थानुगतो यथा ॥ ७१ ॥
 परानीकानि भीमानि विवर्धन् तव व्यथा ।
 साधु वानाधु वागपि पुत्रामात्यैव शमनि ॥ ७२ ॥
 हि शब्देनापि हेत्वर्थप्रयत्नादुक्तमिदमे ।
 अयमर्थान्तरन्यास मुक्तरा व्यज्यते यथा ॥ ७३ ॥
 वहन्ति गिरयो मेघानभ्युपेतान् गुरुनपि ।
 गरीयानेव हि गुणान् विभर्ति प्रणयागतान् ॥ ७४ ॥

नर्वान आचार्यों ने अर्थान्तरन्यास का जो लक्षण किया है वह वामन और भामह दोनों के लक्षणों में अधिक स्पष्ट और सरल है । उन्होंने लक्षणभेद के साथ ही अर्थान्तरन्यास के आठ भेद भी किये हैं । साहित्यदर्पण में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

२ सामान्य वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।
 कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ।
 साधर्म्येणैतरेषांर्थान्तरन्यासोऽष्टधा स्त ॥

वामन का जो उदाहरण है वह साहित्यदर्पण के लक्षण के अनुसार सामान्य में विशेष के समर्थन का उदाहरण हो सकता है । क्योंकि उसमें 'वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि' इस सामान्य नियम से 'स्रज न काचिद् विजहौ जलाविलाम्' इस विशेष का समर्थन किया है । इसी प्रकार भामह के

१ भामह काव्यालङ्कार ३, ७१-७४ ।

२ साहित्यदर्पण १०, ६१ ।

अर्थान्तरन्यासस्य हेतुरुपत्वाद्, हेतोश्चान्वयव्यतिरेकात्मकत्वान्न
पृथग् व्यतिरेक इति केचिन्, तन्निरामार्थमाह—

उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः । ४, ३, २२ ।

उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं गुणाधिक्यं यद्, अर्थादुपमानात् स
व्यतिरेकः । यथा—

सत्यं हरिणशायाद्याः प्रसन्नसुभगं मुखम् ।

समानं शशिनं किन्तु स कलङ्कविडम्बितः ॥

दिये हुए दोनो उदाहरण भी इसी सामान्य में विशेष के समर्थन रूप अर्थान्तर-
न्यास के उदाहरण हो सकते हैं । परन्तु साहित्यदर्पणकार ने अर्थान्तरन्यास
के आठ भेद दिखाये हैं । उनमें से एक दो उदाहरण इस प्रकार दिये जा
सकते हैं—

सामान्य का विशेष में समर्थन का उदाहरण—

१ बृहन्महाय कायान्ति क्षोदीयानपि गच्छति ।

सम्भूयान्मोधिमभ्येति महानद्या नगापया ॥

कारण में कार्य के समर्थन का उदाहरण—

२ पृथिवि स्थिरा भव भुजगम धारयन्ता,

तव कूर्मगज नदिद्वि त्रिनय दधीषा ।

दिवन्कुञ्जरा कुस्तनन् त्रिनये दिधीर्षा

देव करोति हरवाम् कमानतज्जम् ॥ २४ ॥

‘अर्थान्तरन्यास’ के हेतु रूप होने से और हेतु के अन्वय-व्यतिरेकात्मक
होने से व्यतिरेक [असलझार, अर्थान्तरन्यास असलझार से] पृथक् नहीं है ऐसा
कृष्ण लोग मानते हैं । उनका खण्डन करने के लिए [अगले सूत्र में व्यतिरेक अस-
कार का लक्षण] कहते हैं—

[उपमान की अपेक्षा] उपमेय के गुणों का आधिक्य [गुणातिरेकित्वं]
व्यतिरेक [असलझार कहा जाता] है ।

[उपमान की अपेक्षा] उपमेय का जो गुणातिरेकित्वं अर्थात् गुणाधिक्य
उपमान से वह ‘व्यतिरेक’ [असलझार कहा जाता] है । जैसे—

मृगनयनी [नायिका] का प्रसन्न और सुन्दर मुख चन्द्रमा के समान है

१ शिशुपालवध २, ।

२ वातरामायण १, ।

कश्चित्तु गम्यमानगुणो व्यतिरेकः । यथा—

कुवलयवनं प्रत्याख्यातं नवं मधु निन्दितम्,
हमितममृतं भग्नं स्वादो. पदं रससम्पदः ।
विषमुपहितं चिन्ताव्याजान्मनस्यपि कामिनां
चतुरललितैर्लीलातन्त्रैस्तत्त्वार्थविलोकिनैः ॥ २२ ॥

यह [कहना] सत्य है, परन्तु वह [चन्द्रमा] कलक से युक्त है [परन्तु
मुख कलङ्कुरहित होने से उससे उत्कृष्ट है] ।

यहा उपमानभूत चन्द्र में कलङ्क है परन्तु उपमेयभूत मुख कलङ्कुरहित
होने में उस कलकी चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक जच्छा है । इस प्रकार उपमान
की अपेक्षा उपमेय में गुणाधिक्य होने में यहा व्यतिरेकात्कार है ।

कहीं गम्यमान गुण वासा व्यतिरेक होता है । [अर्थात् जिस गुण का
आधिक्य हो वह शब्द से उपास्य नहीं होता है अपितु केवल गम्यमान होता है]
जैसे—

चतुर और सुन्दर हावभाव युक्त सुन्दरे कटाक्षों में नीलकमल को
निरस्तुत कर दिया, नवीन [अनास्वादित] मधु को भी निन्दित कर दिया,
अमृत का उपहास किया, सुस्वादु रससम्पत्ति का पद भी भग्न कर दिया और
चिन्ता के बहाने से कामियों के मन में विष का आधान कर दिया है ।

यह गम्यमान गुण का उदाहरण है । गुणानिरेकित्व में गुण शब्द धर्म-
मात्र का बोधक है । वह धर्म भी वाच्य तथा गम्य दो प्रकार का होता है ।
जब इनमें से प्रत्येक उपमानगत होकर उसमें अपकर्ष का हेतु अथवा उपमेय-
गत होकर उसके उत्कर्ष का बोधक होना है । जब उपमानगत अपकर्षहेतु धर्म
होता है तब उसमें उपमान का अपकर्ष होने में उपमेय का उत्कर्ष सूचित होता
है । वह 'आर्य' अथवा गम्यमान उत्कर्ष कहलाता है । और जब स्वयं उपमेय-
निष्ठ धर्म उसके उत्कर्ष का कारण होता है तब वह गुणानिरेकित्व वाच्य
अथवा शब्द कहलाता है । उनमें से प्रथम उदाहरण उपमान अर्थात् चन्द्रगण
कलङ्कित्व धर्म में उपमेय मुख के गुणानिरेकित्व का बोधक होने में और उसके
शब्दगत उपास्य होने में उपमानभूत वाच्यगुण प्रयुक्त व्यतिरेक का उदाहरण
है । दूसरा उदाहरण उपमानगत गम्यमान गुण प्रयुक्त व्यतिरेक का है । कुवलयवन,
मधु, आदि उपमानों के प्रत्याख्यान 'निन्दा' आदि में अवगम्यमान 'चतुरललित-
लीलातन्त्रत्व राहित्य' रूप अपकर्ष हेतु में कटाक्ष में 'चतुरललितलीलातन्त्रत्व'
जो वस्तुतः शब्द है परन्तु इस ढंग में कहने में अधिक उत्कर्ष में स्थित होना

व्यतिरेकाद् विशेषोक्तेर्भेदं दर्शयितुमाह—

एकगुणहानिकल्पनाया साम्यदार्ढ्य विशेषोक्तिः । ४, ३, २३ ।

एकस्य गुणस्य हानेः कल्पनायां शेषैर्गुणैस्साम्यं यन् तस्य दार्ढ्यं विशेषोक्तिः । रूपकं चेदं प्रायेण । यथा—

‘भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूरा मुरतप्रदीपाः’ ।

‘द्युतं हि नाम पुरुषम्यामिहासनं राज्यम्’ ।

‘निद्रेयमकमला लक्ष्मी’ ।

‘हन्ती हि जङ्गमं दुर्गम्’ इति ।

अत्रापि जङ्गमशब्दस्य स्थावरत्वनिवृत्तिप्रतिपादनत्वाद्देकगुणहानिकल्पनैव ।

व्यतिरेक ने विशेषोक्ति का भेद दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में विशेषोक्ति का लक्षण] कहते हैं—

एक गुण की न्यूनता की कल्पना करने पर जो साम्य की पुष्टि [की जाय] वह विशेषोक्ति [अलङ्कार कहलाता] है ।

एक गुण की हानि [न्यूनता] की कल्पना करने पर शेष गुणों से जो साम्य है उस की दृढ़ता में विशेषोक्ति [अलङ्कार होगा] है । और वह प्रायः रूपक [तुल्य] होता है । जैसे—

जहाँ [हिमालय पर्वत पर] रात्रि के समय औषधियाँ ही [स्वयं प्रकाशमान होने से] बिना तेल के मुरत [बाल में] दीपक [का काम करने वाली] होती हैं ।

यह कुमारसम्भव का श्लोक है । औषधियों के प्रकाशमान होने से उनकी उपमा दीपक से दी जा सकती है । उसमें भेद करने के लिए ‘अतैलपूरा’ विशेषण दिया है । इससे एक गुण की न्यूनता प्रतीत होती है । औषधियाँ दीपक तो हैं परन्तु बिना तेल का दीपक है । इस एक गुण की हानि से औषधियों के दीपक के साथ साम्य की दृढ़ता होती है । इसलिए यह विशेषोक्ति अलङ्कार है । और औषधियों को मुरतप्रदीप रूप कहने से उसमें रूपक सादृश्य भी है । इसलिए उसको ‘प्रायेण’ रूपक कहा है । इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी देते हैं—

जुआ [द्यूत बीड़ा] बिना सिंहासन का राज्य है ।

यह निद्रा बिना कमल के [रहने वाली] लक्ष्मी है ।

हाथी चलता-फिरता किला है ।

एतेन—‘वैश्या हि नाम मूर्तिमत्येव निष्कृतिः’। ‘व्यसन हि नाम सोच्छ्रयार्थं मरणम्’। ‘द्विजो भूमिवृहस्पति’ इत्येवमादिष्वेकगुणहानि-कल्पना व्याख्याता ॥ २३ ॥

यहा [‘हस्ती हि जङ्गमो दुर्गम्’ इति उदाहरण में] जङ्गम शब्द के स्यादस्त्व के अभाव का बोधक होने से एक गुण की हानि की कल्पना है ही ।

इम [उपर्युक्त उदाहरणों की व्याख्या] से—वैश्या मूर्तिमतीतिरस्कृति [अप्रमाण स्वरूप] है । [व्यसन] इस जीवित रहते [सोच्छ्रयात्] मरण है । ब्राह्मण पृथिवी का वृहस्पति है । इत्यादि [उदाहरणों] में [भी] एक गुण हानि की कल्पना की व्याख्या हो गई ।

भामह ने विशेषोक्ति का निरूपण इस प्रकार किया है ।—

‘एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरमस्तिनि ।

विशेषप्रयनायामी विशेषोक्तिर्मता यथा ॥२३॥

म एकम्प्रीणि जयन्ति जगन्ति वुमुमायुध ।

हन्तापि मनु यस्य शम्भुना न हून दलम् ॥ २४ ॥

विश्वनाथ मम्मट आदि ने, कारण होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न होने पर विशेषोक्ति अलकार माना है । और उसको उक्तनिमित्ता तथा अनुक्तनिमित्ता दो प्रकार का बतलाया है ।

‘सति त्वी फलामावे विशेषोक्तिस्तथा द्रिया ।

अचिन्त्यनिमित्ता भी एक भेद और हो सकता है परन्तु उसको अनुक्तनिमित्ता का ही रूप मान कर साहित्यदर्पणकार ने यह तीसरा भेद अलग नहीं किया है । इस अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण भामह का ‘एकम्प्रीणि जयन्ति जगन्ति वुमुमायुध’ यह श्लोक ही दिया है । उक्तनिमित्ता का उदाहरण निम्न दिया है—

धनिमोऽपि निरन्मादा युवानोऽपि न चञ्चला ।

प्रमवोऽप्यप्रमनास्ते महामहिमशालिन ॥

यहा धनिक होने पर भी निरन्माद होने, यौवन होने पर भी चञ्चल न होने और प्रभु होने पर भी अप्रमत्त होने का कारण चतुर्थ चरण में ‘महामहिमशालिन’ कह कर दिया है ॥२३॥

व्यतिरेकविशेषोक्तिभ्या व्याजस्तुतिं भिन्ना दर्शयितुमाह—

सम्भाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निन्दा स्तोत्रार्था व्याजस्तुति ।

४, ३, २४ ।

अत्यन्तगुणाधिको विशिष्ट । तस्य च कर्म विशिष्टकर्म । तस्य सम्भाव्यमानस्य कर्तुं शक्यस्याकरणान्निन्दा विशिष्टसाम्यसम्पादनेन स्तोत्रार्था व्याजस्तुति । यथा—

यद्यप्य सेतुं गिरिचक्रवालैर्विभेद सतैकशारेण तालान् ।

एतद्विधं कर्म ततान् रामस्त्यया कृतं तन्न मुधैव गर्व ॥ २४ ॥

व्यतिरेक और विशेषोक्ति से व्याजस्तुति को अलग दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में उसका लक्षण] करते हैं—

कर सकने योग्य [सम्भाव्य] विशिष्ट [पुरुष के] कर्म के न करने से [वस्तुतः] स्तुति के लिए जो निन्दा करना है वह व्याजस्तुति [अलङ्कार कहलाता] है ।

गुणों में [उपमेय की अपेक्षा] अत्यन्त अधिक [पुरुष] विशिष्ट [पुरुष] कहलाता है । उसका कर्म विशिष्ट कर्म [यह पृथ्वी तत्पुरुष समास] हुआ । उस सम्भाव्य अर्थात् कर सकने योग्य [कर्म] के न करने से [जो] निन्दा [उस] विशिष्ट के साथ साम्य सम्पादन द्वारा [उपमेय की बान्धविक] स्तुति के लिए [की जाय] वह व्याजस्तुति [अलङ्कार कहलाता] है । जैसे—

[रामचन्द्र ने] पर्वतों [के पत्थरों] के समूह से [समुद्र का] पुल बाधा, एक बाण में सात ताल बुझो का भेदन किया । इस प्रकार के [प्राद्वर्धन जनक] कर्म रामचन्द्र ने किए थे । तुमने उनमें से एक भी नहीं किया फिर व्यर्थ ही गर्व क्यों करते हो ।

यहां रामचन्द्र के किए हुए विशिष्ट कर्मों के न करने में राजा की ऊपरी तौर से निन्दा की गई है । परन्तु उसमें राजा का राम के साथ सादृश्य अभीष्ट है इसलिए यहां निन्दा के स्तुतिपरक होने में 'व्याज स्तुति' है ।

भामह ने इस 'व्याज स्तुति' अलङ्कार का निरूपण इस प्रकार किया है—

“दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुन्यनाम् ।

किञ्चिद् विविक्तोर्था निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा ॥

व्याजस्तुतेव्याजोक्तिं मित्रा दशयितुमाह—

व्याजस्य सत्यसारूप्य व्याजोक्ति । ४, ३, २५ ।

व्याजस्य छेदना सत्येन सारूप्य व्याजोक्ति । यां मायोक्ति-
रित्याहुः । यथा—

^१राम मन्नामिनन् नालान् गिरि वीञ्च भृगूत्तम ।

यतागेनापि भवता किं तयो मदय कृतम् ॥

भामह नया वामन दोषों न केवढ स्तुति के लिये को जान वाली निन्दा को 'व्याजस्तुति' कहा है । परन्तु भम्मट बिम्बनाथ आदि आचार्यों ने निन्दा के लिए को जाने वाली स्तुति को भी 'व्याजस्तुति' कहा है । साहित्यदर्पण में 'व्याजस्तुति' का निरूपण इस प्रकार किया है—

^२उक्ता व्याजस्तुति पुन ।

निन्दाम्स्तुतिम्या वाच्याम्या गम्यन्ते स्तुतिनिन्दया ॥

स्तुति में गम्यमान निन्दा का उदाहरण निम्न श्लोक दिया है—

व्याजस्तुतिस्तव पयोद मयादिनेय

यज्जीवनाय जगन्मन्त्र जीवनानि ।

स्तोत्र तु ते महदिव धन धमराज-

साहाय्यमजयमि यन पथिबान्निहन्त्य ॥

यहा मंत्र की वाच्यविक स्तुति यह बनवाई गई है कि वह विपोगियों को मार कर धर्मराज-यम-का महायज्ञ होगा है । यह देखने में भठे ही स्तुति हो परन्तु वह वस्तुतः उनकी 'निन्दा' ही है । इसलिए यह 'व्याजस्तुति' कही गई है ॥२॥

व्याजस्तुति से व्याजोक्ति भिन्न [अलङ्कार] है [उसको दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में व्याजोक्ति का लक्षण] कहने है—

व्याज [बहाने से कही हुई बात] का सत्य के साथ सारूप्य [प्रदर्शित करना] व्याजोक्ति [अलङ्कार कहलाता] है ।

असत्य [व्याज] के बहाने से सत्य का सादृश्य [प्रतिपादन करना] व्याजोक्ति [अलङ्कार कहलाता] है । जिसको अन्य लोग 'मायोक्ति' कहते हैं । [उसका उदाहरण] जैसे—

^१भामह काव्यालङ्कार ३, ३२ ।

^२साहित्यदर्पण १०, ६० ।

शरच्चन्द्रांशुगौरेण वाताविद्धेन मामिनि ।

काशपुष्पलवेनेवं साश्रुपातं मुखं कृतम् ॥ २५ ॥

व्याजस्तुतेः पृथक् तुल्ययोगितेत्याह—

शरच्चन्द्र की किरणों के समान शुभ्र, वायु से लाए गए, काशपुष्प के तिनके ने [आँख में पड़ कर] यह मुख अश्रुपातपुवत कर दिया ।

यहाँ मात्त्विक भाव में होने वाले अश्रुपात को काशपुष्प के तिनके के आँख में पड़ जाने में होने वाला अश्रुपात कह कर मत्स्य को छिपाने का यत्न किया गया है । इसलिए यहाँ व्याजोक्ति अलङ्कार है । नवीन आचार्यों ने जो छिपाने योग्य बात किसी प्रकार दूसरे पर प्रकट हो जाय उसको किसी बहाने में छिपाने के प्रयत्न को व्याजोक्ति अलङ्कार कहा है । विश्वनाथ ने उसका लक्षण इस प्रकार किया है—

‘व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नमपि वस्तुन ।

जने—

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाह्मनोपगूढोल्लस—

द्रोमाञ्चादिविमट्टलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुल ।

आ शैत्य तुहिताचलस्य करयोरित्यूचिवान् मस्मित

शैलान् पुरमात्मण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद् ब भिव ॥

यहाँ शिव और पार्वती के विवाह के अवसर पर कन्यादान करने के समय, पार्वती के हाथ का शिव के हाथ में स्पर्श होने में उनके भीतर कम्प आदि मात्त्विक भावों के उदय होने के कारण जब विधि में गड़बड़ होने लगी तो अपने मात्त्विक भाव जन्म कम्पादि को छिपाने के लिए शिव जी पर्वतराज के हाथों की शीलता का आश्रय लेते हैं । ‘आ’ शैत्य तुहिताचलस्य करयो’ कह कर उस मात्त्विक भाव रूप यथार्थ कम्प को छिपाने का प्रयत्न किया गया है । इसलिए यहाँ व्याजोक्ति अलङ्कार है । वामन के लक्षण का भी अभिप्राय यही है । पर वह उतना स्पष्ट नहीं हुआ है ॥ २५ ॥

व्याजस्तुति से तुल्ययोगिता [अलङ्कार] पृथक् है यह [दिखलाने के लिए अगले सूत्र में तुल्ययोगिता का लक्षण] कहते हैं—

विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता ।

४, ३, २६ ।

विशिष्टेन न्यूनस्य साम्यार्थमेककालाया क्रियाया योगस्तुल्य-
योगिता । यथा—

जलधिरशक्तामिमा परित्री वहति भुजङ्गविभुर्भवद्भुजश्च ॥१६॥

विशिष्ट [अधिक गुण वाले उपमान] के साथ [न्यून गुण वाले उपमेय के] साम्य [प्रतिपादन] के लिए [उन दोनों का] एक काल [एक साथ] होने वाली क्रिया के साथ योग [सम्बन्ध प्रदर्शित करता] तुल्ययोगिता [नामक अलङ्कार कहलाता] है ।

विशिष्ट [अधिक गुण वाले उपमान] के साथ न्यून गुण [वाले उपमेय] के साम्य के [प्रतिपादन] के लिए [उन दोनों का] एक काल में होने वाली क्रिया में योग [तुल्यकालीन क्रिया में योग होने के कारण] 'तुल्य योगिता' अलङ्कार [कहलाता] है । जैसे—

समुद्ररूप रत्ना को धारण किए हुई [चारों ओर समुद्र से घिरी हुई] इस पृथिवी को सर्पराज [शेषनाग] और आपको भुजा [यह दोनों] धारण करते हैं ।

यहां तुम्हारी भुजा शेषनाग के समान है इस प्रकार विशिष्ट अर्थात् अधिक गुण वाले उपमानभूत शेषनाग के साथ साम्य दिखलाने के लिए भूमि के धारण करने रूप तुल्य क्रिया, एककालीन क्रिया के साथ उन दोनों का योग किया गया है । 'परित्री वहति भुजङ्गविभुर्भवद्भुजश्च ।' इस प्रकार उपमानभूत शेषनाग और उपमेय भूत भुजा के साथ एक तुल्य धर्म का योग होने से यहां तुल्ययोगिता अलङ्कार है ।

भामह ने तुल्ययोगिता अलङ्कार का जो निरूपण किया है । उसके अनुसार तुल्ययोगिता के लक्षण और उदाहरण इस प्रकार होंगे—

* न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया ।

न्यूनकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥

शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरव स्थिरा ।

यदलघितमयादाञ्चलनी विभृथ क्षितिम् ॥

उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यापि सूत्रार्थः ।

यथा—

ऐन्द्र धनु पाण्डुपयोवरेण शरद् दधानाद्र्भलक्षताभम् ।

प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं खेरम्यधिकञ्चकार ॥

अत्र शरद् वेश्येव, इन्दुं नायकमिव, रवे, प्रतिनायकरूपेण इत्युपमानानि गम्यन्ते इति ॥ २७ ॥

‘ यदि उस [नायिका] का सौम्य और सुन्दर मुख विद्यमान है तो फिर [उसी के समान] कार्य करने वाले] पूर्णिमा के चन्द्रमा से क्या लाभ । और यदि सौन्दर्य के निधानभूत [उस नायिका के] नेत्र विद्यमान है तो [उसी के समान] नील कमलों से क्या लाभ । और वहा [उस मुख में] यदि अक्षर विद्यमान है तो फिर [उसके समान ही] कोमल कान्ति वाले क्रिसलयो से क्या प्रयोजन । [इन सब की रचना बिल्कुल व्यर्थ है । लेकिन फिर भी विधाता ने इतको रचा है ।] खैर है कि विधाता को पुनरुक्त [व्यर्थ] वस्तुओं के बनाने का [ऐसा] अपूर्व आग्रह [शौक] है ।

यहा नृत्यकायवागी चन्द्र, नीलोत्पल, विमलय आदि उपमानों के अनर्थक्य का प्रतिपादन किया गया है । अतएव यहा आक्षेपालंकार है ।

उपमान की आक्षेप से [अर्थात्] प्रतिपत्ति [ज्ञान] भी [आक्षेप अलंकार] कहा जा सकता है यह इस [सूत्र का अर्थ] हो सकता] है ।

जैसे [निम्न श्लोक में]—

[पाण्डु] सुभ्रवर्ण के मेघों के ऊपर [दूसरे पक्ष में] स्तनों के ऊपर] ताजे नयनशरी के समान इन्द्र धनुष की धारण किए हुए [शरद् शत्रु, दूसरे पक्ष में नायिका] कलकी [कलकपुष्प, दूसरे पक्ष में पराङ्मनोपभोग रूप कलक से युक्त] चन्द्र की, निर्मल करती [दूसरे पक्ष में] मनाती] हुई शरद् [शत्रु, दूसरे पक्ष में नायिका] ने [नायक रूप] सूर्य के ताप [दूसरे पक्ष में धूप की तीव्रता] को और अधिक कर दिया ।

इस में शरद् वेश्या के समान, इन्द्र नायक के समान और सूर्य प्रतिनायक के समान यह उपमान [आक्षेप से] प्रतीत होते हैं । [इसलिए यहा दूसरे प्रकार का आक्षेप अलंकार है] ।

नवीन आचार्यों ने दूसरे प्रकार के इस ‘आक्षेप’ को ‘समासोक्ति’ अलंकार माना है, आक्षेप नहीं । समासोक्ति का लक्षण विश्वनाथ ने—

तुल्ययोगिताया सहोक्तेर्भेदमाह—

वस्तुद्वयक्रियोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधान

सहोक्ति । ४, ३, २८ ।

वस्तुद्वयस्य क्रियोस्तुल्यकालयोरेकेन पदेनाभिधान सहार्थशब्द-
सामर्थ्यान् सहोक्ति । यथा—

अस्त भाम्बान् प्रयात सह रिपुभिरयं मंहियन्तां यत्नानि ।

अथार्थयोर्नून्त्वयिशिष्टत्वे न स्तः । इति नेथ तुल्ययोगिता ॥ २८॥

१ प्रतिपेघ इवेष्टस्य यो विशेषाभिव्यक्त्या ।

आक्षेप इति न मन्त क्षमन्ति द्विविध यथा ॥

अह त्वा यदि नेष्टेय क्षणमप्युन्मुका तन ।

इयदेवास्त्वनोऽन्येन रिमुक्तेनाप्रियेण ते ॥

स्ववित्तमात्रान्तमुवद्विन्न यन्न तवोद्वति ।

को वा मेतुरल मिधोर्विकारकरण प्रति ॥

‘तुल्ययोगिता’ से ‘सहोक्ति’ का भेद [बिन्दवाने के लिए सहोक्ति अलङ्कार
का लक्षण] कहते हैं—

दो वस्तुओं की तुल्यकालीन [दो] क्रियाओं का एक [ही] पद से
[एक साथ] कथन करना सहोक्ति अलङ्कार [कहलाता] है ।

दो वस्तुओं की तुल्यकालीन दो क्रियाओं का एक ही पद से कथन
करना सहार्थक शब्द [के प्रयोग] के सामर्थ्य से ‘सहोक्ति’ [अलङ्कार कहलाता]
है । जैसे—

रात्रुओं के साथ यह सूर्य [भी] अस्तावल की ओर चल दिया ।
घतएव अथ सेनाओं की वापिस कर लो ।

[तुल्ययोगिता अलङ्कार में भी दो पदार्थों में एक ही क्रिया का योग
होता है । परन्तु वहाँ अर्थों में न्यूनाधिक-भाव विवक्षित होता है ।] यहाँ
[सहोक्ति अलङ्कार में] अर्थों का न्यूनाधिकत्व [विवक्षित] नहीं है इसलिए
यह तुल्ययोगिता [अलङ्कार] नहीं है । [अपितु उससे भिन्न अलङ्कार
है ।]

समाहितमेकमवशिष्यते, तल्लक्षणार्थमाह—

यत्सादृश्यं तत्सम्पत्तिः समाहितम् । ४, ३, २६ ।

यस्य वस्तुन सादृश्यं गृह्यते तस्य वस्तुन सम्पत्तिः समाहितम् ।

यथा—

तन्वी मेवज्जलार्द्रफलवत्तया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणे स्वकालविरहाद् विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्तामौनमिवाग्नित्वा मधुलिहाशब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवश्यं यादयति जानानुतापेव सा ॥

अत्र पुरुरवसो लतायामुर्वश्या सादृश्यं गृह्यते मैव ततोर्वशी
सम्पन्नेति ॥२६॥

साहित्यदर्पणकार ने महाविन को उक्षण इस प्रकार किया है—

१ गहायस्य बलादेक यत्र स्याद्वाचक इत्या ।

मा महाविनमूर्त्तभूतानिगयान्तिनिगद्यते ॥

भामह ने महाविन वा उक्षण इस प्रकार नहीं किया है ॥ २८ ॥

[हमारे उद्दिष्ट ३३ अर्थालङ्कारों में से ३२ के लक्षण आदि यहाँ तक
किए जा चुके हैं । अब] एक समाहित [अलङ्कार] शेष रह जाता है ।
उसका लक्षण करने के लिए [अगला सूत्र] कहते हैं ।

जिस वस्तु का सादृश्य [उपमेय में दिगमाना अभोष्ट] है, [उपमेय
को] तद्रूपता प्राप्ति [को] समाहित [अलङ्कार कहा जाता] है ।

जिस वस्तु का सादृश्य [उपमेय में] गृहीत होता है [उपमेय के
द्वारा] उस वस्तु [के स्वरूप] की प्राप्ति [को] समाहित [अलङ्कार कहा
जाता] है । जैसे—

तन्वी [उर्वशी] परो पर पड़े हुए मृग [पुरुरवा] को निरस्कृत करके
पञ्चात्तापमुक्त होकर आसुओं से गोले अथर के समान वर्षा के जल से आर्द्र
फलवी को धारण किए हुए, ऋतुकाल के न होने से पुष्पोद्गम से रहित आभ-
रण शून्य-सी, भौरा के शब्द के अभाव में चिन्ता से मौन को प्राप्त [लता रूप
में] दिखलाई दे रही है ।

यहाँ लता में उर्वशी के सादृश्य को देखने [ग्रहण करने] वाले पुरुरवा के
लिए [कल्पनावश] उर्वशी वह लता ही बन गई है [इसलिए यहाँ 'समाहित'
अलङ्कार है] ॥ २९ ॥

एते चालङ्काराः शुद्धा मिश्राश्च प्रयोक्तव्या इति विशिष्टानाम-
लङ्काराणां मिश्रितत्वं समुष्टिरित्याह—

अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वं समुष्टिः । ४, ३, ३० ।

अलङ्कारम्यालङ्कारयोनित्वं यदमौ समुष्टिरिति । समुष्टिः संसर्ग-
सम्बन्ध इति ॥३०॥

तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ । ४, ३, ३१ ।

तस्यां समुष्टेरुभेदावुपमारूपकश्चोत्प्रेक्षावयवरचेति ॥ ३१ ॥

उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकम् । ४, ३, ३२ ।

स्पष्टम् । यथा—

निरवधिं च निराश्रयञ्च यत्र स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।

प्रथमं इह भवान् स कूर्ममूर्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिरुन्धः ॥

यह अलङ्कार शुद्ध और मिश्र रूप में भी प्रयुक्त हो सकते हैं । इसलि-
विशिष्ट अलङ्कारों का मिश्रण समुष्टि [अलङ्कार] होना है, यह [अगले सूत्र
में] कहते हैं—

[एक] अलङ्कार का जो अलङ्कार हेतुत्व [अर्थात् दूसरे अलङ्कार के
साथ कार्यकारण भाव सम्बन्ध] है उसको समुष्टि [अलङ्कार] कहते हैं ।

[एक] अलङ्कार का जो [दूसरे] अलङ्कार के प्रति हेतुत्व [अर्थात्
दूसरे अलङ्कार के साथ जो कार्यकारण-भाव सम्बन्ध] है वह समुष्टि [अलङ्कार
कहाता] है । समुष्टि [का अर्थ] संसर्ग [अर्थात्] सम्बन्ध है ॥ ३० ॥

उसके 'उपमारूपक' तथा 'उत्प्रेक्षावयव' दो भेद हैं ।

उस समुष्टि के उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव [यह] दो भेद हैं ।

'अलङ्कारयोनित्वं' जो समुष्टि का लक्षण किया है उसमें एक 'अलङ्कार
कारण है जिसमें' इस प्रकार का वटुवीहि ममाम् वगैरे उपमारूपक को समुष्टि
कहा जाता है क्योंकि उसमें उपमा रूपक का कारण है । और दूसरे भेद 'उत्प्रेक्षा-
वयव' में अलङ्कारयोनित्वं पद में नतुरूप ममाम् किया जाता है । उत्प्रेक्षा का
वयव 'उत्प्रेक्षावयव' कहा जाता है । इस प्रकार समुष्टि के दो भेदों में
'अलङ्कारयोनित्वं' पद के दो भिन्न-भिन्न ममाम् किए जाते हैं ॥ ३१ ॥

इन भेदों में से पहले उपमारूपक का लक्षण करने दें ।

उपमा से जन्य रूपक उपमारूपक [कहाता] है ।

[सूत्र का अर्थ] स्पष्ट है । [उदाहरण] जैसे—

जिनके ऊपर यह अनन्त [निरवधि] और [अश्रय] किसी आधार पर

एवं 'रजनीपुरन्धिलोधतिलक' इत्येवमादयस्त्रमेदा द्रष्टव्याः ॥३२॥

उत्प्रेक्षाहेतुस्तुत्प्रेक्षावयव । ४, ३, ३३ ।

उत्प्रेक्षाया हेतुस्तुत्प्रेक्षावयव । अवयवशब्देन व्यासम्भवं लक्षयति ।

यथा—

अंगुलीभिरिव केशमञ्चय मन्निगृह्य तिमिर मरीचिभि ।

कुङ्कुलीकृतमरोजलाचन चुम्बतीय रजनीमुख शशी ॥ ३३ ॥

न दिका हृष्टा [निराश्रय], अश्वत्थमय [अनिश्चितकीतुक] मयार [प्रपञ्च]
स्थित है, चौदह लोकएव लताओं के मूलएव बूम स्वरूप, आप जगत् में अद्वि-
तीय और सर्वोत्कृष्टशाली हैं ।

सञ्चय रूप ग्रन्थकार को हटा कर मुदे हुए कमल-नयनों वाले रजनी [नायिका] के मुख को चन्द्रमा चुम्बन-सा कर रहा है ।

यहा 'चुम्बनीव रजनीमुखं यशी' यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । यह उपमा और रूपक में अनुप्राणित हो रहा है । इसलिए उत्प्रेक्षा हेतु या उत्प्रेक्षावयव रूप समृष्टि अलङ्कार का उदाहरण है ।

भामह ने 'उपमा-रूपक' तथा 'उत्प्रेक्षावयव' अलङ्कारों का निरूपण तो किया है, परन्तु वामन के समान उन्हें समृष्टि का भेद नहीं माना है । समृष्टि का उन दोनों में भिन्न अलग ही अलङ्कार माना है और तीनों अलङ्कारों का स्वतन्त्र रूप में अलग-अलग इस प्रकार निरूपण किया है—

१ उपमानेन नद्भावमुपमेयस्य भावयन् ।

या वदन्त्युपमानेनदुपमारूपकं यथा ॥

ममप्रगणायाममानदण्डो रथागिनि ।

पादो जयति मिथुनोन्मत्तेन्दुवददर्पण ॥

२ शिष्टस्यायं च मयुक्तं किञ्चिदुत्प्रेक्षान्वितं ।

रूपकार्येन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ॥

तुल्योदपावमानत्वाद् गतेऽस्तं प्रति भास्वति ।

बागाय वामरं कृत्वा विदानीव तर्मागुहम् ॥

३ वरा विभूषा समृष्टिवत्कलङ्कारयोगतः ।

रविना गन्मात्रेव सा चैवमुदिता यथा ॥

गाम्भीर्यापवदवतोयुवया प्राण्यरत्नयोः ।

मुखमव्यो जनानां त्वदुष्टग्राहाऽम्भसा पति ॥

अनलकृतकालं ते वदनं, वैतज्जुनि ।

निशार्कितं प्रकृत्यैव चारो का वास्यलकृति ॥

अन्येषामपि कर्तव्या समृष्टिरनया दया ।

त्रियदुद्धट्टिमज्ञेभ्यः शत्रयः कथयितुं मया ॥

इस प्रकार भामह तथा वामन के मत में बहुत भेद है । वामन उपमा-रूपक तथा उत्प्रेक्षावयव का समृष्टि का भेद मानते हैं । परन्तु भामह उन तीनों को अलग-अलग अलङ्कार मानते हैं ।

१ भामह काव्यालङ्कार ३, ३५-३६ ।

२ भामह काव्यालङ्कार ३, ४७-४८ ।

३ भामह काव्यालङ्कार ५, ४९-४२ ।

नवीन आचार्यों ने अनेक अलङ्कारों के मिश्रण की स्थिति में सङ्कर और समृष्टि दो प्रकार के अलङ्कार माने हैं । जब कि वामन और भामह दोनों मिश्रण की स्थिति में केवल एक समृष्टि अलङ्कार ही मानते हैं । मम्मट, विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों के मत में यदि दो या अधिक अलङ्कारों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति होती है तभी समृष्टि अलङ्कार माना गया है । कार्यकारण-भावादि होने पर समृष्टि नहीं अपितु मकर अलङ्कार होता है । उन्होंने मङ्कर को अगाधिभाव मकर, २ मन्देह मकर, तथा एकाग्रयानुप्रवेश मकर इस प्रकार तीन भेद माने हैं । और परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों की स्थिति में समृष्टि अलङ्कार माना है । साहित्यदर्पण में इनका निरूपण इस प्रकार किया है—

यदेत एवालङ्कारा परस्परविमिश्रिता ।

तदा पृथगलङ्कारो समृष्टिः सकरस्तथा ।

मिथोऽनपेक्षमयं वा स्थितिः समृष्टिरुच्यते ।

अगामिन्वेऽप्यलङ्करीना मद्भेदाथयस्थितौ ।

मन्दिग्रास्ये च भवति सकरम्विविधं पुन ॥

समृष्टि के भी फिर अनेक भेद हो सकते हैं । जैसे शब्दालङ्कारों की समृष्टि, अथवा अर्थालङ्कारों की समृष्टि अथवा शब्दार्थालङ्कारों की समृष्टि । इन तीनों प्रकार की समृष्टि एक ही उदाहरण में इस प्रकार दिखालाई गई है ।

देव पायादपायान्न स्मेरेन्दीवरलोचन ।

गमारध्वान्निबिध्वमहम कमनिपूदन ॥

इसके पहिले चरण 'पायादपायाद्' में यमक है । तीसरे चरण 'गमार-ध्वान्न निबिध्वमहम' में अनुप्रास अलङ्कार है । यह दोनों परस्पर निरपेक्ष रूप में स्थित हैं । इसलिए यह शब्दालङ्कारों की समृष्टि हुई । द्वितीय पाद में 'स्मेरेन्दीवर-लोचन' में उपमा अलङ्कार और श्लोक के उत्तरार्द्ध में मूर्ध के आरोप मूलक रूपक अलङ्कार होने से यहाँ अर्थालङ्कारों की समृष्टि हुई । और श्लोक में शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार दोनों के होने में उभयालङ्कार की समृष्टि हुई ।

इस समृष्टि के विषय में प्राचीन तथा नवीन आचार्यों के मत में बहुत भेद है । वामन आदि तो कार्यकारण भाव आदि होने पर समृष्टि मानते हैं परन्तु नवीन आचार्य उसको समृष्टि न कह कर सङ्कर कहते हैं । और अनेक अलङ्कारों की निरपेक्ष स्थिति को समृष्टि कहते हैं । मङ्करालङ्कार के मन्देह

एभिर्निर्दर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्पलैः ।
 शब्दवैचित्र्यगर्भैश्चमुपमैश्च प्रपञ्चिता ॥
 अलङ्कारैकदेशा ये भता मौभाग्यभागिनः ।
 तेऽलङ्कारदेशीया योजनीयाः कवीश्वरैः ॥

इति श्री काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ

अलङ्कारिकं चतुर्थं अधिकरणं

तृतीयोऽध्यायः

समाप्तञ्चेदमालङ्कारिकं चतुर्थमधिकरणम् ॥

मङ्गल, अगाधिभाव मङ्गल और एकाग्रयानुप्रवेश मङ्गल तीनों प्रकार के अनेक उदाहरण दिए गए हैं ।

इस अधिकरण के अन्त में अधिकरण का उपसंहार करते हुए, अन्त्यकार निम्नलिखित है —

अपने [स्वरदिन] तथा वृत्त में दूसरों के [बनाए हुए] इन उदाहरणों के द्वारा, शब्दों के वैचित्र्य से परिपूर्ण [अनेक अलङ्कारों के रूप में] यह उपमा [अलङ्कार] का ही [प्रयोज्य] विस्तार किया है ।

इन अलङ्कारों के जो [कोई] भाग [एकदेश] मङ्गल [मौभाग्य भागिन] हो अलङ्कारदेशीय [ईषदममाप्ती कल्पकल्पवैद्वदेशीयरः । अलङ्कारसदृश] वह भी कवीद्वरों को [अपने काम्यों में] प्रयुक्त करने चाहिए ॥ ३४ ॥

इति श्री काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति में

अलङ्कारनिर्हणपरक [अलङ्कारिक] चतुर्थं अधिकरणं

तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।

और यह अलङ्कारिक चतुर्थं अधिकरण [भी] समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्यविद्वेदवरमिहनाम्निरोमणिचिन्तिनादा

काव्यालङ्कारदोषिनाया हिन्दीव्याख्याया

चतुर्थोऽधिकरणे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः -

समाप्तञ्चेदमालङ्कारिकं चतुर्थमधिकरणम् ।

‘प्रायोगिक’ नाम पञ्चममधिकरणम्

प्रथमोऽध्यायः

[काव्यसमयः]

सम्प्रति काव्यसमयः शब्दशुद्धिं दर्शयितुं प्रायोगिकस्यमधिकरणमारभ्यते । तत्र काव्यसमयस्तावदुच्यते ।

नैक पद द्वि प्रयोज्य प्रायेण । ५, १, १ ।

पञ्चम अधिकरणका प्रथम अध्यायः

पिछले अधिकरणों में मैं ‘द्यारीर’ नामक प्रथम अधिकरण में काव्य का प्रयोजन, रीति तथा पाव्याङ्गो का, ‘दोषदशन’ नामक द्वितीय अधिकरण में शब्द-दोष और अर्थ-दोषों का, ‘गुणविवेचन’ नामक तृतीय अधिकरण में गुण तथा अलङ्कार का भेद और शब्द-गुण तथा अर्थ-गुणों का, और चतुर्थ अधिकरण में शब्दालङ्कारों तथा उपमा और उपमाप्रपञ्च रूप अन्व अर्थालङ्कारों का विवेचन कर चुके हैं । इस प्रकार काव्यालङ्कार ग्रन्थ का विषय प्रायः प्रतिपादित हो चुका है । अब ‘प्रायोगिक’ नामक इस पञ्चम अधिकरण में ‘काव्य-समय’ अर्थात् काव्य की अनुसन्धीय परम्पराओं और ‘शब्दशुद्धि’ रूप प्रयोगसम्बन्धी बातों का निरूपण करेंगे इसलिए इस अधिकरण का नाम ‘प्रायोगिक’ अधिकरण है । इसके दो अध्याय हैं । जिनमें मैं पहले अध्याय में ‘काव्य-समय’ अर्थात् महाकवियों की काव्यसम्बन्धी परम्पराओं का निरूपण प्रारम्भ करने हूँ ।

अब [इस पञ्चम अधिकरण में] ‘काव्य-समय’ [काव्य में ध्यान देने योग्य आचार या परम्पराओं] और शब्दशुद्धि के दिखलाने के लिए ‘प्रायोगिक’ नामक [यह पञ्चम] अधिकरण प्रारम्भ करते हैं । उसमें पहिले [प्रथम अध्याय में] ‘काव्य-समय’ [काव्य के परम्पराप्राप्त नियम या आचार] कहते हैं ।

[काव्य में] प्रायः एक पद का दो बार [एक साथ या एक वाक्य में] प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

एक पदं न द्विः प्रयोज्यं प्रायेण बाहुल्येन । यथा पयोद पयोद इति । किञ्चिदेव चादिपद द्विरपि प्रयोक्तव्यमिति । यथा—

सन्त. सन्त' खला. खला' ॥ १ ॥

नित्य सहितैकपदवत् पादेऽप्यध्वान्तवर्जम् । ५, १, २ ।

एक पद का [एक साथ या एक वाक्य में] दो बार प्रयोग अधिकता से नहीं करना चाहिए । [क्योंकि इस प्रयोग की पुनरक्ति से काव्य की शोभा नहीं रहती है] और कवि की अशक्ति का परिचय मिलता है] । जैसे 'पयोद पयोद' [इस प्रकार का प्रयोग किसी कवि ने किया है, वह अनुचित है] । 'च' आदि कोई-कोई पद ही [एक ही वाक्य में] दो बार भी प्रयुक्त हो सकते हैं । जैसे—

सज्जत [पुरुष] सज्जन ही होते हैं और दुष्ट दुष्ट ही ठहरे ।

यहां दूसरा 'सन्त' पद दयाभावनादिर्विशिष्ट सन्त का बोधक होने से और दूसरा खल शब्द क्रूरत्वादि विशिष्ट खल अर्थ का बोधक होने से विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इसलिए पुनरक्त न होने में दोषाधायक नहीं है ।

वाराणसीय प्रथम मस्वरण में इस सूत्र की वृत्ति में 'किञ्चिदिवादिपद द्विरपि प्रयोक्तव्यमिति' इस प्रकार का पाठ दिया हुआ है । इसकी व्याख्या करते हुए त्रिपुरहर भूपाल ने लिखा है—

किञ्चिदिति यथा—

त च प्राप्सुदन्वन्त वृद्धे चादिपूरप । इति ।

इमे टीकाकार ने 'किञ्चिदिवादिपद' का उदाहरण दिया है । इस उदाहरण में चकार का दो बार प्रयोग किया गया है । इसलिए यह चादि पद के द्वि प्रयोग का उदाहरण हुआ । इससे प्रतीत होता है कि वृत्तिग्रन्थ में च छपने में छूट गया है । और इव के स्थान पर एव पाठ उचित प्रतीत होता है । इसलिए 'किञ्चिदिवादि पद' के स्थान पर 'किञ्चिदेव चादिपद' पाठ होना चाहिए था । 'किञ्चिदिवादिपद' पाठ ठीक नहीं है । इसीलिए हमने यहां मूल में 'किञ्चिदेव चादिपद' यह पाठ ही रखा है । आदि पद में पादानुशास, पादयमक आदि में द्वि प्रयोग उचित ही है यह बात सूचित की है ॥ १ ॥

काव्य निर्माण करते समय ध्यान रखने योग्य दूसरा नियम या 'काव्य-समय' बतलाते हैं—

एक पद के समान [श्लोक के] पादों में [आए हुए पदों में] सन्धि अवश्य [नित्य] करनी चाहिए । [श्लोकार्थ रूप] अर्थान्त को छोड़ कर ।

नित्यं संहिता पादेष्वेकपदचदेकरिभित्रिय पदे । तत्र हि नित्या
संहितेत्यान्नाय । यथा—

सहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयो ।
इति । अर्धान्तवर्जमवर्गान् वर्जयित्वा ॥ २ ॥

न पादान्तलघोर्गु रत्वञ्च सर्वत्र । ५, १, ३ ।

एक पद के समान मर्यात् जैसे [सुरेग, महेग आदि] एक पद में [सन्धि नित्य अपरिहार्यं हं] इसी प्रकार [श्लोक के प्रथम, द्वितीय अथवा तृतीय और चतुर्थ] [चरणों में प्राप्त सन्धि] नित्य [अपरिहार्य] सन्धि होती चाहिए । वहा [एकपद में, संहिता] सन्धि नित्य होती है इस प्रकार का [आम्नाय] शास्त्र वचन है । जैसे—

एक पद में सन्धि नित्य होती है, और धातु तथा उपसर्ग [के बीच] में भी नित्य सन्धि होती है ।

यह 'अर्धान्त वर्ज' अर्थात् [श्लोक के] अर्धान्त को छोड़ कर ।

अर्थात् श्लोक के पृवाद के अन्त में आए हुए और उत्तरार्ध के प्रारम्भ में आए हुए अक्षरों में यदि नियम के अनुसार कोई सन्धि प्राप्त होती है तो नित्य सन्धि नहीं होगी । परन्तु उसको छोड़ कर श्लोक के पादों में आए हुए शब्दों में अथवा प्रथम और द्वितीय चरण के बीच में या तृतीय और चतुर्थ चरण के बीच में जहां सन्धि प्राप्त हो वहां सन्धि अवश्य करनी चाहिए । इस प्रकार की सन्धि न करने में 'विसन्धि' दोष हो जाता है । उमें वामन ने 'द्विसन्धि' और नाग आचार्यों ने 'सन्धि विश्लेष' दोष कहा है । 'दोषाधिकरण' में इसका निरूपण किया जा चुका है ॥ २ ॥

छन्द शास्त्र में वृत्त के लघु-गुरु वर्णों की व्याख्या करते हुए 'पादान्तस्थ विवक्ष्येन' इस नियम के अनुसार पादान्त में स्थित लघु वर्ण विचक्षण में गुरु हो मजता है । अर्थात् पादान्त में आया हुआ लघु वर्ण आवश्यकतानुसार गुरु या लघु कुछ भी माना जा सकता है । जहां छन्द के लक्षण के अनुसार पादान्त में लघु अक्षर की आवश्यकता है वहां वह लघु वर्ण गिना जायगा । और जहां गुरु वर्ण की आवश्यकता है वहां पादान्त में स्थित वह लघु वर्ण गुरु गिना जायगा यह नियम है । इस नियम के विषय में ग्रन्थकार कहते हैं कि यह नियम सार्वत्रिक नहीं है । अर्थात् सब छन्दों में यह लागू नहीं होता है । इन्द्रवज्रा आदि कुछ छन्दों में अन्तिम लघु वर्ण गुरु हो जाता है परन्तु कुछ छन्दों में वह गुरु नहीं

पादान्तलघोर्गुस्त्य प्रयोक्तव्यम् । न सर्वत्र, न सर्वस्मिन् वृत्तः
इति । यथा—

यामां बलिर्भवति मदगृहदेहलीनां,
हसैश्च मारमगलैश्च विलुप्तपूर्वः ।
ताम्बेव पूर्वबलिरुडयवाङ्कुरासु,
बीजाञ्जलि पतति कीटमुखावलीटः ॥

एवम्प्रायेष्वेव वृत्तेष्विति । न पुन —

वन्धिनीना रजसि प्रसर्पति,
समस्तमासीद् विनिमीलित जगत् ।

होता है । इसी वान को 'वाच्य-ममय' के तृतीय नियम के रूप में अगले सूत्र में कहते हैं ।

और पाद के अन्त [में स्थित] में लघु का सर्वत्र [सब छन्दों में] गुरत्व नहीं होता है । जैसे [निम्न लिखित वृत्त में तो पादान्त लघु को गुरु हो जाता है]—

[मृच्छकटिक नाटक में क्षारवत्त अपनी दरिद्रावस्था पर ऐसे प्रकट करते हुए कहता है कि] पहिले [मेरी समझ-अवस्था में] मेरी [घर की] जिन देहलियों की बलि [पक्षियों को दिए गए बलिर्बेदबदेव यज्ञ के भोग्य द्रव्य] को [मेरे यहाँ पले हुए] इस तथा सारस खा जाते थे [आज मेरी दरिद्रावस्था में उस 'बलि' को खाने वाले इस आदि के न होने से और उन दरिद्रावस्था की सफाई आदि भी न हो सकने से वहाँ पड़े हुए दानों के उग आने से] यदाकुरी से घृत [घर की] उन्हीं [देहलियों] पर [चींटे आदि] कीड़ों के लाए हुए धीजों का ढेर गिर रहा है ।

यह 'वसन्ततिलका' वृत्त का उदाहरण है । वसन्ततिलका का लक्षण है 'उक्ता वसन्ततिलका नमजा जगौ ग' । इसके अनुसार पाद के अन्त में गुरु वर्ण होना चाहिए परन्तु इस श्लोक के तीसरे चरण का अन्तिम वर्ण 'सु' गुरु नहीं किन्तु लघु है परन्तु 'पादान्तस्थ विसन्गेन' इस नियम के अनुसार उसको गुरु मानकर वृत्त का लक्षण समन्वित हो जाता है ।

इस प्रकार के [वसन्ततिलका आदि] वृत्तों में ही [पादान्तस्थ लघु वर्ण गुरु हो सकता है] यह अभिप्राय है न कि—

मेनाग्रो की धूल उड़ने पर सारा जगत् [उस धूल में] छिप गया ।
इत्यादि में ।

इत्यादिषु । चकारोऽर्धान्तवर्जमित्यभ्यानुकर्षार्थः ॥ ३ ॥

ने गद्ये समाप्तप्राय वृत्तमन्यत्रोद्गतादिभ्यः सवादात् । ५, १, ४ ।

गद्ये समाप्तप्राय वृत्त न विधेय, शोभाभ्रंशान् । अभ्यन्त्राद्रतादिभ्यो विषमवृत्तेभ्यः । सवादाद् गद्येनेति ॥ ४ ॥

न पादादौ खल्वादयः । ५ १, ५ ।

यह 'वर्णस्य' वचन का उदाहरण है । वर्णस्य वृत्त का अर्थ 'जती तु वर्णस्यमुदीरित जती ।' यह है । इसके अन्त में मध्य-लघु 'रगण' रहता है । इसलिए इस वृत्त में पादों के अन्त में गुरुवर्ण होना चाहिए । परन्तु इस श्लोक के प्रथम चरण के अन्त में 'ति' लघु वर्ण प्रयुक्त हुआ है । वह 'पादान्तम्य विरूपेण' इस नियम के अनुसार गुरु हो सक्ता है । परन्तु अन्वयान्तर कहते हैं कि यहाँ यह नियम लागू नहीं हो सकता है । ऐसी दशा में यहाँ 'हतवृत्त' दोष होगा ।

[सूत्र में पिछले सूत्र से ; 'अर्धान्तवर्जम्' इसकी अनुवृत्ति के लिए चकार का ग्रहण किया है ।

अर्धान् अर्धान्त में तो सबत्र यह नियम लागू होता है । श्लोक व पूर्वाद्ध अथवा उत्तरार्द्ध के अन्त में आया दृजा लघु वर्ण आवश्यकता के अनुसार मध्य ही छन्दो में गुरुभाव को प्राप्त हो सकता है ॥३॥

'वाक्यममय' का चौथा नियम बताने है—

गद्य [रचना के बीच] में अपूर्ण छन्द [समाप्तप्राय-परिपूर्णरूप] नहीं [प्रयुक्त] करना चाहिए । उद्गतादि [विषम वृत्तों] को छोड़ कर । [उन उद्गतादि का गद्य के साथ] साम्य होने से । [उनका तो गद्य के साथ साम्य होने से अपूर्ण छन्द का प्रयोग हो सकता है । परन्तु उनको छोड़ कर अन्य अपूर्ण वृत्तों का गद्य रचना में प्रयोग नहीं करना चाहिए] ।

गद्य में [समाप्तप्राय] अपूर्ण वृत्त [छन्द का प्रयोग] नहीं करना चाहिए । शोभा का नाश हो जाने से । उद्गतादि विषम वृत्तों का गद्य के साथ मिल हो जाने से उनको छोड़ कर [अन्य अपूर्ण वृत्तों का गद्य में प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि उनके प्रयोग से गद्य की शोभा का नाश हो जाता है] ॥४॥

'वाक्यममय' का पाँचवा नियम बतलाने है—

पाद के आदि में 'खल्व' आदि [पदों] का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

पादादौ खल्वादयः शब्दाः न प्रयोज्याः । आदिशब्दः प्रकारार्थः ।
येषामादौ प्रयोगो न शिल्प्यति ते गृह्यन्ते, । न पुनर्वत् इत्थं
प्रभृतयः ॥ ५ ॥

नाऽर्थे किञ्चिदसमाप्तप्रायं वाक्यम् । ५, १, ६ ।

वृत्तस्यार्थे किञ्चिदसमाप्तप्रायं वाक्यं न प्रयोक्तव्यम् । यथा—

जयन्ति साण्डवे शम्भोर्भङ्गुराङ्गलिकोटयः ।

करा कृष्णस्य च भुजाश्चक्राशुकपिशत्पिपः ॥ ६ ॥

पाद के आदि में 'खलु' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।
[सूत्र में] आदि शब्द प्रकारार्थक हैं । [अर्थात् खलु के समान] जिन
[शब्दों] का प्रयोग [पाद के] आदि में सुसंगत नहीं होता है वे [सब 'खल्वादयः'
में आए हुए 'आदि' शब्द से] ग्रहण किए जाते हैं [किन्तु जिनका प्रयोग पाद
के आदि में अतिशय या असंगत नहीं होता ऐसे] 'वत्', 'हन्त' आदि आदि [शब्द
से खल्वादय में] नहीं [ग्रहण किए जाते हैं] ।

'इव मीना मृगछद्यच्छन्नो लकापति पुरा' ।

'विल मृजनि कामिनीना किलकिञ्चिन्नमेव कामिजनमोहम् ।'

इत्यादि उदाहरणों में 'इव', 'किल', आदि पदों का पाद के आदि
में प्रयोग कविममय में अनादरणीय ही माना गया है । वत्, हन्त आदि
का नहीं ॥५॥

'वाक्य-ममय का छटा नियम बतलाने है—

[छन्द के] अर्थ [श्लोकार्थ] में कोई असमाप्तप्राय [अपूर्ण] वाक्य
प्रयुक्त नहीं करना चाहिए ।

वृत्त के अर्थ [पूर्वार्द्ध के अन्त] में कोई अपूर्ण [असमाप्तप्राय]
वाक्य प्रयुक्त नहीं करना चाहिए । जैसे—

ताण्डव [नृत्य के काल] में भुडो हुई अगुलियो वाले शिव के हाथ,
और चक्र की किरण से पीत कान्तिवाली कृष्ण की भुजाएँ सर्वोत्कर्ष युक्त हैं ।

इस श्लोक में उन्नराद्ध का 'करा' पद वस्तुतः पूर्वार्द्ध के वाक्य का
पद है । उसके बहा प्रयुक्त न होकर दूसरे उन्नराद्ध में प्रयुक्त होने से पूर्वार्द्ध
में अपूर्ण वाक्य का प्रयोग हुआ है । यह उचित नहीं है । नवीन आचार्यों ने
इसको 'अवन्तिरेकवदना' नामक दोष माना है । और उसका उदाहरण इस
प्रकार दिया है—

न कर्मधारयो बहुव्रीहिप्रतिपत्तिकरः । ५, १, ७ ।

बहुव्रीहिप्रतिपत्तिकरोति यः कर्मधारयः ॥ न प्रयोक्तव्यः । यथा—
अध्यासितश्चामौ तरुश्च अध्यासिततरुः ॥ ७ ॥

तेन विपर्ययो व्याख्यातः । ५, १, ८ ।

बहुव्रीहिरपि कर्मधारयप्रतिपत्तिकरो न प्रयोक्तव्यः । यथा—वीरा-

इन्दुर्विभाति कर्पूरागौरैर्धवल्यन् करैः ।

जगन्मा कुरु तन्वनि मान पादानने प्रिये ॥

इममे उत्तरार्ध का 'जगन्' शब्द पूर्वार्ध में आना चाहिए था । इसके उत्तरार्ध में आने में 'अर्धान्तरपदानां दोष है । इसी दोष के कारण प्रद्वैत ग्रन्थकार ने इस सूत्र में उत्तरार्ध निषेध किया है ॥६॥

काव्यमय के मातृवे नियम को दिखलाने हे

बहुव्रीहि [समास] की प्रतीति कराने वाला कर्मधारय [समास] प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

जो कर्मधारय [समास] बहुव्रीहि [समास] की प्रतीति कराता है उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए । जैसे [वातर आदि के द्वारा] अध्यासित जो तरु [इस प्रकार का कर्मधारय समास करके] 'अध्यासिततरु' ।

ऐसे पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिए । क्योंकि इस पद में 'अध्यासित तरुश्च न अध्यासिततरु' इस प्रकार का बहुव्रीहि समास भी प्रतीत हो सकता है । इस एक ही पद में दो प्रकार के समास हो सकने में अर्थ में मन्देह उत्पन्न हो जाता है । इसलिए इस प्रकार का प्रयोग नहीं करना चाहिए, यह अभिप्राय है ।

इस प्रकार बहुव्रीहिप्रतिपत्तिकर कर्मधारय समास का निषेध किया गया है । अर्थात् कवियों को इस प्रकार के कर्मधारय समास का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥७॥

उस [बहुव्रीहिप्रतिपत्तिकर कर्मधारय के निषेध] से विपरीत [कर्मधारयप्रतिपत्तिकर बहुव्रीहि समास के प्रयोग] की [भी] व्याख्या हो गई । [अर्थात् कर्मधारय की प्रतीति कराने वाला बहुव्रीहि समास भी प्रयुक्त नहीं करना चाहिए] ।

कर्मधारय की प्रतीति कराने वाला बहुव्रीहि [समास] भी प्रयुक्त नहीं करना चाहिए । जैसे—घोर पुरुष जिस [ग्राम आदि] के हो वह

सर्वनाम्नाऽनुसन्धिवृत्तिच्छन्नस्य । ५, १, ११ ।

सर्वनाम्नाऽनुसन्धिवृत्तिसन्धानं प्रत्यवमर्शः । वृत्तौ समासे ध्रुवस्य गुणीभूतस्य ।

यथा—

तवापि नीलोत्पलपत्रचक्षुषो

मुखस्य तद्रेणुसमानगन्धिनः । इति ॥ ११ ॥

‘काव्य समय’ का ग्यारहवा नियम बतलाते हैं—

सर्वनाम से समास में गुणीभूत का परामर्श हो सकता है ।

सर्वनाम से अनुसन्धि, अनुसन्धान अर्थात् प्रत्यवमर्श, परामर्श [हो सकता है । ‘वृत्तिच्छन्नस्य’ का अर्थ ‘वृत्तौ’ अर्थात् समास में ‘छन्नस्य’ अर्थात् गुणीभूत का । अर्थात्] समास में गुणीभूत अर्थ का भी [सर्वनाम से परामर्श हो सकता है] । जैसे—

मीलकमल के पत्ते सबूत चक्षु वाले और उसके पराग के समान गन्ध वाले तुम्हारे मुख के ।

इस उदाहरण में ‘तद्रेणुसमानगन्धिन’ पद में आए हुए ‘तत्’ इस सर्वनाम पद से ‘नीलोत्पल’ का परामर्श अर्थात् ग्रहण होता है । उसके अर्थात् नीलोत्पल के पराग के समान गन्ध वाले । परन्तु ‘नीलोत्पल’ पद स्वयं ‘नीलोत्पलपत्रचक्षुष’ इस समस्त पद का एक अंग है । यह बहुव्रीहि समान है । ‘नीलोत्पलपत्रे इव चक्षुषी यस्य तस्य नीलोत्पलपत्रचक्षुष’ इस प्रकार के अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास में आया हुआ ‘नीलोत्पल’ शब्द गुणीभूत हो जाता है । उसका प्राधान्य नहीं रहता है । सामान्य नियम के अनुसार प्रधान अर्थ का ही अन्य के साथ सम्बन्ध हो सकता है अप्रधान का नहीं । इसलिए सामान्यतः नीलोत्पल के गुणीभूत होने के कारण तत् शब्द से उसका ग्रहण नहीं होना चाहिए था । परन्तु यह विशेष नियम माना गया है कि सर्वनाम से समास में गुणीभूत अर्थ का भी परामर्श हो सकता है । श्री वाचस्पति मिश्र ने अपनी सान्धतत्त्वकौमुदी, में ‘दु खत्रयभिधानाज्जिज्ञामा तदपघातके हेतौ’ सारयकारिका की इस प्रथम कारिका की व्याख्या में लिखा है कि ‘उपसर्जनस्यापि बुद्ध्या सन्निकृष्टस्य तदा परामर्शः’ । अर्थात् ‘तदपघातके हेतौ’ यहाँ आए हुए ‘तत्’ शब्द से ‘दु खत्रय’ का ग्रहण होता है । यद्यपि ‘दु खत्रयभिधानान्’ इस समस्त पद के अन्तर्गत होनेसे ‘दु खत्रय’ में का ‘दु ख’ पद उपसर्जन अर्थात् गौण है । परन्तु बुद्धि में सन्निकृष्ट होने के कारण उपसर्जन अर्थात् गुणीभूत होने पर भी उसका ‘तदा’ अर्थात् ‘तत्’

सम्बन्धसम्बन्धेऽपि पृष्ठी क्वचित् ॥ ५, १, १२ ॥

सम्बन्धेन सम्बन्धः सम्बन्धसम्बन्धस्तस्मिन् पृष्ठी प्रयोज्या क्वचित् । न सर्वत्रेति । यथा—‘कमलस्य कन्द’ इति । कमलेन सम्बद्धा कमलिनी, तस्याः कन्द इति सम्बन्धः । तेन कदलीकाण्डादयो व्याख्याताः ॥१२॥

अतिप्रयुक्त देशभाषापदम् ॥ ५, १, १३ ॥

अतीव कविभिः प्रयुक्त देशभाषापदं प्रयोज्यम् । यथा—
योषिदित्यभिल्लाप न हासाम् ।

इस सर्वनाम में परामर्श-ग्रहण-होता है । इसी नियम का प्रतिपादन यहाँ ग्रन्थ-कार धामन ने किया है । इसलिये ‘तद्वन्ममानगन्दिन’ में आए हुए ‘मन्’ सर्वनाम में ‘नीलोत्पलान्वक्षुष’ इस ममाय में गुर्णाभूत ‘नीलोत्पल’ का परामर्श हो जाता है । कह काव्यमय का ग्यारहवा नियम बनलाया ॥११॥

आगे ‘काव्य-मय’ का बारहवा नियम बनाने है—

कहीं-कहीं सम्बन्ध के सम्बन्ध [चोपन] में [परम्परा से भी] पृष्ठी [विभक्ति प्रयुक्त] हो सकती है ।

सम्बन्ध से सम्बन्ध [अर्थात् परम्परासम्बन्ध] ‘सम्बन्धसम्बन्ध’ [शब्द से अभिप्रेत] है । उस [परम्परासम्बन्ध] में [भी] यहाँ पृष्ठी प्रयुक्त की जा सकती है । जैसे—‘कमल का कन्द’, इस प्रयोग में । [कमल की जड़ नहीं होती । कमल का अर्थ कमलपुष्प है । उसकी कन्द या जड़ नहीं होती है अपितु] कमल से सम्बद्ध [हुई] कमलिनी [कमलपुष्प युक्त लता] उसका कन्द [कमल कन्द हुआ] इस प्रकार का [परम्परा] सम्बन्ध [यहाँ विवक्षित] है । उस [कमल कन्द के उदाहरण] से ‘कदली-काण्ड’ आदि की [भी] व्याख्या हो गई । [अर्थात् कदली शब्द का मुख्य अर्थ केले का फल है । उसका काण्ड अर्थात् तना नहीं होता है । अपितु कदली फल से सम्बद्ध जो वृक्ष उसका काण्ड इस प्रकार यहाँ भी परम्परा सम्बन्ध में पृष्ठी विभक्ति प्रयुक्त हुई है] ॥१२॥

‘काव्य-मय’ का तेरहवा नियम जगने मूल में बनलाने है—

अत्यधिक प्रयुक्त होने वाले देशज [किसी देश विशेष में प्रयुक्त होने वाले] पद का [संस्कृत काव्य में भी] प्रयोग किया जा सकता है ।

कवियों के द्वारा अत्यधिक प्रयुक्त किए जाने वाले देशभाषा के पद का [संस्कृत काव्य में भी] प्रयोग हो सकता है । जैसे—

[हाला शब्द के स्त्री लिङ्ग होने से यह हाला योषिन्] स्त्री है ऐसा मान

तेषां लक्षणाशब्दानां बाहुल्यमेकस्मिन् वाक्ये न प्रयोग्यम् । शक्यते
एकस्यावाचकस्य वाचकवद्भावः कर्तुं, न बहूनामिति ॥१६॥

स्तनादीनां द्वित्वाविष्टा जातिः प्रायेण । ५, १, १७ ।

स्तनादीनां द्वित्वाविष्टा द्वित्वाध्यासिता जातिः प्रायेण बाहुल्ये-
नेति । यथा—‘स्तनयोस्तरुणीजनस्य’ । इति । प्रायेणेति वचनात् क्वचिन्न
भवति । यथा—‘स्त्रीणां चक्षुः’ इति ।

अथ कथं द्वित्वाविष्टा जाते । तद्धि द्रव्ये न जाते । अतद्रूपत्वान्
तस्या ।

उन लक्षणा शब्दों का बाहुल्य [अर्थात् अनेक लक्षणा शब्द] एक
वाक्य में नहीं प्रयुक्त करने चाहिए । [किसी वाक्य में यदि कोई एक इस प्रकार
का लक्षणा शब्द आ जाय तो उस] एक अवाचक [शब्द] का वाचकवद्भाव
[तो कथञ्चित्] किया जा सकता है । किन्तु बहुत से [अवाचक शब्दों] का
वाचकवद्भाव नहीं [किया जा सकता है] ॥ १६ ॥

काव्यमय का १७वा नियम अगले सूत्र में कहते हैं—

स्तन आदि की प्रायः द्वित्व विशिष्ट जाति होती है । [अर्थात् स्तन,
चक्षु, कर्, आदि जो दो-दो अवयव होते हैं उन शब्दों का प्रायः द्विवचन में ही
प्रयोग करना उचित होता है] ।

स्तन आदि [युग्म अवयवों के बोधक शब्दों] की प्रायः द्वित्वविशिष्ट
द्विवचन प्रयुक्त जाति होती है । [उनका प्रायः द्विवचन में ही प्रयोग होता है]
जैसे—

‘तरुणी जनो के [दोनों] स्तनो का’ ।

[यहाँ ‘स्तनयो’ यह द्विवचन का ही प्रयोग किया है यदि एक तरुणी
के स्तनो के लिए प्रयुक्त होगा तब भी द्विवचन में ही स्तन शब्द का प्रयोग
होगा । इसी प्रकार ‘स्तनयोस्तरुणीजनस्य’ में अनेक तरुणियों के स्तनो के लिए
भी ‘स्तनयो’ यह द्विवचन ही प्रयुक्त किया गया है] । ‘प्रायेण’ इस कथन से कहीं-
कहीं [द्विवचन का प्रयोग] नहीं [भी] होता है । जैसे स्त्रियों की चक्षुः ।
[यहाँ ‘चक्षुः’ यह एकवचन का ही प्रयोग किया गया है] ।

[प्रश्न] जाति द्वित्वाविष्ट कैसे होगी । [क्योंकि] वह [द्वित्व
गुण] तो वस्तु में रहता है जाति में नहीं । जाति के द्रव्य से भिन्न होने से ।
[तब प्रायः जाति को द्वित्वाविष्ट कैसे कहते हैं ? इसके अनुसार द्वित्व की गणना

नदोय* । तदतद्रूपत्वाजाते ।

कथं तदतद्रूपत्वं जाते ।

तद्वि जैमिनीया जानन्ति । वयन्तु लक्ष्यसिद्धौ सिद्धपरमतानुवादिन ।
न चैवमतिप्रसङ्गं लक्ष्यानुसारित्यान्यायस्येति । ण्वमन्यत्रापि व्यव-
स्थोह्य ॥ १७ ॥

इति श्री काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ

‘प्रायोगिके’ पञ्चमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ।

काव्यसमयः ।

गुणों में की जाती हैं । और गुण केवल द्रव्य में रहते हैं, जाति आदि में गुण
गहरी रहते हैं । इसलिये जाति को द्वित्वाविष्ट नहीं कहा जा सकता है] ।

[उत्तर] यह दोष नहीं है । जाति के तदतद्रूप [अर्थात् जाति का
व्यक्ति के साथ भेदाभेद] होने के कारण [द्वित्व गुण जाति का धर्म हो
सकता है] ।

[प्रश्न—इस पर पूर्वपक्षों फिर प्रश्न करता है कि भेदाभेद तो परस्पर
विरुद्ध धर्म हैं तब जाति का व्यक्ति के साथ भेदाभेद कैसे बनेगा] जाति का
तदतद्रूपत्व कैसे होगा ?

[उत्तर] यह तो [‘जात्याकृतिय्यवनय पदार्था’ अर्थात् जाति, आकृति
और व्यक्ति तीनों को सम्मिलित रूप से पदार्थ मानने वाले जैमिनि वशं के
अनुयायी] भीमासक जानें । [अर्थात् इस विषय पर शास्त्रार्थ करना हो तो
आप भीमासक के साथ शास्त्रार्थ करें ।] हम तो अपने लक्ष्य की सिद्धि में
[प्रमाणों से] निष्ठ हुए दूसरे [भीमासक] के मन का अनुवाद करने वाले हैं ।

[प्रश्नकर्ता] ऐसे तो [फिर किसी की बात लेकर कुछ भी सिद्ध
किया जा सकेगा इसलिये] अतिप्रसङ्ग होगा ।

[उत्तर] नहीं [इस प्रकार अतिप्रसङ्ग की शका नहीं करनी चाहिए]
लक्ष्य के अनुसार ग्याय [युक्ति, प्रमाण या लक्षण] के होने से ।

इसी प्रकार रुच्यत्र भी व्यवस्था स्वयं समझ लेनी चाहिए ।

इति श्री काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ

‘प्रायोगिक’ पञ्चम अधिकरण में

प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

—०—

इति श्रीमदाचार्यविरवेश्वरसिद्धान्ततिरोमणिविरचिताया

काव्यालङ्कारदीपिकाया हिन्दीव्याख्याया

‘प्रायोगिके’ पञ्चमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

—०—

‘प्रायोगिक’ नाग्न पञ्चमाधिकरणे

द्वितीयोऽध्याय

[शब्दशुद्धिः]

साम्प्रतं शब्दशुद्धिरुच्यते ।

रुद्रावित्येकशेषोऽन्वेप्य । ५, २, १ ।

रुद्रावित्यत्र प्रयोगे एकशेषोऽन्वेप्योऽन्वेपणीय । रुद्रश्च रुद्राणी

‘प्रायोगिक’ पञ्चम अधिकरण में द्वितीय अध्याय

पञ्चम अधिकरण का नाम ‘प्रायोगिक’ अधिकरण है । इसमें कवियों के लिए शब्द वाक्य आदि के प्रयोग के नियम बतलाए हैं इसलिए इसका नाम ‘प्रायोगिक’ अधिकरण रखा गया है । इस के प्रथम अध्याय में ‘काव्य-ममय’ नाम से काव्य में प्रयुक्त होने वाली सामान्य बातों का उल्लेख किया गया है । इस अध्याय में ‘शब्दशुद्धि’ के विषय में लिखेंगे । कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो देखने में शुद्ध मालूम होने हैं परन्तु वास्तव में पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उनका प्रयोग उचित नहीं होगा है । और कुछ शब्द इस प्रकार के होते हैं जिनको अशुद्ध मानकर कवि लोग उनका प्रयोग नहीं करते हैं । पर वास्तव में वह शुद्ध होने हैं और प्रयुक्त किए जा सकते हैं । इन दोनों प्रकार के कुछ प्रचलित शब्दों की विवेचना इस अध्याय में करेंगे । सबसे पहले शिव और पार्वती दोनों के लिए सम्मिलित रूप में होने वाले ‘रुद्रौ’ इस प्रयोग को लेते हैं ।

शब्द शब्दशुद्धि का कथन करते हैं ।

‘रुद्रौ’ इस [प्रयोग] में एकशेष [का विधान] खोजना होगा [अर्थात् मिलता नहीं है] अतएव यहाँ एकशेष करके शिव तथा पार्वती दोनों के लिए ‘रुद्रौ’ यह प्रयोग करना उचित नहीं है ।

[शिव और पार्वती दोनों के लिए सम्मिलित रूप में एकशेष द्वारा] ‘रुद्रौ’ इस प्रयोग में एकशेष [विधायक सूत्र का] अन्वेपण करना होगा । रुद्र और [रुद्रश्च पत्नी] रुद्राणी [‘इन्द्रवरुणभवशर्वेन्द्रमुडहिमारण्यमातुला-

चेति 'पुमान् स्त्रियाः' इत्येकशेषः । न च न प्राप्नोति । तत्र हि 'तल्लक्षण-
श्चेदेव विशेषः' इत्यनुवर्तते । इति तत्रैवकारकरणान् स्त्रीपुंससृष्टं ग्व
विशेषो भवतीति व्यवस्थितम् । अत्र तु 'पुयोगादात्मायाम्' इति
विशेषान्तरमप्यस्तीति । एतेन इन्द्रो, भवो, शर्वो इत्यादयः प्रयोगाः
प्रत्युक्ताः ॥ १ ॥

आद्याणामानुक्' इति सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में रद्ग तत्त्व से डीप् प्रत्यय और आनुक्
का प्रागम होकर 'रद्गाणी' पद बनता है ।] इस [विग्रह] में 'पुमान् स्त्रिया'
[अष्टाध्यायी १, २, ६७] इति सूत्र से एकशेष हो सकता था । परन्तु वह
प्राप्त नहीं होता है । क्योंकि उभ ['पुमान् स्त्रिया' सूत्र] में [इससे बहिले
के 'वृद्धो दूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' अष्टाध्यायी १, २, ६६ सूत्र से]
'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इसकी अनुवृत्ति प्राणी है । उसमें 'एवकार' के होने ॥
स्त्रीत्व-पुस्त्वकृत भेद [में] हो [एकशेष] होता है । [अन्य किसी प्रकार का
अन्तर होने पर एकशेष नहीं होता है] यह व्यवस्था की गई है । यहा ['रद्गश्च
रद्गाणी' घ इस विग्रह म] तो 'पुयोगादात्मायाम्' इससे [अष्टाध्यायी ४, १,
१८ पुरष के योग से 'रद्गाय फनी रद्गाणी' प्रथवा 'गोपस्य पत्नी गोपी' इत्यादि
के समान केवल स्त्रीत्व नहीं अपितु फनीत्व रूप] अन्य विशेषता भी हैं ।
[इसलिये यहा एकशेष नहीं हो सकता है । अत एकशेष करके शिव और
पार्वती दोनों के लिए 'रद्गी' पद का प्रयोग अनुचित है] । इसमें ['रद्गी' पद में
एकशेष की विवेचना से उगी के समान] 'इन्द्रो', 'भवो', 'शर्वो' इत्यादि ['इन्द्र-
वरुण-भभ-शर्व' इत्यादि अष्टाध्यायी के ४, १, ४९ सूत्र के आचार पर बने हुए
पदों में भी एकशेष करके किए हुए] प्रयोगों का भी व्यवहन हो गया ।
[अर्थात् उनका भी एकशेष करके 'भवो', 'शर्वो' आदि प्रयोग नहीं करना
चाहिए] ॥१॥

'मिलति', 'विपत्ति', 'क्षयति' इत्यादि प्रयोग महाकवियों ने किए
हैं । परन्तु इनमें मूलभूत धातु धातुपाठ में नहीं मिलते हैं । तब यह प्रयोग
कैसे बनते हैं इस प्रकार की मता हो सकती है । इसका समाधान करने के
लिए अगला सूत्र कहते हैं—

^१अष्टाध्यायी १, २, ६७ ।

^२अष्टाध्यायी १, २, ३६ ।

^३अष्टाध्यायी ४, १, ४८ ।

मिलि-क्लवि-क्षपि-प्रभृतीनां धातुत्व, धातुगणस्यासमाप्तेः ।

५, १, २ ।

मिलति, विकलवति, क्षपयति इत्यादयः प्रयोगाः । तत्र मिलि-क्लवि-क्षपि-प्रभृतीनां कथं धातुत्वम् । गणपाठाद्, गणपठितानामेव धातु-संज्ञाविधानान् । तत्राह । धातुगणस्यासमाप्तेः । वर्धते धातुगण इति हि शब्दार्थेन आचक्षते । तेनैषा गणपाठोऽनुमतः, शिष्टप्रयोगादिति ॥ २ ॥

वलेरात्मनेपदमनित्यं जापकात् । ५, २, ३ ।

वलेरनुदात्तेस्त्वादात्मनेपदं यन्, तदनित्यं दृश्यते, 'लज्जालोलं घलन्ती' इत्यादिप्रयोगेषु । तत्कथमित्याह आपकान् ॥ ३ ॥

'मिलि', 'क्लवि' और 'क्षपि' आदि [धातुपाठ में अपठित] का धातुत्व है । धातुगण [धातुपाठ मात्र में समस्त धातुगो] के समाप्त न होने से [धातुपाठ के अतिरिक्त धातु भी होते हैं] ।

'मिनति', 'विकलवति', 'क्षपयति' इत्यादि प्रयोग पाए जाते हैं । उनमें [उनके मूलभूत] मिलि, क्लवि, क्षपि आदि का धातुत्व [धातुपाठ में पठित न होने के कारण] कैसे होगा ? गणपाठ से, [भ्वादि] गण पठितों की ही धातुसंज्ञा का विधान ['भूवादयो धातवः' इस सूत्र में] होने से । [गणों में अपठित मिलि आदि का धातुत्व कैसे होगा, यह प्रश्न हुआ] ।

इसका उत्तर देते हैं । धातुगण के [उसी परिगणित धातुपाठ के भीतर] समाप्त न होने से । [धातुपाठ के बाहर भी बहुत धातु शिष्ट प्रयोग से मानी जा सकती हैं । इसीलिए] धातुगण बढ़ सकता है । यह शब्द-शास्त्रज्ञ [व्याकरण के आचार्य] कहते हैं । इसीलिए इन [मिलि, क्लवि आदि] का गणपाठ [धातुत्व] शिष्ट प्रयोग से अभिमत है । ['प्रभृति'-ग्रहण से 'धोज' 'आन्दोल' आदि का ग्रहण भी करना चाहिए । 'शिष्ट' प्रयोग [शब्द] से अतिप्रसङ्ग का वारण किया है ॥ २ ॥

'वलि' [धातु] का [अनुदात्तेत् निमित्तक] आत्मनेपद [चक्षिङ् धातु में इकार तथा डकार दो अनुबन्ध करने रूप] जापक [बल] से अनित्य है । [इसीलिए परस्मैपद में भी उसका प्रयोग हो सकता है] ।

वलि [धातु] के अनुदात्त [इकार के] इत् होने से ['अनुदात्तइत्

^१ अष्टाध्यायी १, ३, १ ।

^२ अष्टाध्यायी १, ३, १२ ।

किं पुनस्तज्ज्ञापकमत आह—

चक्षिडो द्व्यनुबन्धकरणम् । ५, २, ४ ।

चक्षिड् इकारेणैवानुदात्तेन सिद्धमात्मनेपद किमर्थं टित्करणम् । यन् क्रियते अनुदात्तनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वज्ञापनार्थम् । एतेन वेदि भर्त्सि तर्जि-प्रभृतयो व्याख्यानाः । आवेदयति, भर्त्सयति, तर्जयति इत्यादीनां प्रयोगाणां दर्शनम् । अन्यत्राप्यनुदात्तनिबन्धनस्य आत्मनेपदस्यानित्यत्वं ज्ञापकेन दृष्टव्यमिति ॥ ४ ॥

‘आत्मनेपदम्’ इस सूत्र से बिहित] जो आत्मनेपद हुआ है वह ‘सज्जालोल बलन्ती’ इत्यादि प्रयोगों में अनित्य दिखलाई देता [पाया जाता] है । वह [‘बलन्ती’ पद में परस्मैपदनिमित्तक शब्द प्रत्यय] कंते हुआ [इस शब्दा के होने पर उस के समाधान के लिए] यह कहते हैं । [चक्षिड् धातु में इकार तथा इकार अनुदात्तेत् और टित्करण रूप अनुबन्धद्वय की रचना रूप] ज्ञापक के होने से । [अनुदात्तेत् निमित्तक आत्मनेपद की अनित्यता होने से ‘बलन्ती’ में आत्मनेपद को अनित्य मान कर ही कवि ने ‘बलन्ती’ पद का प्रयोग किया है] ॥ ३ ॥

[‘बलन्ती’ में अनुदात्तेत् निमित्तक आत्मनेपद की अनित्यता का] वह ज्ञापक क्या है । इसके [दिखलाने के] लिए [अगले सूत्र में ज्ञापक] कहते हैं—

चक्षिड् [धातु] के [इकार और इकार रूप] दो अनुबन्धों का करना [ही इस विषय में ज्ञापक है] ।

चक्षिड् [धातु में] के अनुदात्त ‘इकार’ [के इत् होने] से ही [‘अनुदात्तित आत्मनेपदम्’ इस सूत्र से] आत्मनेपद सिद्ध हो सकता है फिर टित्करण किसलिए किया है । जो [यह टित्करण] किया है वह अनुदात्तेत् निमित्तक आत्मनेपद के अनित्यत्वज्ञापन के लिए [ही] किया है । इस [अनुदात्तेत्-निमित्तक आत्मनेपद के अनित्यत्व-ज्ञापन] से वेदि, भर्त्सि, तर्जि प्रभृति [धातुओं में अनुदात्तेत् अर्थात् इकार की इत् सजा होने पर भी आत्मनेपद के न होने के कारण] की व्याख्या हो गई । [उन धातुओं के अनुदात्तेत् होने पर भी अनुदात्तेत्-निमित्तक आत्मनेपद के अनित्य होने से ही] आवेदयति, भर्त्सयति, तर्जयति आदि [परस्मैपद के] प्रयोग देखे जाने से । [चक्षिड् धातु से] अन्यत्र भी अनुदात्तनिमित्तक आत्मनेपद का अनित्यत्व [इस] ज्ञापक से समझना चाहिए ॥ ४ ॥

इस प्रकार आत्मनेपदी धातुओं के परस्मैपद के रूपों का समर्थन कर आगे परस्मैपदी ‘क्षि’ और खिद आदि धातुओं के ‘क्षीयने’, ‘खिद्यने’ आदि आत्मने-

लभेर्गत्यर्थत्वाणिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे । ५, २, ६ ।

शत्रून्गमयन् स्वर्गं वेदार्थं स्वान्वेदयत् ।

आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद्विधिम् ।

आमयन् मलिले पृथिवी यः स मे श्रीहर्षिर्गतिः ॥

इसी प्रकार 'शशिभामं कुमुदानि विज्ञास लम्भयन्ति' यह प्रयोग किया गया है । इसमें लभ धातु के प्राप्त्यर्थक होने पर भी उभयमेव गति का प्राधान्य और प्राप्ति की गौणता होने में गत्यर्थक मान कर अप्यन्तावस्था का कर्ता प्यन्तावस्था में कम हो गया है ।

दूसरे उदाहरण में 'सुतरा मित मुनेर्वपु विमारिभिः, द्विजावलिव्याज-निशाकराशुभिः मिनिम्ना लम्भयन् अच्युतं मुचिस्मिता वाचमबोचत्' इस दूसरे उदाहरण में 'मिनिमा मुनेर्वपु लभते' ज्वेनिमा मुनि नारद के शरीर को प्राप्त करती है 'न कृष्ण प्ररयति' कृष्ण उमको प्रेरित करते हैं, इसलिए कृष्ण नारद मुनि के शरीर को मुक्ता में युक्त करने हुए बोले । यहा अप्यन्तावस्था के कर्ता की कर्म सजा होकर द्वितीया विभक्ति नहीं हुई है । अपितु कर्ता के उमके 'कर्तृ-कर्म-गयास्तृतीया' इस सूत्र में उसके कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है । यहा कर्ममज्ञा न होने का कारण लभ धातु की गत्यवस्था का न होना है । लभ धातु का साधारण अर्थ तो धातुपाठ के अनुसार प्राप्ति है । परन्तु वह प्राप्ति गतिपूर्वक ही होती है । उममें वही गति का प्राधान्य और प्राप्ति का अप्राधान्य होता है तथा वही प्राप्ति का प्राधान्य और गति का अप्राधान्य होता है । इनमें से जहा गति का प्राधान्य होता है वहा धातु को गत्यर्थक मान कर 'गतिबुद्धिप्रत्ययसामानार्थं शब्दकर्मिकमकाशमणि बर्ता न णां' इस सूत्र से अप्यन्तावस्था के कर्ता की प्यन्तावस्था में कर्म सजा होती है । और उसमें द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है । और जहा प्राप्ति का प्राधान्य होता है गति गौण होती है वहा लभ धातु को गत्यर्थक नहीं माना जा सकता है अतएव वहा अप्यन्त अवस्था का कर्ता कर्मभक्षक नहीं होता है । वहा कर्ता में तृतीया विभक्ति हो जाती है इस प्रकार लभ धातु के प्यन्तावस्था में यह दो प्रकार के प्रयोग पाए जाते हैं । इस बात को ग्रन्थकार अगले सूत्र में कहते हैं —

सप्त धातु के गत्यर्थक होने [और कहीं गत्यर्थक न होने] से निजन्त

^१ अष्टाध्यायी २, ३, १८ ।

^२ अष्टाध्यायी १, ४, ५२ ।

अत्ययं लभिर्यं प्राप्युपमर्जना गतिमाह । अग्निं च गत्युपमर्जनां
प्राप्तिमाहेति । अत्र पूर्वमग्निं पक्षे गत्युपमर्जनाभावान्त्वभेदिच्युता कर्ता
तस्य 'गत्यादिसूत्रेण कर्ममज्ञा । यथा—

दीर्घिकासु कुमुदानि विराम लम्भयन्ति शिशिरा शशिभाम् ।

द्वितीयपक्षे गत्युपमर्जनाभावान्त्वभेदिच्युता कर्तुर्न कर्ममज्ञा ।

यथा—

मितं मितिम्ना मृतरा मुनेर्वपु-

र्विसारिभि मौचमिनाथ लम्भयन् ।

द्विजायलित्याजनिराकरागुभि

शुचिर्मिता वाचमजाचदच्युत ॥ ६ ॥

[मैं प्रयोजक कर्ता की अवस्था] में अश्वत्थ अवस्था के कर्ता का समान और
अश्वत्थ [कहीं कर्ममज्ञा और कहीं उभयता अवस्था] होता है ।

एक इस प्रकार का लभ धातु [का प्रयोग] है जो, प्राप्ति जिसमें
उपमर्जन [गुणीभूत] है ऐसी गति को कहता है । और [दूसरा इस प्रकार का
लभ धातु का प्रयोग है] जो, गति जिसमें उपमर्जनीभूत है इस प्रकार की प्राप्ति
को कहता है । उन [दोनों में से प्राप्ति विराम गुणीभूत है ऐसे गतिप्रधान]
प्रथम पक्ष में लभ धातु के गत्यवक [गतिप्रधानार्थक] होने से अश्वत्थावस्था में
जो कर्ता हमारे ['गतिर्वाह्यप्रयत्नानां तदवकर्मकर्मवशात्तस्य कर्ता स 'तो'
इत्यादि] गत्यादि सूत्र में कर्ममज्ञा हो जाती है । जैसे—

अश्वत्था गी शीतल विष्णो वावाडियो म कुमुदो को विनायो [विराम को
प्राप्त कराती] है ।

यहां कुमुद विराम का प्राप्त करने है इस अश्वत्थावस्था के वाच्य में
कुमुद कर्ता है । शीतल विष्णो कुमुद का विराम प्राप्त करवाता है । इस
गिजलावस्था में प्रवाचन कर्ता अविशिष्ट है । और अश्वत्थावस्था का कर्ता
कुमुद यहाँ कर्म हो गया है ।

[प्राप्ति प्रधान] दूसरे पक्ष में [लभ धातु के] गत्यवक न होने से
गिजला में अश्वत्थावस्था के कर्ता की कर्म मज्ञा नहीं होती है । जैसे—

स्वभावतः और धर्म [नारद] मुनि के शरीर को [चारों ओर] फैलने

^१ अष्टाध्यायी १, ४, ५२ ।

^२ अष्टाध्यायी १, ४, ५२ ।

ते मे शब्दौ निपातेषु ॥ ५,२,१० ॥

यथा मयेऽग्निप्रथे ते मे शब्दौ निपातेषु प्रष्टव्यौ । यथा—

श्रुत ते वचन तस्य ।

वेदानधीन इति नाधिगतं पुरा मे ॥१०॥

तिरस्कृत इति परिभूतेऽन्तर्ध्वं पचागत् ॥ ५,२,११ ॥

बाली वल्गपरिण के बहाने वल्गमा की विरक्तों में [छोर भी अधिक] श्वेतिमा की प्राप्त कराने का वृत्त जी दुष्प्रस्थित वृत्त बाणों बोलें ।

यथा रश्मयन यत्र प्रत्यादस्या की प्रिया है उष्मा अप्रत्यादस्या का कर्ता 'निदिमा' है । यन्त्र यत्र गन्धर्व की प्रयासता न होने में 'गन्धर्व' दृष्टादि सूत्र में 'निदिमा' की रश्म नञा नहीं हृष्टं । तब 'कन्' कन्धर्वोन्नीया' इस सूत्र में उष्म नञाया प्राक् निदिमा रश्मयन् यत्र प्रयोग बना है ॥ १ ॥

तिरस्कृत इति शब्द परिभूते दृश्यते । 'राजा तिरस्कृत' इति । स च न प्राप्नोति । निरः शब्दस्य हि "विरोऽन्तयो" इत्यन्तयो गतिमज्ञा । तस्या च सत्यां "निरसोऽन्तरस्याम्" इति सकार । वक्तव्य तिरस्कृत इति परिभूते ।

आह, अन्तर्ध्वपचारान्, इति । परिभूतो शान्तर्हितवद् भवति । मुख्यसु प्रयोगो यथा—

लावण्यप्रसरतिरस्कृताङ्गलेखाम् ॥ ११ ॥

'तिरस्कृत' यह शब्द अपमानित इस अर्थ में [प्रयुक्त हुआ] देखा जाता है । [जैसे] 'राजा से तिरस्कृत' [राजा से अपमानित] । यह [परिभूत या अपमानित अर्थ में तिरस्कृत शब्द का प्रयोग व्याकरण के नियमानुसार] प्राप्त नहीं होता है । 'तिर,' शब्द की अन्तर्धान [अर्थ] में "विरोऽन्तयो" सूत्र में गति मज्ञा होती है । और उक्त [गतिमज्ञा] के हो जाने पर "निरसोऽन्तरस्याम्" इस सूत्र से [विसर्ग को क के पड़े रहने] मकार [होकर 'तिरस्कृत' यह रूप] होता है । तब परिभूत अर्थ में [गतिमज्ञा न होने से] 'तिरस्कृत' यह [प्रयोग] कैसे होगा ।

[इस शङ्का के होने पर उसके समाधान के लिए] कहते हैं । अन्तर्गत का [अपमानित में] लावण्य होने से । अपमानित [व्यक्ति] अन्तर्हित के समान [प्रत्यक्ष, उपेक्षित] हो जाता है । [इसलिये लावण्य लक्षणा से परिभूत के लिए भी तिरस्कृत शब्द का प्रयोग किया जा सकता है । इस तिरस्कृत शब्द का] मुख्य प्रयोग तो [इस प्रकार के उदाहरणों में ममता का आह्वय] जैसे—

सौन्दर्य के प्रसार से जिसकी देह रेखाएँ छिप गई हैं [ऐसी सुन्दरी को] ॥ ११ ॥

निषेध के अर्थ में नन् का प्रयोग होता है । इसका "नन् उक्त सूत्र से सुवर्त के साथ समाप्त होता है । उसके बाद "कदापि नन् इयम् न" य उल्लाप पड़े रहने नन् के न का जोड़ हो जाता है । उसके बाद यदि 'द्वितीय' आदि उत्तरपद पड़े हैं तब अद्वितीय रूप बन जाता है । परन्तु जहाँ अत्रादि एक आदि

१-३ अष्टाध्यायी १, ४, ७१ ।

१-४ अष्टाध्यायी ८, ३, ४२ ।

१-५ अष्टाध्यायी २, २, ६ ।

१-६ अष्टाध्यायी ६, ३, ३२ ।

नैकशब्द मुष्पुपेति समासात् ॥ ५, २, १२ ॥

अख्यानीस्थान फलनमित्तनैकद्रुममिवम् ।

इत्यादिषु नैकशब्दो दृश्यते । स च न सिद्धयति । नञ्ममासे हि 'नलोपो नञ्' इति नलोपे 'तस्मान्नुडचि' इति नुडागमे सति अनेकमिति रूप स्यात् । निरनुबन्धस्य न शब्दस्य समासे लक्षण नास्ति । तत्कथं 'नैक' शब्द इत्याह । मुष्पुपेति समामान् ॥ १२ ॥

शब्द परे हो वहाँ 'तस्मान्नुडचि' इस सूत्र में लुप्त नकार 'नञ्' में परे, अर्थात् 'एक' न पूर्व 'नुड' का आगम होकर 'अनेक' पद बनता है । इसलिए नञ् का 'एक' पद के साथ समान होकर 'अनेक' यह रूप बनता है । 'नैक' पद नहीं बनता है । 'नञ्' के अनिश्चित निषेधात् में 'न' पद भी हो सकता है । परन्तु उसके समान का विधायक कोई सूत्र नहीं है । नञ् के सूत्र में 'नञ्' का ही समान होता है 'न' का नहीं । तब 'नैक' पद का प्रयोग कैसे होता है । यह शङ्का है । इसका उत्तर ग्रन्थकार ने यह दिया है कि 'नैक' इस पद में नञ् का नहीं अपितु निषेधात्क के 'न' पद का 'नञ्' पद के साथ 'सुप्पुपा'—'सुबन्त सुबन्तेन सह समस्यते' इस नियम के अनुसार समान करके 'नैक' पद का प्रयोग किया जाता है । इसी ध्यान का अगले सूत्र में कहते हैं—

'नैक' शब्द [का प्रयोग] सुप्पुपा [इस नियम के अनुसार किए हुए] समास से [सिद्ध होता है] ।

यह वनस्थान फलो से जड़े हुए अनेक वृक्षों में युक्त है ।

इत्यादि [उदाहरणों] में 'नैक' शब्द [का प्रयोग] देखा जाता है । [परन्तु व्याकरण के नियम के अनुसार] वह सिद्ध नहीं होता है । [क्योंकि 'नञ्' सूत्र में] नञ् समान होने पर 'नलोपो नञ्' इस सूत्र में [नञ् के] न का लोप होने पर और 'तस्मान्नुडचि' इस सूत्र में नुडागम करने पर 'अनेकम्' यह रूप [सिद्ध] होगा । ['नैकम्' यह सिद्ध नहीं होगा । और नकार रूप] अनुबन्ध रहित [केवल] न शब्द का समान होने का [विधायक] सूत्र नहीं है । तब 'नैक' इस शब्द [की सिद्धि] कैसे होगी [इस शङ्का का समाधान करने] के लिए कहते हैं । 'सुप्पुपा' इस [नियम] से समान होने से ['नैक' शब्द सिद्ध होता है] ।

मधुपिपासुप्रभृतीनां समासो गमिगाम्यादिषु पाठात् ॥५२॥ १३॥

मधुपिपासुमधुव्रतसेवितं मुकुलजानमजृम्भत वीरुणम् ।

इत्यादिषु मधुपिपासुप्रभृतीनां समासो गमिगाम्यादिषु पिपासु-
प्रभृतीनां पाठात् । भित्तादिषु गमिगाम्यादीनां द्वितीयात्मनामलक्षण-
दर्शयति ॥१३॥

‘सुप्पुषा’ समास का अभिप्राय यह है कि मत्तभाष्यकार न ^१ मत् सुपा
गुह का योग-विभाग कर जो मुबन्त मुबन्नेन यह समझत यह नियम बनाया
है उसके अनुसार ‘न’ और ‘एक’ पद का समास होकर ‘नं’ पद सिद्ध किया जा
सकता है ॥ १२ ॥

समास के प्रसंग में ‘मधुपिपासु’ मधुग गगानो का क्षिपय या परिग्रह
हो सकता है इसलिए उभयका स्पष्टीकरण करने के लिए अथवा मधु पिपासुने ह ।
‘मधुपिपासु’ में मधु को पीने की इच्छा वाला इस प्रकार का द्वितीय समास
अथवा मधु का पिपासु इस प्रकार का पदार्थ लक्ष्य समास हो सकता है ।
परन्तु द्वितीया समास के विधायक ^२ ‘द्वितीयाध्वनातीतपनिगनानाम्नात्मागतं’
इत मन् में पिपासु आदि पदों का पाठ न जाने में द्वितीया लक्ष्य नहीं हो
सकता है । और ^३ ‘न लोकाभ्यदन्तिऽगव्यध्वनाम्’ इस मन् में पिपासु ‘द्वितीया’
आदि ‘उ’ प्रत्ययान्तों के, योग में पड़ी विशिष्टि का ही निषेध प्राप्त में पाठो-
त्तरूप समास भी नहीं हो सकता है । तत्र मधुपिपासु आदि प्रयोग कैसे बन
सकते हैं । यह शङ्का होती है । उसका समाधान यह करने है कि इस प्रकार के
प्रयोगों में ‘गमिगाम्यादीनामुपलब्धानम्’ उग वार्तिक के अनुसार द्वितीया लक्ष्य
समास हो सकता है । इसी बात को अनेक स्थानों में कहते हैं ।

मधुपिपासु इत्यादि [पदो] का [द्वितीया लक्ष्य] समास [‘गमि-
गाम्यादीनामुपलब्धानम्’ इस वार्तिक के अन्तर्गत] गमिगाम्यादिकों में पाठ
होने से [हो जाता] है ।

मधुपिपासु भ्रमरकुल से लेवित सताग्रो का पुष्पसमूह विकसित हुआ ।
इत्यादि [प्रयोगो] में ‘मधुपिपासु’ इत्यादि [शब्दो] का समास ‘गमिगाम्या-

^१ अष्टाध्यायी २, १, ४ ।

^२ अष्टाध्यायी २, १, २४ ।

^३ अष्टाध्यायी २, ३, ६९ ।

त्रिवलीशब्द सिद्ध सज्ञा चेत् । ५, २, १४ ।

त्रिवलीशब्द^१ सिद्धो यदि सज्ञा । 'द्विक्सस्ये मज्ञायाम्' इति सज्ञायामेव समासविधानात् ॥ १४ ॥

विम्बाधर इति वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्याम् । ५, २, १५ ।

दिको' में 'पिपासु' प्रभृति [पदो] का पाठ होने से [हो सकता] है । 'श्रितादि' में 'गमिनाभ्यादिको' के [द्वितीया तत्पुरुष] समास का विधान [विधायक सूत्र] बिखलाया है ॥ १३ ॥

समास के प्रयोग में ही 'त्रिवली' शब्द का समास भी सन्देहास्पद हो सकता है । यदि त्रिवली शब्द अमज्ञा हो तो उसमें 'तद्धितार्थोत्तरपदममाहारे च' इस सूत्र में मर्यादाचक 'त्रि' शब्द का 'वली' के साथ समास कहा जा सकता है । परन्तु यहाँ 'पञ्चकपाल' के समान 'तद्धितार्थ' विषय नहीं है । और न 'पञ्चगवधन' के समान 'उत्तरपद' विषय है और नहीं 'पञ्चपात्र' इत्यादि के समान 'समाहार' विवक्षित है क्योंकि समाहार पक्ष मानने पर 'म नपुमकम्' इस सूत्र के अनुसार 'त्रिवली' पद नपुमक लिंग हो जाना चाहिए था । इसलिए 'तद्धितार्थान्तरपदममाहारे च' इस सूत्र में समास नहीं हो सकता है । यह गड़बड़ होती है । इसका समाधान सूत्रकार इस प्रकार करते हैं कि 'त्रिवली' शब्द को भन्ना शब्द मान कर 'द्विक्सस्ये मज्ञायाम्' इस सूत्र से 'व्यवस्था वली त्रिवली' इस विग्रह में समास होकर 'त्रिवली' पद सिद्ध होता है । यह बात अगले सूत्र में कहते हैं ।

त्रिवली शब्द [का समास] सिद्ध है यदि वह सज्ञा है ।

'त्रिवली' शब्द सिद्ध है यदि सज्ञा है । 'द्विक्सस्ये मज्ञायाम्' [अष्टाध्यायी २, १५०] इति [सूत्र] से सज्ञा में ही समास का विधान होने से ।

'त्रिवली' शब्द का प्रयोग निम्न उदाहरण में पाया जाता है ।

कौणस्थिरवन्धव कुचावलाबूम्नस्यास्तु दण्डग्ननुरोमराजि ।

हारोऽपि तन्वोरिति मन्मथस्य मगोनविद्यामगलस्य वीणा ॥ १४ ॥

'विम्बाधर' यह [समस्त पद] मध्यमपदलोपी समास होने पर [सिद्ध हो सकता] है ।

^{१-१} अष्टाध्यायी २, १, ५० ।

^२ अष्टाध्यायी २, १, ५१ ।

^३ अष्टाध्यायी २, ४, १७ ।

^४ अष्टाध्यायी २, १, ५१ ।

‘विम्बाधरः पीयते’ इति प्रयोगो दृश्यते । स च न शुक्तः । ‘अधर-
विम्ब’ इति भवितव्यम् ।^१ उपमित व्याघ्रादिभिः’ इति समासे सति कथं
विम्बाधर इत्याह । वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्याम् । ‘शास्त्रार्थवत्त्वान्’ समासे ।
मध्यमपदलोपिनि समासे सति विम्बाकारोऽधरो विम्बाधर इति । तेन
विम्बोष्ठशब्दोऽपि व्याख्यातः । अत्रापि पूर्ववद् वृत्तिः । शिष्टप्रयोगेषु
वैष विधिः । तेन नातिप्रमदः ॥ १५ ॥

आमूललोलादिषु वृत्तिविम्पष्टपदुवत् । ५, ७, १६ ।

‘आमूललोतम्’ ‘आमूलसरसम्’ इत्यादिषु वृत्तिविम्पष्टपदुवत्
‘मयूरव्यसकादिष्वान्’ ॥ १६ ॥

‘विम्बाधरः पीयते’ इस प्रकार का प्रयोग पाया जाता है । वह उचित
नहीं है । [अधरो विम्बाधर इति विप्रश्नं]^२ ‘उपमित व्याघ्रादिभिः समाध्या-
प्रयोगे’ इस सूत्र से समास होने पर ‘अधरविम्ब’ यह [प्रयोग] होना चाहिए ।
[विम्बाधर नहीं] तो ‘विम्बाधर’ प्रयोग कब होता है । इस [झट्का दे होने]
पर [उसके समाधान के लिए] कहते हैं । [‘विम्बाकारोऽधर विम्बाधर’ इस
प्रकार ‘आकार’ रूप] मध्यमपदलोपी वर्ति न ‘शास्त्रार्थवत्त्वान्’ समास होने
पर [विम्बाधर पद बनता है । अर्थात् ‘शास्त्रार्थवत्त्वान्’ शिष्टमे उत्तर-
पदलोपत्योपसत्त्वानम्’ इस धातुिक से ‘शास्त्रार्थ पारिव शान्तार्थवत्’ के समान
‘शास्त्रार्थवत्त्वान्’] । मध्यमपदलोपी समास करने पर ‘विम्बाकारो अधर
विम्बाधर’ इस प्रकार ‘विम्बाधर’ यह [पद बन सकता] है । इसी से
‘विम्बोष्ठ’ शब्द की भी व्याख्या हो गई । [यहाँ ‘विम्बाकार ओष्ठ’ इस विप्रश्न
में ‘शास्त्रार्थवत्त्वान्’ मध्यमपदलोपी समास होकर ‘विम्बोष्ठ’ पद सिद्ध हो
सकता है] । यहाँ भी पूछ [विम्बाधर] के समान [मध्यमपदलोपी] समास है ।
यह प्रकार शिष्ट प्रयोगों के लिए ही है । इसलिए [व्याघ्राकार पुरुष व्याघ्र-
पुरुष’ इस प्रकार के नए प्रयोग में] अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है ॥ १५ ॥

‘आमूललोतम्’ इत्यादि में ‘विस्पष्टपद’ के समान [‘मयूरव्यसका-
दियध’ इस सूत्र से अतिवृत्तलक्षण तत्पुत्य समास होता है] ।

‘आमूललोतम्’ ‘आमूलसरसम्’ इत्यादि [प्रयोगों] में ‘विस्पष्ट पद’ के
समान ‘मयूरव्यसकादिष्वान्’ समास होता है ॥ १६ ॥

^{१-३} अष्टाध्यायी २, १, ५६ ।

^{२-४} अष्टाध्यायी २, १, ७८ ।

न धान्यपष्ठादिषु पष्ठीसमासप्रतिषेध 'पूरणेनान्यतद्धि-
तान्तत्वात् ॥ ५, २, १७ ।

'धान्यपष्ठम्', 'तान्युच्छ्रपष्ठाङ्गित्तमैकतानि' इत्यादिषु न पष्ठी-
समासप्रतिषेध । पूरणेन, पूरणप्रत्ययान्तेनान्यतद्धितान्तत्वान् । पष्ठो
भागः पष्ठ इति 'पूरणाद्भागे तीयादन्' 'पष्ठाष्टमाभ्यां ज च' इत्यन-
विधानान् स प्राप्तः ॥ १७ ॥

पञ्चपीतिमादिषु गुणवचनेन । ५, २, १८ ।

'पञ्चपीतिमा, पञ्चमाली-पिङ्गलिमा' इत्यादिषु पष्ठीसमासप्रतिषेधो
गुणवचनेन प्राप्तो, यालिङ्याच्च न कृतः ॥ १८ ॥

'धान्यपष्ठ' इत्यादि [प्रयोगो] में 'पूरण-गुण-सुहितार्थ-सद्व्यय-नव्य-
समानाधिकरणेन' [इत्यादि सूत्र से 'सत्ता पष्ठ' के समान] पष्ठी समास का
प्रतिषेध नहीं होगा है । [क्योंकि 'धान्यपष्ठ' में प्रयुक्त पष्ठ शब्द के] पूरण
[अर्थक प्रत्यय] से अन्य ['पूरणाद्भागे तीयादन्', इस सूत्र के अधिकार में
'पष्ठाष्टमाभ्यां ज च' ५, ३, ५० इस सूत्र से अन् प्रत्यय एष] तद्धितान्त होने से ।

'धान्यपष्ठम्' 'उच्छ्रपष्ठ' से अङ्कित बानू वाले [प्रयोगो] में [पूरणगुण-
सुहितार्थमद्वययतव्यसमानाधिकरणेन २, २, ११ इस सूत्र से 'पष्ठ' शब्द को 'पूरण-
प्रत्ययान्त' मान कर] पष्ठी समास का निषेध नहीं किया जा सकता है [क्योंकि
पष्ठ शब्द में] पूरण अर्थात् पूरण प्रत्ययान्त से अन्य ['पूरणाद्भागे तीयादन्'
५, ३, ४८ के अधिकार में 'पष्ठाष्टमाभ्यां ज च' ५, ३, ५० इस सूत्र से
विहित 'अन्' प्रत्यय एष] तद्धितान्त होने से । 'पष्ठो भाग पष्ठ' इस [विग्रह]
में 'पूरणाद्भागे तीयादन्' [की अनुवृत्ति में] 'पष्ठाष्टमाभ्यां ज च' [५, ३, ५०]
इस से अन् का विधान होने से वह [पष्ठो तत्पुरुष समास] प्राप्त है ॥ १७ ॥

पञ्चपीतिमा' इत्यादि [प्रयोगो] में [पीतिमा एष] गुण [का]
वचन होने से ['पूरणगुण' इत्यादि पूर्वोक्त सूत्र के अनुसार पष्ठी समास का
निषेध होना चाहिए । वह नहीं किया गया है । अतः यह प्रयोग दूषित है] ।

'पञ्चपीतिमा', 'पञ्चमालीपिङ्गलिमा' इत्यादि [प्रयोगो] में गुणवचन

१-४ अष्टाध्यायी ५, ३, ४८ ।

२ अष्टाध्यायी ५, ३, ५० ।

३ अष्टाध्यायी २, २, ११ ।

अवर्ज्यो बहुव्रीहिव्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपद । ५, २, १६ ।

अवर्ज्यो न वर्जनीयो व्यधिकरणो बहुव्रीहि । जन्माद्युत्तरपद
यस्य स जन्माद्युत्तरपद ।

यथा—

‘सच्छास्त्रजन्मा हि विवेकलाभः’ ।

‘कान्तवृत्तय प्राणा’ इति ॥ १६ ॥

[पीतिमा, पिङ्गस्तिमा आदि गुणो का कथन होने] में गुणवचन में [अर्थात्
‘वृत्तगुण’ इत्यादि पूर्वोक्त सूत्र में] पठनी समान का प्रतिषेध प्राप्त है ।
[परन्तु इन प्रयोगों में प्रयोगकर्ता ने] भूयभावज्ञा [समान का निषेध] नहीं
किया [अर्थात् समान कर दिया] है । [अतः यह प्रयोग दूषित है] ।

मिद्वाग्वैमर्दीकात् न ‘अतिशय्य गुणं विपरः । नदशित मना-
प्रमाणत्वात् इत्यादिनिर्देशान्’ इति यह उस गुण के साथ पठनी समान का प्रति-
षेध की अतिशयता सूचित की है । उस दण्ड में यह शिष्टप्रमाण ही रहता है ।
यह शब्द लोगों का मत है ॥ १८ ॥

जन्मादि उत्तरपद वाला बहुव्रीहि [समान] अवर्जनीय है ।

यद्यपि साधारणतः ‘पीतः अरुणः उग्रः न पीताश्च’ आदि न समान
बहुव्रीहि समान में समन्वयमान होना पदा का सामानाधिकरण्य अर्थात् विग्रह
रूप में प्रथमान्तस्त्र ही होता है । इसका प्रतिपादन ‘बहुव्रीहि समानाधिकरणा-
नाम्’ इस वाक्य में किया गया है । परन्तु इस वाक्य का अर्थ ‘न वा
समिधानादसमानाधिकरणेषु समानमत्राभावः’ यह वाक्य ही पाया जाता है ।
इस वाक्य में व्यधिकरण समान या ही समर्थन होता है । समान जन्मादि के
उत्तरपद होने पर व्यधिकरण बहुव्रीहि भी ही मरना है यह तात्पर्य है ।

व्यधिकरण बहुव्रीहि अवर्ज्यं अर्थात् वर्जनीय [निर्दिष्ट] नहीं है ।
जन्मादि [पद] जिसके उत्तरपद है वह जन्माद्युत्तरपद वाला [व्यधिकरण
बहुव्रीहि समान वर्जनीय नहीं है] ।

जैसे—

‘सच्छास्त्रजन्मा हि विवेकलाभः’ [में ‘सच्छास्त्रान् जन्म यस्य’ इस
बहुव्रीहि में सच्छास्त्रान् पञ्चमो विभक्ति और ‘जन्म’ प्रथमान्त होने से
व्यधिकरण बहुव्रीहि है] और ‘कान्तवृत्तय प्राणा’ [में कान्ते प्रिये वृत्तिर्धेया
ते कान्तवृत्तय’ में ‘कान्ते’ सप्तम्यन्त तथा ‘वृत्ति’ प्रथमान्त होने से व्यधिकरण
बहुव्रीहि है] ॥ १९ ॥

हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदात् । ५, २, २० ।

हस्ताग्रम्. अग्रहस्तः, पुष्पाग्रम्, अग्रपुष्पमित्यादयः. प्रयोगा' कथम् ।
 'आहिताग्न्यादिषु अपाठान् । पाठे वा तद्वनियमः स्यान् । आह, गुण-
 गुणिनोर्भेदाभेदान् । तत्र भेदाद् हस्ताग्रादयः अभेदादग्रहस्तादयः ॥ २० ॥

'हस्ताग्र' तथा 'अग्रहस्त' आदि [प्रयोग] गुण-गुणी के भेद और अभेद
 में [सिद्ध हो सकते] हैं ।

'हस्ताग्रम्', 'अग्रहस्त', 'पुष्पाग्रम्' और 'अग्रपुष्पम्' इत्यादि [परस्पर
 भिन्न] प्रयोग वैसे [सिद्ध] होने हैं । [आहिताग्नि गण में पठित शब्दों में
 'आहिताग्न्यादिषु' इस सूत्र में विवक्ष्य होने के कारण 'आहिताग्नि' और 'आग्न्या-
 हित' यह दोनों प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं । उसी प्रकार इन 'हस्ताग्रम्'
 'अग्रहस्त' आदि प्रयोगों को सिद्ध करना चाहें तो वह भी नहीं हो सकता है] ।
 'आहिताग्नि आदि' [गण] में [हस्ताग्रम्, अग्रहस्त आदि का] पाठ न होने से ।
 [और यदि 'आहिताग्नि गण' को 'आहुतिगण' मान कर उसमें अवर्तित 'हस्ता-
 ग्रम्' आदि शब्दों का पाठ मानना चाहें तो भी उचित नहीं होगा क्योंकि वह
 सूत्र बहुव्रीहि मन्त्र के प्रकरण का है और 'हस्ताग्रम्' आदि में पठ्यो तत्पुरुष
 समास ही सङ्गन हो सकता है बहुव्रीहि नहीं । इसलिए 'आहिताग्नि गण' में
 हस्ताग्रम् आदि का] पाठ मानने पर उस ['आहिताग्न्यादिषु' इस सूत्र] का
 [बहुव्रीहि सन्नासविषयक] नियम नहीं बनेगा । [यह शङ्का हो सकती है] इस-
 लिए [उसके सन्नाधानार्थ] कहते हैं । गुण और गुणी के भेद तथा अभेद में [यह
 द्विविध प्रयोग बनते हैं । महा गुण शब्द का अर्थ अवयव है । 'अत्र गुणशब्देन
 परार्थत्वमादृष्टादिवयवा लक्ष्यन्ते] । उसमें [हस्त रूप गुणी और उसके अवयव
 भूत अग्र रूप गुण का] भेद [मानने] से ['हस्तस्य अग्रम्' इस प्रकार पठ्यो
 तत्पुरुष मन्त्र करके] 'हस्ताग्रम्' आदि [प्रयोग बनते हैं ।] और [हस्त रूप
 गुणी तथा उसके अवयवभूत अग्र रूप का] अभेद मानने पर [अग्रद्वामी हस्त]
 'अग्रहस्त' आदि [प्रयोग सिद्ध होने हैं] । इनमें 'विशेषण विशेष्येण बहुलम्' इस
 सूत्र से समास होता है] ॥ २० ॥

१ अष्टाध्यायी २, २, ३७ ।

२ अष्टाध्यायी २, १, ५७ ।

पूर्वनिपातेऽपभ्रंशो लक्ष्य । ५, २, २१ ।

काष्ठतृण, तृणकाष्ठमिति यदृच्छया पूर्वनिपात कुर्वन्ति । तत्राप-
भ्रंशो लक्ष्य. परिहरणीयः । अनित्यत्वज्ञापन तु न सर्वविषयमिति ॥२१॥

निपातेनाऽप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्ति परिगणनस्य
प्रायिकत्वान् । ५, २, २२ ।

सामान्यतः ^१ 'अप्यप्यन्तम्' इमं सूत्रं वे अनुसारं द्रष्टव्यमस्ति न सध्वन्य-
मान शब्दों में से अप्य अप् काष्ठ नक्ष्त्र का पूर्वनिपात जाना है । समसग्रन्थ
अप् वाके पदों में 'तद्व्यञ्ज्य पृथक्' इस धातिका के अनुसार तत् अत्र काष्ठ का
पूर्व-निपात होना चाहिए । इस नियम के अनुसार काष्ठ और नक्ष्त्र पदों का
इन्द्र ममान होने पर लघ्वक्षर का तृण पद का पूर्वनिपात करके 'तृणकाष्ठम्'
यह प्रयोग करना चाहिए । इसके विपरीत जो शब्द काष्ठतृण इस प्रकार
का प्रयोग करते हैं, वह ठीक नहीं है उसका बचाव [परिहार] करना चाहिए ।
इसी बात को जगद मूत्र में उद्धृत है ।

पूर्वनिपात [के विषय] में अपभ्रंशना [न हो इस] का ज्ञान रखना
चाहिए ।

[कुछ लोग] 'काष्ठतृण' [तथा] 'तृणकाष्ठ' इस प्रकार का अपभ्रंश
इच्छा से [दोनों में से किसी प्रकार का] प्रयोग करने ॥ । उनमें अपभ्रंश
['काष्ठतृणम्' इस अशुद्ध प्रयोग] का परिहार करना चाहिए । ['सध्वक्षर
पूर्वम्' इस धातिका के अनुसार लघु शब्द वाले 'तृण' का पूर्वनिपात होना
चाहिए । 'कुमारशीर्षयोगनि' इस सूत्र में सध्वक्षर के पूर्वनिपात का]
अनित्यत्व ज्ञापन सर्वविषयक नहीं है । [सत्रव लागू नहीं होता है इसलिए
'तृणकाष्ठम्' प्रयोग ही उचित है 'काष्ठतृणम्' नहीं] ॥ २१ ॥

निपात से अभिहित कर्म में भी कर्मविभक्ति नहीं होती है [^२ 'अनभिहिते'
सूत्र में किए हुए 'तिद् कृत् तद्धित ममाने अनभिहिते' इस] परिगणन के प्रायिक
होने से [उसमें निपात का भी ग्रहण करना चाहिए । इसलिए निपात से भी
अनभिहित कर्म में ही द्वितीया विभक्ति हो सकती है । निपात में अभिहित कर्म
में द्वितीया विभक्ति नहीं हो सकती है] ।

[कारक प्रकरण के] ^३ 'अनभिहिते' इस सूत्र में [धातिकाकार ने]

^१ अष्टाध्यायी २, २, ३४ ।

^{२-३} अष्टाध्यायी २, ३, १ ।

“अनभिहिते” इत्यत्र सूत्रे तिङ्कृततद्धितसमासैरिति परिगणनं कृतम् । तस्य प्रायिकत्वान्निपातेनाऽप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः । यथा—

‘विपवृक्षोऽपि सवर्ध्य स्वयं छेतुमसाम्प्रतम् ।’

‘पण्डित मूर्ख इति मन्यन्ते ।’ इति ॥ २२ ॥

शक्यमिति रूप विलिङ्गवचनस्यापि

कर्माभिधाया मामान्योपक्रमात् । ५, २, २३ ।

‘तिङ्कृततद्धितसमासै’ [अनभिहिते अर्थात् १. तिङ्, २ कृत, ३ तद्धित तथा ४ समास से अनभिहित कर्म में ‘कर्मणि द्वितीया’ सूत्र से द्वितीया विभक्ति हो] इस प्रकार का परिगणन किया है । उसके प्रायिक [अपूर्ण] होने से [उसमें निपात का भी सप्रह होता है । इसलिए] निपात से अभिहित कर्म में भी कर्म-विभक्ति [कर्मणि द्वितीया विभक्ति] नहीं होती है । [निपात से भी अनभिहित कर्म में ही द्वितीया विभक्ति होती है । निपात से अभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति नहीं होती है] जैसे—

विपवृक्ष भी स्वयं बड़ा कर स्वयं काटना उचित नहीं है ।

‘पण्डित को मूर्ख यह समझते हैं ।’

‘विपवृक्षोऽपि सवर्ध्य स्वयं छेतुमसाम्प्रतम्’ में विपवृक्ष कर्म है परन्तु वा ‘साम्प्रतम्’ इस निपात में अभिहित है इसलिए उसमें द्वितीया विभक्ति नहीं होती है । ‘मूर्ख इति मन्यन्ते’ इसमें मूर्ख कर्मपद है । परन्तु ‘इति’ इस निपात में अभिहित श्रुति के कारण उसमें द्वितीया विभक्ति नहीं होती है । ‘साम्प्रतम्’ तद्धित का रूप भी हो सकता है परन्तु ‘युक्त काले च साम्प्रतम्’ इस कोश के अनुसार उसको निपात मान कर ही कौमुदीवार आदि ने यह उदाहरण दिया है ॥ २२ ॥

विभिन्न लिङ्ग और विभिन्न वचन वाले कर्म के कथन करने में भी [लिङ्ग सामान्य अर्थात् नपु सकलिङ्ग और वचन सामान्य अर्थात् एकवचन रूप] सामान्य का उपक्रम होने से ‘शक्यम्’ यह रूप [पुल्लिङ्ग अथवा स्त्रीलिङ्ग और द्विवचन या बहुवचन के कर्म के साथ भी प्रयुक्त] हो सकता है ।

शक्तेः 'शक्तिसहोश्च' इति कर्मणि यति मति 'शक्यम्' इति रूपं भवति । विलिङ्गवचनस्यापि विरुद्धलिङ्गवचनस्यापि कर्माभिधायी कर्म-वचने सामान्योपक्रमान् विशेषानपेक्षायामिति । यथा—

शक्यमोपधिपतेर्नवोदया कर्णपूरचनाकृते तत्र ।

करा ॥

अथ नवोदया कर्णपूरचनाकृते तत्र । श्रमासादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम् इति । न चैकान्तिक सामान्यापक्रम । तेन—

[शक्तृ शक्ती] शक धातु से ^३ 'शक्तिसहोश्च' उप [सूत्र] से कम से मत [प्रत्यय] करने पर 'शक्यम्' यह रूप होता है । विलिङ्गवचन अर्थात् [शक्यम् एव के नपुंसकलिङ्ग तथा एकवचन से] विरुद्ध लिङ्ग [श्रोत्रिङ्ग प्रथवा पुलिङ्ग] और चिरट्ट वचन [अर्थात् शक्य' के एकवचन से भिन्न द्विवचन प्रथवा बहुवचनान्त] कम के कथन करने से विशेष [लिङ्गविशेष और वचनविशेष] की अविवक्षा से अन्तर्गत [लिङ्गसामान्य नपुंसकलिङ्ग और वचनसामान्य एकवचन] का सम्प्रत्ययान्त [उपक्रम] करने से 'शक्यम्' यह रूप हो सकता है । जैसे—

तुम्हारे कर्णपूर की रचना के लिए नवीन यव [जो] का सूचक मन्त्रान्त कोमल [ओषधिपति] खन्त्रमा की नवीन उदय हुई किन्तु नवीन व अग्रतम से तोड़ने [जोड़ने] योग्य है [जोड़ी जा सकती है] ।

यहां 'आयुर्विज्ञानवाक्यान्तरा ननु शक्यम्' उप 'शा' धातु का अन्वय है । 'नवोदया करा' इस कम पर से पुलिङ्ग और बहुवचन का प्रयोग है । परन्तु उसके साथ 'शक्यम्' यह नपुंसकलिङ्ग के एकवचन का प्रयोग किया गया है । इसी लिङ्ग-भेद और वचन भेद का समर्थन इस सूत्र में किया गया है । इस प्रकार के प्रयोग के समर्थन के लिए आगे महानाप्रकार का वचन प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं ।

इस विषय में भाष्यकार का वचन प्रमाण है । जैसे [कि उन्होंने] 'शक्य' व श्रमासादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्—कृते आदि के मास से भी भूत मिटाई जा सकती है ।' यह [प्रयोग किया है । इस प्रयोग में 'क्षुत्' शब्द श्रोत्रिङ्ग है परन्तु उसके साथ 'शक्य' यह नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग भाष्यकार ने किया है । इससे सिद्ध होता है कि विभिन्न लिङ्ग तथा विभिन्न वचन के साथ भी 'शक्यम्'

लक्षणाभावात् । तत्कथम् । आह । चरेष्टित्वान् । पचादिषु चरडिति पठ्यते ॥ ३१ ॥

केसरालमित्यलतेरणि । ५, २, ३२ ।

‘केसराल शिलीधम्’ इत्यत्र केसरालमिति कथम् । आह । अल-
तेरणि । ‘अल भूषणपर्याप्तिवारणेषु’ इत्यस्माद्वातो. केसरशब्दे ‘‘कर्मण्यण्’
इत्यनेन अणि मति केसरालमिति सिद्धयति ॥ ३२ ॥

‘अनुचरी प्रियतमा मदासता’ इस [प्रयोग] में अनुचरी यह [डोबल प्रयोग] उचित नहीं है । ईकार [डीप्, डोष्] का विधायक [कोई] सूत्र न होने से । [यह ‘अजाद्यनष्टाप्’ इस सूत्र से टाप् प्रत्यय करके ‘अनुचरा’ रूप होना चाहिए था ‘अनुचरी’ नहीं । यह पूर्वपक्ष का अभिप्राय है] । तो फिर वह [अनुचरी यह प्रयोग] कैसे [किया गया है । इसके उत्तर में] कहते हैं । चर [धातु] के टित् होने से । [^३ नन्दिग्रहि पचादिभ्यो ल्युणिम्यञ्च अष्टाध्यायी ३, १, १३४ । इस सूत्र के] पचादि गण में चरट् [धातु शब्द] पड़ा गया है । [उसी से बने अनुचर शब्द में टित्त्वात् डीप् होकर अनुचरी यह प्रयोग बनता है] ॥ ३१ ॥

‘केसराल’ यह [प्रयोग] ‘अल’ [धातु] से अण् प्रत्यय करने पर [बनता] है ।

‘केसराल शिलीधम्’ इस [प्रयोग] में ‘केसराल’ यह कैसे बनेगा । [^४ ‘प्राणिम्यादानो लज्ज्यनरम्याम्’ इस सूत्र से जो लच् प्रत्यय होता है वह प्राण्यञ्जशाची आकारान्त शब्द से होता है । चूडा शब्द से लच् प्रत्यय करके ‘चूडाल’ शब्द बन जाता है । परन्तु केसर शब्द आकारान्त नहीं है और यहाँ ‘केसराल शिलीधम्’ में प्राणी के शब्द का छोटक भी नहीं है । इसलिए उससे लच् प्रत्यय नहीं हो सकता है । तब ‘केसराल’ यह पद कैसे बनेगा । यह शङ्का हो सकती है । इसके समाधान के लिए] कहते हैं । अल [धातु] से अण् [प्रत्यय] करने पर । ‘अल भूषणपर्याप्तिवारणेषु’ इस धातु में ‘केसर’ शब्द उपपद रहते ‘‘कर्मण्यण्’ सूत्र से अण् [प्रत्यय] होने पर ‘केसराल’ यह सिद्ध होता है । [अतः ‘केसरालम शिलीधम्’ यह प्रयोग उचित है] ॥ ३२ ॥

^१ अष्टाध्यायी ३, २, १ ।

^२ अष्टाध्यायी ४, १, ४ ।

^३ अष्टाध्यायी ३, १, १३४ ।

^४ अष्टाध्यायी ५, २, ९६ ।

पत्रलमिति लाते के । ५, २, ३३ ।

‘पत्रल वनमिदं विराजते’ इत्यत्र पत्रलमिति कथम् । आह । लाते के । ‘ला आदाने’ इत्येतस्माद्वातोरादानार्थाद् पत्रशब्दे कर्मण्युपपदे ‘आतोऽनुपसर्गे क’ इति क प्रत्यये मतीति । ३३ ॥

महीध्रादयो मूलविभुजादिदर्शनात् । ५, २, ३४ ।

महीध्र-धरणीध्रादय शब्दा मूलविभुजादिदर्शनात् क प्रत्यय मही धरतीति महीध्र इत्येवमादयोऽन्येऽपि द्रष्टव्याः ॥ ३४ ॥

ब्रह्मादिषु हन्तेऽनियमादरिहाद्यसिद्धिः । ५, २, ३५ ।

ब्रह्मादिषुपपदेषु हन्ते क्विप्क्विधौ, ‘ब्रह्मभूणवृत्रेषु’ इत्यत्र अरिहा

‘पत्रल’ यह [प्रयोग पत्र उपपद रहने] ‘ला’ [आदाने] धातु से [‘आतो-
अनुपसर्गे क’ इस सूत्र से] ‘क’ प्रत्यय होने पर [बनता] है ।

‘पत्रल’ पत्रवृक्ष यह वन दीर्घान्न होता है । यत्र ‘पत्रल’ यत्र [प्रयोग]
बने [बनेगा यह प्रकाश होता है] उसका निराकरण करने के लिए] यह बनने है ।
‘ला’ धातु से ‘क’ प्रत्यय करने पर [‘पत्रल’ बनने] । ‘ला आदाने’ इस
प्रादानार्थक धातु से पत्र शब्द [लभ] कर्म उपपद रहने ‘आतोऽनुपसर्ग क’ इस
सूत्र से ‘क’ प्रत्यय होने पर [‘पत्रलम्’ शब्द का सिद्धि होती है] ॥ ३३ ॥

‘महीध्र’ शब्द [शब्द] मूलविभुजादि [यण] से दृष्ट होने से [‘क’
प्रत्यय होकर तथा कित् होने से गुण का निषेध होकर] मिट्ट होने है ।

‘महीध्र’ ‘धरणीध्र’ आदि शब्द मूलविभुजादि [यण] से दृष्ट होने से
‘क’ प्रत्यय होने पर [किन् होने से गुण का निषेध होकर] मिट्ट होने है । ‘मही’
मही को ‘धरति’ धारण करता है वह ‘महीध्र’ [होता] है । इस प्रकार के अन्य
शब्द भी इसी प्रकार समझ लेने चाहिए ॥ ३४ ॥

‘[‘ब्रह्मभूणवृत्रेषु क्विप्’ इस सूत्र से] ब्रह्म आदि शब्दों के उपपद होने
पर हन् धातु से [ही क्विप् विधान का] नियम होने से [अरि, रिपु आदि से परे
हन् से क्विप् प्रत्यय न होने से] ‘अरिहा’, [‘रिपुहा’] आदि [शब्दों] की सिद्धि
नहीं हो सकती है ।

ब्रह्म आदि के उपपद रहते हन् धातु से क्विप् [प्रत्यय] के विधान में
‘ब्रह्मभूणवृत्रेषु’ इस [सूत्र] में ‘अरिहा’ ‘रिपुहा’ इत्यादि [प्रयोगों] को सिद्धि

१ अष्टाध्यायी ३, २, ३ ।

१ अष्टाध्यायी ३, २, ४ ।

रिपुश्च इत्येवमादौनाममिद्धि* । नियमान् । ब्रह्मादिष्वेव, हन्तेरेव, क्रियेव
भूतकाल एवेति चतुर्विधरचात्र नियम इति । नियमान्यतरविषयो निरूप्यः
॥ ३५ ॥

ब्रह्मविदादय कृदन्तवृत्त्या । ५, २, ३६ ।

ब्रह्मविद्, धृत्रभिद्, इत्यादय प्रयोगा न युक्ताः ब्रह्मभ्रूण इत्या-
दिषु हन्तेरेव इति नियमात् । आह, कृदन्तवृत्त्या । वेत्तीति वित्, भिन-
त्तीति भिन् । क्विप् च* इति क्विप् । तत् कृदन्तैर्विदादिभिः सह ब्रह्मा-
दीनां पठ्ठीसमान इति ॥ ३६ ॥

नहीं होनी । नियम होने से । [यह नियम चार प्रकार के हैं] १. ब्रह्म आदि
[शब्दों] के उपपद होने पर ही [अरि रिपु आदि के उपपद होने पर नहीं],
२ हन् धातु से ही [अन्य धातुओं से नहीं], ३ क्विप् [प्रत्यय] ही और ४.
भूतकाल में ही यह चार प्रकार का नियम [यहाँ अभिप्रेत] है । इनमें से किसी
एक का विषय [अवश्य] निरूपण करना चाहिए । [अरिहा रिपुहा आदि में
उसकी मिद्धि नहीं हो सकती है] ॥ ३५ ॥

‘ब्रह्मविन्’ आदि [शब्द] कृदन्त [वेत्तीति ‘वित्’ पद] के साथ
[ब्रह्मादि पदों के पठ्ठी तत्पुरुष] समास से बनने हैं ।

[पूर्वपक्ष] ब्रह्मविन्, धृत्रभिन् इत्यादि प्रयोग उचित नहीं हैं । [‘ब्रह्म-
भ्रूणवृत्रेषु क्विप्’ इस सूत्र के अनुसार] ब्रह्म, भ्रूण आदि उपपद होने पर हन्
धातु से ही [क्विप् प्रत्यय है] । यह नियम होने से । [ब्रह्म आदि के उप-
पद रहते ‘विद्’ आदि धातुओं से ‘क्विप्’ प्रत्यय का विधान न होने से ‘ब्रह्मवित्’,
‘धृत्रभित्’ आदि प्रयोग नहीं बन सकते हैं । यह पूर्वपक्ष हुआ । इसके समा-
धानार्थ] कृदन्त [वेत्तीति ‘विन्’, ‘भिनत्तीति भित्’ इन कृदन्त पदों]
के साथ [पठ्ठी तत्पुरुष] समास करने से [यह शब्द सिद्ध होते हैं] । ‘वेत्तीति
वित्’ जो जानता है वह ‘विन्’ और ‘भिनत्तीति भित्’ जो नाश करता है वह ‘भित्’
हुआ । यहाँ *‘क्विप् च’ इस सूत्र से क्विप् [प्रत्यय होकर ‘वित्’, ‘भित्’ आदि
कृदन्त पद] होता है । उसके बाद ‘विन्’ [भित्] आदि कृदन्त पदों के साथ

* अष्टाध्यायी ३, २, ८७ ।

* अष्टाध्यायी ३, २, ७६ ।

तैर्महीधरादयो व्याख्याताः । ५, २, ३७ ।

तैर्विदादिभिर्महीधरादयो व्याख्याता । धरतीनि धर । मद्भा धरो
महीधर । एवं गङ्गाधरादयो व्याख्याता ॥ ३७ ॥

भिदुरादय कर्मकर्तरि कर्तरि च । ५, २, ३८ ।

भिदुरं काष्ठम्, भिदुर तम, निभिरभिदुरं व्योम्न शृङ्गम्, इति ।
क्षिबुरातपो विधम् । मत्सरच्छिदुर प्रेम । भङ्गरा प्रीति । मानङ्ग मान-
भङ्गरम् । इत्यान्योऽपि प्रयोगा दृश्यन्ते । कथमित्याह । तं कर्मकर्तरि, कर्तरि
च भवन्ति । कर्मकर्तरि चायमित्यने' इत्यत्र चकार कर्तरि च' इत्यस्य
समुच्चयार्थः ॥ ३८ ॥

ब्रह्म [वृत्र] आदि [पदो] का घटी [तत्पुरुष] समान होता है । [इस प्रकार
'ब्रह्मवित्', 'वृत्रवित्' आदि पद बनने हैं । और यह शुद्ध पद हैं] ॥३६॥

उन ['ब्रह्मवित्' आदि पद] में [उसी प्रकार के धरतीनि धर'
आदि कृदन्त पद बना कर उनका 'मही' आदि के गाय बढी तत्पुरुष समान
करके] 'महीधर' आदि [पदो] की व्याख्या भी हो गई ।

उन [कृदन्त] 'विब्' आदि [पदो] में 'महीधर' आदि [शब्द] की भी
व्याख्या समझ लेनी चाहिए । [इसका अभिप्राय यह है कि साधारणतः 'मही'
आदि कर्म उपपद रहते 'धृ' धातु से 'कर्मण्यप्' इस सूत्र में अण् प्रत्यय होकर
'कृन्ध करोतीति पुन्बकार' के समान 'मही धरतीति महीधर' प्रयोग होना
चाहिए या 'महीधर' नहीं । परन्तु 'ब्रह्मवित्' आदि के समान बहने] 'धरतीति
धर' ['पधाद्यप्' से अच् प्रत्यय द्वारा 'धर' यह कृदन्त पद बना कर फिर] 'मही'
का धारण करने वाला ['महीधर'] 'महीधर' [यह प्रयोग बन जावेगा] इसी
प्रकार 'गङ्गाधर' इत्यादि की भी व्याख्या हो गई ॥३७॥

भिदुर' आदि [प्रयोग] कर्मकर्ता और कर्ता में [दोनों प्रकार से होते] हैं ।

'भिदुर काष्ठम्' लकड़ी टूटने वाली है, अन्धकार भङ्ग होने वाला है ।
आकाश का ऊपरी भाग निभिर भग्न है । दिन आतपहीन है । प्रेम ईर्ष्या से
नष्ट हो जाता है । मत्तङ्ग मानभङ्गर है । इत्यादि प्रयोग भी देखे जाते हैं । यह
बन्धे [बनते] हैं, यह कहते हैं । वह कर्मकर्ता और कर्ता [दोनों] हैं होते हैं ।
[भाष्यकार के] 'कर्मकर्तरि चायमित्यने' इस वचन में चकार [यह द्रव्य पद]
'कर्तरि च' [कर्ता में भी हो] इससे समुच्चय के लिए है । [इगन्विण् प्रयोग
कर्मकर्ता और कर्ता दोनों में होते हैं ॥३८॥

गुणविस्तरादयश्चिन्त्या । ५, ३, ३६ ।

गुणविस्तरः, व्याप्तेष्विस्तर इत्यादयः प्रयोगश्चिन्त्या । 'प्रथमे वाचशब्दे' इति घञ् प्रसङ्गान् ॥ ३२ ॥

अवतरापचायशब्दयोर्दीर्घह्रस्वत्वव्यत्यासो बालानाम् ।

५, २, ४० ।

अवतरशब्दस्यापचायशब्दस्य च दीर्घह्रस्वत्वव्यत्यासो बालानां बालिशानां प्रयोगेष्विति । ते अवतरणमवतार इति प्रयुज्यते । मारुतावतार इति । स ह्ययुक्तः । भावे तस्मैत्यविधानान् । अपचायमपचय इति प्रयुज्यते पुष्पापचय इति । अत्र 'हस्तादाने चरस्तेये' इति घञ् प्राप्त इति ॥ ४० ॥

शोभेति निपातनात् । ५, २, ४१ ।

शोभेत्ययं शब्दः साधु । निपातनान् । 'शुभ शुम्भ शोभार्थी' इति ।

गुणविस्तर आदि [प्रयोग] चिन्त्य [अशुद्ध] है ।

'गुण विस्तर' 'व्याप्तेष्विस्तर' इत्यादि प्रयोग चिन्त्य [प्रसाध] है । 'प्रथमे वाच शब्द' इस सूत्र से [वि पूर्वक स्तु धातु से] घञ् का विधान होने से [गुणविस्तर' प्रयोग होना चाहिए । 'गुणविस्तर' नहीं] ॥ ३९ ॥

'अवतर' और 'अपचाय' शब्दों में दीर्घ ह्रस्व का परिवर्तन मूर्खों का [प्रयोग] है ।

'अवतर' शब्द और 'अपचाय' शब्द के दीर्घ ह्रस्व का उत्पन्न-पुलट बालको अर्थात् मूर्खों [बालिशो] के प्रयोगों में हो जाता है । ये [मूर्ख पुरुष] अवतरण को 'अवतार' इस रूप से प्रयुक्त करते हैं । जैसे 'मारुतावतार' । यह [अवतार रूप प्रयोग] अयुक्त है । भाव में तू धातु से ['अवतार' इस सूत्र से] अप [प्रत्यय] का विधान होने से । 'अपचाय' के स्थान पर 'अपचय' यह प्रयोग करते हैं । जैसे 'पुष्पापचय' । यहाँ 'हस्तादाने चरस्तेये' इस सूत्र से घञ् प्राप्त है । [अतः यहाँ 'पुष्पापचाय' यह प्रयोग होना चाहिए । 'अवतर' की जगह 'अवतार' और 'अपचाय' की जगह 'अपचय' प्रयोग में दीर्घ ह्रस्व की गलत बालिशता की सूचक है] ॥ ४० ॥

शोभा यह [शब्द] निपातन से [बनता] है ।

शोभा यह शब्द [भी] शुद्ध है । निपातन से । 'शुभ शुम्भ शोभार्थी'

^१ अष्टाध्यायी ३, ३, ३३ । ^२ अष्टाध्यायी ३, ३, ४०

^३ अष्टाध्यायी ३, ३, ५७ ।

शुभेर्भिदादेराकृतिगण्यत्वात् अङ् मिट्ट ग्व । गुणप्रतिषेधाभाववन्तु निपात्यते इति । शोभार्थाविन्यत्रैकदेशे कि 'शोभा' आहोस्मिन् शोभ' इति विशेषा-
यगतिराचोर्परम्परोपदेशादिति ॥ ४१ ॥

अविधौ गुरो स्त्रिया बहुल विवक्षा । ५, ३, १२ ।

अविधौ 'अ' विधाने 'गुरोश्च हल' इति स्त्रिया बहुल विवक्षा ।

यह ['शोभा' पद का पाठ 'शोभा' शब्द को सम्बुद्ध को सूचित करता है] ।
शुभ धातु से भिदादि ['विद्भिदादिभ्योऽङ्' इस सूत्र में पठित भिदादि]
[गण] के आकृति गण होने से अङ् [प्रत्यय] तो मिट्ट हो रहा है । [परन्तु
अङ् प्रत्यय के होने पर डिट्ट होने से गुण का पतियप प्राप्त होने पर] गुण के
प्रतिषेध का अभाव [अर्थात् गुण की प्राप्ति] निपात्यमान है । 'शोभा' से इस
पद के एक देश में यथा 'शोभा' [यह पदच्छेद किया जाय] यह अवस्था 'शोभ' यह
[पदच्छेद किया जाय] इस विशेष ['शोभा य' शोभ' पद] का निपात्य रूप परम्परा
के उपदेश से समझना चाहिए ।

अर्थात् धातुपाठ 'शुभ शुभ शोभाया म शोभाय' इस निपात्य में
हैं 'अङ्' प्रत्यय देने रहने शुभ धातु से गुण का निपात्य किया है । इस प्रकार
'शोभ' शब्द बन जाने के बाद 'अ प्रत्ययात्' ^१ सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय
होकर 'शोभा' शब्द बन सकता है । और या वर्तकभग्न सूत्र में अ प्रत्यय की
'बहुल विवक्षा' का वर्णन करके उसके अनुसार यदि यह 'अ' प्रत्यय न किया जाय
तो 'शोभ' यह पुल्लिङ्ग प्रयोग भी बन सकता है । जैसे 'बाबा' और 'बाप', 'म्ह' और 'जह', 'बीबा' और 'बीड' यह दोनो प्रकार के रूप बनते हैं । इसी प्रकार
'शोभा' और 'शोभ' यह दोनो प्रकार के रूप बन सकते हैं । उनमें से यथा
'शोभाया' इस पाठ में 'शोभा' पदच्छेद किया जाय या 'शोभ', यह बात आचार्य
परम्परा से समझनी चाहिए । अर्थात् यहाँ 'शोभा' पदच्छेद ही करना चाहिए
क्योंकि 'शोभा' शब्द की गिद्धि करने के लिए ही यह सूत्र उद्धृष्ट गया है ॥ ४१ ॥

'अ' प्रत्यय के विधान में [गुरोश्च हल' इस सूत्र से] स्त्रीलिङ्ग में
गुरुवर्णयुक्त शब्द से 'अ' प्रत्यय की बहुल विवक्षा होती है ।

'अ' प्रत्यय के विधान में 'गुरोश्च हल' ^२ [इस सूत्र से विहित

^१ अष्टाध्यायी ३, ३, १०२ ।

^२ अष्टाध्यायी ३, ३, १०३ ।

क्वचिद्विवक्षा, क्वचिद्विवक्षा, क्वचिदुभयमिति । विवक्षा यथा 'ईहा', 'लज्जा' इति । अविवक्षा यथा 'आतक' इति । विवक्षान्विवक्षे यथा 'बाधा', 'बाध' ; 'ऊहा', 'ऊह' ; 'ब्रीडा', 'ब्रीड' इति ॥ ४२ ॥

व्यवमितादिषु क्त कर्तरि चकारात् । १, २, ४३ ।

व्यवमित्' 'प्रतिपन्न' इत्यादिषु भावकर्मविहितोऽपि क्तः कर्तरि । गत्यादिमूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्धत्वान् । भावकर्मानुर्कुरणार्थत्वं चकारस्येति चेन्, आद्यनि कर्तव्या ॥ ४३ ॥

‘अ’ प्रत्यय] को स्त्रीलिङ्ग में बहुल करके विवक्षा होनी है । १ कहीं विवक्षा हो २ कहीं विवक्षा न हो, ३ कहीं दोनों हो [यह ‘बहुल’ पद का अन्तिमार्थ है] । विवक्षा [का उदाहरण] जैसे ‘ईहा’, ‘लज्जा’ [यहा ‘अ’ प्रत्यय हुआ है] । अविवक्षा [का उदाहरण] जैसे ‘आतक’ [यहा ‘अ’ प्रत्यय नहीं हुआ है] । विवक्षान्विवक्षा उभय [का उदाहरण] जैसे ‘बाधा’ ‘बाध’, ‘ऊहा’ ‘ऊह’, ‘ब्रीडा’, ‘ब्रीड’ [इनमें ‘अ’ प्रत्यय हुआ भी है और नहीं भी हुआ है । इसलिये विकल्प में दो प्रकार के रूप बने हैं] ।

वाङ्मूलक वा इसी अनाय का लक्षण व्याकरण ग्रन्थों में इस प्रकार दिया गया है—

क्वचित् प्रवृत्ति क्वचिदप्रवृत्ति क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।

विधेर्विधानं ब्रह्मा नभीष्ट्य चतुर्विधं वाङ्मूलकं वदन्ति ॥ ४२ ॥

‘व्यवसित’ इत्यादि में ‘क्त’ प्रत्यय कर्ता में होता है [गत्यादि सूत्र में] चकार से [अनुक्त का समुच्चय होने से] ।

[साधारणतः] भाव कर्म में विहित [होने पर] भी क्त [प्रत्यय] ‘व्यवसित’ [विवसि क्तुं व्यवसित] ‘प्रतिपन्न’ इत्यादि [प्रयोगों] में [भाव या कर्म में न होकर] कर्ता में हुआ है । गत्यादि [गत्यर्थकर्मक-दित्यशोडश्यासबराजवह्नीयनिभ्यश्च] सूत्र में [गत्यर्थक, अरुमक, दित्य, शीङ्, स्था, अस, वस, जन, रह, जृ धातुओं ने क्त प्रत्यय का कर्ता में विशेष रूप से विधान किया गया है । सूत्र के अन्त में जोड़े हुए] ‘चकार’ के अनुक्त समुच्चयार्थक होने से । [उस अनुक्त समुच्चय वश से ही ‘व्यवसित’ ‘प्रतिपन्न’ इत्यादि में भी कर्ता में ‘क्त’ प्रत्यय हो जाता है । यदि यह कहो कि उक्त गत्यादि सूत्र में अनुक्त समुच्चय के लिए चकार का ग्रहण नहीं किया गया अपितु] भाव कर्म के अनुकर्षण [अनुवृत्ति लाने] के लिए चकार [का ग्रहण] है तो

आहेति भूतेऽन्यणलन्तभ्रमाद् ब्रुवो लटि । ५. २, ४४ ।

‘ब्रुव’ पञ्चानाम् इत्यादिना ‘आह’ इति लटि व्युत्पादित । न भूते प्रयुक्तः । ‘इत्याह भगवान् प्रभु’ इति । ‘अन्यस्य भूतकालमिवादिना णलन्तस्य लटि भ्रमान् । निपुणाश्चैव प्रयुज्जते । आह स्म भिन्नभधुमधुराक्षरा गिरम्’ इति । ‘अनुक्रोति भगवतो नारायणस्य इत्यर्थापि अन्ये ‘स्य’ शब्द’ कविना प्रयुक्तो लेखकैस्तु यमादाज्ज लिखित इति ॥ ४४ ॥

[फिर चकार को] गावृत्ति करनी चाहिए । [जिसमें एक चकार से भाव कर्म का अनुकरण हो सके और आवृत्ति किये हुए दूसरे चकार से अनुब्रुव का समुच्चय भी हो सके] इस प्रकार गन्धादि सूत्र में उक्त चकार अथवा आवृत्ति द्वारा सिद्ध चकार से अनुब्रुव का समुच्चय मान कर ‘व्यवमिन’, ‘प्रतिपन्न’ इत्यादि सक्रमक धातुमूलक प्रयोगों में वर्ता में भी ‘ब्रुव’ प्रत्यय हो गयेगा] ॥ ४३ ॥

ब्रू [‘ब्रू’ व्यञ्जनाया वाचि] धातु का [वर्तमान काल सूचक] लट् [लकार] में [बना हुआ] ‘आह’ इम [वर्तमान काल के बोधक प्रयोग को कुछ लोप कभी-कभी ‘उवाच’ आदि] अन्य णलन्त [प्रयोगों] के [समान समझकर] भ्रम से भूत काल में [प्रयुक्त कर देते हैं । यह उचित नहीं भ्रान्त प्रयोग] हैं ।

‘ब्रुव पञ्चानामादित आहो ब्रुव’ शब्दा० ३, ४, ८६ इत्यादि [सूत्र] में [परस्मैपद में ब्रू धातु के लट् लकार के आदि से वाच्य अर्थतः १ तिप् २ तव, ३ ति ४ तिप्, ५ धन् के स्वान पर क्रमशः १ णल्, २ अनुस, ३ उम, ४ एल्, ५ अद्यत्, यह वाच्य आदेश, और ‘ब्रू’ धातु को ‘आह’ आदेश होकर] ‘आह’ यह पर [वर्तमानका सूचक] लट् लकार में सिद्ध किया गया है । [कहीं-कहीं] यह भूतकाल में प्रयुक्त हुआ है । जैसे यह—

[स्वयं] भगवान् प्रभु ने यह कहा [इत्याह]

[परन्तु भूतकाल में किया गया ‘आह’ का प्रयोग] अन्य [प्रयोगों में] भूतकाल के बोधक [लिट् लकार के] णलन्त का [अन्य प्रयोगों के समान यहाँ भी आदेश हुआ ‘णन्’ आदि लिट् लकार में ही हुए हैं ऐसा समझ कर] लिट् में [बने हुए प्रयोग का] भ्रम होने में [हो ‘आह’ पद भूतकाल में प्रयुक्त] होता है । चतुर लोप तो इस [भ्रमजन्य के बोधन के लिए लट् लकार के रूप से माध ‘रम्’ जोड़ कर] इस प्रकार प्रयुक्त करते हैं—

स्मित रूप मधु से अधुर आँखों वाली वाणी को [‘आह स्म’ बोलीना भया] बोली । ‘भगवान् नारायण का अनुकरण करता है’ यहाँ भी [अनुक्रोति

शबलादिभ्यः स्त्रिया टापोऽप्राप्ति । ५, ५, ४५ ।

‘उपस्रोत’ स्वस्थस्थितमहिषशृङ्गाप्रशवलाः]

स्रवन्तीना जाता. प्रमुदितविहङ्गास्तटभुवः’ ॥

‘भ्रमरोत्करकल्मापा कुमुमानां समृद्धयः’ ॥

इत्यादिषु स्त्रिया टापोऽप्राप्ति. १ ‘अन्यतो डीप्’ इति डीप् विधानान् । तेन ‘शबली’ ‘कल्मापी’ इति भवति ॥ ४५ ॥

प्राणिनि नीलेति चिन्त्यम् । ५, २, ४६ ।

शब्द के साथ] कवि ने [भूतकालसूचक] ‘स्म’ का प्रयोग किया था [परन्तु बाद में] लेखकों ने असावधानी से उसको लिखा नहीं, ऐसा [मैं मानता हूँ] मानूँ हीना हूँ । [अर्थात् ‘आह’ आदि का वर्तमान काल में प्रयोग अनुचित है । यदि उनको प्रयुक्त किया जाय तो उनके साथ ‘स्म’ पद का भी प्रयोग करना चाहिए । तब बोध नहीं रहेगा] ॥ ४४ ॥

‘शबल’ आदि [शब्दों] में स्त्रीलिङ्ग में ‘टाप्’ नहीं हो सकता है । [इसलिए ‘शबला’ आदि प्रयोग न करके ‘शबली’ प्रयोग करना उचित है] ।

प्रमुदित विहङ्गों से युक्त नहियों के किनारे की भूमिया, धारा के समीप स्वस्थ [निश्चिन्त] होकर बैठे हुए भेम्बों के सोंगों के अग्रभागों से ‘शबल’ [चित्रविचित्र, कुर्वर] हो गई थीं ।

पुष्पों की समृद्धिया [समूह] भ्रमरपक्षियों से घिरित [‘शबला’ कर्चुर] हो गयी हैं ।

इत्यादि [प्रयोगों] में स्त्रीलिङ्ग में [जो टाप् करके ‘शबला’, ‘कल्मापा’ आदि प्रयोग बनाए हैं, वह उचित नहीं है क्योंकि उनमें], टाप् नहीं [प्राप्ति] हो सकता है । ‘अन्यतो डीप्’ [अष्टा० ४, १, ४०] इस सूत्र से [तत्कारोपध में भिन्न वर्णवाची अनुदात्तात्म प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में] डीप् का विधान होने से । इसलिए [इन शब्दों से ‘डीप्’ प्रत्यय करके] ‘शबली’, ‘कल्मापी’ यह [प्रयोग शुद्ध] होता है । [‘शबला’, ‘कल्मापा’ यह प्रयोग अनुचित है] ॥ ४५ ॥

प्राणी [के सम्बन्ध बोधन] में स्त्रीलिङ्ग में ‘नीला’ यह [प्रयोग भी] चिन्त्य [अशुद्ध] है ।

‘इतो मनुष्यजाते.’ ‘ऊडुत्त.’ इत्यत्र मनुष्यजातेर्विवक्षा अविवक्षा च लक्ष्यानुसारतः ।

मन्दरस्य मदिराक्षि पार्श्वतो निम्ननाभि न भवन्ति निम्नगाः ।

वासु वासुकिविकर्षणोद्धवा भामिनीह पदवी विभाव्यते ॥

अत्र मनुष्यजातेर्विवक्षाया ‘इतो मनुष्यजाते.’ इति ‘डीप्’ सति ‘अम्बार्थेनद्योर्हस्व’ इति सम्बुद्धौ ह्रस्वत्व मिद्वयति ।

इतो मनुष्यजाते [पा० ४, १, ६५] और ऊडुत्त [पा० ४, १, ६६]
यहां [इन सूत्रों में] मनुष्यजाति की विवक्षा और अविवक्षा लक्ष्य के अनुसार होती है ।

हे निम्ननाभि [बासी] मदिराक्षि [वासु] बालिके [भामिनि] प्रिये मन्दराचल के किनारे यह नदिया नहीं है [तुम जिसको नदी समझ रही हो] वह [समुद्र-मग्न के समय वासुकि सपं जिसको मग्नतट्ट रई के स्थानापन्न मन्दराचल के चारों ओर रस्सी के स्थान पर बाध कर और उसको खींच-खींच कर समुद्र का मग्नन किया गया था । उस] वासुकि के [बार-बार] खींचने से उत्पन्न हुई लकीर दिखलाई देती हैं ।

यहां मनुष्यजाति की विवक्षा में [निम्ननाभि तथा मदिराक्षि आदि शब्दों में] ‘इतो मनुष्यजाते’ [पा० ४, १, ६५] इस सूत्र से ‘डीप्’ [प्रत्यय] होने पर [निम्ननाभि मदिराक्षि शब्दों के] सम्बोधन के एकदधन में ‘अम्बार्थ-नद्योर्हस्व’ [अ० ७, ३, १०७] इससूत्र से ह्रस्वत्व [और सु का लोपादि होकर हे निम्ननाभि, हे मदिराक्षि आदि पद] सिद्ध होता है [अन्यथा हे निम्ननाभि आदि रूप बनेंगे] ।

यह हो सकता है कि निम्ननाभि में ‘इतश्च प्राप्यगवाक्षिनी वा डीप् वक्तव्य’ इस नियम के अनुसार नाभि शब्द में डीप् कर लेने पर भी ‘अम्बार्थ-नद्योर्हस्व’ से ह्रस्व होकर ‘हे निम्ननाभि’ रूप बन सकता है । तब मनुष्य जाति की विवक्षा अविवक्षा मानकर डीप् करने का प्रयत्न क्यों किया जाय ।

इसका उत्तर वृत्तिनार यह करने है कि ‘निम्ननाभि’ पद में ‘निम्न है नाभि जिसकी वह निम्ननाभि है’ इस प्रकार का बहुव्रीहि समास है । उस

^१ अष्टाध्यायी ४, १, ६५ ।

^२ अष्टाध्यायी ४, १, ६६ ।

^३ अष्टाध्यायी ७, ३, १०७ ।

नाभिश्चाङ्गान् पुनः । 'इतरश्च प्राण्यङ्गान्' इतीकारे कृते निम्ननाभीकेति स्यात् ।

हृत्तोष्टरागैर्नयनोद्विन्दुभिर्निमग्ननाभेनिपतद्भिरङ्कितम् ।

च्युतं रुपा भिन्नगतेरमशय शुक्रोदरस्याभिमिद स्तनाशुम् ॥

अत्र निमग्ननाभेरिति मनुष्यजातेरविवर्त्तने ङीप् न कृतः ।

बहुब्रीहि ममाम् वाले पद में स्त्रीलिङ्ग में इनञ्च प्राण्यङ्गान्, चित्तां जा ङीप् 'वक्षस्य' इस नियम के अनुसार यदि ङीप् के लिये निम्ननाभी यह स्त्रीलिङ्ग का रूप बनाया जाय तो उसमें 'नप्रतञ्च' [अ० ५, ४, १५३] इस सूत्र में ममामान्त कप् प्रत्यय होकर 'केज्' [अष्टा० ३, ४, १८] में प्राप्ति होने वाले ल्हन् का 'न कप्' [अष्टा० ३, ४, १८] में निषेध हो जाने से 'निम्ननाभीका' यह प्रयोग बनने लगता है। 'निम्ननाभि' यह प्रयोग नहीं बनता। इसी बात को वृत्तिकार इस प्रकार कहते हैं ।

और नाभि शब्द से 'इनञ्च प्राण्यङ्गान्' इस में ईकार अर्थात् ङीप् करने पर 'निम्ननाभीका' यह प्रयोग होने लगेगा ।

यह स्थल कुछ मन्दिर है । मन्त्रत्रय में निम्ननाभिर्नि स्यात् यह पाठ दिया है । ङी० गगनाय ने भी अपने जगन्मत्पानुवादे में 'निम्ननाभिर्नि' यही पाठ माना है । परन्तु काव्यान्तर मूल्यनि व टोनाका? त्रिपुरहर भूपात ने ईकार होने के बाद कप् प्रत्यय और उसके पर रहने ल्हन्त्व का निषेध करके 'निम्ननाभीका इति स्यात्' ऐसा पाठ दिया है । टोकाकार के अनुगोत्र में हमने भी वहाँ मूल में 'निम्ननाभीकेति' पाठ ही रखा है ।

मनुष्यजाति की अविवक्षा में ङीप् के अभाव का दूसरा उदाहरण दिखाने हैं—

क्रोध के कारण विश्व खल पतिव्यापी निमग्ननाभि [प्रियवशा] के शोष्ठ पर गिर कर श्रोष्ठराग का हरण करने वाले [गेने के कारण] टपकते हुए भ्रामुभ्रो से अकित शुक के उदर के समान हरित यण यह बोसी [स्तनाशुक] गिर पड़ी है ।

यहाँ मनुष्यजाति की अविवक्षा है इसलिए 'निमग्ननाभि' इस पद में ङीप् नहीं किया है । [अन्यथा पृष्ठी विभक्ति में तदी शब्द के समान 'निमग्ननाभ्या' यह रूप बनता] ।

‘मुननु जहीहि मानं पश्य पादानतं माम् ।’

इत्यत्र मनुष्यजातेर्विवचेति मुननुशब्दाद् ‘ऊङुतः’ इत्यृद्धि मति
ह्रस्वत्वे ‘मुननु’ इति सिद्धयति ।

‘परतनुरयवामौ नैव दृष्टा त्वया मे ।’

अत्र मनुष्यजातेरविवचेति ऊङ् न कृतः ॥ ४७ ॥

ऊकारान्नादप्युङ् प्रवृत्ते । ५, २, ४८ ।

एत ऊङ् विहित ऊकारान्नादपि क्वचिद् भवति । आचार्यप्रवृत्तेः ।
कवामौ प्रवृत्तिः । ‘अप्राणिजातेश्चारज्यादीनाम्’ इति । अलायूः
कर्कशूरित्युदाहरणम् । तेन

‘मुध्रु किं मध्रमेण’

अत्र ‘मुध्रु’ शब्द ऊङि मिथो भवति । ऊङि त्वमिति ‘मुध्रु’ इति
स्यात् ॥ ४८ ॥

‘हे मुननु [मुन्दरी] मान को छोड़ो घोर पंरो पर झुके हुए मुझको देखो’
यहा [मुननु शब्द में] मनुष्यजाति की विवक्षा है इसलिए मुननु शब्द से ऊङुत
[प्रपञ्च ४, १, ६६] इस सूत्र में ऊङ् प्रत्यय होने पर [मन्मोघन के एक
वचन में पूर्वोक्त ‘अप्राणयनगोहृत्स्व [इस सूत्र में] ह्रस्व होने पर ‘मुननु’ यह
सिद्ध होता है ।

अथवा तुमने मेरी वरतनु [मुन्दरी प्रियतमा] की नहीं देखा है ।

यहा मनुष्यजाति की विवक्षा नहीं है इसलिए ऊङ् नहीं किया है ।

[अथवा ऊङ् करने पर ‘वगन्’ का रूप होता] ॥ ४७ ॥

[ऊङुत ४, १, ६६ में जो उकारान्त शब्दों से ऊङ् प्रत्यय] कहा
है वह] उकारान्त [शब्द में] भी ऊङ् होता है । आचार्य [वार्तिककार] की
प्रवृत्ति [सूत्ररचना] होने से ।

[ऊङुत इस सूत्र से केवल] उकारान्त से ऊङ् का विधान
किया गया है । वह कहीं कहीं उकारान्त [शब्द] से भी हो जाता है । आचार्य
[वार्तिककार] की प्रवृत्ति [एतद्विषयक सूत्र रचना] होने से । वह उका-
रान्त से ऊङ् विधापक प्रवृत्ति [सूत्र रचना] कहा को गई है । [यह प्रश्न
किया गया है । इसका उत्तर करते हैं] ‘अप्राणिजातेश्चारज्यादीनाम्’ [प्राणि-
जातिवाचक शब्दों से भिन्न शीर रज्जु आदि शब्दों को छोड़ कर शेष उका-
रान्त शब्दों से ऊङ् प्रत्यय हो] । इस [सूत्र] में ह्रस्व तथा दीर्घ दोनों प्रकार
के उकारान्त शब्दों से ऊङ् का विधान वार्तिककार ने किया है] । ‘धमावू, कर्कशू’

‘शाश्वत ज्योतिः’ इत्यत्र शाश्वतमिति न सिद्धयति । ‘कालाट्ठञ्’ इति ठञ् प्रसङ्गान् । ‘येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः’ इति सूत्रकारस्यापि प्रयागः ।

आह प्रयुक्ते । ‘शाश्वते प्रतिषेधः’ इति प्रयोगात्, शाश्वतमिति भवति ॥ ५१ ॥

राजवश्यादयः साध्वर्थे यति भवन्ति । ५, २, ५२ ।

‘राजवश्या’ ‘सूर्यवश्या’ इत्यादयः शब्दाः, ‘तत्र साधु’ इत्यनेन साध्वर्थे यति प्रत्यये सति साधवो भवन्ति । भवार्थे पुनर्दिगादिपाठेऽपि वशशब्दस्य वशशब्दान्ताच्च अन् प्रत्ययः । तदन्तविधेः प्रतिषेधान् ॥ ५२ ॥

[पूर्वपक्षः] ‘शाश्वत ज्योतिः’ इति [लङ्शब्दात्] ‘शाश्वत’ यह [पक्षः] सिद्ध नहीं होना है । ‘कालाट्ठञ्’ इस [पूर्वोक्त सूत्र] से ठञ् प्राप्त होने से [‘शाश्वत’ के वजाय ‘शाश्वतिक’ प्रयोग होना चाहिए] । ‘येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः’ [अष्टाध्यायी २, ४, ९] यह सूत्रकार [पाणिनि] का भी [‘शाश्वतिक’ ही] प्रयोग है । [अतएव ‘शाश्वतम्’ यह प्रयोग उचित नहीं है] ।

[उत्तरपक्षः] कहते हैं । [‘शाश्वतम्’ यह प्रयोग भी वार्तिककार द्वारा] प्रयुक्त होने से [ठीक है । वार्तिककार के] ‘शाश्वते प्रतिषेधः’ इस [प्रकार अण् प्रत्ययान्त ‘शाश्वत’ शब्द के] प्रयोग से ‘शाश्वतम्’ यह [प्रयोग भी शुद्ध] होता है ॥ ५१ ॥

‘राजवश्य’ आदि शब्द [‘तत्र साधु’ अष्टाध्यायी ४, ४, ८९ इस सूत्र से] साधु अर्थ में यत् [प्रत्यय] होने पर [सिद्ध] होने हैं । [भवार्थ में नहीं] ।

राजवश्य, सूर्यवश्य इत्यादि शब्द ‘तत्र साधु’ [अष्टाध्यायी ४, ४, ८९] इस [सूत्र] से साधु अर्थ में यत् प्रत्यय होने पर शुद्ध होते हैं । भवार्थ में [यत् प्रत्यय का विधान करने वाले ‘दिगादिभ्यो यत्’ अष्टाध्यायी ४, ३, ५४ में निर्दिष्ट] दिगादि [गण] में वश शब्द का पाठ होने पर भी वश शब्दान्त [राजवश, सूर्यवश इत्यादि शब्दों] से यत् प्रत्यय नहीं होता है । [‘ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधः’ इस परिभाषा के अनुसार] तदन्तविधि का प्रतिषेध होने से [‘राजवशो भव राजवशः’, ‘सूर्यवशो भव सूर्यवशः’ यह प्रयोग

‘मुग्धिमा’ ‘प्रौढिमा’ इत्यादिषु इमनिञ् मृग्यः । अन्वेपणीय इति ॥ ५४ ॥

औपम्यादयश्चातुर्वर्ण्यवत् । ५, २, ५५ ।

औपम्य, सान्निध्यम्, इत्यादयश्चातुर्वर्ण्यवन् । ‘गुणवचन’ इत्यत्र ‘चातुर्वर्ण्यादीनामुपमस्यानम्’ इति वार्तिकान् म्यार्थिकप्यञन्तः ॥ ५५ ॥

प्यञ् पितृकृष्णादीकारो बहुलम् । ५, २, ५६ ।

‘गुणवचनब्राह्मणादिभ्य’ इति पितृकृष्णादीकारो भवति । स बहुलम् । ‘ब्राह्मण्यम्’ इत्यादिषु न भवति । ‘सामग्र-य’ सामग्री, वैदग्ध्यं वैदग्धीति ॥ ५६ ॥

मुग्धिमा, प्रौढिमा इत्यादि [प्रयोगो] में [ध्रुवमाण] इमनिच् [प्रत्यय मृग्य अर्थात्] अन्वेपणीय है । [पृष्ठादि गण में मुग्घ, प्रौढ आदि शब्दों का पाठ न होने से इमनिञ् विधायक ‘पृष्ठादिभ्य इमनिञ् वा’ अष्टाध्यायी ५, १, १२२ इस सूत्र से इमनिच् प्रत्यय टोला सम्भव नहीं है । अतः वह प्रयोग अशुद्ध है] ॥ ५४ ॥

औपम्य आदि [शब्द] चातुर्वर्ण्य [शब्द] के समान [‘चातुर्वर्णादीनाम् स्वार्यं उपसर्गानम्’ इस वार्तिक से स्वार्य में प्यञ् प्रत्यय करके बनते] हैं ।

‘औपम्य’, ‘सान्निध्यम्’ इत्यादि [प्रयोग] चातुर्वर्ण्य [शब्द] के समान [स्वार्य में प्यञ् प्रत्यय करके मिश्र होते] हैं । [‘गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च’ अष्टाध्यायी ५, १, १०८ इस सूत्र के प्रतीक रूप] गुणवचन इम [सूत्र] में ‘चातुर्वर्णादीनाम् स्वार्यं उपसर्गानम्’ इस वार्तिक से स्वार्य में प्यञ् प्रत्ययान्त [जैसे चातुर्वर्ण्य- - - - -] बनता है । इसी प्रकार स्वार्य-प्यञ् प्रत्यय करके ही ‘उपमय औपम्य’, ‘सान्निधिरिव सान्निध्यम्’ आदि प्रयोग बनते] हैं ॥ ५५ ॥

[गुणवचनब्राह्मणादिभ्य प्यञ् इस सूत्र से विहित] प्यञ् [प्रत्यय] के विष्करण से [उसके आचार पर ‘विद्गौरादिभ्यञ्च’ । अष्टा० ४, १, ४१ इस सूत्र से किए हुए ‘टीप्’ अन्त्य का अवशेष रूप] ईकार बहुल करके होता है ।

‘गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च’ [अष्टाध्यायी ५, १, १२४] इस [सूत्र] से जो [टीप् प्रत्यय का अवशेष रूप] ईकार होता है वह बहुल करके [कहीं होता, कहीं नहीं] होता है । [जैसे] ‘ब्राह्मण्यम्’ इत्यादि [प्रयोगो] में नहीं

धन्वीति व्रीह्यादिपाठात् । ५, २, ५७ ।

व्रीह्यादिषु 'धन्व' शब्दस्य पाठान् 'धन्वी' इति इनी मति मिदो भवति ॥ ५७ ॥

चतुरस्रशोभीति णिनी । ५, २, ५८ ।

वभूय तस्याश्चनुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नचयौवनेन ।

होता है । सामग्रधम् सामग्री, वैदग्ध्यम् वैदग्धी [इन प्रयोगों में विकल्प करके होता है । अर्थात् जहाँ, स्थायिक ध्वन् प्रत्यय होता है वहाँ उसके वित् होने से 'विद्वगौरादिभ्यश्च' इस सूत्र से विहित टौप् प्रत्यय बहुल करके होता है । इसलिए 'ब्राह्मण्यम्' आदि में डीय नहीं होता और अन्यत्र विकल्प से होता है] ।

यहाँ पाणी बाळे सम्भरण में सामग्रधम्-सामग्री, वैदग्ध्यम्-वैदग्धी इन उदाहरणों को इसी सूत्र की वृत्ति में जाड़ दिया है । परन्तु डा० गमानाथ जी भी ने इस ग्रन्थ का जा अवग्री अनुवाद किया है उसमें इस सूत्र के बाद 'सामग्रधा-दिषु निक्लपेन' यह सूत्र ओर दिया है । आर सामग्रधम् जादि का उस सूत्र का उदाहरण गाना है । पाणी बाळे सम्भरण में वह सूत्र नहीं है ॥ ५६ ॥

धन्वी यह [पद] व्रीह्यादि [गण में धन्व शब्द का] पाठ होने से [सिद्ध होता है] ।

[धन्वन् शब्द के अक्षर न होने से 'घत त्रितृती' अष्टाध्यायी ५, २, ११५ सूत्र से इति प्रत्यय नहीं हो सकता है । इसलिए] व्रीह्यादि गण में [उनको आकृतिगण मान कर] 'धन्व' शब्द का पाठ होने से ['व्रीह्यादिभ्यश्च' अष्टा० ५, २, ११६ । इस सूत्र में] इति प्रत्यय होकर 'धन्वी' यह [पद] सिद्ध होता है । [वृत्ति के धाराणमय संस्करण में 'धन्वन्' शब्द का व्रीह्यादि गण में पाठ आता है । उसके स्थान पर 'डा० गमानाथ' ने 'धन्व' शब्द का पाठ रखा है । वही अधिक अच्छा है इसलिए हमने भी मूल में उसी पाठ को स्थान दिया है] ॥ ५८ ॥

['सुपजातो णिनिस्ताच्छोन्व्ये' अष्टा० ३, २, ७८ सूत्र से ताच्छोत्प अर्थ में 'चतुरस्र शोभितु शील अस्त्य' इस विग्रह में] णिनि प्रत्यय होने पर 'चतुरस्र-शोभी' यह [पद] सिद्ध होता है ।

नव पौवन से विभक्त उसका शरीर चारों ओर से शोभायुक्त होगया ।

इत्यत्र 'चतुरस्रशोभि' इति न युक्तम् । ब्रीह्यादिषु शोभाशब्दस्य पाठेऽपि इनिरत्र न सिद्धयति 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रति-
पेधान्' ।

भवतु वा तदन्तविधि । कर्मधारयान्मत्वर्थीयानुपपत्तिः । लघु-

'यहा चतुरस्रशोभि' यह [वपु का विशेषण] ठीक नहीं है । [क्योंकि 'शोभा शब्द' अदन्त नहीं है इसलिए 'अत इनिठनी', अष्टा० ५, २, ११५। सूत्र से इनि प्रत्यय नहीं हो सकता है । ब्रीह्यादि गण में यदि उसका पाठ होता तो 'ब्रीह्यादिभ्यश्च' अष्टा० ५, २, ११६ सूत्र से इनि प्रत्यय हो सकता था । परन्तु वहाँ भी 'शोभा' शब्द का पाठ नहीं है । तीसरा मार्ग यह हो सकता था कि जैसे पिछले सूत्र में ब्रीह्यादि गण की आकृतिगण मान कर उसमें अपठित 'धन्व' शब्द का ब्रीह्यादि गण में पाठ मान लिया गया है । इसी प्रकार इस 'शोभा' शब्द का भी ब्रीह्यादि गण में पाठ मान कर 'इनि' प्रत्यय कर लिया जाय । तो भी ठीक नहीं है । क्योंकि], ब्रीह्यादि [गण को आकृति गण मान कर उभ] में शोभा शब्द का पाठ मानने पर भी यहाँ इनि [प्रत्यय] सिद्ध नहीं हो सकता है । 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन' [इत्यादि के अनुसार] वे तदन्तविधि का निषेध होने से । [शोभा शब्द जिसके अन्त में है ऐसे 'चतुरस्र-शोभा' पद में 'इनि' नहीं हो सकता है] ।

अथवा दुर्जननोप-न्याय म तदन्त विधि भी मान ले तो भी 'चतुरस्र शोभा' यह पद नहीं बन सकता है । क्योंकि 'चतुरस्र' व सा शोभा चतुरस्रशोभा यह कर्मधारय समास हुआ । 'सा अन्त्यास्ति इति चतुरस्रशोभि' इस प्रकार कर्म धारय में मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करने पर 'चतुरस्रशोभि' पद को सिद्ध किया जाय यह चौथा प्रकार हो सकता था । परन्तु वह भी सम्भव नहीं है । क्योंकि 'न कर्म-धारयात् मत्वर्थीय बहुव्रीहिश्चेत् तदर्थप्रतिपत्तिकर' इस के अनुसार कर्मधारय समास में मत्वर्थीय इनि प्रत्यय नहीं हो सकता है । क्योंकि 'चतुरस्र शोभा यस्य तत् चतुरस्रशोभम्' उस बहुव्रीहि समास में भी वह अर्थ निकल आता है । और इस बहुव्रीहि की प्रक्रिया में लाघव रहता है । इसलिए 'चतुरस्रशोभि' पद की सिद्धि के लिए कर्मधारय में मत्वर्थीय इनि प्रत्यय के शुरुभूत चतुर्थ मार्ग का भी अवलम्बन नहीं किया जा सकता है । इसी बात को आगे कहने हैं ।

अथवा [दुर्जननोप-न्याय से कथञ्चिद्] तदन्तविधि भी [माय] हो जाय [फिर भी] कर्मधारय [समास] से मत्वर्थीय [इनि प्रत्यय] की अनुपपत्ति है । [क्योंकि उसमें प्रविद्या का गौरव, आधिक्य होता है । और

त्वात् प्रक्रमस्येति बहुव्रीहिण्यैव भवितव्यम् । तत्कथमिति मत्वर्थीयस्याप्राप्तौ चतुरस्रशोभीति प्रयोगः ।

आह । णिनो । चतुरस्र शोभते इति ताच्छोलिके णिनावय प्रयोगः ।

अथ, अनुमेयशोभीति कथम् । नह्यत्र पूर्ववद् वृत्तिः शक्या कर्तुमिति ।

शुभे साधुकारिण्यावश्यकं वा णिनि कृत्वा तदन्ताच्च भावप्रत्यये परचाद् बहुव्रीहिः कर्तव्यः । अनुमेय शोभित्व यस्य इति । भावप्रत्ययस्तु गतार्थत्वात् प्रयुक्तः । यथा निराकुल तिष्ठति, सधीरमुवाच इति ॥ ५८ ॥

बहुव्रीहि समास में दुबारा ‘इनि’ आदि के करने बिना ही वह अर्थ प्रतीत हो जाता है इसलिए] प्रक्रिया के लाघव से बहुव्रीहि [समास] ही होना चाहिए । तो इस प्रकार [कर्मधारय से] मत्वर्थीय [इनि प्रत्यय] के प्राप्त न होने पर ‘चतुरस्रशोभि’ यह प्रयोग कैसे होगा । [यह पूर्वपक्ष हुआ ।] :

[उत्तर] कहते हैं । [‘ब्रीह्यादिभ्यश्च’ से इनि प्रत्यय नहीं अपितु ‘चतुरस्र शोभिषु शील अस्य’ इस विग्रह में ‘सुप्यजाती णिनिस्ताच्छोल्ये’ अष्टा० ३, २, ७८ इस सूत्र से] ‘चतुरस्र शोभते’ इस प्रकार ताच्छोल्यक णिनि [प्रत्यय] के होने पर यह [चतुरस्रशोभि] प्रयोग सिद्ध होता है ।

[प्रश्न] अच्छा ‘अनुमेयशोभि’ [यह प्रयोग] कैसे बनेगा । [यह प्रश्न करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि ‘चतुरस्रशोभि’ के समान ताच्छोल्य में णिनि करने से भी इस ‘अनुमेयशोभि’ शब्द की सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि] यहाँ [‘अनुमेयशोभि’ इस पद में] पूर्व [चतुरस्रशोभि] के समान [‘अनुमेय शोभिषु शील अस्य’ इस प्रकार का] विग्रह नहीं किया जा सकता है । [क्योंकि यहाँ इस प्रकार के अर्थ की सङ्गति नहीं लगती है । और ताच्छोल्य में णिनि करने के लिए कर्म का उपपद होना आवश्यक है । परन्तु यहाँ किसी कर्म की विवेक्षा सम्भव नहीं है । और उसके बिना ताच्छोल्य णिनि नहीं हो सकता है । तब ‘अनुमेयशोभि’ पद कैसे बनेगा । यह पूर्वपक्षी का प्रश्न है । चाहे, इसका उत्तर देते हैं] ।

[उत्तर] शुभ [धातु] से साधुकारो [अर्थ] में [साधुकारिण्युपसत्त्वानम् इस वार्तिक से] अथवा आवश्यक [अर्थ] में [आवश्यकताधमर्ण्योर्णिनि अष्टा० ३, २, १७० इस सूत्र से] णिनि [प्रत्यय] करके [‘शोभि’ पद बन जाने पर] उस णिनिप्रत्ययान्त [‘शोभि’ शब्द] से [‘तस्यभावस्त्वतली’ अष्टा० ५, १, ११९ सूत्रसे] भावप्रत्यय [त्व] होने पर पीछे [उस ‘शोभित्व’ शब्द का ‘अनुमेय’ शब्द के साथ] बहुव्रीहि [समास] करना चाहिए । ‘अनुमेय है शोभित्व

कञ्चुकीया इति क्यचि । ५, २, ५६ ।

‘जीयन्ति राजमहिषीमनु कञ्चुकीया’ इति कथम् ? मत्वर्थीयस्य ‘छ’ प्रत्ययस्याभावात् । अत आह, ‘क्यचि’ । ‘क्यच्’ प्रत्यये सति कञ्चुकीया इति भवति । ‘कञ्चुकमात्मन इच्छन्ति’ कञ्चुकीया ॥ ५६ ॥

बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामपि आतिशायनिका । ५, २, ६० ।

जिसका [यह बहुव्रीहि समास का स्वरूप होगा । इस प्रकार के समास होने पर ‘अनुमेयशोभित्व’ पद बन सकता है । इसमें से अनुमेयशोभित्व पद के अन्त का ‘त्व’ रूप] भावप्रत्यय तो [बिना बोले भी] गन्तार्य हो जाने से [यहा अनुमेयशोभि पद में] प्रयुक्त नहीं किया है । जैसे [‘निराकुलत्व यथा स्यात् तथा तिष्ठति’ अथवा ‘धीरत्वेन सह इति सधीरमुवाच’ इन विग्रहों में प्रयुक्त] ‘निराकुल तिष्ठति’ तथा ‘सधीरमुवाच’ [प्रयोगों] में [गन्तार्य होने से ‘त्व’ रूप भाव प्रत्यय का प्रयोग नहीं किया जाता है । इसी प्रकार ‘अनुमेय शोभित्व यस्य’ इस विग्रह में ‘त्व’ रूप भाव प्रत्यय का प्रयोग न करने पर ‘अनुमेयशोभि’ पद की सिद्धि हो सकती है ।] ॥ ५८ ॥

‘कञ्चुकीया’ यह [प्रयोग ‘सुप् आत्मन क्यच्’ सूत्र से] क्यच् [प्रत्यय] होने पर [सिद्ध होता है] ।

राजमहिषी के साथ कञ्चुकीय जीवित रहते हैं ।

यह [‘कञ्चुकीया’ पद का प्रयोग] कैसे [सिद्ध होता] ? [क्योंकि ‘कञ्चुका येषा सन्ति इति कञ्चुकीया’ इस अर्थ में कञ्चुक शब्द से] मत्वर्थीय छ प्रत्यय का [विधायक कोई सूत्र न होने के कारण] अभाव होने से । [कञ्चुकीया पद सिद्ध नहीं हो सकता है । यह पूर्वपक्ष हुआ] इस [समाधान] के लिए कहते हैं । क्यचि अर्थात् [‘सुप् आत्मन क्यच्’ अष्टा- १, १, ८ सूत्र से] क्यच् प्रत्यय होने पर [और ‘क्यचि च’ अष्टा- ७, ४, ३३ सूत्र से कञ्चुक शब्द के अन्तिम अकार के म्यान पर ईकार होकर] ‘कञ्चुकीया’ यह [पद सिद्ध] होता है । [उसका विग्रह अथवा अर्थ] ‘कञ्चुकमात्मन इच्छन्ति’ अपने लिए ‘कञ्चुक’ चाहते हैं इस अर्थ में ‘कञ्चुकीया’ [यह प्रयोग सिद्ध होता] है ॥ ५९ ॥

बौद्ध [शब्द से उपात्त न होने पर भी बुद्धि में सन्निकृष्ट] प्रतियोगी की अपेक्षा में भी अतिशयार्थक [तरप् तमप् आदि प्रत्यय] हो सकते हैं ।

[साधारणतः देवदत्त यशदत्त] अधिक बलवान् है इस प्रकार देवदत्त यशदत्त रूप दोनों प्रतियोगियों के शब्दतः उपात्त होने पर ही ‘बलवत्तर’

चौदस्य प्रतियोगिनोऽपेक्षायाम्यातिशायनिकस्तरत्वादयो भवन्ति ।
घनतरं तम , बहुलतर प्रेम इति ॥ ६० ॥

कौशिलादय इलचि वर्णलोपात् । ५, २. ६१ ।

‘कौशिलो’ ‘वासिल’ इत्यादयः कथम् ? आह । कौशिक्यामिष्ठा-
दिभ्यः शब्देभ्यो नीतावनुकम्पाया वा ‘घनिलचौ च’ इति इलचि कृते,
‘ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादयः’ इति वर्णलोपात् सिद्ध्यन्ति ॥ ६१ ॥

‘अलवत्तम’ आदि सप्त तमप् प्रत्ययान्त प्रयोग होने हैं । परन्तु कहीं-कहीं शब्दत
उपात्त न होने पर भी] बृद्धि निष्ठ प्रतियोगी की अपेक्षा में भी अतिशयायक
तरप् आदि [प्रथम] होते हैं । जैसे ‘घनतर’ अन्धकार, अथवा ‘बहुलतर’ प्रेम है ।
[यहा किसकी अपेक्षा ‘घनतर’ अथवा किसकी अपेक्षा ‘बहुलतर’ है यह बात
शब्दत उपात्त नहीं है । परन्तु ‘इद घन, इद च घन, इवमनयो रतिशयेन घनमिति
घनतर’ इस रूप में बृद्धिनिष्ठ प्रतियोगी की अपेक्षा में घनतर शब्द का प्रयोग
[प्रा है] ॥ ६० ॥

कौशिल आदि [शब्द ‘घनिलचौ च’ अष्टा० ५, ३, ७९ सूत्र से] इलच्
[प्रत्यय] होने पर [‘ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादयः’ अष्टा० ५, ३, ८३ सूत्र से
कौशिक शब्द के द्वितीय अक्ष से घरे ‘क’ इसका, और वासिल शब्द के द्वितीय
अक्ष से घरे ‘ठ’ इस] वर्ण के लोप से [और ‘अस्येति च’ अष्टा० ६, ४, १४८
सूत्र से इकार का लोप होकर ‘कौशिल’, ‘वासिल’ आदि शब्द सिद्ध होते हैं] ।

[‘अनुकम्पित कौशिक, कौशल’ ‘अनुकम्पितो वसिष्ठ वासिल’ इस
अर्थ या विग्रह में] कौशल वासिल इत्यादि [शब्द प्रयुक्त होते हैं यह] कैसे
[बनते हैं । यह प्रश्न है] । [इसका उत्तर] कहते हैं । कौशिक और वसिष्ठ आदि
शब्दों से नीति अथवा अनुकम्पा में [‘अनुकम्पायाम्’ अष्टा० ५, ३, ७६, ‘नीती
च तद्युक्ते’ अष्टा० ५, ३, ७७ इन सूत्रों के प्रकरण में] ‘घनिलचौ च’ [अष्टा०
५, ३, ७९] सूत्र से इलच् [प्रत्यय] करने पर ‘ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादयः’
[अष्टा० ५, ३, ८३] इस [सूत्र] से [द्वितीय अक्ष ‘इ’ के बाद के ‘क’ तथा
‘ठ’] वर्ण को लोप होने से [कौशल वासिल यह शब्द] सिद्ध होते हैं ॥ ६१ ॥

^१ अष्टाध्यायी ५, ३, ७९ ।

^२ अष्टाध्यायी ५, ३, ८३ ।

मौक्तिकमिति विनयादिपाठात् । ५, २, ६२ ।

मुक्तैव मौक्तिकमिति विनयादिपाठाद् द्रष्टव्यम् । स्वाधिकारच
प्रकृतिनो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' इति नपु सकृत्वम् ॥ ६२ ॥

प्रातिभादय प्रज्ञादिषु । ५, २, ६३ ।

प्रातिभादय. शब्दा. प्रज्ञादिषु द्रष्टव्याः । प्रतिभा-विकृति-द्विता-
दिभ्यः शब्देभ्यः प्रज्ञादिपाठादणि स्वार्थिके कृते प्रातिभ, वैकृत, द्वैतम्
इत्यादयः प्रयागा सिद्धवन्तीति ॥ ६३ ॥

न सरजसमिन्यनव्ययीभावे । ५, २, ६४ ।

‘मौक्तिकम्’ यह [शब्द मुक्ता शब्द से ‘मुक्तैव मौक्तिकम्’ इस विग्रह में
स्वार्थ में] विनयादि [गण] में पाठ होने में [विनयादिभ्यश्च शब्दा० ५, ४,
३४ इस सूत्र से स्वार्थ में ठक् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है] ।

‘मुक्ता हो मौक्तिक’ है यह [मुक्ता शब्द में स्वार्थ में ठक् प्रत्यय, मुक्ता
शब्द के] विनयादि [गण को आकृतिगण मान कर उस] में [मुक्ता शब्द
का] पाठ [मानने] से [सिद्ध हुआ] समझना चाहिए । [यहाँ यह प्रश्न हो
सकता है कि मुक्ता शब्द से स्वार्थ में ठक् प्रत्यय करके जो ‘मौक्तिक’ शब्द बना
है उसका लिङ्ग मुक्ता शब्द के समान स्त्रीलिङ्ग ही होना चाहिए । ‘मौक्तिकम्’
यह नपु सकृलिंग का प्रयोग नहीं होना चाहिए । इस शका के समाधान के लिए
भाष्यकार का वचन उद्धृत कर लिंग और वचन भेद का समर्थन करते हैं]
स्वाधिक [प्रत्यय से सिद्ध शब्द अपनी] प्रकृति [भूत मूल शब्द] से लिंग और
वचन में भिन्न हो सकते हैं इस [भाष्यकार के वचन] से [मौक्तिकम्] यह
नपु सकृलिंग [का प्रयोग किया गया] है ॥ ६२ ॥

‘प्रातिभ’ आदि [शब्द प्रतिभा आदि शब्दों का] प्रज्ञादि [गण] में
[पाठ मान कर सिद्ध होते] हैं ।

प्रातिभ आदि शब्द [उनके मूल भूत प्रतिभा आदि शब्दों को] प्रज्ञादि
[गण को आकृतिगण मान कर उनमें पठित न होने पर भी उन] में समझने
चाहिये । प्रतिभा, विकृति, द्विता आदि शब्दों से [उनका] प्रज्ञादि [गण] में
पाठ [मानने] से [‘प्रज्ञादिभ्यश्च’ शब्दा० ५, ४, ८ सूत्र से] स्वार्थ में अण्
[प्रत्यय] करने पर, प्रातिभ, वैकृत, द्वैत इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं ॥ ६३ ॥

अव्ययीभाव [समास] के अनिरिक्त [स्थानों] में ‘सरजसम्’ यह
[प्रयोग] नहीं [करना चाहिए] ।

‘दुर्गन्धि’ पदे इद् दुर्लभ । ५, २, ६६ ।

‘दुर्गन्धि. काय’ उत्पत्तिपु दुर्गन्धिपदे इन् समासान्तो दुर्लभः ।
उत्पत्त्यादिपु ‘दुः’ शब्दस्यापाठात् ॥ ६६ ॥

सुदत्यादय प्रतिविधेया । ५, २, ६७ ।

‘मा दक्षरोपान् सुदत्तो समर्ज’ । ‘शिल्लरदति पतति रशना’ इत्या-
दिपु सुदत्यादय शब्दाः प्रतिविधेयाः । दन्नादेशलक्षणाभावात् ।

तत्र प्रतिविधानम् । ‘अप्रान्त’ आदिसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्च-
यार्थत्वात् सुदत्यादिपु दन्नादेश इत्येके ।

अन्ये तु वर्णयन्ति । सुदत्यादयः स्व्यमिधायिनो योगरहशब्दाः ।
तेषु ‘स्त्रिया सञ्ज्ञायाम्’ इति दन्नादेशो विकल्पेन मिद्व ण्येति ॥ ६७ ॥

‘दुर्गन्धि’ पद में [श्रूयमाण] इद् [अन्तादेश] दुर्लभ है । [गन्धस्य इत्, उत्पत्तिसुसुरभिभ्य ’ अष्टा० ५, ४, १३५ सूत्र से उत्, पूति, सु, सुरभि शब्दों से परे गन्ध शब्द को इकार अन्तादेश हो जाता है । इस प्रकार ‘उद्गन्धि, पूति-गन्धि, सुगन्धि, सुगन्धिगन्धि’ आदि प्रयोग बनते हैं । परन्तु इन शब्दों में ‘दुर्’ का पाठ न होने से उसके परे गन्ध को अन्त में इकारान्तादेश नहीं हो सकता है । इसलिए ‘दुर्गन्धि’ पद नहीं बन सकता है । उसके स्थान पर सदा दुर्गन्ध पद का प्रयोग करना चाहिए] ।

दुर्गन्धि देह है इत्यादि [प्रयोगो] में दुर्गन्धि पद में [श्रूयमाण अन्तादेश] समासान्त इकार दुर्लभ है [नहीं हो सकता है] । उत् पूति आदि [शब्दों] में ‘दुर्’ शब्द के पाठ न होने से । ‘दुर्गन्ध’ पद ही बनेगा ‘दुर्गन्धि’ पद नहीं बनेगा । अतः ‘दुर्गन्धि’ पद का प्रयोग अनुद्भूत है ॥ ६६ ॥

सुदत्तो आदि [शब्द] समाधेय [प्रतिविधेय] हैं ।

‘सा दक्षरोष्ठात् सुदन्ती ससर्ज’ सुन्दर दातो वाली उस [पावन्ती] ने दक्ष के प्रति श्रेय के कारण अपना शरीर छोड़ दिया । [यहा सुदत्तो शब्द में तथा] है नुकीले दातो वाली [मानिनि] तुम्हारी रशना गिरी जा रही है । [यहा शिल्लरदति पद में] इत्यादि [उदाहरणो] में सुदत्तो [शिल्लरदति] आदि शब्द [प्रतिविधेय समाधेय] समाधान करने योग्य हैं । [क्योंकि ‘सख्या सुपूर्वस्य’ अष्टा० ५, ४, १४० इस सूत्र से ‘सु’ से परे ‘दन्त’ शब्द को ‘दत्’ आदेश होकर और ‘उगितश्च’ अष्टा० ४, १, ८ इस सूत्र में ङीष् होकर अवस्था के द्योतन में]

अवेहीति वृद्धिरवद्या । ५, २, ६६ ।

अवेहीति वृद्धिरवद्या । गुण एव युक्त इति ॥ ६६ ॥

अपाङ्गनेत्रेति लुगलभ्य । ५, २, ७० ।

अपागे नेत्रे यस्या सेयमपाङ्गनेत्रा इत्यत्र लुगलभ्य । 'अमूथे-
मस्तकान् म्याङ्गादकामे' इति मप्रस्या अलुग् विधानान् ॥ ७० ॥

दुहोर' इस कर्मत्राय समस्त द्वारा 'दुहोर' पद घना लेना चाहिए । उसके बाद
'अन दुहोर देपा' यह बहुव्रीहि मप्रम करना चाहिए । इस प्रकार यह शब्द
सिद्ध हो सकता है] ॥ ६८ ॥

'अवेहि' यह वृद्धि दोषयुक्त है [अवेहि प्रयोग करना चाहिए] ।

'अवेहि' इस [प्रयोग] में [की हुई] वृद्धि दोषयुक्त है । [अर्थात् वृद्धि
नहीं करनी चाहिए । अपितु] गुण हो [होना] उचित है । [अर्थात् 'अवेहि' के
स्थान पर 'अवेहि' का प्रयोग करना चाहिए] ।

'ङ्' गता गतुं से लोट् लकार के मध्यम पुरुष के एववचन में
'नेहापिच्छ आटा० ३, ६, ८० सूत्र में 'मि' को हि' आदेश और 'लोटां लङ्बन्',
'अप्ता० ३, ६, ८५ सूत्र के अनुसार डिङ्बन्भाव ज्ञाने से गुण का अभाव होने से 'इहि'
यह रूप बनता है । उसके साथ 'अव' उपसर्ग का पूर्व प्रयोग होने पर गुण होकर
'अवेहि' यह शब्द बनता है, 'अवेहि' नहीं, अतः 'अवेहि' प्रयोग अशुद्ध है ।

यदि अब और आइ दोनों उपसर्गों का प्रयोग किया तब भी अवेहि
यही रूप बनता । पहिले 'आ इहि' इस स्थिति में 'आद्गुण' से गुण होकर 'एहि' रूप
बन जावेगा । फिर अब के जोड़ने पर 'ओमाडोश्च जप्ता० ६, १, ९५ सूत्र में
परन्तु ज्ञाकर भी 'अवेहि' यही रूप बनेगा । वृद्धि किसी प्रकार नहीं होगी ॥ ६९ ॥

'अपाङ्गनेत्रा' इस में ['अपागे नेत्रप्रान्ते नेत्र कनोनिक्वा यस्या सा अपाङ्ग-
नेत्रा' इस प्रकार सप्तमी विभक्ति का] लुक् असम्भव [अलभ्य] है ।

[अपागे] नेत्र के किनारे की ओर नेत्र-कनोनिक्वा [पुतली] है जिसकी
यह 'अपाङ्गनेत्रा' [इस प्रकार जो 'अपाङ्गनेत्रा' शब्द बनाया गया है] इसमें
[सप्तमी विभक्ति का] लुक् प्राप्त नहीं होता है । अमूर्धमस्तकान् स्वाङ्गादकामे
[आटा० ६, ३, १२] इस सूत्र से [यर्षा और मस्तक को छोड़ कर स्वागवाची
शब्दों में परे सप्तमी का लुक् न हो काम शब्द के परे होने को छोड़ कर । जैसे
'कण्ठकाल', 'उरसिलोमा' में सप्तमी का लुक् नहीं होता है । इसी प्रकार 'अपागे
नेत्र यस्या' में भी] सप्तमी का अलुक् विधान होने से । ['कण्ठकाल' के समान
'अपागे नेत्रा' प्रयोग होना चाहिए, 'अपागे नेत्रा' नहीं] ॥ ७० ॥

जम्बुलतादयो ह्रस्वविधे । ५, २, ७३ ।

भोजराजम्बुलतादयो समाधत्ते । 'भक्तौ च कर्ममाधनायाम्' इत्यत्र सूत्रे कर्म-
माधनस्यैव भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठाद् 'भवानीभक्ति' इत्यादी पु वद्भावप्रति-
पेध । दृढभक्तिरित्यादी भावमाधनत्वान् पु वद्भावे सिद्धे स्त्रीपूर्वपदत्वमेवेति ॥

इसका अभिप्राय यह हुआ कि न्यामकार के मन में 'दृढभक्ति' पद में
दृढ शब्द केवल श्रद्धा के अभाव का सूचक है । इसलिये उसको स्त्रीलिङ्ग ही
मानने की विधि आवश्यकता नहीं है । इसलिये उसको नपुंसक लिङ्ग शब्द मान
कर 'दृढ यथा म्यान् नया भक्तियस्य' इस प्रकार का विग्रह करने पर 'दृढभक्ति'
यह प्रयोग बन सकता है । उसमें पु वद्भाव की कहीं आवश्यकता ही नहीं
पड़ती है ।

भाजराज ने अपन ग्रन्थ में इस 'दृढभक्ति' शब्द को सिद्ध करने का
दूसरा प्रकार दिखाया है । उनका कहना है कि पु वद्भाव का निषेध करने
वाले प्रियादि गण में जो भक्ति शब्द का पाठ है वह 'कर्ममाधना भक्ति' का
प्राप्ति है । जहाँ भक्ति शब्द के साथ उसके कर्म अर्थान् आगच्छ का सम्बन्ध
ही कहीं पु वद्भाव का प्रतिषेध होता है । जैसे 'भवानी में जिसकी भक्ति है'
वह पश्य भवानीभक्ति कहलवेगा । यहाँ 'भवानी' पद का स्त्रीलिङ्ग में ही
प्रयोग होता है पु वद्भाव नहीं होता है । परन्तु 'दृढभक्ति' पद में 'दृढ' पद कर्म-
शब्द नहीं है अपितु प्रियाविशेषण है । इसलिये 'दृढा भक्तियस्य स दृढभक्ति'
इस विग्रह में पु वद्भाव का निषेध नहीं होता है । इसलिये 'दृढभक्ति' प्रयोग
बन जाता है ।

इस प्रकार रामिदास के इस 'दृढभक्ति' पद की साधनाप्रदर्शन के लिये,
अनेक प्रकार का प्रयत्न किया गया है । इनमें से वामन तथा न्यामकार जितेन्द्र-
वृद्धि ने दृढ पद में स्त्रीलिङ्ग की प्रविष्टि करके 'दृढ यथा म्यान् नया भक्ति
यस्य स दृढभक्ति' इस प्रकार का विग्रह किया है । जिसमें पु वद्भाव की आवश्य-
कता ही नहीं होती है । और भाजराज ने कर्ममाधना भक्ति में ही पु वद्भाव
का निषेध सम्भव होने में 'दृढभक्ति' में पु वद्भावे जो सकता है यह समाधान
किया है ।

जम्बुलता आदि [कर्कण्धग्रहणम्] कर्कण्धू आदि का भी ग्रहण करना
चाहिए । शब्द] ह्रस्व के विधान होने से [सिद्ध होने हैं] ।

जम्बुलतादयः प्रयोगाः कथम् आह, ह्रस्वविधे । 'इको ह्रस्वोऽदयो गालवस्य' इति ह्रस्वविधानात् ॥ ७३ ॥

तिलकादयोऽजिरादिषु । ५, २, ७४ ।

तिलकादयः शब्दा अजिरादिषु द्रष्टव्याः । अन्यथा 'तिलकवती, कनकवती' इत्यादिषु मतुप्, 'मतौ बहुचोऽनजिरादीनाम्' इति दीर्घत्व न स्यात् ।

अन्ये तु वर्णयन्ति, 'नद्यां मतुप्' इति यो मतुप् तत्राय विधि । तेषां मतेन 'अमरावती' इत्यादीनामसिद्धिः ॥ ७४ ॥

जम्बुलता आदि [ह्रस्व उकारमुत्त] प्रयोग वंसे बाने । [उत्तर] कहते हैं, ह्रस्व का विधान होने से । 'इको ह्रस्वोऽदयो गालवस्य' [अष्टा० ६, ३, ६१] इस [सूत्र] से ह्रस्व का विधान होने से । ['जम्बुलता', 'कर्कशप्रहणम्' आदि शब्द मिलते हैं] अथवा 'जम्बुलता', 'कर्कशप्रहणम्' आदि रूप होने चाहिए । [ता० गगानाय का ने जम्बुलता के स्थान पर 'जलजम्बुलता' पाठ दिया है । और 'कर्कशप्रहणम्' यह अधिक पाठ कोष्ठक में दिया है] ॥ ७३ ॥

तिलक [कनक] आदि [शब्दो] को अजिरादि [गण] में [उसको आकृतिगण मान कर] समझना चाहिए ।

तिलक [कनक] आदि शब्द अजिरादि [गण को आकृतिगण मान कर उस] में समझने चाहिए । अथवा 'तिलकवती', 'कनकवती' इत्यादि [प्रयोगो] में मतुप् [प्रत्यय] के परे होने पर 'मतौ बहुचोऽनजिरादीनाम्' [अष्टा० ६, ३, ११९] इस [सूत्र से] मतुप् परे रहते 'बहुत अच् वाले शब्दों के अन्तिम अच् को दीर्घ हो जाने से 'तिलकवती' आदि प्रयोग बनने लगेंगे । अजिरादि गण में तिलक आदि शब्दों का पाठ मान लेने पर तो 'अनजिरादीनाम्' वह नियम होने से अजिरादिगण पठित तिलक आदि शब्दों के अन्तिम अच् को दीर्घ प्राप्त नहीं होगा है । इसलिए तिलकादि शब्दों को अजिरादिगण में मानना चाहिए, अथवा [दीर्घ हो जायगा] ।

दूसरे [व्याख्याकार] तो यह कहते हैं कि 'नद्यां मतुप्' [अष्टा० ४, २, ८५] इस [सूत्र] से जो मतुप् होता है वहां ही यह ['मतौ बहुचोऽनजिरादीनाम्'] इस सूत्र से पूर्वपद के अन्तिम अच् के दीर्घ होने का] विधि है । [अन्य सूत्रों से 'मनुप्' होने पर इस सूत्र से दीर्घ नहीं हो सकता है । इसलिए 'तिलकवती' आदि में जहां 'तद्व्याख्यास्मिन्निति मतुप्' [अष्टा० ५, २, ९४] इस सूत्र में 'मनुप्' हुआ है वहां दीर्घ प्राप्ति का कोई प्रश्न ही नहीं है । इनके मत का खंडन करते हैं] ।

निगम्य निगमव्यगच्छौ प्रकृतिभेदात् । ५, २, ७५ ।

निगम्य, निगमस्य इत्येतां शब्दौ श्रुत्या इत्येतस्मिन्नर्थे । शमे, न्यपि लक्षणात् । इत्येतादृशे मनि निगमस्य इति भावितव्यम् । न निगम्येति ।

आह । प्रकृतिभेदान् । शमेदेवादिजन्य निगम्येति रूपम् । शमो दर्शनं इति चुरादौ गिञि मित्यसकृत्य निगमस्य इति रूपम् ॥ ७५ ॥

उत्तरे मने मे 'अमगधनी' आदि [यदो वे दीर्घ] की सिद्धि नहीं हो सकेगी । [यद्योऽयं 'नद्या मनुष' सूत्र मे इकागन्त उकारान्त शब्दो मे हो मनुष्य मन्ता ह जमे 'इक्षुमनी' 'अमगधनी' मे । अकारान्त अमर शब्द मे 'तदन्या-
न्यान्मन्ता' मनुष्य इम सूत्र मे ही मनुष्य प्रत्यय हुआ है, 'नद्या मनुष' न नहीं । यदि नद्या मनुष्य मे जहा मनुष्य हो यही 'मन्तो बह्व्योऽजिगदीनाम्' सूत्र से पाया जा 'अमगधनी' मे दीर्घ नहीं हो सकेगा । अतः यह वचन ठीक नहीं है ॥ ७६ ॥

'निगम्य' आह 'निगमस्य' यह [प्रयोग] प्रकृत वे भेद से [अने] है ।

'निगम्य' आह 'निगमस्य' यह दोनों शब्द 'श्रुत्या' [सुतरा] के अर्थ में प्रयुक्त होते] । [इस पर शङ्कर यह है कि 'नि' उपसर्गपूर्वक] शम धातु मे ['ममाना' जपकृष्णा त्रिप' अ० ७, १, ३७ इस सूत्र मे 'यस्या' के न्याय पर 'यप' ही पर] 'यपि' उपसृष्टान् [अ० ६, ४, ५६] इस सूत्र से [नि] प्रत्यय आदेश जान पर 'निगमस्य' यः [प्रयोग] दामा चाहिए । 'निगम्य' यह [प्रयोग] नहीं होना चाहिए ।

[इस का शङ्कर समानान्तर पर न सिद्ध] कहने में । प्रकृति [मूल धातु] के मन् य ['निगम्य' शब्द बनता है] । विशाखगण के [मन् उपसर्ग] 'शम' धातु मे 'निगम्य' यह रूप बनता है और चुरादिगण मे [पाठ्य] 'शम' धातु धातु के लिए शब्द भिन्नत्व होने से 'मिन्' द्विभ्य' गद न द्विभ्य' हितर] 'निगमस्य' यह रूप बनता है ।

सयम्य-नियम्य-शब्दावणिजन्तत्वात् । ५, २, ७६ ।

कथं संयम्य नियम्य-शब्दौ 'न्यपि लघुपूर्वात्' इति सेत्यादेशेन भवितव्यम् । आह । अणिजन्तत्वात् । धातोर्णिच् तु न । गतार्थत्वात् । यथा वाचं नियच्छति इति । णिजर्थानवगतौ णिच् प्रयुज्यत एव । यथा 'संयमयितुमारब्ध' इति ॥ ७६ ॥

किया है वह चुरादि गण में नहीं अपितु भ्वादिगण में आई जाती है । और मिद्वान्तकौमुदीकार ने 'निशमय्य' रूप इस भ्वादिगण की 'गमो दर्शने' धातु से बनाया है । उन्होंने लिखा है —

'गमो दर्शने' । शाम्यनिर्दर्शने गिन्म्यात् । निशागयणि रूपम् । अन्यत्र तु 'प्रणयिनो निशमय्य धधू कषा' । कथं तर्हि, 'निशमय्य लघुपूर्वात् विस्तराद् गदतो मय' इति । 'शम आलोचने' इति चौरादिस्य । धातूनामनेकार्थत्वाच्छ्रवणे वृत्तिः शाम्यनिवत् ।

इस प्रकार वृत्तिकार का प्रयुक्त शब्द भ्रान्त प्रतीत होता है ।

शन धातु का पाठ भ्वादि, दिवादि और चुरादि तीन गणों में आया है । परन्तु उनमें से एक भी जगह उसका श्रवण अर्थ नहीं दिखलाया गया है । भ्वादि में 'गमो दर्शने', दिवादि में 'यमु उपशमे' और चुरादि में 'यमु लक्ष आलोचने' इस प्रकार के पाठ हैं । परन्तु श्रवण के अर्थ में उसका प्रचुर प्रयोग पाया जाता है । इसी लिए मिद्वान्तकौमुदीकार ने 'धातूनामनेकार्थत्वात् श्रवणे वृत्ति' यह लिखा है ॥ ७५ ॥

सयम्य नियम्य [यह प्रयोग धातु के] अणिजन्त होने से [होते] हैं ।

[यम धातु का पाठ १ 'यमो परिवेषणे', २ 'यम मैथुने', ३ 'यम उपरमे' यह तीनों स्थान पर भ्वादिगण में और एक जगह चुरादिगण में 'यम च परिवेषणे' आया है । इनमें से भ्वादिगण के 'यम उपरमे' धातु से] 'सयम्य', 'नियम्य' शब्द कैसे बनते हैं । [अर्थात् वाचकर आदि में प्रयोगक व्यापार की प्रतीति होने से णिच् होना चाहिए । और णिच् होने पर] 'त्यपि लघुपूर्वात्' [अष्टा० ६, ४, ५६] से 'णि' को 'अय' आदेश [हो कर 'सयमय्य', 'नियमय्य' यह रूप] होना चाहिए । [यह शब्द ही है । उसका समाधान] कहते हैं । [वाच कर आदि में प्रयोगक व्यापार की प्रतीति न होने से और] धातु के अणिजन्त होने से यहाँ [धातु से] णिच् तो नहीं होता है । [प्रयोगक व्यापार शून्य सकर्मक प्रकृत्यर्थ के धातु से] गतार्थ हो जाने से । जैसे 'वाच नियच्छति' यह [यह प्रयोग होता है । यहाँ वाणी रहती

प्रपीयेति पीड । ५, २, ७७ ।

‘प्रपीय’ इत्ययं शब्द ‘पीड् पाने’ इत्येतस्य। पिबतेर्हि ‘न ल्यपि’ इति
एत्वप्रतिषेधान् ‘प्रपाय’ इति भवति ॥ ७७ ॥

दूरयतीति बहुलग्रहणात् । ५, २. ७८ ।

‘दूरयत्यवनते विवस्वति’ इत्यत्र दूरयतीति कथम् ? णाविष्ठवद्-
भावे, ‘स्थूलदूर’ इत्यादिना गुणलोपयोः कृतयोर्दवयतीति भवितव्यम् ।

आह । बहुलग्रहणात् । ‘प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च’ इत्यत्र
बहुलग्रहणात् ‘स्थूलदूरादि’ सूत्रेण यद् विहितं तन्न भविष्यतीति ॥ ७८ ॥

हैं और धोलने वाला उसको रोक्ता है । यह प्रयोजक व्यापार धातु से ही गतायं
हो जाता है इसलिये यहाँ णिच् नहीं होता है । इसी प्रकार सकर्मक ‘सयम्य’,
‘नियम्य’ आदि में जिसका सयम या नियम किया जाता है उसके धातु से ही
गतायं हो जाने में णिच् नहीं होता है । अयादेश की प्राप्ति होने से तब ‘सयम्य’,
‘नियम्य’ शब्द बन जाते हैं । और] णिजयं की प्रयगति [सत्यायं रूप में] हो
होने पर णिच् का प्रयोग होता ही है जैसे ‘सयमपितुमारब्ध’ बघवाना शुरू कर
दिया [यहाँ णिच् का प्रयोग हुआ है ।] ॥ ७६ ॥

प्रपीय यह [प्रयोग] पीड् [पाने] धातु का है ।

प्रपीय यह शब्द पीड् पाने इस [धातु] का है । पिबति [पा पाने]
धातु का तो ‘न ल्यपि’ [अष्टा० ६, २, ६९] इस सूत्र से इच्च का प्रतिषेध होने
से ‘प्रपाय’ यह [रूप] होता है ॥ ७७ ॥

[‘दूर करोति गच्छति वा’ इस अर्थ में] ‘दूरयति’ यह [रूप] बहुल
ग्रहण से होता है ।

‘दूरयत्यवनते विवस्वति’ अस्त होते हुए सूर्य के दूर होने पर यहाँ
‘दूरयति’ यह [प्रयोग कैसे होगा । ‘दूर’ प्रतिपादिक से धात्वर्थ में] णिच् के
होने पर [‘प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च’ इस नियम के अनुसार]
इष्ठवद्भाव होने पर ‘स्थूल दूर’ इत्यादि [अर्थात् स्थूलदूरयुबह्वस्वक्षिप्र-
क्षुद्राणा यणादिपर पूर्वस्थ गुण’ अष्टा० ६, ४, १५६] सूत्र से [इ के ऊ
को] गुण [ओ] और [र] का लोप कर देने पर ‘दवयति’ यह [रूप] होना
चाहिए । [दूरयति यह प्रयोग कैसे किया गया है । यह शङ्का होती है] ।

[उसका समाधान] कहते हैं । बहुल ग्रहण से । [अर्थात्] ‘प्रातिपदि-
काद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च’ [प्रातिपादिक से णि और उसके इष्ठवद्भाव का

गच्छतीप्रभृतिष्वनिषेध्यो नुम् ५, २, ७६ ।

‘हरति हि वनराजिर्गच्छती श्यामभावम्’ ।

इत्यादिषु ‘गच्छती’ प्रभृतिषु शब्देषु, ‘श्यप्श्यनोर्नित्यम्’ इति ‘नुम्’ अनिषेध्यो निषेद्रुमशक्यः ॥ ७६ ॥

मित्रेण गोप्त्रेति पुंवद्भावात् । ५, २, ८० ।

‘मित्रेण गोप्त्रा’ इति कथम् ? गोप्त्रा भवितव्यम् । ‘इकोऽचि विभक्तौ’ इति नुम् विधानात् । आह । पु वद्भावात् । ‘तृतीयादिषु भाषित-
पु स्क् पु वद् गालवस्य’ इति पु वद्भावेन ‘गोप्त्रा’ इति भवति ॥ ८० ॥

विधान करने वाले सूत्र में] यहाँ बहुत [शब्द] का ग्रहण होने से ‘स्पूलद्वार’ सूत्र से जो [यथादि पर का तोप और पूरे को गुण का] विधान किया गया है वह सब नहीं होगा । [इस प्रकार ‘द्वार्यति’ रूप बन सकेगा अतः उसका प्रयोग दूषित नहीं है] ॥ ७८ ॥

‘गच्छती’ आदि में ‘नुम्’ का निषेध नहीं किया जा सकता है । [अर्थात् नुम् अवश्य होगा । इसलिए ‘गच्छती’ प्रयोग अशुद्ध है] ।

‘हरति हि वनराजिर्गच्छती श्यामभावम्’ । श्यामभाव [हरियाली] को प्राप्त होती हुई वन पवित्र [मन को] हरण करती है ।

इत्यादि [उदाहरणों] में ‘गच्छती’ आदि शब्दों में ‘श्यप्श्यनोर्नित्यम्’ [अष्टा० ७, १, ८१] इस से [नित्य प्राप्त होने वाला] नुम् अनिषेध्य है अर्थात् रोक नहीं जा सकता है [अतएव ‘गच्छती’ के स्थान पर ‘गच्छन्ती’ प्रयोग प्रानवार्य है । ‘गच्छन्ती’ प्रयोग अशुद्ध है] ॥ ७९ ॥

‘मित्रेण गोप्त्रा’ यह [नपुंसकलिङ्ग मित्र शब्द के साथ उसके विशेषण-
भक्त ‘गोप्त्र’ पद का पुलिङ्ग का ‘गोप्त्रा’ यह रूप] पुंवद्भाव से होता है ।

‘मित्रेण गोप्त्रा’ यह [नपुंसकलिङ्ग मित्र शब्द के साथ उसके विशेषण रूप में पुलिङ्ग ‘गोप्त्रा’ पद का प्रयोग] कैसे [सगत होगा ।] गोप्त्रा होना चाहिए । [क्योंकि इगन्त नपुंसकलिङ्ग गोप्त्र शब्द को अजादि विभक्ति टा का प्रा परे रहते] ‘इकोऽचि विभक्तौ’ [अष्टा० ७, १, ७३] इस [सूत्र] से नुम् का विधान होने से [अन्त्य अच् ऋ से परे नुम् होकर गोप्त्रा होना चाहिए या । यह शङ्का होती है । उसका समाधान करने के लिए] कहते हैं । पुंवद्भाव हो जाने से [नुम् नहीं होता है] ‘तृतीयादिषु भाषितपुस्क पुवद् गालवस्य’ [अष्टा० ७, १, ७४] इस [सूत्र] से [गोप्त्र शब्द के भाषितपुस्क अर्थात् पुलिङ्ग में

वेत्स्यमीति पदभङ्गात् । ५, २, ८१ ।

पतिन वेत्स्यमि क्षितौ' इत्यत्र 'वेत्स्यमि' इति न मिद्वयति । इट्-प्रसङ्गान् । आह । पदभङ्गान् मिद्वयति । वेत्स्यमि इति पठं भज्यते 'वेत्सि' 'यति' । अस्मात्स्य निपातस्त्वमित्यस्मिन्नर्थे क्वचिद् वाक्यालङ्कारे प्रयुज्यते । यथा—

पार्थिव न्वममि मत्यमभ्यगाः इति ॥ ८१ ॥

कामयानशब्द सिद्धोऽनादिष्ठचेत् ॥ ५, २, ८२ ॥

कामयानशब्द मिद्व । 'आगमानुशामनमनित्यम्' इति मुख्यकृते, यग्रनादि स्यात् । ८२ ॥

भी नृनीया आदि विभक्तियों में] पु वङ्गाद्य हो जाने से 'गोत्रा' यह [रूप] होता है । ॥ ८० ॥

'वेत्स्यमि' यह [प्रयोग] पदों के भग [पदच्छेद] से होता है ।

'पतिन वेत्स्यमि क्षितौ' पृथ्वी पर गिरा हुआ देखोमे । यहा [प्रयुक्त किया हुआ] 'वेत्स्यमि' [यह प्रयोग] मिद्व नहीं होता है । [ज्ञानार्थक विद् धातु के अनुदात्तोपदेश न होने से] इट् प्राप्त होने में ['वेदित्यति' प्रयोग होता चाहिए । 'वेत्स्यसि' प्रयोग कैसे किया गया है । इस शङ्का का समाधान] करते हैं । ['वेत्सि अस्ति' इस प्रकार के] पद-भङ्ग से ['वेत्स्यमि' यह रूप] मिद्व होता है । 'वेत्स्यसि' इस पद का विभाग करने हैं—'वेत्सि, अस्ति' । [यहा] अस्ति यह निपात 'त्वम्' इस अर्थ में है । कहीं ['अस्ति' यह निपात] वाक्यालङ्कार में प्रयुक्त होता है । जैसे—

हे राजन् तुमने ठीक कहा ।

[यहा 'स्वम्' और 'अस्ति' दोनों का प्रयोग है । इसलिये 'अमि' को 'न्वम्' के अर्थ में नहीं मान सकते हैं । अतः यहा 'अमि' का प्रयोग वाक्यालङ्कार के रूप में हुआ है] ।

यहा वामन न 'वेत्स्यमि' पद का 'वेत्सि अमि' पदच्छेद करने में वना तो अवश्य दिया है । परन्तु यह 'वेत्सि' रूप जो वनमान वाक्य का हुआ । और जहा 'वेत्स्यमि' यह प्रयोग किया गया है वहा भविष्यन्वाक्य के रूप में उसका प्रयोग हुआ है । इसलिये यह उचित समाधान नहीं हुआ है ॥ ८१ ॥

यदि घनादि [चिरकाल से प्रचुर रूप में प्रयुक्त हो रहा] है तो 'कामयान' शब्द [प्रयोग आचुर्य में] मिद्व है ।

['कामयमान' के स्थान पर 'भुक्' के आगमन में रहित] 'कामयान' शब्द

‘रमरनुदात्तोपदेशस्याट्, ‘नोदात्तोपदेशस्य’ इत्यादिना वृद्धिप्रतिषे-
यस्याभाधान् कथं विरम इति । आह, निपातनान् । अतन् ‘यम उपरमे’
इत्यत्रोपरमे इति । अतन्त्र चोपसर्ग इति ॥ ८५ ॥

उपर्यादिषु सामीप्ये द्विरवनेषु द्वितीया । ५, २, ८५ ।

उपर्यादिषु शब्देषु सामीप्यं द्विरवनेषु, ‘उपर्यध्यधमः सामीप्यं
इत्यनेन उपर्यादिषु त्रिषु ‘द्वितीया आम्नेडितान्तेषु’ इति द्वितीया । वीष्मा
यान्तु द्विरवनेषु पष्ठ्यंश्च भवति । ‘उपर्यपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वर
बुद्धयः’ ॥ ८५ ॥

मन्द मन्दमिन्यप्रकारार्थत्वे । ५, २, ८६ ।

[वि उपसर्गपूर्वक] ‘म धातु के अनुदात्तोपदेश होने से ‘नोदात्तोप-
देशस्य’ इत्यादि [‘नोदात्तोपदेशस्य सामान्स्यानाच्चमे’ श्रुष्टा ७, ३, ३४ सूत्र] से
वृद्धि के प्रतिषेध का अभाव होने से ‘विरम’ यह प्रयोग कैसे बनेगा । [इसके
समाधान के लिए] कहते हैं । निपात में । यह [निपातन] तो ‘यम उपरमे’
[धातुपाठ] इसमें ‘उपरमे’ यह [पठ] है । [यद्यपि यहा उप उपसर्ग पूर्वक
रम धातु का ‘उपरमे’ यह रूप निपातनि किंश गया है परन्तु] उपर्मा प्रयोजक
नहीं हैं । [इसलिये त्रि उपसर्ग पूर्वक रम धातु का ‘विरम’ रूप भी बन सकता
है । अतः ‘उपरम’ के समान ‘विरम’ प्रयोग भी उचित है] ॥ ८४ ॥

उपरि आदि [शब्दों] में सामीप्य [अर्थ] में [‘उपर्यध्यधमः सामीप्ये’
श्रुष्टा ० ८, १, ७ इस सूत्र में] द्विरवने होने पर द्वितीया होती है ।

‘उपरि’ आदि शब्दों के सामीप्य [अर्थ] में ‘उपर्यध्यधमः सामीप्ये’
[श्रुष्टा ० ८, १, ७] इस [सूत्र] से उपर्यादि तीन में ‘द्वितीया आम्नेडितान्तेषु’ इस
[काव्यकोशम वचन] में द्वितीया [विनवित] होती है । वीष्मा [श्रीर आभीक्ष्ण्य]
में [‘नित्य वीप्सथो’ श्रुष्टा ० ९, १, ४ इस सूत्र से] द्विरवने होने पर तो पठो
विनवित ही होती है । जंये—

[प्राणिनां की] बुद्धियों के ऊपर ही ईश्वर की वृद्धि चलती है ।
[त्रिपाणुनाम्ना युगपत् प्रयोक्तुर्व्याप्नुमिच्छा वीष्मा] ॥ ८५ ॥

मन्द मन्द यह [प्रयोग] अप्रकारार्थक [अर्थान् वीष्मार्थक] है ।

[महाकवि वालिदाम ने अपने मेघदूत में] ‘मन्द मन्द नुदति पवन’
[आदि लिखा है] यहा ‘मन्द मन्द’ यह प्रकारार्थ से विन्न [वीष्मा] अर्थ में
[प्रयोग हुआ] है । प्रकारार्थ में [प्रयोग भानने पर] तो ‘प्रकारे गुणवचनस्य’

‘मन्द मन्दं नुदति पवन’ इत्यत्र मन्दं मन्द् इत्यप्रकारार्थे भवति । प्रकारार्थत्वे तु ‘प्रकारे गुणवचनस्य’ इति द्विवचने कृते कर्मधारयवद्भावे च मन्दमन्दमिति प्रयोगः । मन्द-मन्द इत्यत्र तु नित्यबीप्सोरिति द्विवचनम् । अनेकभावात्मकस्य नुदेर्यदा सर्वे भावा मन्दत्वेन व्याप्नुमिष्टा भवन्ति तदा बीप्सेति ॥ ८६ ॥

न निद्राद्रुगिति भणभावप्राप्ते । ५, २, ८७ ।

‘निद्राद्रुक्-काद्रवैयच्छविरुपरितसद्धर्चरो वारिवाहः ।’

इत्यत्र ‘निद्राद्रुक्’ इति न युक्तः । ‘एकाचो वशो भप्’ इति भप्-भाषप्राप्ते । अनुप्रासप्रियेत्त्वपञ्चश कृतः । ५८७ ॥

[अष्टा० ८, १, ११] इस [सूत्र] से [गुणवचन ‘मन्-व’ शब्द को] द्विवचन करने पर [उस ‘प्रकारे गुणवचनस्य’ सूत्र के ‘कर्मधारयवदुत्तरेषु’ अष्टा० ६, १, ११ इस सूत्र के अधिकार में होने से कर्मधारयवद्भाव [कर्मधारय समास के समान कार्य] होने से [सु आदि विभक्ति लोप होकर] ‘सम्बन्ध’ यह प्रयोग होगा । [‘मन्-व मन्द्’ प्रयोग नहीं बनेगा] । ‘मन्द मन्द’ इस [कालिदास के प्रयोग] में तो ‘नित्य बीप्सो’ [अष्टा० ८, १, ४] इस [सूत्र] से द्विवचन हुआ है [‘प्रकारे गुणवचनस्य’ में नहीं] । [अनेकभावविषय व्याप्त इच्छा बीप्सा] अनेक भावात्मक [अनेक पदार्थों में सम्बद्ध] नृ- [शुद्ध प्रेरण] धातु के [सम्बद्ध] सब पदार्थों में [एक साथ] जब व्याप्ति इष्ट हो तब ‘बीप्सा’ कहलाती है । [यह बीप्सा का लक्षण है । यहा बीप्सा में द्विवचन हुआ है । अतएव कर्मधारयवद्भाव न होने से विभक्ति लोप आदि नहीं होता है । अतः ‘मन्द मन्द नुदति पवन’ यह प्रयोग बन जाता है ।] ॥ ८६ ॥

‘निद्राद्रुक्’ यह [प्रयोग] उचित नहीं है । [‘एकाचो वशो भप् क्षपन्तस्य रूपो’ अष्टा० ८, २, २७ इस सूत्र से व् के स्थान पर धृप्] भप् भाव की प्राप्ति होने से । [निद्राद्रुक् प्रयोग होना चाहिए] ।

ऊपर गड़-गड़ करता हुआ राक्षस के समान [भयकर] वाबल निद्रा-नाशक है [सोने नहीं देता है] ।

यहा [इस उदाहरण में] ‘निद्राद्रुक्’ यह [प्रयोग] उचित नहीं है । ‘एकाचो वशो भप्’ [‘एकाचो वशो भप् क्षपन्तस्य रूपो’ अष्टा० ८, २, २७] इस [सूत्र] से भप् भाव [व् के स्थान पर धृप्] के प्राप्त होने से [‘निद्राद्रुक्’ प्रयोग होना चाहिए था । परन्तु] अनुप्रासप्रिय [कवियों] ने [उस शब्द को] बिगाड़ [कर निद्राद्रुक् कर] दिया है ॥ ८७ ॥

परिशिष्ट सं० १

मूल ग्रन्थ में आए हुए पद्वारणों की वर्णानुक्रम से सूची

अथ म विषयव्यावृत्तात्मा	१२२	आरोहन्त्यवरोहन्ति	१३६
अथ तयतममुत्थ ज्योति	१४१	आरुढ भूयमा यत्तु	१७५
अत्रण्डवर्णविन्यास	१७५	आदाय कणक्मिलय	२५०
अचूचुरच्चण्डि कपोल्योम्ने	७२	आलम्ब्यमालिङ्गति गात्रमस्या	२३३
अयशवय तथा दत्त	१९६	आद्वयपेहि मम शीघ्रमाजनात्	१५१
अपामज्जनमाङ्गलो	२४८	इद कर्णोत्पल नक्षु	२४४
अगुलीभिरिव केकाननय	२७७	इदानीं प्लक्षणा	१९०
अपि पश्यन्ति मोघमाश्रिता	८८	इय मेहे लक्ष्मी	२३०
अद्यापि स्मरन्ति श्माश्रम मनो मे	९९	इह च निरन्तर	२३६
अभिनवकुशम्बिम्पाधि	१८९	इह नानि द्वे	२५५
अन्युच्चपदाध्याम	२५८	उपश्रोत स्वस्थस्थित	३३०
अरण्यानीस्थान फलनमित	३०८	उचितस्तु हाम्निरविनीलमय	७५
अलङ्कारैरुदेगा य	२८०	उद्वेजयति भूगति	१६७
अप्राप्तवृष्ण-भङ्गानि	१७५	उद्गर्भहृणतारणा	१८८
अस्पृष्टा दापमानामि	२१	उन्मिमील कमल	२३६
अस्मा भान्वान् प्रयात	२७४	उभो यदि व्योम्नि	२४१
अस्त्युत्तरस्या द्विधि	१२३, १४९	उत्तन्द्र तमणरदली	२३४
अमज्जनवचो यस्य	१६३	एतामा राजति सुमनसा	९०
अन्योन्यमवलित मामल	१५२	एभिर्निदनै स्वीयै	२८१
अवहित्यचलितजघन	१५३	ऐन्द्र धनु पाण्डुपयोधरेण	२७१
अश्लिष्टालयभावा	२५	औज्ज्वल्य कान्तिरित्याहु	१३७
अहङ्कारेण जीयन्ते	१११	कमल इव लोचने उभे	०५
आकुण्डामलमण्डलाग्रस्त्वय	२३२	कमलमिव मुख मनोज्ञ	१९२
आखण्डयन्ति मङ्गरामलकी	१८१	वदध्वतुमुमस्मेर	१०८
आधानोद्गणे तावत्	५१	कम्पणमप्रेक्षणीयेपु	१२२
यागगुर्भङ्गमुखरा	१०२	कर्णावतमादि पदे	१०५

कविराजमविज्ञाय	१८	चाण्डालैर्ग्वि युष्माभि	२१८
ककेलीकाननाशे	२१२	विनाभोहमनङ्गमङ्ग तनुवे	१९
कवचिन्ममृणमामञ्ज	१७९	च्युतमुननम कुन्दा	१८८
कामानमोगमाफग्य		जयाद् मनुष्य वाच	१०८
काङ्क्षिङ्ग त्रिविधमिद		जयन्ति ताण्डये शम्भो	२८६
का म्विदवगुण्डन वती	१८९	जगद्वमश्वन्दच्छेद	२२७
किल्बन्धि काचिदपश्ये	२२२	जलविश्रमता	२६९
कि भाषिनेन वहुना	७३	जीवन्ति राजमहिषीमनु	३४२
किञ्चिद्भावाऽमममगल	९०	निन्वी मेनजशत्रं	२७५
कीर्तिप्रतापां भवत	१०७	नम्यापि नीलोत्पलपत्र	२९०
कीर्ति स्वगफरासाहू	८	नम्या प्रवन्धरीलामि	२५३
कुरङ्गाश्रीणा	९०	नम्याश्चेन्मुखममि	२७०
कुरङ्गानेत्राली	१३८	नम्मान् कीर्तिमुपादान्	८
कुवलयदर्यामा मेघा	१८०	ता गेहिका विजानीहि	२००
कुवलयदलनीला	३०१	ने हिमाश्रयमामय्य	४५
कुवलयवन प्रत्याख्यात	१६२	न दुःखमुच्चारयमावहन्ति	७७
कुसुमशयन न प्रत्यग्र	१००	स्वमेव मन्दरा	१५५
कुङ्कुम्य तस्याय	२८९	दशान्मशा दयितवल्लभ	८४
कमरात् गिरीधाम्	३२२	त्यनाङ्कपतिविनाशगण्ड	१११
खमिव जठ	२५०	दुर्दशश्चक्रशिवि	९१
गगन गगनाकार	२१५	दृष्ट्वैवामनमस्थिते	१८७
गाहना महिष	२२	देवताभक्तितो मुक्ति	११०
गिरेस्तण्डुलानिव	२८९	देवीभाव गमिता	२०३
गुणाना दधानाङ्कुरी	१५८	दोर्दण्डाञ्जित	२४
गुणकुण्डल्य सावन्त्य	१५८	दोराविशमेपु	१०१
गुरुराथपया विद्या	६५०	द्विजो भूमिवृक्षमिति	२६५
ग्रथामि काव्यगानिन	१५८	दूत हि पुष्पम्याभिहासन राज्य	२६४
शामेऽग्निम्	२५	धम्मिल्लम्य न वस्य	८७
चकामे पनमप्रापे	१७	न केनवीना विवसन्ति	२२८
चकामि वदाम्यगल	२१८	न खन्विह गतागता	७५
चरणकमलरत्नं	१३३	ननोन्नतमू गनिवद्वलाम्या	१६८
चलितशवग्मेनादन	१३१	नग शीलशय्या	१०५

न मा धनोन्नति	८६	भुङ्क्ते कलिकाकोन	१०९
नानाकारेण कान्ताध्	१६८	भ्रमर द्रुमपुष्पाणि	१६६
निदान निहंत	१९२	भ्रमरोत्कर कल्पापा	३३०
निद्रेयमकमला लक्ष्मी	२६४	मन्दरस्य मदिराक्षि पार्श्वतो	३३२
निधानगर्भायिव मागराम्बरा	२८८	मञ्जयुग्मगमगर्भास्ते	९८
निरवधि निराधय च तस्य	२७६	मत्तालिमलमुमरागु	१०९
निरागन्ध कौन्डे	१३५	मधु विषासु मधुक्रत	२०९
निर्वृष्टेषु वरिधेते	२०४	मथजग्मबिलिततनवो	२४२
पदबन्धस्य गाढत्व	१३५	मार्गन्ना देहभार	३०२
पदार्ये वाक्यरचन	१४१	मा भै वशाक	१५१
पश्चादिव गतिर्वाच	१३७	मा भवन्तमनल पवनो वा	२९३
पाण्ड्योऽयममापित	१९१	मेषानिलेन भमुना	९५
पातालमिव नाभिले	२०७	यथा हि छिद्यो रेखा	१३६
पिण्डाक्षरभेदेन	१७५	यदि भयति यचक्षुण	११७
पीत पानमिद त्वयाद्य	१४५	यदन्धमङ्गमुन्मथ	१७४
पुरा पाण्डुच्छाद्य	१४२	यत्पदानि त्यजन्त्येव	५१
पृष्ठेषुशिवशकल	१५६	यत्रैकपदवद्भाव	१३५
प्रतिपाद प्रतिश्लोक	१३५	यामा बलिर्भवति	२८४
प्रतिष्ठा बाध्यकत्रस्य	७	युक्तेरिवरपमङ्ग	११७
प्रथममलमै पर्यन्तार्थे	१५०	योऽञ्चलकुलमवति	१७३
प्रत्ययेषु स्फुटिकमला	२३७	योऽपिदित्यभिल्लाष न हान्ता	२९१
प्रणम्य पर ज्योति	४	रमवदमृत क मन्देजो	१५४
प्रमीर जण्डि	१२४	लातण्यमिन्धुरपरैव	२२६
प्राणेश्वरपरित्वय	१०३	लावण्यप्रगर्गतिरम्कृताङ्ग	३०७
प्रापक पुष्पमालेव	१०३	लावण्य उन्पाद्य इवान	३२०
प्रियेण सशय्य	२५९	लीलापलच्छ्रवणकुण्डल	१०९
प्रेमान् सायमागृह	१५७	लोलालकातुविज्ञानि	९५
बन्धस्पाजठन्व च	१३६	वत्सो या वह निक्षामो	२९३
बन्धे पृथक्पदत्वञ्च	१३६	वचमि यमधियम्य	३३
वचन्ध मेतु गिरि	२६६	वरुचिनीना रजमि प्रगर्पति	२८४
वलतिष्ठु निम्धुरिव	२१६	वसुपरासु परागमिवो	१६५
भवन्ति यन्नोपपद्यो	२६४	वम्बायन्ते नदीना	१८२

वाण पवित्रजान्नाना	२५५	मादिशक्तिविहङ्गनामभुत्	७८
विनिर्गमोयनाभोग	४७	महमूगोरिवातोऽ	८९
विकटत्वञ्च तन्वस्य	१२६	मरमि चचल च	८३
दिनिद्र द्यामाने	९२	मन् मन् खला खला	२८२
दिना शपथदानाम्या	१७	सर्वोमुण्डितमत्तूण	१८९
विशेषकमिद	९६	ग व पामादिन्वी	२८४
विलुप्त मकरन्द	१२०	महिर्नरपदे नित्या	२८३
विलुप्तमधुयाग	१२०	मर्बोतय हि लोकेन	८३
विदिव धववना	१२०	मा बाला वयमप्रगल्भमनम	२८६
विभवतीना विभवत्त	१२६	मुस्तिर मन्व्यमृतवत्पमर्श	१९०
विभक्तिरगिणामेन	२२०	मम्यानेन म्पुम्पु म्भग	२३३
विगृहोपि मवध	३१६	मित मितिमा म्तरा	३०५
विहाय माहाग्महायनिश्चया	२५१	मुज्जि मन्वारमार	१५८
वङ्गा हि नाम मूर्तिमन्त्रेव निहृति	२६५	मुदुनां म्मरेवकि चचित	१६५
व्यमन हि नाम माच्छ्वान	२६५	मुत्तु जहीहि मान	३३४
वज्रि प्रथम भन्तातत्रा	१२०	मून शहाधुर ग्ध	१२०
वक्त्रमोपधियते	३१७	मूर्धाग्रमम्मीलितगेचनेपु	२०६
वरुचन्द्रागुगीरण	२६८	मोपानपथमृत्मृग	२०८
शुद्धान्तदुर्भमिद	२१२	मोऽय मम्प्रति चन्द्रगुन तनय	१४५
शोभा पुण्यवमभिनव	९१	मोवाग्ध्वमि	१०८
दलवत्वमोजमा मिश्र	१३५	म्बचरणविनिविष्टे	३३
दग्धा ध्वस्ताध्वगालने	२०८	स्वपिति वाक्चय निक्टे	१५५
सत्य हरिणशावाशमा	२६८	श्वन्तीना जाता	३३०
सति वक्त्रि मय्यये	२१	हन्त हन्तगर्वाना	१६४
म महात्मा	१०६	हृत्ततपु	१९४
म मुनिर्जिज्ञो	२०२	हन्ती हि वङ्गम दुर्ग	२६४
मन्त्राभ्यन्तमा हि विवेकलाभ	११३	हृताष्टरागैर्यना	३३३
ममन्तात्युद्भटपदा	२८		